MASA-04

वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

भारतीय काव्यशास्त्र एवं व्याकरण

पाठ्यक्रम निर्माण समिति

अध्यक्ष
प्रोफेसर (डॉ.) नरेश दाधीच
कुलपति
वर्धमान कोटा खुला विश्वविद्यालय, कोटा

समन्वयक/सदस्य

संयोजक:
डॉ. बसंत जैतली
सहआचार्य (सेवानिवृत्त), संस्कृत विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

1. प्रो. लक्ष्मी शर्मा
आचार्य, संस्कृत विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

2. प्रो. एस.पी. शर्मा
प्रोफेसर, संस्कृत विभाग
अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़ (उ.प्र.)

3. प्रो. आर.एस. मिश्रा
प्रोफेसर, संस्कृत-पालि-प्राकृत विभाग
लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ (उ.प्र.)

4. डॉ. विश्वनाथ शर्मा
व्याख्याता (सेवानिवृत्त)
राजकीय महाविद्यालय, चिमनपुरा (राज.)

5. बीना अग्रवाल
सह आचार्य, संस्कृत विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

6. डॉ. सरिता भार्गव
व्याख्याता
राजकीय महाविद्यालय, कोटा

7. डॉ. रेणु तायल
व्याख्याता
वैदिक कन्या स्नातकोत्तर महाविद्यालय, जयपुर

8. डॉ. सुषमा सिंघवी
भूतपूर्व सहआचार्य, संस्कृत विभाग
जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर
निदेशक
वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, क्षेत्रीय केन्द्र-जयपुर

सम्पादन एवं पाठ लेखन (प्रथम संस्करण मई 2009)

सम्पादक
डॉ. प्रो. लक्ष्मी शर्मा
अध्यक्षा, संस्कृत विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

लेखक

1. **डॉ. हेमलता लोया (इकाई 1,2,3)**
सह-आचार्य,
राजकीय महाविद्यालय, कोटा

2. **डॉ. पुष्पा गुप्ता (इकाई 4, 5)**
सह आचार्य (सेवानिवृत्त),
राजकीय महाविद्यालय, सिरोही

3. **डॉ. प्रभावती चौधरी (इकाई 6,7,8)**
सह-आचार्य, संस्कृत विभाग,
जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर

4. **डॉ. भावना आचार्य (इकाई 9, 10)**
व्याख्याता,
मीरा महिला महाविद्यालय, उदयपुर

5. **डॉ. रानी दाधीच (इकाई 11, 14)**
राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान् जयपुर परिसर, जयपुर

6. **डॉ. सुषमा सिंघवी (इकाई 12, 13)**
निदेशक,
वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, क्षेत्रीय केन्द्र-जयपुर

7. **डॉ. दूलीचन्द्र शर्मा (इकाई 15, 16)**
व्याख्याता,
दरबार संस्कृत महाविद्यालय, जयपुर

8. **प्रो. लक्ष्मी शर्मा (इकाई 17, 18)**
अध्यक्ष, संस्कृत विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

9. **डॉ० कपिल गौतम (इकाई 19)** (पाठयक्रम संशोधनोपरांत)
सहायक आचार्य, संस्कृत विभाग,
वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

10. **डॉ. लाला शंकर (इकाई 20)**
व्याख्याता,
आर. डी. महिला महाविद्यालय, भरतपुर

11. **डॉ० राजधर मिश्र, (इकाई 21)** (पाठयक्रम संशोधनोपरांत)
सह आचार्य, व्याकरण विभाग,
जगद्गुरुरामानन्दाचार्य राजस्थान संस्कृतविश्वविद्यालय, जयपुर

12. **डॉ० अखिलेश कुमार द्विवेदी, (इकाई 22)** (पाठयक्रम संशोधनोपरांत)
सहायक प्राध्यापक,
महर्षि पाणिनि संस्कृत एवं वैदिक विश्वविद्यालय, उज्जैन

पाठयक्रम संशोधन समिति

अध्यक्ष :

प्रो. एल.आर. गुर्जर

निदेशक (अकादमिक)

वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

संयोजक :

डॉ० कपिल गौतम

सहायक आचार्य, संस्कृत विभाग,

वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

सदस्य :

1. **प्रो० राम नाथ झा,**
   आचार्य, विशिष्ट संस्कृत अध्ययन केन्द्र,
   जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली
2. **प्रो० ओम नाथ बिमली,**
   आचार्य, संस्कृत विभाग
   दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली
3. **प्रो० रामसिंह चौहान,**
   विभागाध्यक्ष, संस्कृत विभाग
   राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर
4. **प्रो० राजेन्द्र प्रसाद, आचार्य**
   विभागाध्यक्ष, वेद विभाग
   जगद्गुरुरामानन्दाचार्य संस्कृत विश्वविद्यालय,जयपुर
5. **डॉ० महेश शर्मा,**
   सहायक आचार्य, दर्शन विभाग
   जगद्गुरुरामानन्दाचार्य संस्कृत विश्वविद्यालय,जयपुर

संशोधन एवं सम्पादन (संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण, जुलाई 2018)

डॉ० कपिल गौतम

सहायक आचार्य, संस्कृत विभाग,

वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

अकादमिक एवं प्रशासनिक व्यवस्था

प्रो. (डॉ.) अशोक शर्मा
कुलपति
वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

प्रो. एल.आर. गुर्जर
निदेशक (शैक्षणिक)
संकाय विभाग

डॉ. राजकुमार चतुर्वेदी
निदेशक
पाठ्य सामग्री उत्पादन एवं वितरण विभाग

पाठ्यक्रम उत्पादन

डॉ. राजकुमार चतुर्वेदी

निदेशक,

पाठ्य सामग्री उत्पादन एवं वितरण विभाग

उत्पादन: जुलाई 2018 ISBN No. : 13/978-81-8496-067-9

सर्वाधिकार सुरक्षित: इस सामग्री के किसी अंश की वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप में 'मिमियाग्राफी' (चक्रमुद्रण) के द्वारा या अन्यथा पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

व०म०खु०वि० कोटा के लिए कुलसचिव वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा द्वारा मुद्रित एवं प्रकाशित।

MASA-04

वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

अनुक्रमणिका

इकाई सं.	इकाई का नाम	पृष्ठ संख्या
इकाई–1	विश्वनाथ का समय एवं 'साहित्यदर्पण' का योगदान	1–13
इकाई–2	साहित्यदर्पण : प्रथम परिच्छेद के महत्त्वपूर्ण अंशों की व्याख्या एवं प्रश्नों के उत्तर	14–22
इकाई–3	साहित्यदर्पण : द्वितीय परिच्छेद के महत्त्वपूर्ण अंशों की व्याख्या	23–40
इकाई–4	अभिधा, संकेत–ग्रह, लक्षणा, व्यंजना का विस्तृत विवेचन (साहित्य दर्पण)	41–56
इकाई–5	तृतीय परिच्छेद (साहित्य दर्पण प्रथम 30 कारिकाओं में से) प्रमुख कारिकाओं/अंशों की व्याख्या/रस का स्वरूप रसास्वाद, परिभाषा, साधारणीकरण का विवेचन	57–72
इकाई–6	नाट्यशास्त्र	73–88
इकाई–7	नाट्यशास्त्र – प्रथम अध्याय की व्याख्या	89–99
इकाई–8	नाट्यशास्त्र – नाट्यमण्डप	100–111
इकाई–9	नाट्यशास्त्र : द्वितीय अध्याय के प्रमुख अंशो की व्याख्या	112–132
इकाई–10	साहित्य शास्त्र के प्रमुख सम्प्रदाय अलंकार सम्प्रदाय–प्रमुख ग्रन्थ एवं चिन्तक	132–148
इकाई–11	रस सम्प्रदाय; प्रमुख ग्रन्थ एवं चिन्तक तथा औचित्य सम्प्रदाय; प्रमुख ग्रन्थ एवं चिन्तक	149–178
इकाई–12	रीति सिद्धान्त : प्रमुख ग्रन्थ एवं चिन्तक	179–193
इकाई–13	वक्रोक्ति सिद्धान्त : प्रमुख ग्रन्थ एवं चिन्तक	194–211
इकाई–14	ध्वनि सम्प्रदाय : प्रमुख ग्रन्थ एवं चिन्तक	212–244
इकाई–15	काव्यालङ्कार की दृष्टि से काव्य का प्रयोजन, हेतु, लक्षण, काव्यभेद, मार्ग, दोष एवं भामह का योगदान का विवेचन	245–259
इकाई–16	भामह कृत काव्यालङ्कार–प्रथम अध्याय की महत्त्वपूर्ण कारिकाओं की व्याख्या	260–276
इकाई–17	संस्कृत व्याकरण (णिजन्त एवं सनन्त प्रक्रिया)	277–286
इकाई–18	संस्कृत व्याकरण– यङन्त, यङ्लुगन्त एवं नाम धातु प्रकरण	287–304
इकाई–19	महाभाष्य– पस्पशान्हिक	305–327
इकाई–20	भावकम, कर्मकर्तृक एवं लकारार्थ प्रक्रिया	328–343
इकाई–21	वाक्यपदीयम (ब्रह्मकाण्ड)	344–365
इकाई–22	(सिद्धान्त कौमुदी) विभक्त्यर्थ प्रकरण	366–398

इकाई–1

विश्वनाथ का समय एवं 'साहित्यदर्पण' का योगदान

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य
1.1 प्रस्तावना
1.2 पूर्वपीठिका
1.3 विश्वनाथ कविराज का समय
1.4 विश्वनाथ कविराज का परिचय
1.5 विश्वनाथ कविराज का कृतित्व
1.6 साहित्यदर्पण की विषयवस्तु
1.7 साहित्यदर्पण का योगदान
1.8 परिभाषिक शब्दावली
1.9 अभ्यासार्थ प्रश्न
1.10 सारांश
1.11 संदर्भ ग्रंथ सूची

1.0 उद्देश्य

स्नातकोत्तर पूर्वार्द्ध संस्कृत में चतुर्थ प्रश्न–पत्र भारतीय काव्यशास्त्र एवं व्याकरण के (1) भाग – साहित्यदर्पण (विश्वनाथः 1, 2 3 अध्याय) से सम्बन्धित इस प्रथम इकाई में 'विश्वनाथ का समय एवं साहित्यदर्पण का योगदान' प्रस्तुत किया गया है । इस इकाई को पढ़ने के बाद आप –

- विश्वनाथ कविराज के समय विषयक प्रश्न का उत्तर दे सकेंगे ।
- विश्वनाथ कविराज के व्यक्तित्व एवं कृतित्व से परिचित होंगे ।
- साहित्यदर्पण की संक्षिप्त कथावस्तु से परिचित हो सकेंगे ।
- साहित्यदर्पण का योगदान विषयक प्रश्न का उत्तर दे सकेंगे ।

1.1 प्रस्तावना

संस्कृत के स्नातकोत्तर पूर्वार्द्ध के चतुर्थ प्रश्न–पत्र 'भारतीय काव्यशास्त्र एवं व्याकरण' के (1) भाग के अन्तर्गत विश्वनाथकृत 'साहित्यदर्पण' के 1, 2, 3 परिच्छेद का अध्ययन निर्धारित है । प्रथम इकाई में विश्वनाथ का समय एवं साहित्यदर्पण का योगदान प्रस्तुत किया गया है । प्रारंभ में साहित्यदर्पण की पूर्वपीठिका प्रस्तुत करते हुए विश्वनाथ कविराज का समय, परिचय, कृतित्व तथा साहित्यदर्पण की संक्षिप्त कथावस्तु और साहित्यदर्पण का योगदान निर्धारित पाठ्यक्रम के आधार पर वर्णित किया है ।

आशा है इसको पढ़ने के उपरांत विश्वनाथ कविराज के व्यक्तित्व, कृतित्व, समय तथा साहित्यदर्पण के प्रतिपाद्य एवं वैशिष्ट्य की सम्पूर्ण तस्वीर आपके सामने आ जायेगी । प्रस्तुत ग्रंथ साहित्यशास्त्रीय जगत् का एक महत्वपूर्ण एवं विख्यात ग्रंथ है ।

1.2 पूर्वपीठिका

यावत्प्रसन्नेन्दुनिभानना श्रीर्नारायणस्याङ्कमलङ्ककरोति ।
तावन्मनः सम्मदयन् कवीनामेष प्रबन्धः प्रथितोऽस्तु लोके ।।

(सा. द. 10/100)

कविराज विश्वनाथ की भावनानुरूप साहित्यदर्पण नामक प्रबन्ध ने साहित्यशास्त्रीय जगत में अद्भत ख्याति प्राप्त की है । 'साहित्यस्य दर्पणः साहित्यदर्पणः' के अनुसार जो दर्पण तुल्य साहित्य शास्त्र को यथावत् प्रस्तुत करे, वही 'साहित्यदर्पण' है –

'श्री चन्द्रशेखरमहा कविचन्द्रसूनु,
श्रीविश्वनाथकविराजकृतं प्रबन्धम् ।
साहित्यदर्पणममुं सुधियो विलोक्य
साहित्यतत्वमखिलं सुखमेव वित्त ।।

(सा. द. 10/99)

विश्वनाथ कविराज 'अलङ्कारशास्त्र' को 'साहित्यशास्त्र' मानने के पक्षपाती हैं । 'साहित्यदर्पण' की रचना से उनका यही तात्पर्य है कि काव्यसाहित्य के अध्ययन–अनुशीलन हेतु सभो को साहित्यशास्त्र का परिचय हो जाये ।

यह साहित्य क्या है ? 'सहितस्य भावः कम वा साहित्यम्' अर्थात् सहित का भाव अथवा कम साहित्य है । यह इसका यौगिक अर्थ है । परन्तु संस्कृत वाङ्मय में – 'हितेन सहितौ शब्दार्थौ सहितौ तयोर्भावः कम वा साहित्यम्' इस व्युत्पत्ति से साहित्य का अर्थ हुआ – काव्य ।

भर्तृहरि ने 'नीतिशतक' में – 'साहित्य संङ्गीत कलाविहीनः साक्षात्पशु पुच्छविषाणहीनः' एवं महाकवि बिल्हण ने अपने 'विक्रमाङ्कदेवचरितम् में –
''साहित्यपाथोनिधिमन्थनोत्थं कर्णामृतं रक्षत हे कवीन्द्राः ।
यदस्य दैत्या इव लुण्ठनाय काव्यार्थचौराः प्रगुणीभवन्ति ।।''

लिखकर साहित्य का अर्थ काव्य ही मान लिया है ।

महाकवि कालिदास ने अपने महाकाव्य 'रघुवंश' के प्रारम्भ में कहा है –

वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये ।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ ।।

इसी प्रकार माघ ने भो 'शिशुपालवधम्' नामक महाकाव्य में कहा है –

'नालम्बते दैष्टिकतां न निषीदति पौरुषे ।
शब्दार्थौ सत्कविरिव द्वयं विद्वानपेक्षते ।।'

इनसे शब्द और अर्थ का शाश्वत सहभाव द्योतित होता है । ''नित्यः शब्दार्थ सम्बन्धः'' अतः इन दोनों को पृथक नहीं किया जा सकता । इस प्रकार शब्दार्थ का नित्य सहभाव ही साहित्य है । ''शब्दार्थयोर्यथावत्सहभावेन विद्या साहित्य विद्या'' अर्थात् सहृदयों को आह्लादित करने वाली परस्पर सम्यक्तया विद्यमान शब्द और अर्थ की विद्या–शास्त्र साहित्यविद्या अथवा साहित्यशास्त्र कहलाती है । साहित्यशास्त्र काव्य के सभो अंगों का विवेचक होने से काव्य का नियामक है । इस प्रकार साहित्य साहिती कविकम का शासक होने के कारण 'साहित्यशास्त्र' कहलाता है ।

काव्यशास्त्र भो साहित्यशास्त्र का ही अपर पर्याय है । 'साहित्यशास्त्र ही कालान्तर में काव्यशास्त्र के नाम से विख्यात हुआ। इन दोनों का ही एक अन्य नाम 'अलङ्कारशास्त्र' भो है । यद्यपि 'अलङ्क्रियतेऽनेनेति अलङ्कारः' और 'अलङ्क.रणमलङ्कारः, की व्युत्पत्ति से अलङ्कार को सिद्ध किया गया है, तथापि साहित्यशास्त्र के विविध विषयों में अलङ्कारों

के प्रमुख रूप से विवेच्य होने के कारण–प्राधान्येन व्यापदेशा भवन्ति के न्याय से परवर्ती काल में उन्हें 'अलङ्कारशास्त्र' कहा जाने लगा ।

'साहित्य' की विभिन्न प्रकार से व्याख्या की गयी है –''सहितस्य भावः साहित्यम्''–के अनुसार प्रस्थान विद्याओं का सहभाव साहित्य है । 'साहित्यस्य कम साहित्यम्' कविकम रूप साहित्य है । ''हितेन सह सहितं तस्य भावः साहित्यम्'' के अनुसार ही सम्भवतः 'रामादिवत्प्रवर्तितव्यं न रावणादिवत्' यह काव्य प्रयोजन रहा है ।

शब्दकल्पद्रुम के अनुसार श्लोकमय ग्रन्थ साहित्य है –

''मनुष्यकृतश्श्लोकमयः ग्रन्थविशेषः साहित्यम् ।''

राजशेखर के अनुसार –

''शब्दार्थयोर्यथावत्सहभावेन विद्या साहित्यविद्या ।।''

इस प्रकार सहित का अर्थ परस्पर मिला हुआ और ''सहितयोर्भावः साहित्यम्'' शब्दार्थ का संयोग ही साहित्य है । इन्हीं साहित्य विषयक तत्त्वों को यथावत् दर्पण की भाँति प्रतिबिम्बित ;प्रस्तुतद्ध करने वाला ग्रन्थ 'साहित्यदर्पण' है ।

1.3 विश्वनाथ कविराज का समय

विश्वनाथ कविराज के समय के विषय में कोई सन्देह नहीं है । इनको निसन्दिग्ध रूप से 13वीं–14वीं शताब्दी का कवि एवं आलङ्कारिक आचार्य माना गया है । विश्वनाथ कविराज ने अपने साहित्यदर्पण के चतुर्थ परिच्छेद में अस्फुट व्यङ्ग्य रूप गुणीभत्व्यङ्ग्यकाव्य के स्वरूपनिरूपण हेतु एक सूक्ति उद्धृत की है

सन्धौ सर्वस्वहरणं विग्रहे प्राणनिग्रहः ।
अल्लावदीननृपतौ न सन्धिर्न च विग्रहः ।। 4.14 ।।

अर्थात् यवन शासक अलाउद्दीन के साथ सन्धि करने पर सम्पूर्ण धन हरण, और यु करन पर प्राणनाश होता है । अतः उसके साथ न तो सन्धि करना ही उचित है और न विग्रह । यह सूक्ति निश्चय ही कविराज के समकालीन किसी कवि की रचना है । इसके साथ ही यह भो निश्चित प्रमाणित हो जाता है कि विश्वनाथ कविराज का समय 13वीं–14वीं शताब्दी से पूर्व का नहीं हो सकता । एक अन्य सूक्ति भो विश्वनाथ ने दशम परिच्छेद में क्रियोत्प्रेक्षा के उदाहरण के रूप में उदधृत की है –

गङ्गाम्भसि सुरत्राण ! तव निःशाननिस्वनः ।
स्नातीवारिवधूवर्गगर्भपातनपातकी ।। 10.32।।

इस सूक्ति से भो विश्वनाथ कविराज का समय 13वीं–14वीं शताब्दी निश्चित प्रमाणित होता है । अलाउद्दीन खिलजी का शासनकाल 1296–1316 ई. सुनिश्चित है । उनके एक सेनापति मलिक काफूर की दक्षिण भारत विजय एक ऐतिहासिक घटना है । उत्कल निवासी ब्राह्मणकुलोत्पन्न विश्वनाथ एवं तत्कालीन समस्त कवि मलिक काफूर की विजयगाथाओं एवं भारत के प्रथम यवन शासक सम्राट अलाउद्दीन के आतङ्कयुक्तअत्याचारों की घटनाओं से पूर्णतया परिचित रहे होंगे, तभो तो उन्होनें इस प्रकार के श्लोकों की रचना की । इन सूक्तियों से ऐतिहासिक तथ्यों की ओर तो संङ्केत किया ही गया है साथ ही यह भो ज्ञात होता है कि विश्वनाथ इन ऐतिहासिक तथ्यों से पूर्णतया परिचित थे । अतः इस अन्तःसाक्ष्य के आधार पर साहित्यदर्पणकार का समय 1296–1316 ई. के पूर्व कथमपि नहीं हो सकता।

डॉ0 सत्यव्रत सिंह ने अन्य भो कुछ अन्तःसाक्ष्य प्रस्तुत किये है जो इसी समय को प्रमाणित करते हैं । उनके अनुसार –

(1) साहित्यदर्पणं की एक हस्तलिखित प्रति का समय विक्रम संवत् 1440 (1384 ई.) ह । इस हस्तलिखित प्रति का उल्लेख डॉ0 स्टीन द्वारा संगृहीत, जम्मूकश्मीर दरबार के

पुस्तकालय की हस्तलिखित पुस्तकों की सूची में 'अलङ्कार शास्त्र' (पृष्ठ 64) शीर्षक में किया गया है । 'साहित्यदर्पण' की इस हस्तलिखित प्रति से यह निर्विवाद सिद्ध है कि विश्वनाथ कविराज का समय 1384 ई. के बाद नहीं हो सकता ।

(2) साहित्यदर्पण में एक सूक्ति उद्धृत है –

हृदि विलसताहारो, नायं भुजङ्गमनायकः
कुवलयदलश्रेणी कण्ठे, न सा गरलद्युतिः ।
मलयजरजो, नेदं भस्म, प्रियारहिते मयि
प्रहर न हरभ्रान्त्याऽनङ्ग क्रुधा किमु धावसि ।।

यह सूक्ति 'गीतगोविन्द' के प्रसिद्ध महाकवि जयदेव की कृति है । महाकवि जयदेव को बंगराज्य के प्रतापी शासक लक्ष्मणसेन के दरबार का एक रत्न माना जाता है । कवि उमापति, आचार्य गोवर्धन और धोयी कवि के समकालीन महाकवि जयदेव का समय विक्रम संवत् 1173 (1116 ई.) है । गीतगोविन्द की इन पंक्तियों में महाकवि जयदेव और उनके पार्षद कवियों की स्मृति सुरक्षित है –

वाचः पल्लवयत्युमापतिधरः सन्दर्भशुद्धिं गिरां
जानीते जयदेव एव शरणः श्लाध्यो दुरूहद्रुतेः ।
शृङ्गारोत्तरसत्प्रमेयवचनैराचार्यगोवर्द्धन –
स्पर्धी कोऽपि न विश्रुतः श्रुतधरो धोयी कविक्ष्मापतिः ।।

(3) साहित्यदर्पण में अन्य भो एक उद्वरण है –

'कदली कदली करभः करभः करिराजकरः करिराजकरः ।
भुवनत्रितयेऽपि बिभर्ति तुलामिदमूरुयुगं न चमूरुदृशः ।।

यह सूक्ति 'प्रसन्नराघव' नाटक के रचयिता जयदेव कवि की रचना है । उनका समय 1200–1250 के लगभग निश्चित है । अतः इस उद्धरण से विश्वनाथ कविराज के कार्यकाल के सम्बन्ध में कोई सन्देह नहीं रह जाता ।

(4) विश्वनाथ कविराज ने 'नैषधकार महाकवि श्रीहर्ष (1167–1174) की निम्न सूक्तिउद्धृत की है –

'धन्यासि वैदर्भि गुणैरुदारैर्यया समाकृष्यत नैषधोऽपि ।
इतः स्तुतिः का खलु चन्द्रिकाया यदब्धिमप्युत्तरलीकरोति ।।'

और साथ ही साथ 'हनूमदाद्यैर्यशसा सितीकृतः' आदि उद्वरण भो नैषधीय महाकाव्य की ही सूक्ति का उद्वरण है इसके देखते ही विश्वनाथ कविराज के कालनिर्णय में अनिश्चय नहीं रह जाता।

(5) विश्वनाथ कविराज के प्रपितामह कविपण्डितप्रवर नारायण के अनुज श्रीचण्डीदास ने 'काव्यप्रकाश' की दीपिका टीका लिखी है । इनके और विश्वनाथ कविराज के समय में अधिक से अधिक 50 वर्ष का ही अन्तर पड़ सकता है ।

(6) कलिङ्गनरेश नरसिंह, (1270–1303ई.) जिनके शिलालेखों में उन्हें 'कविप्रिय' कहा गया है, के दरबार में विश्वनाथ के प्रपितामह अथवा पितामह 'नारायण' और 'धर्मदत्त' के शास्त्रार्थ की अनुश्रुति प्रसिद्ध है। विश्वनाथ कविराज ने कविपण्डित धर्मदत्त के नामोल्लेख के साथ उनकी यह सूक्ति भो साहित्यदर्पण में उद्धृत की है –

'तदाह धर्मदत्तः स्वग्रन्थे –
रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते ।
तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राप्यद्भुतो रसः ।।
तस्मादद्भुतमेवाह कृती नारायणो रसम् ।

इस उदाहरण से साहित्यदर्पणकार का कालनिर्णय 13 वीं – 14 वीं शताब्दी ही सिद्ध होता है ।

कुछ बहिःसाक्ष्य भो है जिनके देखते हुए उपर्युक्त समय के सम्बन्ध में कोई सन्देह नहीं रह जाता –

(1) 15 वीं शताब्दी के प्रसिद्ध काव्य–व्याख्याकार मल्लिनाथ के पुत्र 'कुमारस्वामी' की 'रत्नापणा' टीका में, जो कि 'प्रतापरुद्रीय' की व्याख्या है, 'साहित्यदर्पण' का नामोल्लेख मिलता है –

सम्मोहानन्दसम्भेदो मदो मद्योपयोगजः ।
अमुना चोत्तमः शेते मध्यो हसति गायति ।।
अधमप्रकृतिश्चापि परुषं वक्ति रोदिति ।। इति साहित्यदर्पणे ।'
(प्रतापरुद्रीयः रत्नापणः रसप्रकरण)

'मोहो विचित्रता भीतिदुःखवेगानुचिन्तनैः ।
घूर्णनागात्रपतनभ्रमणादर्शनादिकृत् ।। इति साहित्यदर्पणे ।।'
(प्रतापरुद्रीयः रत्नापणः रसप्रकरण)

(2) 15 वीं शताब्दी के ही व्याख्याकार गोविन्द ठाकुर की 'काव्यप्रकाशप्रदीप' व्याख्या में साहित्यदर्पण की विचारधाराओं का यह उल्लेख आया है –

'अर्वाचीनस्तु 'यथोक्तस्य काव्यलक्षणत्वे काव्यपदं निर्विषयं प्रविरलविषयं वा स्यात् । दोषाणां दुर्वारतवात्। तस्मात् 'वाक्यं 'रसात्मकं काव्य' मिति तल्लक्षणम् । तथा च दुष्टेऽपि रसान्वये काव्यत्वमस्त्येव । परं त्वपकषमात्रम् । तदुक्तम् 'कीटानुविद्ध–रत्नादि' इत्यादि । एवमलङ्गारादिसत्त्वे उत्कषमात्रम् । नीरसे तु चित्रादौ काव्यव्यवहारो गौण इत्याहुः ।' इससे यह निर्विवाद सिद्ध है कि प्रदीपव्याख्याकार की दृष्टि में 'साहित्यदर्पण' अलङ्कारशास्त्र का एक अर्वाचीन (काव्यप्रकाश आदि की अपेक्षा अर्वाचीन) ग्रन्थ है । इससे यह निश्चित है कि विश्वनाथ कविराज का समय न तो 13 वीं–14वीं शताब्दी के पहले जा सकता है और न बाद में ।

इस प्रकार अन्तः एवं बाह्य साक्ष्यों के आधार पर विश्वनाथ का समय– प्रामाणिक रूप से 13 वीं–14वीं शताब्दी निश्चित है ।

1.4 विश्वनाथ कविराज का परिचय

विश्वनाथ कविराज उत्कल निवासी ब्राह्मण थे । इनके पूर्वज भो विद्या एवं ऐश्वर्य से सम्पन्न कविपण्डित थे । साहित्यदर्पण के परिच्छेदों की समाप्ति पर प्राप्त विश्वनाथ कविराज के परिचयात्मक विरूद्ध से इनका स्पष्ट परिचय मिलता है । इनके पितामह अथवा प्रपितामह श्री नारायण पण्डित थे जो स्वयं भो उद्भट विद्वान् थे तथा उन्हीं के सानिध्य में कविराज ने विद्वत्ता में प्राप्त की थी । पण्डित प्रवर श्रीमन्नारायण का उल्लेख साहित्य दर्पण के तृतीय परिच्छेद रसस्वरूपनिरूपण में रसास्वादन प्रकार के समय किया है –

चमत्कारश्चित्तविस्ताररूपविस्मयापरपर्यायः ।

तत्प्राणत्वं चास्मदवृद्धप्रपितामहसहृदयगोष्ठीगरिष्ठपण्डितमुख्यश्रीमन्नारायणपादै–रूक्तम्। तदाह धर्मदत्तः स्वग्रन्थे –

रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते ।
तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राप्यद्भुतो रसः ।।
तस्मादद्भुतमेवाह कृती नारायणो रसम् ।।

आचार्य विश्वनाथ कविराज कवि और आलङ्कारिक दोनों हैं । साहित्यदर्पण में अनेकत्र उन्होंने अपनी रचनाओं के उद्धरण प्रस्तुत किये है ।

इनके पिता का नाम चन्द्रशेखर था । इन्होंने अपने पिता के नाम का उल्लेख साहित्यदर्पण की समाप्ति पर अत्यधिक सम्मान के साथ किया है –

श्री चन्द्रशेखरमहाकविचन्द्रसूनुश्रीविश्वनाथ कविराजकृतं प्रबन्धम् ।

श्री चन्द्रशेखर भो उत्कृष्ट कवि एवं विद्वान् थे । कविराज ने साहित्यदर्पण में अनेक स्थलों पर उनके द्वारा रचित पद्यों को भो उद्धृत किया है । तद्यथा –

'यथा मम तातपादानां महापात्रचतुर्दशभाषविलासिनीभुजङ्गमहाकवीश्वर–

महाकवीश्वरश्रीचन्द्रशेखरसान्धिविग्रहिकाणाम्–

'दुर्गालङ्घितविग्रहो मनसिजं सम्मलीयंस्तेजसा
प्रोद्याद्राजकलो गृहीतगरिमा विष्वग्वृतो भोगिभिः
नक्षत्रेशकृतेक्षणो गिरीगुरौ गाढां रूचिं धारयन्
गामाक्रम्य विभूतिभूषिततनू राज्युमावल्लभः ।। (सा.द. 2/14)

इससे स्पष्ट द्योतित होता है कि इनके पिता भो महाकवीश्वर महापात्र, सान्धिविग्रहिक, चतुर्दशभाषाविलासिनीभजङ्ग थे । ये स्वयं भो महापात्र एवं सान्धिविग्रहिक थे तथा अठारह भाषाओं पर इनका अधिकार था तो इनके पिता भो चौदह भाषाओं के प्रकाण्ड ज्ञाता थे । इस प्रकार कविराज को विद्वत्ता अपनी वंश परम्परा से विरासत में मिली थी ।

1.5 विश्वनाथ कविराज का कृतित्व

'साहित्यदर्पण' नामक प्रसिद्ध अलङ्कारशास्त्रीय ग्रन्थ के अतिरिक्त विश्वनाथ की अन्य भो कृतियां हैं जिनका उल्लेख स्थान–स्थान पर साहित्यदर्पण में किया गया है । इनमें –

(1) 'राघव विलास' महाकाव्य है जिसका उल्लेख उन्होंने तृतीय परिच्छेद में किया है। यथा मम राघवविलास –

''विपिने क्व जटानिबन्धनं तव चेदं क्व मनोहरं वपुः ।
अनयोर्घटना विधेः स्फुटं ननु खड्गेन शिरीषकतनम् ।। 3.6 ।।

इस सूक्ति के आधार पर विद्वान् इनका वैष्णव होना प्रमाणित करते ह ।

(2) विश्वनाथ कविराज ने प्राकृतभाषा में भो 'कुवलयाश्वचरित' नामक काव्य की रचना की थी जिसका उल्लेख साहित्यदर्पण के तृतीय परिच्छेद के इस उद्धरण में स्पष्ट किया गया है –

अप्रतिपत्तिर्जडता स्यादिष्टानिष्टदर्शनश्रुतिभिः ।
अनिमिषनयननिरीक्षणतूष्णींभावादयस्तत्र ।। 3.147

यथा मम कुवलयाश्वचरिते प्राकृतकाव्ये –

णवरिअ तं जुअजुअलं अण्णोण्णं णिहिदसजलमन्थरदिट्ठिं ।
आलेक्खओपिअं विअ खणमेत्तं तत्थ सट्ठिअं मुअसण्णं ।।

(3) तृतीय परिच्छेद में ही मुग्धा नायिका के प्रसंग में 'प्रभावती परि णय' नामक रचना का उल्लेख मिलता है –

प्रथमावतीर्णमदनविकारा यथा मम प्रभावतीपरिणये
दत्ते सालसमन्थरं भुवि पदं निर्याति नान्तःपुरात्,
नोद्दामं हसति क्षणात्कलयते ह्रीयन्त्रणां कामपि ।
किञ्चिद्भावगभीरवक्रिमलवस्पृष्टं मनाग्भाषते
सभ्रूभङ्गमुदीक्षते प्रियकथामुल्लापयन्तीं सखीम् ।। 3.58

(4) 'चन्द्रकला' नामक नाटिका का भो उल्लेख उन्होंने ततीय परिच्छेद में ही नायिका के 28 अलङ्कारों में से दीप्ति अलङ्कार के उदाहरण को प्रस्तुत करते समय किया है –

यथा मम चन्द्रकलानामनाटिकायां चन्द्रकलावर्णनम्–

तारुण्यस्य विलासः समधिकलावण्यसम्पदो हासः ।
धरणितलस्याभरणं युवजनमनसो वशीकरणम् ।।

इस नाटिका के शृङ्गार प्रधान होने से इसके रचयिता का भो शृङ्गाररस प्रेम एवं नायिकालङ्कार भदविज्ञानी होने का स्पष्ट सङ्केत मिलता है ।

(5) कविराज की एक रचना षोडशभाषामयी 'प्रशस्तिरत्नावली' है जिसमें उन्होंने सम्भवतः कलि नरेश प्रथम एवं द्वितीय की प्रशस्ति प्रस्तुत की है । षष्ठ परिच्छेद में विविध भाषाओं में निर्मित करभक का उदाहरण देते हुए इस रचना का उल्लेख किया गया है । यथा – ''मम षोडशभाषामयी प्रशस्तिरत्नावली'' ।

(6) इसके अतिरिक्त इनके पुत्र अनन्त दास ने भो साहित्यदर्पण की 'लोचन'नामक व्याख्या में 'विजय नरसिंह' नामक काव्य का उल्लेख किया है –

'यथा मम तातपादानां विजयनरसिंहे ।

इन नाम सहित उल्लिखित कृतियों के अतिरिक्त कविराज ने अनेक स्थलों पर – 'यथा मम' कहकर उद्धरण प्रस्तुत किये है। जिनकी कृति का नामोल्लेख नहीं किया है ।

(7) इन सबसे पृथक काव्यप्रकाश पर 'काव्यप्रकाशदर्पण' नामक टीका भो विश्वनाथ ने लिखी है ।

(8) आलङ्कारिक जगत् में ख्याति प्राप्त 'साहित्यदर्पण' नामक रचना तो विद्वन्मण्डली के सम्मुख है ही ।

इस प्रकार आठ रचनाओं में से कविराज की केवल अन्तिम दो रचनाएँ – 'काव्यप्रकाशदर्पण' एवं 'साहित्यदर्पण' ही प्राप्त है, शेष अनुपलब्ध हैं । इन सभो से यह तो प्रमाणित हो जाता है कि विश्वनाथ कविराज कवि और आलङ्गारिक दोनों हैं । कवि पहले हैं आलङ्गारिक बाद में ।

1.6 साहित्यदर्पण की विषयवस्तु

दशपरिच्छेदात्मक साहित्यदर्पण के प्रथम परिच्छेद में मंगलाचरण के साथ काव्यप्रयोजन एवं मम्मट तथा अन्यान्य पूर्ववर्ती आचार्यों के काव्यलक्षण का खण्डन तथा स्वमत स्थापन है । द्वितीय परिच्छेद में वाक्य, पद एवं अभिधादि तीन वृत्तियों का लक्षणसहित विस्तृत वर्णन है । इन्होंने लक्षणा के 80 भदों का चमत्कारपूर्ण निरूपण किया है । तृतीय परिच्छेद में रस, भाव उनसे सम्बद्ध विषय, नायक के 48 एवं नायिका के 384 भद, नायक के सहायक दूतभद, नायक–नायिका के गुण और अलङ्कार आदि का विस्तृत निरूपण है । चतुर्थ में काव्य भद, ध्वनि भदों का वर्णन है । पञ्चम में व्यञ्जनाविरोधी मत का खण्डन कर पाँच कारिकाओं से व्यञ्जनावृत्ति स्थापन किया है । षष्ठ में काव्य के दृश्य एवं श्रव्य भदों के अन्तर्गत रूपक, उपरूपक, गद्य एवं पद्य के समस्त भदोपभदों का वर्णन किया गया है । सप्तम में काव्य दोष, अष्टम में काव्यगुण, नवम में रीतियों का सलक्षण सोदाहरण निरूपण करने के उपरान्त अन्तिम दशम परिच्छेद में अलङ्कारों के सभो भदोपभदों का लक्षण उदाहरण सहित विस्तृत निरूपण किया गया है ।

1.7 साहित्यदर्पण का योगदान

साहित्यशास्त्रीय सम्पूर्ण तत्त्वों को तत्त्वतः प्रतिबिम्बित करने के कारण विश्वनाथ कविराजकृत 'साहित्यदर्पण' ग्रन्थ वस्तुतः सहृदय रसिकों के लिये साहित्य का दर्पण ही सिद्ध हुआ है । इस ग्रन्थ की सर्वप्रथम मौलिकता यही है कि इसमें काव्यसाहित्य सम्बन्धी समस्त विषयों को एकत्र प्रतिपादित किया गया है। प्राचीन ग्रन्थों में जो उपलब्ध होता था, वह सब कुछ अकेले इस ग्रन्थ में साङ्गोपाङ्ग प्राप्त हो जाता है । दृश्य एवं श्रव्य काव्यों के सम्पूर्ण ज्ञातव्य तत्व इस एक ग्रन्थ में ही मिल जाते है । इस मौलिकता में विश्वनाथ को पूर्ण सफलता मिली है । यद्यपि काव्यसाहित्य को किसी इयत्ता में बाँधा नहीं जा सकता, किसी एक अलङ्कार शास्त्रीय ग्रन्थ में नहीं समेटा जा सकता, तथापि निस्सन्देह विश्वनाथ कविराज का यह प्रयास सराहनीय है ।

यह कोई मौलिक अलङ्कार ग्रन्थ नहीं है, क्योंकि इसमें आद्योपान्त प्राचीन आलङ्कारिकों के ही सिद्धान्त एवं उद्धरण प्रस्तुत किये गये हैं, किन्तु उसको कविराज ने अपनी सरल प्राञ्जल विशद रूप में विषय निरूपण शैली के द्वारा मौलिक बना दिया है । ऐसा सरस एवं सरल शैली में विषय का प्रतिपादन अन्यत्र अलङ्कार–ग्रन्थ में दुर्लभ है । विषय प्रतिपादन की अनूठी शैली के कारण ही इस कृति ने प्रचुर प्रतिष्ठा, प्रचार एवं प्रसिद्धि पायी हैं । साहित्य शास्त्र का अध्ययन करने वाले विद्वान् के लिये इसका अत्यधिक महत्व बढ़ गया है ।

साहित्यदर्पण के दस परिच्छेदों में नाट्यशास्त्र सहित समस्त काव्य शास्त्रीय विषयों का विवेचन किया है ।

विश्वनाथ कविराज ने सर्वप्रथम तो अपने ग्रन्थ मे–काव्य प्रयोजन, काव्यस्वरूप एवं काव्य की आत्मा लक्षण पर पर्याप्त चर्चा की है । डॉ0 सत्यव्रत सिंह के अनुसार–सभो काव्य मर्मज्ञों ने काव्य के प्रयोजनों की चिन्ता और चर्चा की है किन्तु 'अलङ्कारशास्त्र' के प्रयोजन की चिन्ता किसी को न हुई। विश्वनाथ कविराज ने ही सर्वप्रथम स्पष्टतया 'काव्य' और 'काव्यालोचना' अथवा 'कवि' और 'काव्यालोचक' के एकरस प्रयोजन अथवा उद्देश्य का विचार विमर्श किया है। 'अस्य ग्रन्थस्य काव्याङ्गतया काव्यफलैरेव फलवत्त्वमिति काव्यफलान्याह' की भ्मिका के साथ काव्य प्रयोजन के रूप में 'चतुर्वर्गप्राप्ति' की प्रतिष्ठा अलङ्कारशास्त्र अथवा साहित्यशास्त्र में एक महत्व रखती है। यशः प्राप्ति, अर्थलाभ, व्यवहार ज्ञान, अमङ्गलनिवारण, रसास्वाद और सरसोपदेश के काव्य–प्रयोजनों को 'चतुर्वर्ग' अथवा पुरूषार्थचतुष्टय' में अन्तभ्त करना एक आवश्यक काव्य–विषयक विचार है । मनुष्य की सभो क्रियायें चतुर्वर्ग के भोतर समा जाती हैं । काव्य भो मनुष्य की क्रिया है ओर काव्य समीक्षा काव्य–क्रिया का एक अंग है–इस दृष्टि से काव्य और काव्य समीक्षा का उद्देश्य वैयक्तिक और सामाजिक 'चतुर्वर्गप्राप्ति' ही हो सकता है। काव्य के प्रयोजन रूप से उसी का निर्देश आवश्यक है जो मानव जीवन का प्रयोजन है, मनुष्य की कृतियों का उद्देश्य है। यह उद्देश्य अथवा प्रयोजन 'पुरूषार्थचतुष्टय' प्राप्ति के अतिरिक्त और क्या हो सकता है ?

डॉ0 सत्यव्रत सिंह आगे भो कहते है–'रामदिवत्वर्तितव्यं न रावणादिवत्' – यह काव्य का प्रयोजन चतुर्वर्ग प्राप्ति रूप प्रयोजन का ही एक संकेत है । शास्त्र का भो यही प्रयोजन है, किन्तु शास्त्रमार्ग का अवलम्बन कष्टकारक और आयासमय है । काव्य के द्वारा चतुर्वर्ग प्राप्ति में सर्वसाधारण का अधिकार है, क्योंकि काव्य के अधिकारी की योग्यता वर्णाश्रम धर्म की अनुपालन नहीं, अपितु सहृदयता की योग्यता है । इसीलिये विश्वनाथ ने वेदादिशास्त्र को मानव जीवन के ताप–सन्ताप निवारणार्थ कड़वी–औषध कहा है, जबकि काव्य को मीठी खांड–जिसके आस्वाद में ही ताप–सन्ताप अनायास शान्त हो जाते हैं । विश्वनाथ कविराज की यहाँ एक और ही विशेषता दिखाई देती है कि उन्होनें कवि और सहृदय के अतिरिक्त आलङ्कारिक अथवा काव्यसमीक्षक के लिये भो काव्य के प्रयोजन रूप से 'चतुर्वर्गप्राप्ति' का ही उल्लेख किया है ।

अपने पूर्ववर्ती अनेक आचार्यो, विशेषकर मम्मट के काव्यलक्षण का खण्डन करने के कारण विश्वनाथ प्रतिपादित – वाक्यं रसात्मकं काव्ययम्' रूप काव्यलक्षण जहाँ अनेक विद्वानों द्वारा आलोचित रहा वहाँ उसने अपनी विशिष्टता के कारण साहित्य जगत् में अत्यन्त ख्याति अर्जित कर महत्वपूर्ण स्थान बना लिया है ।

डॉ0 सत्यव्रत सिंह का कथन इस विषय में उल्लेखनीय है इसमें सन्देह नहीं कि – 'रसात्मकं वाक्यं काव्यम्' में कवि की उस शब्दवीणा का संकेत किया जा रहा है जो कि 'रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' की परिभाषा के रूप में झलक उठता है अथवा शब्द वीणा की उस वादनशैली की सूचना दी जा रही है जिसे 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कती पुनः क्वापि' की मन्त्र की साधना के रूप में समझा जा सकता है ।

डॉ0 सिंह ने इस काव्यलक्षण के महत्व के कुछ कारण प्रस्तुत किये हैं। उनमें सबसे पहला कारण यह कि इसमें आनन्दवर्धनाचार्य की 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' की विचारधारायें केन्द्रित दिखायी दिया करती है । आनन्दवर्धन ने 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' की उक्ति में काव्य का लक्षण नहीं किया, क्योंकि उनका कार्य काव्य का लक्षणनिर्माण नहीं अपितु कलाकृति के रूप में 'काव्य' का रचनात्मक और रसनात्मक विश्लेषण था। यह महान् कार्य जब हो चुका और अलङ्कारशास्त्र के इतिहास में 'ध्वनिवाद' एक 'काव्यवाद' के बदले 'काव्यदर्शन' और 'काव्य–साधना' के रूप में प्रतिष्ठित हो गया तब उसकी मान्यताओं के स्पष्टीकरण में, एक काव्यलक्षण का निर्माण, एक ऐतिहासिक आवश्यकता बन गया । इस ऐतिहासिक आवश्यकता की सर्वप्रथम पहचान विश्वनाथ कविराज ने ही की और अपनी साहित्यिक प्रवृत्तियों और संवेदनाओं के आधार पर इसकी पूर्ति का भो सर्वप्रथम भगीरथ–प्रयत्न उन्हीं का कार्य है । 'वाक्यं रसात्मक काव्यम्' के रूप में विश्वनाथ कविराज ने केवल अपने युग की ही साहित्यिक संवेदनाओं की सूचना नहीं दी अपितु बाद के युगों की साहित्यिक संवेदनाओं को भो पर्याप्त रूप से प्रेरित किया ।

द्वितीय कारण यह है कि इससे इस बात की पुष्टि हो जाती है कि 'काव्य' की कोई भो परिभाषा काव्य का चतुरस्र लक्षण नहीं बना सकती । काव्य की कोई भो परिभाषा न बन पाये, यह तो काव्य का सौभाग्य ही है, दुर्भाग्य नहीं । प्रत्येक आलङ्कारिक अपने–अपने युग की काव्यात्मक चेतनाओं को काव्यलक्षण के रूप में प्रकट किया करता है । उसका काव्यलक्षण उसके युग के लिये ठीक है किन्तु सभो युगों के लिये वही एक आदर्श हो, ऐसी बात ठीक नहीं मानी जा सकती । विश्वनाथ कविराज के समसामयिक काव्य–रसिक 'रस' की आलोचना – प्रत्यालोचना में आनन्द लिया करते थे । वे काव्यरसिक काव्यमर्मज्ञ भो थे । जैसे कि विश्वनाथ कविराज के प्रपितामह ही 'विस्मय' की अनुभ्ति को 'रसानुभ्ति' के रूप में सिद्ध करने में दत्तचित्त थे । 'रस' की इन विचारधाराओं में जिनका हृदय डूबता उतराता हो, उसके लिये 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' के अतिरिक्त और काव्यलक्षण क्या अभिप्रेत हो ?

तृतीय कारण है – इसी परिभाषा के द्वारा 'रसात्मक वाक्य और रसात्मक महावाक्य' अथवा 'महाकाव्य की रसात्मक एकवाक्यता' का सिद्धान्त सबसे पहले प्रवर्तित हुआ । विश्वनाथ कविराज क पूर्व के सभो आलङ्कारिक 'महाकाव्यप्रबन्ध' की दृष्टि से काव्यलक्षण न कर 'काव्यवाक्य' की दृष्टि से ही काव्यलक्षण किया करते थे । यद्यपि मम्मटकृत काव्यलक्षण भो 'महाकाव्यप्रबन्ध' की दृष्टि से काव्यलक्षण माना जा सकता है, क्योंकि अदोष, सगुण और औचित्य के साथ अलकृत–अलङ्कृत शब्दार्थयुगल समस्त महाकाव्य–प्रबन्धरूप शब्दार्थयुगल सिद्ध हो सकता है, तथापि महाकाव्य प्रबन्ध को केवल अदोष, सगुण और उचित रूप से अलङ्कृत शब्दार्थ समुच्चय कहना महाकाव्य–प्रबन्ध विषयक अनभिज्ञता के अतिरिक्त और क्या हो सकता है ? 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' के काव्यलक्षण से ही विश्वनाथ कविराज की यह समीक्षा दृष्टि परिष्कृत हुई जिसे हम उनकी निम्न महाकाव्य–प्रबन्ध–भावना में स्पष्ट रूप से प्रतिबिम्बित देख सकते हैं – **'ननु तर्हि प्रबन्धान्तर्वतिनां केषाञ्चिन्नीरसानां**

पद्यानां काव्यत्वं न स्यादिति चेन्न । रसवत्पद्यान्तर्गतनीरसपदानामिव पद्यरसेनैव तेषां रसवत्ताङ्गीकारात् ।

ऐसा प्रतीत होता है जैसे अन्य आलङ्कारिकों ने मुक्तकाव्य की दृष्टि से काव्य की परिभाषा की और विश्वनाथ कविराज ही ऐसे सर्वप्रथम एक आलङ्कारिक है जिनकी दृष्टि 'महाकाव्य प्रबन्ध' के आधार पर काव्यस्वरूप के निरूपण में प्रवृत्त हुई ।

'तिस्रः शब्दस्य शक्तयः', के रूप में विश्वनाथ कविराज ने शब्द की 'अभिधा, 'लक्षणा', एवं 'व्यञ्जना' नामक तीन शक्तियों का द्वितीय परिच्छेद में विशद विवेचन किया है । यहाँ एक ओर अभिधाशक्ति के अन्तर्गत 'आप्तोपदेश' एवं 'प्रसिद्धार्थपदसमभिव्याहार' को भो अतिरिक्त रूप से 'शक्तिगृह' के उपाय के रूप में प्रतिपादित किया गया है तो दूसरी ओर लक्षणाशक्ति में लक्षणा के 80 भदों का अत्यन्त चमत्कारपूर्ण निरूपण किया है । इनका व्यञ्जनाशक्ति निरूपण भो अत्यन्त सुबोध एवं सारगर्भित बन पड़ा है ।

रसनिष्पत्ति विषयक कारिका–

'विभावेनानुभावेन व्यक्तः सञ्चारिणा तथा ।
रसतामेति रत्यादिः स्थायिभावः सचेतसाम् ।।'

में विश्वनाथ कविराज का रसध्वनिवाद पूर्णतया स्पष्ट प्रकट हो रहा है । प्रस्तुत रसविषयक मत रसध्वनिवादी आचार्यों के रसमत का सारसंक्षेप एवं पुष्टिकरण है । इनके अनुसार विभावादि से रसाभिव्यक्ति दध्यादिन्याय से दूध से दही की रूपान्तरपरिणति के समान है, न कि घटप्रदीपवत् । रस न कार्य है न ज्ञाप्य –

'विलक्षण एवायं कृतिज्ञप्तिभेदेभ्यः
स्वादनाख्यः कश्चिद् व्यापारः ।'

रसास्वादन एक अलौकिक व्यापार है जिसके लिये कोई लौकिक व्यापार का दृष्टान्त नहीं दिया जा सकता । विश्वनाथ ने 'शान्तः शमस्थायिभावः' में शान्त रस एवं शम उसका स्थायीभाव स्वीकार किया तथा वे 'स्फुटं चमत्कारितया वत्सलं च रसं विदुः' में वात्सल्य रस को भो मानने के पक्षपाती हैं । इनके द्वारा प्रतिपादित वात्सल्य रस दसवें रस के रूप में मान्य है।

विश्वनाथ कविराज का महाकाव्य लक्षण भो सर्वमान्य रहा है । वस्तुतः विश्वनाथ कविराज का साहित्यदर्पण की रचना का यही उद्देश्य रहा कि काव्य साहित्य के समस्त विषयों को सहृदय सामाजिक आसानी से हृदयम कर लें और इसके लिये उन्होनें अत्यन्त सरल, सुबोध मनोहर प्राञ्जल शैली में साहित्यशास्त्र से सम्बद्ध लगभग सभो विषयों को सफलतापूर्वक प्रतिपादित किया है तथापि 'काव्य–संवाद' 'औचित्य', 'शब्दहरण', 'अर्थहरण' जैसे कुछ विषय अछूते रह गये । हो सकता है कि विश्वनाथ ने उन्हें सप्रयास छोड़ा हो क्योंकि तत्कालीन काव्यरसिकों की इन विषयों के प्रति, उन्मुखता नहीं थी ।'अलङ्कार', 'गुण', 'रीति–वृत्ति', 'रस–रसना', 'दोष–अदोषता', 'काव्य–नाट्य', आदि लोक प्रसिद्ध विषयो के प्रति सहृदय रसिकजनों की उन्मुखता को देखते हुए विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण की रचना की । यही कारण है कि साहित्यदर्पण की रचना के समय भो रस एवं आस्वाद विषय पर यद्यपि काव्यसाहित्य की अन्य अनेक मान्यताओं पर विविध आचार्यो ने ग्रन्थ रचना की थी, लेकिन वर्तमान में साहित्यदर्पण ने ही सर्वाधिक लोकप्रियता प्राप्त की ।

साहित्यदर्पण ने परवर्ती अलङ्कार–शास्त्र को भो प्रभावित किया । इसका सर्वाधिक प्रभाव 'रस–गङ्गाधर' पर देखा जा सकता है । यद्यपि रसगङ्काधरकार जैसी प्रतिभा का साहित्यदर्पण में अभाव है, तथापि इसमें कोई सन्देह नहीं कि 'साहित्यदर्पण' से प्रभावित होकर पण्डितराज जगन्नाथ अलङ्कारशास्त्र के पुनरालोचन हेतु प्रेरित हुए । 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' की समीक्षा में ही उन्होनें 'रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' काव्यलक्षण की रचना की । इसके अतिरिक्त विश्वनाथ ने काव्य के 'ध्वनि' एवं 'गुणीभत् व्यङ्ग्य' नामक

दो भद ही स्वीकार किये । 'चित्रकाव्य' को काव्यभद नहीं मानने हेतु उन्होनें जो तर्क दिया – उसकी समीक्षा ही पण्डितराज जगन्नाथ की चतुर्विध–काव्यभद मीमांसा की पूर्वपीठिका है ।

वस्तुतः 'साहित्यदर्पण' की सुबोधता के कारण सामान्य काव्य प्रेमी भो उसकी ओर आकृष्ट हुए बिना नहीं रहता । अपनी इसी प्राणशक्ति के कारण यह ग्रन्थ आज भो जीवित है और संस्कृत काव्य शास्त्र अथवा साहित्यशास्त्र का अध्ययन–अनुशीलन करने वालों का अद्यतन मार्गदर्शन कर रहा है । इसकी सफलता का सबसे बड़ा प्रमाण है कि 'साहित्यदर्पण' 'काव्यप्रकाश' के साथ अलङ्कारशास्त्र में अमर हो गया एवं अपनी अनूठी शैली के कारण विभिन्न पाठ्यक्रमों में आज भो अपनी स्थिति अक्षुण्णरूप से बनाये हुए है।

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ कविराज के पुत्र श्री अनन्तदास की साहित्यदर्पण विषयक उक्ति कि – 'यह साहित्यदर्पण अलङ्कारशास्त्र के विशाल वाङ्मय को गागर मे सागर के समान अल्प शब्दों में स्पष्ट कर देने वाला है । इसमें प्रतिपादित विषय आसानी से ह्रदयम हो जाने वाले तथा समस्त दोषों से रहित है' – सर्वथा सत्य प्रतीत हो रही है ।

स्वल्पाक्षरः सुबोधार्थः प्रध्वस्ताशेषदूषणः ।
साहित्यदर्पणो नाम ग्रन्थः .... ।
इत्यन्तम्

1.8 पारिभाषिक शब्दावली

साहित्य – 'सहितस्य भावः कम वा साहित्यम्' अर्थात् सहित का भाव अथवा कम साहित्य है ।

चतुवर्ग – धर्म – अर्थ- काम मोक्ष को चतुवर्ग कहते है ।

तीन शब्द शक्ति - शब्द की 'अभिधा, 'लक्षणा', एवं 'व्यञ्जना' नामक तीन शक्तियों का द्वितीय परिच्छेद में विशद विवेचन किया है ।

'**स्फुट -** चमत्कारितया वत्सलं च रसं विदुः' में वात्सल्य रस को भी मानने के पक्षपाती हैं । इनके द्वारा प्रतिपादित वात्सल्य रस दसवें रस के रूप में मान्य है।

1.9 अभ्यासार्थ प्रश्न

बोध प्रश्न

प्र.1 निम्नलिखित प्रश्नों के चार विकल्प दिये गये हैं । सही उत्तर को कोष्ठक में लिखिये –

(1) विश्वनाथ कविराज का समय माना गया है –

(क) 3–4 शताब्दी (ख) 5–6 शताब्दी

(ग) 8–9 शताब्दी (घ) 13–14 शताब्दी

(2) विश्वनाथ कविराज के पिता का नाम था –

(क) श्रीमन्नारायण (ख) चन्द्रशेखर

(ग) विष्णुदत्त (घ) चन्द्रदत्त

(3) 'साहित्यदर्पण' के रचियता है –

(क) मम्मट (ख) कुन्तक

(ग) विश्वनाथ (घ) जगन्नाथ

(4) साहित्यदर्पण में कुल परिच्छेद है –

(क) छः (ख) सात

(ग) नौ (घ) दस

अभ्यास –

प्र.1 अन्तः एवं बाह्य साक्ष्यों के आधार पर विश्वनाथ कविराज का समय निर्धारित कीजिये ।

प्र.2 'साहित्यशास्त्रीय जगत् को साहित्यदर्पण की देन' विषय पर निबन्ध लिखिये ।

बोध प्रश्नों के उत्तर

(1) घ

(2) ख

(3) ग

(4) घ

अभ्यास –

1. देखिए भाग 1.3

1.10 सारांश

प्रस्तुत इकाई में प्रमुख रूप से विश्वनाथ का समय एवं साहित्यदर्पण का योगदान वर्णित है । सर्वप्रथम साहित्य दर्पण का अर्थ बताते हुए साहित्य की संक्षिप्त व्याख्या प्रस्तुत की है । तत्पश्चात् विश्वनाथ कविराज का समय अन्तः एवं बाह्य साक्ष्यों के आधार पर 13वीं–14वीं शताब्दी निश्चित किया गया है । साहित्यदर्पण के आधार पर उनका परिचय एवं कृतित्व प्रस्तुत किया गया है । प्रथम परिच्छेद की समाप्ति पर जैसा कि उन्होंने स्वयं लिखा है – इति श्रीमन्नारायणचरणार–विन्दमधुव्रतसाहित्यावर्णवकण धारध्वनिप्रस्थापनपरमाचार्य –कविसूक्तिरत्नाकराष्टादशभाषावारविलासिनीभुजङ्ग– सान्धि विग्रहिकमहापात्र– श्रीविश्वनाथकविराजकृतौ साहित्यदर्पणने काव्यस्वरूपनिरूपणो नाम प्रथमः परिच्छेदः इस परिचयात्मक विरूद से उनके विषय में बहुत कुछ जानकारी मिल जाती है । शेष परिचय साहित्यदर्पण में अनेक स्थानों पर उनके द्वारा प्रस्तुत उल्लेखों से उनकी कृतियों सहित प्राप्त हो जाता है।

दशपरिच्छेदात्मक साहित्यदर्पण का मुख्य प्रतिपाद्य संक्षेप में प्रस्तुत कर निर्धारित पाठ्यक्रम के आधार पर साहित्यदर्पण का साहित्यशास्त्रीय जगत् को योगदान पर लेखनी चलाई है।

उक्त इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप विश्वनाथ कविराज के समय, व्यक्तित्व, कृतित्व, साहित्यदर्पण का मुख्य प्रतिपाद्य एवं योगदान विषयक प्रश्नों का उत्तर दे सकेंगे।

1.11 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. साहित्यदर्पण ,आचार्य शालिग्राम शास्त्री (विमल टीका)मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली, 2004.
2. साहित्यदर्पण,निरूपण विद्यालङ्कार,साहित्य भण्डार मेरठ, 1962.
3. साहित्यदर्पण,डॉ0 सत्यव्रत सिंह,शशिकला हिन्दी टीका,चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, 1976.
4. साहित्यदर्पण,आचार्य शेषराज शर्मा रेग्मी (चन्द्रकला संस्कृत हिन्दी टीका),कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, 1978.

इकाई –2

साहित्यदर्पण : प्रथम परिच्छेद के महत्वपूर्ण अंशों की व्याख्या एवं प्रश्नों के उत्तर

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य

2.1 प्रस्तावना

2.2 साहित्यदर्पण : प्रथम परिच्छेद की कथावस्तु

2.3 प्रथम कारिका–शरदिन्दु .... प्रकाशयतु–की सप्रसंग व्याख्या

2.4 द्वितीय कारिका –चतुर्वर्गफल प्राप्तिः .... निरूप्यते–की सप्रसंग व्याख्या

2.5 तृतीय कारिका–वाक्यं रसात्मकं.............. रीतयः– की सप्रसंग व्याख्या

2.6 पारिभाषिक शब्दावली

2.7 अभ्यासार्थ प्रश्न

2.8 सारांश

2.9 संदर्भ ग्रंथ सूची

2.0 उद्देश्य

संस्कृत विषय में स्नातकोत्तर पूर्वार्द्ध संस्कृत में चतुर्थ प्रश्न–पत्र भारतीय काव्यशास्त्र एवं व्याकरण के (1) भाग – साहित्यदर्पण (विश्वनाथः 1, 2 3 अध्याय) से सम्बन्धित इस द्वितीय इकाई में साहित्यदर्पण के प्रथम परिच्छेद के महत्वपूर्ण अंशों की व्याख्या एवं प्रश्नों के उत्तर प्रस्तुत किये है । इस द्वितीय इकाई को पढ़ने के उपरान्त आप –

- साहित्यदर्पण : प्रथम परिच्छेद की कथावस्तु से परिचित हो सकेंगे ।
- महत्वपूर्ण अंशों की सप्रसंग व्याख्या कर सकेंगे ।
- प्रश्नों के उत्तर देने में समर्थ हो सकेंगे ।

2.1 प्रस्तावना

संस्कृत के स्नातकोत्तर पूर्वार्द्ध के चतुर्थ प्रश्न–पत्र 'भारतीय काव्यशास्त्र एवं व्याकरण' के (1) भाग के अन्तर्गत विश्वनाथकृत 'साहित्यदर्पण' के 1, 2, 3 परिच्छेद का अध्ययन निर्धारित है । प्रथम इकाई में विश्वनाथ का समय एवं साहित्यदर्पण का योगदान पढ़ चुके है । अब प्रस्तुत इकाई में व्याख्या एवं प्रश्नों के उत्तर प्रस्तुत किये गये है । व्याख्या के साथ कारिका का प्रसङ्ग भो अवतरणिका के रूप में दिया गया है । विषय की स्पष्टता हेतु प्रथम तो कारिका का अर्थ एवं पश्चात् विशद व्याख्या दी गयी है।

आशा है इसको पढ़ने के उपरान्त साहित्यदर्पण के प्रथम परिच्छेद की सम्पूर्ण तस्वीर आपके मस्तिष्क में आ जायेगी और आप इससे सम्बद्ध प्रश्नों के उत्तर देने में समर्थ होंगे।

2.2 साहित्यदर्पण : प्रथम परिच्छेद की कथावस्तु

अलङ्कारचक्रचूड़ामणि विश्वनाथ कविराज का साहित्यदर्पण काव्यशास्त्रीय जगत में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है । दशपरिच्छेदात्मक इस ग्रन्थ के 'काव्यस्वरूपनिरूपण' नामक प्रथम परिच्छेद में मात्र तीन कारिकायें हैं जिनमें प्रथम कारिका में ग्रन्थकार ने ग्रन्थ की निविघ्न समाप्त्यर्थ मङ्गलाचरण के रूप में भगवती शारदे से अज्ञान–तिमिर का नाश कर समस्त काव्यविषयक अर्थों को प्रकाशित करने हेतु प्रार्थना की है । 'प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते' के अनुसार बिना प्रयोजन कोई भो कार्य नहीं होता, इसीलिये द्वितीय

कारिका में काव्य प्रयोजन प्रस्तुत किया गया है । इसी के साथ द्वितीय कारिका के अन्तिमांश में ग्रन्थ का प्रतिपाद्य – 'काव्यस्वरूपनिरूपण' बताया है अतः अपने पूर्ववर्ती आचार्यो के काव्यलक्षणों का खण्डन करते हुए विश्वनाथ कविराज ने अन्तिम एवं तृतीय कारिका में काव्यस्वरूप वर्णन तथा साथ ही काव्यदोष, गुण अलङ्कार एवं रीतियों का भो उल्लेख किया है ।

2.3 प्रथम कारिका –शरदिन्दु .... प्रकाशयतु– की सप्रसंग व्याख्या

प्रसंग– आलङ्कारिकचक्रवर्ती महाकविचन्द्रसूनु श्री विश्वनाथ कविराजकृत 'साहित्यदर्पण' साहित्यशास्त्रीय जगत् का सुविख्यात सर्वप्रिय ग्रन्थ है । मङ्गलाचरण की परम्परा का निर्वहन करते हुए श्री विश्वनाथ ग्रन्थारम्भ में वागधिष्ठात्री भगवती सरस्वत्याराधनार्थ उपक्रम करते हुए कहते हैं –

'ग्रन्थारम्भ निर्विघ्नेनेन प्रारिप्सितपरिसकाप्तिकामो वाङ्मयाधिकृततया वाग्देवतायाः साम्मुख्यमाघत्ते' अर्थात् जिसका प्रारम्भ करना चाहते हैं ;प्रारिप्सितद्ध, उस ग्रन्थ का आरम्भ करने से पूर्व ;ग्रन्थकारद्ध निर्विघ्नसमाप्ति की कामना से, शास्त्रों में अधिकृत होने के कारण वाग्देवी सरस्वती की अनुकूलता का आधान करते हैं अर्थात् देवी सरस्वती को अपने अनुकूल बनाते हैं, प्रसन्न करते हैं ।

यद्यपि यहाँ कारिकाकार एवं वृत्तिकार भो स्वयं विश्वनाथ है तथापि अवतरण में उत्तम पुरूष के स्थान पर प्रथम पुरूष में आधत्ते का प्रयोग 'काल्पनिक भदमुररीकृत्य' किया गया है । इस प्रकार के प्रयोग की रीति संस्कृत एवं अन्य भाषाओं में अनेकत्र दिखलायी पड़ती हैं । इस प्रकार के प्रयोग से क्वचित् निरभिमानता सूचित होती है, तो कहीं–कहीं प्रसिद्ध्यनुसार लोकोत्तर वीरभाव अथवा पाण्डित्यादि भो ध्वनित होते हैं । यथा – 'जीवत्यहो रावणः ।'

कारिका–शरदिन्दुसुन्दररूचिश्चेतसि सा मे गिरां देवी ।
अपहृत्य तमः सन्ततमर्थानखिलान्प्रकाशयतु ।।

अर्थ– शरत्कालीनचन्द्रकान्तिवत् शुभकान्तिवाली (शरदिन्दुसुन्दररूचिः) वह (शास्त्र विश्रुत) वाणी की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती मेरे हृदय में अज्ञानतिमिर का नाश करके समस्त अर्थों को प्रकाशित करती रहे ।

व्याख्या– श्रीमद्रामचरणतर्कवागीशभट्टाचार्यकृत विवृत्ति के अनुसार – 'सा वेदागमादि प्रसिद्धा । सह एन विष्णुना वर्तमाना वा । गिरां देवी सरस्वती मम चेतसि वर्तमाना सती तमोऽज्ञानमपहृत्य विनाश्य अखिलान् सर्वान् वाच्चलक्ष्यतात्पर्यव्य– ङ्गयरूपानर्थान् वस्तूनि, सन्ततं यदा यदर्थज्ञानमुपयुक्तं तदैव प्रकाशयतु प्रकटीकरोतु। यद्वा 'सन्ततम्' इति 'तमः' इत्यस्य विशेषणम् । निबिडमित्यर्थः । सा कीदृशी । शरददिन्दोरिव सुन्दरी अतिविशदारूचिर्दीप्तिर्यस्या सा तथा । शरदिन्दुरपि तमो ध्वान्तं विनश्य अर्थान् वस्तूनि प्रकाशयतीत्युपमा। वाङ्मयाधिकृतत्वख्यापनाय 'गिरां देवी' इत्यनेन सरस्वत्या उपन्यासः। अथवा देवी दुर्गा मम गिरामर्थान् चेतसि व्युत्पित्सूनां हृदि प्रकाशयतु । सा कीदृशी । शरदिन्दुसुन्दरः शिवस्तत्र रूचिरभिलाषो यस्याः सा तथा । एतत्पक्षे 'वाङ्मयाधिकृततया' इति कतृविशेषणम् । वाङ्मयाधिकृतो ग्रन्थकृदित्यर्थः । अवाग्देवतायाः' इति गोपनीय देवताया इत्यर्थः । इष्टदेवताया गोपनीयत्वमागमे प्रसिद्धम् । अत्र 'सा' इत्यनेन सरस्वत्याः श्रवणम् । चेतसि वर्तमाना इत्यनेन मननं ध्यानं च लभ्यत इति त्रिविधं सरस्वत्याराधनमत्र फलितम् । तस्य विध्वंसनद्वारा प्रारिप्सितपरिमाप्तिः: फलम्' । प्रस्तुत व्याख्या के कुछ अंश विचारणीय हैं –

1. तर्कवगीश जी ने 'सा' का अर्थ 'सह एन विष्णुना वर्तमाना' किया है । 'अ' अर्थात् विष्णु के साथ रहने वाली । श्री शलिग्रामशास्त्रि के अनुसार – यह व्याख्या समीचीन नहीं है, क्योंकि 'तत् शब्द (सर्वनाम) बुद्धिस्थ विषय का परामर्श करता है

और सरस्वती देवी के अनेक महत्वों को व्यञ्जित करके इस पद्य की शोभा को कई गुना बढ़ा देता है । वह बात इस अर्थ में छू तक नहीं गयी और न विष्णु का साहचर्य प्रकृत में कुछ उपयुक्त है अतः यह पद्य सरस्वती की आराधना में ही प्रयुक्त है ।

2. तर्कवागीश जी एवं अन्यान्य कुछ विद्वानों ने 'अखिलानर्थान्' से तात्पर्य वाच्चलक्ष्यादिक अर्थों से लिया है, किन्तु यह समीचीन प्रतीत नहीं होता । वस्तुतः यहाँ विश्वनाथ का अभिप्राय 'काव्यविषयक विविधतत्त्व यथा – रस–भाव, गुण–दोष, रीति–वृत्ति, अलङ्कार–उपचार इत्यादि से है केवल वाच्चादिकार्थों के अवबोधनार्थ वाग्देवी की अनुकूलता का चिन्तन उतना महत्व नहीं रखता जितना काव्य तत्वों के मर्म को समझने हेतु । अतः यही अर्थ ग्रहण करना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है । इसमें काव्य जगत् की विशालता समाहित हो रही है ।

3. तर्कवागीश जी ने इस पद्य को दुर्गापरक भो बताया है जो कि गोपनीय देवताश्रीदुर्गा के भक्त की क्लिष्टकल्पना ही ध्वनित होती है एवं अर्थ में भो अनेक दोषों के कारण यह तात्पर्य प्रसङ्गानुकूल एवं साहित्यदर्पणकार की भावनानुरूप नहीं प्रतीत हो रहा ।

4. शालिग्राम शास्त्री प्रस्तुत कारिका की व्याख्या अन्य प्रकार से भो करते है यथा

   (1) 'गिरां' का सम्बन्ध 'तमः ' के साथ करने पर ('गिरां देवी' के स्थान पर) 'गिरां तमः अपहृत्य', शरच्चन्द्रतुल्य सुन्दरकान्ति वाली (प्रकाशकर्त्री) देवी सरस्वती मेरी वाणी के तमोगुण अभिलाषन के असामर्थ्य (अर्थात् जो भाव मेरे मन में हैं उन्हें वाणी के द्वारा प्रकट न कर सकने) को दूर करके अर्थों को मेरे हृदय में प्रकाशित करे। ग्रन्थकार मे अपने भावों को वाणी के द्वारा यथावत् प्रकाशन शक्ति का होना अनिवार्य है । अतः वाणी की त्रुटि सम्बन्धी इस अभिलाषनासामर्थ्य के विनाशार्थ प्रार्थना उचित ही है ।

   (2) 'तमः अपहृत्य' इन पदों का आर्थिक सम्बन्ध अर्थान् के साथ होता है इस पक्ष के ''वाच्यादि अर्थों का जो तम अप्रकटरूपता–जिसके कारण उन पदार्थो का स्वरूप यथावत् प्रकट नहीं होने पाता उसे दूर करके भगवती सब पदार्थो को हृदय में प्रकाशित करे ।'' ऐसा अर्थ होता है । इस प्रकार 'तम' के सम्बन्ध भद से तीन अर्थ निकलते है ।

      (1) 'तमः' का सम्बन्ध चेतसि के साथ है । उसके तम का अर्थ है – अज्ञान, क्योंकि चित्त मे अज्ञान ही विकार पैदा करता है।

      (2) 'गिरां' के साथ होने पर वाणी का तमोगुण अभिलाषानासामर्थ्य विवक्षित है, और

      (3) पदार्थगत तमोगुण अस्पष्टरूपता के दूर करने का तात्पर्य है । ये तीनों ही अर्थ ग्रन्थकार को अभिलषित है। क्योंकि ग्रन्थरचनार्थ हृदय की अज्ञानता, भावप्रकाशनासामर्थ्य एवं पदार्थगत अरमणीयता तीनों ही दोषों का नाश अनिवार्य है ।

यद्यपि सूर्य भो अन्धकारविनाशक है तथापि सन्तापदायक होने के कारण उसकी उपमा अभिप्रेत नहीं है और भगवती सरस्वती शान्तिदायिनी है, उनका स्वरूप भो चन्द्रतुल्य है अतः चन्द्र की ही उपमा दी गयी है । अन्य ऋतुओं की अपेक्षा शरद्कालीन चन्द्रमा के सर्वाधिक शुभ एवं नेत्राह्लादक होने के कारण 'शरदिन्दु सुन्दररूचिः' कहा है । शरदिन्दु बाह्य तम का विनाशक है हृदय एवं वाणी के अन्धकार का नहीं इसी हेतु 'सा' पद का प्रयोग किया गया है । सा वह पुराणादि शास्त्रों में प्रसिद्ध, प्रसिद्ध जिसकी कृपा दृष्टि से मूढमति भो विद्वत्– शिरोमणि बन जाता है ।

2.4 द्वितीय कारिका – चतुर्वर्गफल प्राप्तिः .... निरूप्यते–की सप्रसंग व्याख्या

प्रसंग– 'प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते' इस न्याय के अनुसार किसी भो कार्य में प्रवृत्ति बिना किसी प्रयोजन के नहीं होती, इसी कारण विश्वनाथ काव्य प्रयोजन की अवतारणा करते है – 'अस्य ग्रन्थस्य काव्यातया काव्यफलैरेव फलवत्त्वमिति काव्यफलान्याह।' अर्थात् काव्यों के अभ्‌त होने के कारणा, काव्यफलों से ही इस ग्रन्थ की फलवत्ता है अतः काव्यफलों को कहते है । यहां 'अङ्ग' पद का अर्थ है – अप्रधान कारण, क्योंकि साहित्यदर्पण रघुवंशदि काव्यों का अङ्ग ;अवयवद्ध तो हो ही नहीं सकता । रघुवंशादि सिद्ध हैं, साध्य नहीं, अतः लक्षणा से यहाँ 'काव्य' का अर्थ है –'काव्यफल' ;चतुर्वर्गद्ध । इस प्रकार 'काव्यातया का अर्थ है – 'काव्यफलों को सिद्ध करने में अप्रधान कारण होने से ।' वृत्ति का तात्पर्य यह है कि – यह ग्रन्थ काव्यों का अभ्‌त है अर्थात् काव्यों के फल को सिद्ध करने में यह भो एक अप्रधान कारण है, अतः काव्यों के अध्ययनादि से जो फल होते हैं वे ही इस ग्रन्थ के भो प्रधान फल होते हैं, इस कारण काव्यफल कहते हैं ।

कारिका–चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि ।
काव्यादेव यतस्तेन तत्स्वरूपं निरूप्यते ।।

अर्थ– क्योंकि सुकुमारमति वाले को भो आसानी (सुख) से चतुर्वर्ग (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) रूप फल की प्राप्ति काव्य से ही हो जाया करती है, अतः उस (काव्य) के स्वरूप का निरूपण किया जा रहा है ।

व्याख्या–प्रस्तुत कारिका में 'यतः' पद हेत्वर्थक है, किन्तु तर्कवागीश जी इसे 'काव्यात्' का विशेषण मानते है –यत् इति काव्यादित्यस्य विशेषणम् – एवञ्च प्राचीनसम्मत नीरस काव्य चतुर्वर्गासाधनत्वान्न निरूपणीयमिति फलितम् अर्थात् 'यतः' यह पद 'काव्यात्' का विशेषण है – इस कारण तात्पर्य यह निकला कि प्राचीन सम्मत नीरस काव्य का यहाँ निरूपण नहीं किया जायेगा, क्योंकि वह चतुर्वर्ग का साधक नहीं है । कारिकार्थ होगा – 'जिस काव्य से चतुर्वर्ग की प्राप्ति अल्पबुद्धिपुरूषों को भो सुख से होती है उसके स्वरूप का निरूपण किया जाता है, किन्तु यह अर्थ युक्ति–युक्त एवं विश्वनाथ की भावनानुरूप नहीं है, क्योकिं वे रसात्मक वाक्य को ही काव्य मानते हैं, नीरस को नहीं, ऐसी स्थिति में 'जिस काव्य से चतुर्वर्ग की प्राप्ति' इत्यादि अर्थ ग्रहण करना उपयुक्त नहीं, और पक्षान्तर में 'सरस काव्य से ही चतुर्वर्ग की प्राप्ति होती है, नीरस से नहीं, चाहे वह कितना ही चमत्कारपूर्ण हो' यह मानना भो उचित नहीं है, क्योंकि कभो–कभो पवित्र तीर्थाश्रमनदीवर्णन भो साक्षात् अथवा परम्परया धर्मादि के साधन हो ही जाते है । अन्यच्च, 'यतः' को 'काव्यात्' का विशेषण मानने पर 'एव' निरर्थक हो जायेगा तथा 'तेन' भो साकांक्ष हो जायेगा और वाक्य पूर्ण नहीं हो पायेगा, क्योंकि यत् एवं तत् परस्पर साकांक्ष रहते हैं । 'यतः' को हेत्वर्थक मानने पर ही उसका सीधा सम्बन्ध हेत्वर्थक 'तेन' के साथ होकर वाक्य पूर्ण बनेगा ।

कारिकार्थ को स्पष्ट करते हुए विश्वनाथ आगे वृत्ति में 'चतुर्वर्ग की प्राप्ति किस प्रकार होती है' ? इसका विवेचन करते है – ''चतुर्वर्गफलप्राप्तिर्हि काव्यतो रामादिवत्प्रवर्तितव्यं न रावणादिवदित्यादिकृत्याकृत्यप्रवृत्तिनिवृत्युपदेशद्वारेण सुप्रतीतैव''। अर्थात् काव्य से रामादि के समान व्यवहार करना चाहिये, रावणादि के समान नहीं, इत्यादि कृत्य के प्रति प्रवृत्ति और अकृत्य से निवृत्ति के माध्यम से चतुर्वर्ग की प्राप्ति लोक प्रसिद्ध ही है । लोक में सभो भलीभाँति जानते हैं कि किसी भो काव्य को पढने से अन्त में हमें यही शिक्षा मिलती है कि 'सत्यमेव जयते नानृतम्', अतः प्रकृत रचना के सत्पात्र के समान ही हमें सत्कम करने चाहियें तथा दुश्चरित्र पात्र के द्वारा किये जाने वाले दुष्कर्मो से हमें बचना चाहिए । इस प्रकार

धर्मकार्य ही कत्तव्य है, उनको करने से धर्म, धर्म से अर्थ और अर्थ से काम सुखादि की प्राप्ति लोक विश्रुत ही है । चतर्वर्ग की प्राप्ति को विश्वनाथ भामह की उक्ति द्वारा पुष्ट करते हैं –

धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च ।
करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिषेवणम् ।।

इन धर्मादि की पृथक–पृथक प्राप्ति काव्य से कैसे होती है ? इसको स्पष्ट करते हुए विश्वनाथ कहते हैं –

धर्म – काव्याद्धर्मप्राप्तिभगवन्नारायणचरणारविन्दस्तवादिना, 'एकः शब्दः सुप्रयुक्त : सम्यग्ज्ञातः स्वर्गे लोके कामधुक् भवति इत्यादि वेदवाक्येम्यश्च सुप्रसिद्धैव अर्थात् काव्य से धर्म की प्राप्ति भगवान् नारायण के चारणारविन्द की स्तुति एवं 'एकः शब्दः .... भवति' इत्यादि वेदवाक्यों के द्वारा सुप्रसिद्ध ही है । अपने इष्टदेव की पादवन्दना इत्यादि से भो धर्म की प्राप्ति होती है । 'एक भो शब्द सुप्रयुक्त हो अर्थात् रस का व्यञ्जक बनाकर सुन्दर रीति से गुम्फित किया गया हो, अथवा काव्यानुशीलन के समय भावनानुरूप भलीभाँति समझ लिया गया हो, तो वह स्वर्गलोक एवं मृत्युलोक में भो कामधेनु (कामनाओं को पूर्ण करने वाला) होता है' – इस तरह के अनेक वेदवाक्यों के द्वारा सुप्रसिद्ध ही है ।

अर्थ – ''अर्थप्राप्तिश्च प्रत्यक्षसिद्धा'' – अर्थ की प्राप्ति तो प्रत्यक्ष सिद्ध है ही । काव्य रचनाकारों को धन की प्राप्ति देखी ही जाती है । पुरातन काल में राजकवियों को राजकोष से धनागम देखा ही जाता था । इनके अतिरिक्त पुरस्कार आदि के रूप में भो अर्थ की प्राप्ति देखी जाती है ।

काम – कामप्राप्तिश्चार्थद्वारैव अर्थ के माध्यम से ही काम की प्राप्ति भो हुआ करती है । जैसे जैसे अर्थागम होता है वैसे–वैसे कामनाओं को पूर्ण किया जाता है । कहा भो गया है – 'धर्मादर्थस्ततः कामः कामात् सुखसमुन्नतिः ।'

मोक्ष – ''मोक्षप्राप्तिश्चैतज्जन्यधर्मफलाननुसन्धानात् । मोक्षोपयोगिवाक्ये व्युत्पत्याधाय– कत्वाच्च।'' अर्थात् काव्योत्पन्न धर्मफल का अनुसन्धान न ;परित्यागद्ध करने से तथा मोक्षोपयोगी (उपनिषदादि) वाक्यों में व्युत्पत्ति उत्पन्न कर काव्य में दृढ़तर ज्ञान उत्पन्न करने से अपवर्ग की प्राप्ति हो सकती है । इस प्रकार कहीं साक्षात् तो कहीं परम्परया चतुर्वर्ग की प्राप्ति काव्य से ही हुआ करती है ।

कारिका में 'एव' पद वेदशास्त्रादि का व्यावर्तक है । यद्यपि वेदशास्त्रादिकों से भो चतुर्वर्ग की प्राप्ति हुआ करती है, किन्तु नीरस होने के कारण कठिनाई से ;अतिपरिश्रमसाध्यद्ध एवं परिणत बुद्धि वालों को ही होती है अन्य को नहीं, जबकि काव्य के परमानन्दसन्दोहजनक होने के काण कोमलमति वालों को भो सुख से धर्मादि की प्राप्ति हो जाया करती है ।

विश्वनाथ प्रतिपक्षी की ओर से संभावित शंका एवं उसका समाधान भो प्रस्तुत करते हैं । प्रश्न – यदि वेदशास्त्रों से परिपक्व बुद्धि वालों को चतुर्वर्ग की प्राप्ति कठिनाई से हो जाती है तो वे भला काव्य के प्रति क्यों प्रवृत्त होंगे ?

समाधान –कटुकौषधि से शमनीय रोग के सफेद मीठी शर्करा से शमनीय होने पर किस रोगी की सितशर्करा के प्रति प्रवृत्ति नहीं होगी ? अर्थात् सभो की होगी । मानव स्वभाव से ही सुखप्रिय है । एक ही गन्तव्य के सुगम एवं दुर्गम दोनों प्रकार के मार्गो के उपलब्ध होने पर मानव सुगम मार्ग पर चलना अधिक पसन्द करता है इसी प्रकार चतुर्वर्ग रूपी समानफल की प्राप्त्यर्थ उपलब्ध सरस काव्य एवं नीरस वेदशास्त्रों में से न केवल सुकुमारमति, प्रत्युत् प्रौढ़मति भो सरस काव्य मार्ग ही अपनाना चाहेगा ।

काव्य की उपादेयता केवल साहित्यदर्पण में ही नहीं, अन्यत्र भो स्वीकार की गयी है । एतदर्थ विश्वनाथ अग्निपुराण, विष्णुपुराणादि के प्रमाणों से पुष्ट भो करते है ।

प्रकृत कारिका के अन्तिम अंश में काव्य का प्रतिपाद्य प्रकट किया गया है – 'तेन तत्स्वरूपं निरूप्यते'। ग्रन्थ का अभिधेय है – काव्य के स्वरूप का निरूपण करना । यहाँ अनुबन्ध चतुष्टय (1 प्रयोजन, 2 अधिकारी, 3 विषय एवं 4 सम्बन्ध) प्रस्तुत किया गया है – 1. काव्याध्ययन का जो चतुर्वर्ग प्रयोजन है, वहीं इस ग्रन्थ का भो है, 2. चतुर्वर्गाभिलाषीजन ही इस ग्रन्थ को पढ़ने के अधिकारी है, 3. इस ग्रन्थ का प्रमुख विषय काव्य विवेचना है और 4. इस विषय के साथ ग्रन्थ का प्रतिपाद्य–प्रतिपादक भाव सम्बन्ध है ।

2.5 तृतीय कारिका–वाक्यं रसात्मकं .... रीतयः– की सप्रसंग व्याख्या

प्रसंग– पूर्वकारिका में 'तेन तत्स्वरूपं निरूप्यते' कहा गया है । ऐसे में 'किं स्वरूपं तावत्काव्यस्य' यह अपेक्षा होने पर विश्वनाथ प्रारम्भ में अपने पूर्ववर्ती आचायो विशेष रूप से मम्मट के एवं उनके अतिरिक्त अन्य कुन्तक, भोजराज, आनन्दवर्धन, महिमभट्ट, वामनादि सभो के काव्यलक्षणों का खण्डन करते हुए अपना काव्य लक्षण प्रकृत कारिका के पूर्वांश में प्रस्तुत करते हैं – 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम् । इसके साथ काव्य–दोष एवं गुण, अलङ्कार, रीतियों पर भो इसी कारिका में प्रकाश डाल रहे हैं ।

कारिका–वाक्यं रसात्मकं काव्यं दोषास्तस्यापकषकाः ।
उत्कष हेतवः प्रोक्ता गुणालङ्गाररीतयः ।। 3 ।।

अर्थ – रसात्मक वाक्य को काव्य कहते हैं । उस काव्य के अपकषक दोष कहे जाते हैं तथा गुण, अलङ्कार एवं रीतियां उसके उत्कष हेतु कहे गये हैं ।

व्याख्या–विश्वनाथ स्वयं कारिका की व्याख्या में वृत्ति प्रस्तुत करते है – रस एवात्मा साररूपतया जीवनाधायको यस्य। तेन विना तस्य काव्यत्वाभावस्य प्रतिपादितत्वात् । 'रस्यते इति रसः' इति व्युत्पत्तियोगाद्भावतदाभासादयोऽपि गृह्यन्ते । अर्थात् साररूप होने के कारण जीवनाधायक रस ही जिस वाक्य की आत्मा है ;वही वाक्य काव्य हैद्ध क्योंकि उस रस के बिना उस वाक्य की काव्यता के अभाव का प्रतिपादन किया गया है । इस प्रकार केवल वही वाक्य काव्य है जिसमें आत्मरूप रस विद्यमान है अन्यथा वह वाक्य काव्य का विषय नहीं हो सकता । 'रस्यते इति रसः' जो आस्वाद्यमान है, वही रस है, इस व्युत्पत्ति के योग से रस के अतिरिक्त भाव, रसाभास एवं भावाभासादि को भो इसमें ग्रहण किया जाता है । रस का उदाहरण देते हैं –

शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किञ्चिच्छनै –
र्निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम् ।
विश्रब्धं परिचुम्ब्य जातपुलकामालोक्य गण्डस्थलीं
लज्जानम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिरं चुम्बिता ।।

सम्भोग शृङ्गारपरक इस पद्य में नवदम्पति का वर्णन है । सद्यः परिणीता नायिका वासगृह को शून्य देखकर, शैया से थोड़ी–सी शनैः शनैः (बिना किसी शब्द के) उठी (पति जाग न जावें इसलिये धीरे से उठी) और निद्रा के बहाने से सोते हुए पति के मुख को बहुत देर तक ध्यान से देखकर उसने आश्वस्त होकर (कि पति गहरी निद्रा में सो रहा है) चुम्बन किया, किन्तु उसकी कपोलस्थली हर्ष से रोमाञ्चित देखकर (उसे अहसास हो गया कि प्रियतम सोया नहीं था, उसके परिणाम स्वरूप) लज्जावनतमुखी वह नवोढा वधू हँसते हुए अपने प्रियतम के द्वारा चिरकाल तक चुम्बित की गयी ।

यहाँ नायिका के हृदय में विद्यमान रति का नायक आलम्बन विभाव है, शून्यगृहं उद्दीपन विभाव है 'किञ्चिच्छनैरुत्थाय' से शंका के साथ उत्सुकता और 'सुचिरं

निर्वर्ण्य' से शुद्ध शंकारूप सञ्चारी भाव प्रकट होता है । विश्रब्ध चुम्बन अनुभाव और लज्जा सञ्चारी भाव है । इस प्रकार नायकनिष्ठ रति की नायिका आलम्बन, हर्ष, हास सञ्चारी भाव, और चिरचुम्बन अनुभाव है इन विभावानुभाव सञ्चारी भावों से यहाँ सम्भोग श्रृंगाराख्य रस की अभिव्यक्ति हो रही है । भाव का उदाहरण देते है –

यस्यालीयत शल्कसीम्नि जलधिः पृष्ठे जगन्मण्डलं
दंष्ट्रायां धरणी नखे दितिसुताधीशः पदे रोदसी ।
क्रोधे क्षत्त्रगणः, शरे दशमुखः, पाणौ प्रलम्बासुरो,
ध्याने विश्वमासावधार्मिककुलं, कस्मैचिदस्मै नमः ।।

जिस (विष्णु) की मत्स्यत्वक् सीमा (मछली की त्वचा के एकभाग) में समुद्र समा गया था (मत्स्यावतार), पीठ पर सकल भण्डल समा (धारण किया) गया था (कूर्मावतार), दाढ़ में पृथ्वी (वराहावतार), नखे में दैत्यराज हिरण्यकश्यपु (नरसिंहावतार), दो पदों में द्यावा, पृथिवी (वामनावतार), क्रोध में क्षत्रिय समूह (परशुराम अवतार), बाण में दशानन रावण (रामावतार), हाथ में प्रलम्बासुर (बलरामावतार), ध्यान में समस्त विश्व (बौद्धावतारों) एवं खड्ग में अधर्मीसमुदाय (कल्कि अवतार) समाहित हो गया था, ऐसे अनिवर्चनीय तेज स्वरूप वाले (दशावतारी देव) को नमस्कार है ।

यहाँ भगवद्विषयक रतिभाव व्यङ्गय है । देवादि विषयक रति व्यञ्जित होने पर भाव कहा जाता है –

सञ्चारिणः प्रधानानि देवादिविषयारतिः ।
उद्बुमात्रः स्थायी च भाव इत्यभिधीयते ।।

रसाभास यथा –

मधुद्विरेफः कुसमैकपात्रे पपौ प्रियां स्वामनुवर्तमानः ।
श्रङ्गेण च स्पर्शनिमीलिताक्षीं मृगीमकण्डूयत कृष्णसारः ।।

इन्द्र की आज्ञा से वसन्त को साथ लेकर 'कामदेव' जब कैलाश पर्वत पर शिवजी को मोहित करने पहुँचा उस समय उसके प्रभाव से पशुपक्षी भो मोहित हो गये थे इसी का वर्णन महाकवि कालिदास ने कुमार सम्भव में किया है –

कामपीडित भमर अपनी भमरी का अनुगमन करता हुआ पुष्प रूपी एक ही पात्र (चषक) में मधु का पान कर रहा है और स्पर्श सुख के कारण निमीलितनयना मृगी को कृष्णसार मृग अपने सींग से प्रेमपूर्वक खुजलाने लगा । यहाँ तिर्यग्विषयक रति होने से श्रृंगाराभास है । अनौचित्य से प्रवृत्त और पशुपक्षी विषयक श्रृंगार को श्रृङ्गाराभास कहते है –

अनौचित्य प्रवृत्तत्व आभासो रसभावयोः । 3/262

भावाभास हेतु विश्वनाथ तृतीय परिच्छेद में कहते हैं –

भावाभासो लज्जादिकं तु वेश्यादिविषये स्यात् । 3/266

अर्थात् लज्जादिक के वेश्यादिनिष्ठ होने पर भावाभास होता है ।

रस के साथ ही कारिका के पूर्वार्द्ध के उत्तरांश में विश्वनाथ ने दोषों का स्वरूप भो प्रस्तुत किया है – 'दोषास्तस्यापकषकाः' काव्य के अपकषकों को दोष कहते हैं । (उपचार प्रयोग से रस के विघातक दोष कहे जाते हैं) जिस प्रकार काणत्वखञ्जत्वादि दोष शरीर को दूषित करते हुए उसके माध्यम से आत्मा के विघातक होते हैं उसी प्रकार श्रुतिकटुत्वादि दोष काव्य के शरीर शब्द और अपष्टार्थत्वादि दोष अर्थ को दूषित करते हुए काव्यात्मभत् रस के अपकषक होते हैं । जिस प्रकार मूर्खत्वादि दोष साक्षात् (शरीर के द्वारा नहीं) आत्मा के विघातक होते

हैं । उसी प्रकार निर्वेदादि व्यभिचारीभावादि का स्वशब्दवाच्यत्वादि दोष भो साक्षात् रस के विघातक होने से दोष कहे जाते हैं ।

गुणालंकाररीतियों का स्वरूप बताते हुए कारिका के उत्तरार्द्ध में कहा गया है – **'उत्कषहेतवः प्रोक्ता गुणालप्राररीतयः'** अर्थात् गुणालंकार और रीतियाँ काव्य की उत्कृष्टता के कारण कहे गये हैं । यथा शौर्यादि गुण, कटक कुण्डलादि अलङ्कार एवं अङ्गारचनादि शरीर का उत्कष करते हुए आत्मा के उत्कषक होते हैं , तथैव काव्य में भो माधुर्य, ओज, प्रसादादि गुण, उपमा, यमकादि अलङ्कार एवं गोडी, पाञ्चाली, वैदर्भा आदि रीतियाँ काव्य शरीर रूप शब्द एवं अर्थ का उत्कष करते हुए काव्यात्मभ्त रस के उत्कषक कहे जाते हैं । जैसे अलङ्कारहीन काव्य की तुलना में सालङ्कार काव्य अधिक उत्कृष्ट हैं, ऐसा प्रयोग किया जा सकता है, वैसे ही गुण रहित काव्य की अपेक्षा सगुण काव्य उत्कृष्ट है ऐसा प्रयोग नहीं किया जा सकता, क्योंकि गुण यहाँ वस्तुतः रस के धर्म कहे गये हैं – उपचार से ही उन्हें गुणाभिव्यञ्जक शब्दार्थ का धर्म माना जाता है । ऐसी स्थिति में गुणविहीन शब्दार्थ को तो काव्य ही नहीं माना जा सकता । क्योंकि जहाँ गुण नहीं होंगे वहाँ रस भो नहीं होगा और विश्वनाथ ने 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' के अनुसार रसात्मकता में ही काव्यत्व को स्वीकार किया है । इस प्रकार गुणाभिव्यञ्जक शब्दार्थ ही रस के उत्कषक होते हैं । यही तात्पर्य अभोष्ट है।

वस्तुतः देखा जाये तो विश्वनाथ ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों, विशेषकर मम्मट के, काव्य लक्षण का खण्डन करते हुए जो अपना काव्यलक्षण – 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम् प्रस्तुत किया है वह भो विचारणीय ही है। क्योंकि जिनका खण्डन उन्होंने किया है उन सभो तत्वों को वे स्वयं भो परोक्ष रूप से स्वीकार करते ही है । अतः उनका यह खण्डनोद्योग निरर्थक सा प्रतीत होता ह । और फिर विश्वनाथ बिना खण्डन किये भो यदि अपना यह काव्यलक्षण प्रस्तुत कर देते तो शायद वह आलोचना का विषय नहीं होता किन्तु खण्डन की पूर्व पीठिका पर आरूढ़ होने के कारण यह ऐसा ही आभास कराता है जैसे कि 'खोदा पहाड़ और निकली चुहिया ।' विश्वनाथ का यह खण्डनोद्योग पाण्डित्य प्रदर्शन मात्र प्रतीत होता है । इसी के कारण विश्वनाथ ने प्रसिद्धद्धि भो अवश्य पायी है ।

2.6 पारिभाषिक शब्दावली

'अखिलानर्थान्' – तर्कवागीश जी एवं अन्यान्य कुछ विद्वानों ने 'अखिलानर्थान्' से तात्पर्य वाच्चलक्ष्यादिक अर्थों से लिया है, किन्तु यह समीचीन प्रतीत नहीं होता ।

अप्रधान कारण – यहां 'अङ्ग' पद का अर्थ है – अप्रधान कारण,

काव्यफल – अतः काव्यों के अध्ययनादि से जो फल होते हैं वे ही इस ग्रन्थ के भी प्रधान फल होते हैं, इस कारण काव्यफल कहते हैं ।

अनुबन्ध चतुष्टय – में चार है (1 प्रयोजन, 2 अधिकारी, 3 विषय एवं 4 सम्बन्ध)

काव्य – रसात्मक वाक्य को काव्य कहते हैं । उस काव्य के अपकषक दोष कहे जाते हैं तथा गुण, अलङ्कार एवं रीतियां उसके उत्कष हेतु कहे गये हैं ।

2.7 अभ्यासार्थ प्रश्न

बोध प्रश्न

प्र.1 रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए –

(1) साहित्यदर्पण के प्रथम परिच्छेद का नाम .... रखा गया है ।

(2) विश्वनाथ कविराज के अनुसार काव्य प्रयोजन .... है ।

(3) विश्वनाथ कविराज के अनुसार .... को काव्य कहते हैं ।

प्र.2 निम्न कारिकाओं की सप्रसंग व्याख्या कीजिए –

(1) शरदिन्दुसुन्दररूचिश्चेतसि सा मे गिरां देवी ।
अपहृत्य तमः सन्ततमर्थानखिलान्प्रकाशयतु ।।

(2) चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि ।
कान्यादेव यतस्तेन तत्स्वरूपं निरूप्यते ।।

(3) वाक्यं रसात्मकं काव्यं दोषास्तस्यापकषकाः ।
उत्कषहेतवः प्रोक्ता गुणालप्रार रीतय ।।

निबन्धात्मक प्रश्न

प्रश्न 1 अपने पूर्ववर्ती आचार्यों, विशेषकर मम्मट के काव्य लक्षण का खण्डन करते हुए विश्वनाथ द्वारा निरूपित काव्यलक्षण का समीक्षात्मक परीक्षण कीजिये ।

प्रश्न 2 पं. विश्वनाथकृत साहित्यदर्पण में वर्णित काव्यप्रयोजन का निरूपण कीजिय

बोध प्रश्नों के उत्तर

उ. 1 (1) काव्यस्वरूपनिरूपण
(2) चतुर्वर्ग की प्राप्ति
(3) रसात्मक वाक्य

उ. 2 (1) देखिए भाग – 2.3
(2) देखिए भाग – 2.4
(3) देखिए भाग – 2.5

2.8 सारांश

प्रस्तुत इकाई में विश्वनाथ कविराजकृत साहित्यदर्पण के प्रथम परिच्छेद के महत्वपूर्ण अंशों की व्याख्या एवं प्रश्नों के उत्तर प्रस्तुत किये है । साहित्यदर्पण के प्रथम परिच्छेद में मात्र तीन कारिकायें है – तीनों ही परीक्षा की दृष्टि से अवलोकनीय हैं अतः तीनों कारिकाओं की व्याख्या प्रसंग सहित प्रस्तुत की है प्रथम कारिका में ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति हेतु वाग्देवी सरस्वती की प्रार्थना की गयी है । द्वितीय कारिका में काव्य प्रयोजन के रूप में चतुर्वर्ग रूपीफल की प्राप्ति का विवेचन करने के साथ ही ग्रन्थ का अभिधान काव्यस्वरूप निरूपण बताया गया है । काव्यस्वरूप निरूपण प्रसंग में सर्वप्रथम मम्मट के काव्यलक्षण– 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि' का पदशः खण्डन एवं अपने पूर्ववर्ती अन्य आचार्यों के भी काव्यलक्षण का खण्डन करते हुए विश्वनाथकृत काव्य लक्षण – 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' पर विस्तृत समीक्षा प्रस्तुत की है । उक्त इकाई को पढ़ने के उपरान्त आप साहित्यदर्पण प्रथम परिच्छेद से सम्बद्ध कारिकाओं की व्याख्या कर सकेंगे । आगे प्रस्तुत परिच्छेद से सम्बद्ध प्रश्नों एवं उनके विवेचनात्मक उत्तर भी दिये जा रहे है इनकी सहायता से आप सम्बद्ध प्रश्नों के उत्तर दे सकेंगे ।

2.9 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. साहित्यदर्पण ,आचार्य शालिग्राम शास्त्री (विमल टीका)मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली,2004.
2. साहित्यदर्पण,निरूपण विद्यालङ्कार,साहित्य भण्डार मेरठ,1962.
3. साहित्यदर्पण,डॉ0 सत्यव्रत सिंह,शशिकला हिन्दी टीका,चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी,1976.
4. साहित्यदर्पण,आचार्य शेषराज शर्मा रेग्मी (चन्द्रकला संस्कृत हिन्दी टीका),कृष्णदास अकादमी, वाराणसी,1978.

इकाई–3

साहित्यदर्पण : द्वितीय परिच्छेद के महत्वपूर्ण अंशों की व्याख्या

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य
3.1 प्रस्तावना
3.2 साहित्यदर्पण : द्वितीय परिच्छेद की कथावस्तु
3.3 प्रथम कारिका–वाक्यं स्यात् .... द्विधा मतम्–की सप्रसङ्ग व्याख्या
3.4 तृतीय कारिका–वाच्योऽर्थो .... शक्तयः–की सप्रसङ्ग व्याख्या
3.5 चतुर्थ कारिका–तत्र सङ्केतित............ क्रियासु च–की सप्रसङ्ग व्याख्या
3.6 पञ्चम कारिका–मुख्यार्थबाधे .... शक्तिरर्पिता–की सप्रसङ्ग व्याख्या
3.7 षष्ठ कारिका–मुख्यार्थस्य .... लक्षणा–की सप्रसङ्ग व्याख्या
3.8 सप्तम कारिका–अर्पणं .... लक्षणलक्षणा–की सप्रसङ्ग व्याख्या
3.9 अष्टम कारिका–विषयस्य .... साध्यवसानिका–की सप्रसङ्ग व्याख्या
3.10 दशम कारिका–व्यङ्ग्यस्य .... द्विधा–की सप्रसङ्ग व्याख्या
3.11 द्वादश कारिका–विरतासु .... अर्थादिकस्य च–की सप्रसङ्ग व्याख्या
3.12 चतुर्दश कारिका–अनेकार्थस्य .... अभिधाश्रया–की सप्रसङ्ग व्याख्या
3.13 पञ्चदश कारिका–लक्षणोपास्यते .... लक्षणाश्रया–की सप्रसङ्ग व्याख्या
3.14 षोडश कारिका–वक्तृ वोद्धव्य .... अर्थसम्भवा–की सप्रसङ्ग व्याख्या
3.15 अष्टादश कारिका–शब्दबोध्यो .... सहकारिता–की सप्रसङ्ग व्याख्या
3.16 विंश कारिका–तात्पर्याख्यां .... परे–की सप्रसङ्ग व्याख्या
3.17 पारिभाषिक शब्दावली
3.18 अभ्यासार्थ प्रश्न
3.19 सारांश
3.20 संदर्भ ग्रंथ सूची

3.0 उद्देश्य –

स्नातकोत्तर पूर्वार्द्ध संस्कृत में चतुर्थ प्रश्न–पत्र भारतीय काव्यशास्त्र एवं व्याकरण के (1) भाग – साहित्यदर्पण (विश्वनाथः 1, 2 3 अध्याय) से सम्बन्धित इस तृतीय इकाई में साहित्यदर्पण के द्वितीय परिच्छेद के महत्वपूर्ण अंशों की व्याख्या प्रस्तुत की गयी है । इस इकाई को पढ़ने के उपरान्त आप–

- वाक्य स्वरूप से परिचित हो सकेंगे ।
- अभिधादि शब्द की तीन शक्तियों तथा उनसे बोधित होने वाले वाच्यादि तीन अर्थो को समझ सकेंगे ।
- अभिधा, लक्षणा एवं व्यञ्जना के भदों को लक्षण एवं उदाहरण सहित समझ सकेंगे और इनसे सम्बन्धित प्रश्नों के उत्तर दे सकेंगे ।

3.1 प्रस्तावना

संस्कृत के स्नातकोत्तर पूर्वार्द्ध के चतुर्थ प्रश्न–पत्र 'भारतीय काव्यशास्त्र एवं व्याकरण' के (1) भाग के अन्तर्गत विश्वनाथकृत 'साहित्यदर्पण' के 1, 2, 3 परिच्छेद का अध्ययन निर्धारित है । इससे पूर्व प्रथम इकाई में आप विश्वनाथ का समय एवं साहित्यदर्पण का योगदान तथा द्वितीय इकाई में साहित्यदर्पण प्रथम परिच्छेद के महत्वपूर्ण अंशों की व्याख्या एवं प्रश्नों के उत्तर पढ़ चुके है । सम्प्रति तृतीय इकाई में साहित्यदर्पण के द्वितीय परिच्छेद से महत्वपूर्ण अंशों की व्याख्या प्रस्तुत की जा रही है । व्याख्या के साथ कारिका का प्रसङ्ग भो अवतरणिका के रूप में दिया जा रहा है । विषय की स्पष्टता के लिये पहले कारिका का अर्थ, तत्पश्चात् विशद व्याख्या दी गयी है ।

आशा है इसको पढ़ने के उपरान्त आप वाक्य, शब्द, अर्थ एवं शब्द की शक्तियों–अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जनादि को सभद, सलक्षण, सोदाहरण भली–भाँति समझ सकेंगे ।

3.2 साहित्यदर्पण :– द्वितीय परिच्छेद की कथावस्तु

प्रथम परिच्छेद की अन्तिम कारिका में काव्य स्वरूप निरूपण करते हुए विश्वनाथ कविराज ने 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' कहा है । अर्थात् रसात्मक वाक्य काव्य है । जिस वाक्य की आत्मा रस हो, उसे काव्य कहते हैं । यहाँ वाक्य क्या है ? यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है । इसी जिज्ञासा के शमनार्थ सर्वप्रथम कारिका में वाक्य का लक्षण प्रस्तुत किया गया है । प्रसङ्गवश वाक्य के दो प्रकार–वाक्य एवं महावाक्य बताये है । क्योंकि पदों के समूह को वाक्य कहा जाता है अतः पद का भो लक्षण प्रस्तुत किया गया है। तृतीय कारिका में शब्द की तीन शक्तियाँ एवं उनसे बोधित होने वाले तीन अर्थो का उल्लेख किया गया है । शब्द की तीनों शक्तियों में से प्रथम शक्ति अभिधा का निरूपण चतुर्थ कारिका में, लक्षणा का निरूपण पञ्चम से एकादश कारिका तक भदों एवं उदाहरणों सहित तथा व्यञ्जना का निरूपण द्वादश से अष्टादश कारिका पर्यन्त किया गया है । एकोनविंश कारिका में शब्द के वाचक, लक्षक एवं व्यञ्जक तीन प्रकारों का उल्लेख करने क उपरान्त अन्तिम विंश कारिका में अभिहितान्वयवादियों के मत का भो उल्लेख किया गया है । इस प्रकार 'वाक्यस्वरूपनिरूपण' नामक इस द्वितीय परिच्छेद में – वाक्य, तीन प्रकार के अर्थ, शब्द की तीन शक्तियों एवं तीन प्रकार के शब्दों का विवेचन किया गया है ।

3.3 प्रथम कारिका – वाक्यं स्यात ..... द्विधा मतम्– की सप्रसंग व्याख्या

प्रसंग– 'प्रकृतसिद्धयनुकूलचिन्ताविषयत्वमुपोद्‌घातः'

अर्थात् प्रकृत विषय की सिद्ध्यर्थ जिसका विचार करना प्रसङ्ग प्राप्त हो उसे उपोद्‌घात कहते हैं । यहाँ काव्यलक्षण प्रकृत विषय है । वह है – 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' अर्थात् रसात्मक वाक्य काव्य ह । अतः यहाँ काव्य को समझने से पूर्व काव्य के आधारभत् वाक्य को समझना अनिवार्य है । इस उपोद्‌घात की संगति हेतु विश्वनाथ कविराज, द्वितीय परिच्छेद में सर्वप्रथम वाक्य का लक्षण प्रस्तुत कर रहे हैं ।

कारिका–वाक्यं स्याद्योग्यताकांक्षासत्तियुक्तः पदोच्चयः ।
वाक्योच्चयो महावाक्यं इत्थं वाक्यं द्विधा मतम् ।।

अर्थ – योग्यता, आकांक्षा एवं आसत्ति से युक्त पदोच्चय अर्थात् पदसमूह वाक्य कहा जाता है। वाक्यों का समूह महावाक्य कहा जाता है, इस तरह वाक्य दो प्रकार के होते है ।

व्याख्या – 'योग्यता पदार्थानां परस्पर सम्बन्धे बाधाभावः' अर्थात् पदार्थों के परस्पर सम्बन्ध में बाधा न होना ही योग्यता कहा जाता है । पदार्थो का परस्पर एक दूसरे से अन्वित होना ही वाक्य कहा जाता है । वाक्य में यह विशेषण होना अनिवार्य है,

क्योंकि इसके अभाव में यदि वाक्यत्व माना जाने लगता तब तो 'वह्निना सिञ्चति' भो वाक्य बन जाता, जबकि वह्नि में सेंचन क्रिया की योग्यता नहीं है । अग्नि जलाने का कार्य करती है, सीचने का नहीं । अतः इसे वाक्य नहीं कहा जा सकता। इसीलिये पदोच्चय में योग्यता का होना अनिवार्य है 'आकांक्षा प्रतीतिपर्यवसानविरहः' प्रतीति (जिज्ञासा) के पर्यवसान (अभाव) का विरह आकांक्षा कहा जाता है । पदार्थों की उपस्थिति के अन्वय का ज्ञान कराने के विरह का अभाव आकांक्षा है । वाक्यार्थ पूर्ति हेतु किसी जिज्ञासा का बना रहना आकांक्षा है, यह श्रोता की जिज्ञासा रूप है । आकांक्षाविहीन पदोच्चय को वाक्य मानने पर तो 'रामसीतामोहनरमा' इत्यादि भो वाक्य कहलाने लगेंगे–जबकि यह पदसमुदाय निराकांक्ष है अतः वाक्य नहीं हो सकता, इसी कारण पदसमुदाय में आकांक्षा का होना अनिवार्य है । 'आसत्ति बुद्ध्यविच्छेदः' अर्थात् बुद्धि (पदार्थों की उपस्थिति) के अविच्छेद (अव्यवधान) को आसत्ति कहा जाता है । बिना किसी व्यवधान के पदार्थों की उपस्थिति ही आसत्ति है। यह व्यवधान दो प्रकार का हो सकता है । 1. दो पदार्थों के मध्य काल का व्यवधान अथवा 2. प्रकृतोपयोगी पदार्थोपस्थिति के मध्य अनुपयोगी पदार्थोपस्थिति का व्यवधान । प्रथम का उदाहरण देते हुए विश्वनाथ कविराज कहते हैं – बुद्धि के विच्छेद होने पर भो वाक्यत्व मानने पर तो अभो उच्चरित 'देवदत्त' पद की दिनान्तरोच्चरित 'गच्छति' पद से सति हो जायेगी और यह वाक्य बन जायेगा, जबकि ऐसा नहीं होता । थोड़ा भो काल व्यवधान वाक्यार्थ ज्ञान प्राप्त कराने में असमर्थ है । अतः आसत्ति विहीन पदोच्चय को वाक्य नहीं कह सकते । द्वितीय का उदाहरण है 'गिरिभक्तमग्निमान् देवदत्तेन' यहाँ 'गिरिरग्निमान्' तथा 'भक्तं देवदत्तेन, ये दो वाक्य हैं । 'गिरिः' का सम्बन्ध 'अग्निमान्' से है, किन्तु यहाँ प्रकृत का अनुपयोगी 'भक्तम्' का व्यवधान आ गया है । इसी प्रकार 'भक्तं ' का सम्बन्ध 'देवदत्तेन' से है, किन्तु बीच में प्रकृत का अनुपयोगी 'अग्निमान्' का व्यवधान आ गया है । अतः यहाँ आसत्ति का अभाव होने के कारण वाक्यत्व नहीं होगा । इसी दोष के परिहारार्थ आसत्तियुक्त पदोच्चय को वाक्य कहा गया है ।

वाक्य के लक्षण में 'योग्यता, आकांक्षा एवं आसत्ति से युक्त पदोच्चय को वाक्य कहा गया है, किन्तु आकांक्षा श्रोता की जिज्ञासा रूप होने के कारण आत्मा का धर्म है, पदों का नहीं । इसी प्रकार योग्यता पदार्थ का धर्म है, पद का नहीं, अतः ये दोनों विभिन्न धर्मावलम्बी होने के कारण पदसमुदाय में किस प्रकार रह सकते है? इसी आशंका के निवारणार्थ विश्वनाथ कहते हैं – 'अत्राऽऽकांक्षायोग्यतयोरात्मार्थ धर्मत्वेऽपि पदोच्चयधर्मत्वमुपचारात्' अर्थात् यहाँ आकांक्षा और योग्यता के क्रमशः आत्मा और पदार्थ के धर्म होने पर भो पदसमुदाय की धर्मता उपचार से ही समझनी चाहिये । आकांक्षा'स्वजन्यजनकत्व' सम्बन्ध से पदों में रहती है । 'स्व' शब्द से आकांक्षा का ग्रहण किया जाता है । उससे 'जन्य'–वाक्यार्थ, और उसका 'जनक' पदसमूह होता है । योग्यता 'स्वाश्रयोपस्थापकत्व' सम्बन्ध से पदों में रहती है 'स्व' से योग्यता – उसका 'आश्रय' पदार्थ एवं उसका 'उपस्थापक ' पदसमूह होता है । इस प्रकार योग्यता, आकांक्षा और आसत्ति से युक्त पदसमुच्चय को वाक्य कहा जाता है ।

'वाक्योच्चयो महावाक्यम्' अर्थात् आकांक्षा, योग्यता एवं आसत्ति से ही युक्त वाक्यसमूह को महाकाव्य कहा जाता है । इस तरह वाक्य के दो प्रकार कहे गये है । 1. वाक्य एवं 2. महावाक्य ।

तन्त्रवार्तिक में कहा भो गया है –

'स्वार्थबोधसमाप्तानामङ्गाङ्गित्वव्यपेक्षया ।
वाक्यानामेकवाक्यत्वं पुनः संहत्य जायते ।।

अर्थात् अपने–अपने अर्थ का बोध कराकर समाप्त हुए (निराकांक्ष) वाक्यों के अङ्गाङ्गिभाव सम्बन्ध से (आकांक्षा के कारण गौणप्रधान भाव से) पुनः मिलकर (एकार्थ प्रतिपादक होने के कारण) एकवाक्य (महाकाव्य) होता है ।

वाक्य का उदाहरण यथा – **'शून्यं वासगृहं विलोक्य'** इत्यादि श्लोक तथा महावाक्य का उदाहरण–'रामायण, महाभारत इत्यादि सम्पूर्ण प्रबन्ध ।

3.4 तृतीय कारिका–वाच्योऽर्थो ..... शक्तयः– की सप्रसंग व्याख्या

प्रसंग – 'अर्थो वाच्यश्च लक्ष्यश्च व्यङ्गयश्चेति त्रिधा मतः' कहकर विश्वनाथ कविराज ने तीन प्रकार के अर्थों का निरूपण किया है – वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ एवं व्यङ्ग्यार्थ । इन तीनों अर्थों के असाधारण लक्षण एवं उसके साथ ही शब्द की तीन शक्तियाँ भो बताते है ।

कारिका – **वाच्वोऽर्थोऽभिधया बोध्यो लक्ष्यो लक्षणया मतः ।**
व्यङ्ग्यो व्यञ्जनया ता स्युस्तिस्रः शब्दस्य शक्तयः ।।

अर्थ – अभिधा के द्वारा बोधित होने वाला अर्थ वाच्य, लक्षणा के द्वारा बोधित होने वाला अर्थ लक्ष्य एवं व्यञ्जना द्वारा बोधित होने अर्थ व्यङ्ग्य कहलाता है । इस प्रकार (अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना) ये तीन शब्द की शक्तियाँ होती हैं ।

व्याख्या – कारिका में 'ता' का अर्थ अभिधादि से है, अर्थात् अभिधा, लक्षणा एवं व्यञ्जना ये तीन शब्द की शक्तियाँ कही जाती हैं । इनमें अभिधा के द्वारा वाच्यार्थ, लक्षणा के द्वारा लक्ष्यार्थ एवं व्यञ्जना के द्वारा व्यङ्ग्यार्थ का बोधन कराया जाता है । शब्द की इन तीनों शक्तियों से तीनों अर्थो का किस प्रकार बोध कराया जाता है ? इसका उल्लेख आगे किया गया है ।

3.5 चतुर्थ कारिका–तत्र सङ्केतित...... क्रियासु च– की सप्रसंग व्याख्या

प्रसंग – पूर्व कारिका में अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जना नामक तीन शक्तियाँ एवं वाच्य लक्ष्य तथा व्यङ्ग्य नामक तीन अर्थों का नामोल्लेख किया गया है । पुनः विश्वनाथ कविराज क्रमशः एक–एक शक्ति के लक्षणादि एवं उनके अर्थबोधन को स्पष्ट करने के क्रम में सर्वप्रथम अभिधा शक्ति का वर्णन करते हुए कहते है –

कारिका– **तत्र सङ्केतितार्थस्य बोधनादग्रिमाभिधा ।**
सङ्केतो गृह्यते जातौ गुणद्रव्यक्रियासु च ।।

अर्थ – उन (अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जना नामक शब्द की तीन शक्तियों) में संकेतित (प्रधान, कोश व्याकरणादि से नियन्त्रित) अर्थ का बोधन कराने के कारण प्रथम (शक्ति का नाम) अभिधा शक्ति है । संकेत का ग्रहण – जाति, गुण, द्रव्य और क्रिया (व्यक्ति की इन चार उपाधियों) में होता है ।

व्याख्या – यहाँ संकेतित शब्द का अर्थ – मुख्य है । व्याकरण, कोशादि में प्रसिद्ध अर्थ ही मुख्य अर्थ कहलाता है । लक्ष्य और व्यङ्ग्य अर्थों के पूर्व उपस्थित होना ही इसका मुख्यत्व है । संकेतग्रह के उपाय बताते हैं –

उत्तमवृद्ध अर्थात् प्रयोजक (किसी बड़े आदमी) द्वारा मध्यम वृद्ध अर्थात प्रयोज्य (छोटे आदमी) को लक्ष्य करके 'गामानय' ऐसा कहने पर मध्यम वृद्ध को गाय लाने में प्रवृत्त हुआ देख कर बालक (जिसको संकेत का ज्ञान नहीं है) इस वाक्य का शक्तिग्रहण से पूर्व 'सास्नादिमान् जीव को लाना' यह अर्थ गहण करता है । किन्तु पुनः 'गां बधान', 'अश्वमानय' इत्यादि में अवापोद्वाप (अन्वय–व्यतिरेक) द्वारा 'गां' का अर्थ, 'सास्नादिमान् जीव गाय', 'आनय' का 'लाना' 'बधान' का 'बाँधना' इत्यादि

प्रत्येक पद के अर्थ का पृथक–पृथक ग्रहण कर सम्पूर्ण वाक्यार्थ को समझने लगता है ।

कहीं कहीं प्रसिद्धपदसमभिव्याहार (प्रसिद्धार्थ पद के साहचर्य) से एवं आप्तोपदेश से भो सङ्केत का ग्रहण होता है । प्रथम उदाहरण यथा – 'इह प्रभिन्नकमलोदरे मधूनि मधुकरः पिबति' । यहाँ 'मधुकर' से (कमल के साथ होने के कारण) भमर का ही शक्तिग्रह होता है । द्वितीय उदाहरण यथा – छोटे बालक को उसका पिता घोडे की ओर लक्ष्य कर कहे कि – यह घोड़ा है या इसे घोड़ा कहते हैं, तो बालक उस प्रकार के जीव को घोड़ा समझने लग जाता है । इस प्रकार संकेतितार्थ का बोध कराने वाली, शब्द की अन्य (लक्षणा, व्यञ्जनादि) शक्तियों से अनन्तरित (अबाधित, अव्यवहित) अभिधानामक शक्ति कही जाती है ।

संकेत ग्रहण व्यक्ति में होता है अथवा उसकी उपाधि में ? यह दो प्रकार के मत संकेतग्रहण के विषय में प्रचलित है । विश्वनाथ कविराज संकेतग्रहण व्यक्ति में न मानकर व्यक्ति की चार उपाधियों– जाति, गुण, द्रव्य एवं क्रिया में मानते हैं । व्यक्ति में संकेत ग्रहण मानने पर आनन्त्य एवं व्यभिचारी दोष आ जाता है, क्योंकि व्यक्ति अनन्त हैं और सभो का एक साथ संकेत ग्रहण नहीं हो सकता, अतः आनन्त्य दोष है । एक में संकेत ग्रह मानने पर उसके आधार पर दूसरे व्यक्ति का ज्ञान असम्भव है, अतः व्यभिचार दोष होता है । इसीलिये यहाँ व्यक्ति की चार उपाधियों में संकेतग्रह माना गया है । ये उपाधियाँ – जाति, गुण, द्रव्य एवं क्रिया हैं । जाति–अर्थात् गो व्यक्ति आदि में गोत्व जाति । गुण–पदार्थ में विशेषता का आधान करने में कारणभ्त वस्तु का सिद्ध धर्म है । यथा शुक्ल आदि गुण गौ आदि को अपनी सजातीय कृष्ण गौ आदिकों से विलग कर देता है । द्रव्य – एक व्यक्तिवाचक शब्द हैं । जैसे 'हरि', 'हर', डित्थ', 'डवित्थ' आदि । द्रव्य ही संज्ञा भो कहे जाते हैं । और 'संज्ञा' (1) चिरन्तनी' और (2) आधुनिकी दो प्रकार की होती है । प्रथम दो नाम 'हरि' 'हर' चिरन्तनी संज्ञा के और द्वितीय दो नाम 'डित्थ', 'डवित्थ' आधुनिकी के उदाहरण हैं । द्रव्य शब्द शुक्ल गौ आदिकों के समूह में से उक्त संज्ञावाची व्यक्ति को पृथक करता है । क्रिया – वस्तु का साध्यरूप धर्म है । यथा – पाकादि । इन क्रियाओं में अधिश्रय अर्थात् पात्र को चूल्हे पर चढ़ाने से लेकर अवश्रयण, अर्थात पक जाने के पश्चात् पात्र को चूल्हे से उतारने तक सम्पूर्ण पूर्वापरीभ्त व्यवहार समुदाय पाकादि शब्द से व्यवहृत होता है । इस प्रकार जाति, गुण, द्रव्य एवं क्रिया व्यक्ति की इन चारों उपाधियों में संकेतग्रहण होता है।

3.6 पञ्चम कारिका–मुख्यार्थबाधे .....शक्तिरर्पिता– की सप्रसंग व्याख्या

प्रसंग– अभिधा, लक्षणा एवं व्यञ्जना शब्द की तीन शक्तियाँ कही गयी हैं । प्रथम अभिधा का निरूपण करने के उपरान्त क्रमशः लक्षणा को सभद प्रस्तुत्यर्थ विश्वनाथ लक्षणा का लक्षण निरूपित करते हैं –

कारिका– मुख्यार्थबाधे तद्युक्तो ययान्योऽर्थः प्रतीयते ।
रूढेः प्रयोजनाद्वाऽसौ लक्षणाशक्तिरर्पिता ।।

अर्थ – मुख्यार्थ बाधित (अभिधा प्राप्त संकेतित अर्थ का वाक्य में अभोष्ट अर्थ का ज्ञान कराने में अनुपपन्न) होने पर जिस शक्ति के द्वारा उस (मुख्यार्थ) से सम्बन्धित (किन्तु मुख्यार्थ से भिन्न) अन्यार्थ की रूढ़ि अथवा प्रयोजन के कारण प्रतीति होती है उस शक्ति को अर्पित (कल्पित) एवं लक्षणाशक्ति कहा जाता है ।

व्याख्या – लक्षणा शक्ति से लक्ष्यार्थ की प्रतीति में तीन सोपान अनिवार्य रूप से कार्य करते हैं – (1) मुख्यार्थ का बाधित होना (2) मुख्यार्थ के साथ लक्ष्यार्थ का सम्बन्ध होना तथा (3) रूढ़ि अथवा प्रयोजनवश अन्य (लक्ष्य) अर्थ की प्रतीति होना ।

यहाँ 'मुख्यार्थबाधे तद्युक्तो' कहकर हेतु पूर्वक विशेष अर्थ को प्रतिपादित करने वाली लक्षणा के द्वारा प्रतिपाद्य अर्थ के स्वरूप का निरूपण किया है । 'ययाऽन्योऽर्थः प्रतीयते' से लक्षणा का लक्षण स्पष्ट किया है । 'रूढेः प्रयोजनाद्वाऽसौ' से लक्षणा के दो भद किये गये हैं । रूढ़ि लक्षणा एवं प्रयोजनवती लक्षणा। 'अर्पिता' से लक्षणा का अभिधा से अन्तर व्यक्त किया है । शाब्दी व्यञ्जना में लक्षणा की प्रसक्ति के परिहार हेतु 'मुख्यार्थबाधे' कहा गया है । मुख्यार्थ से असम्बद्ध अर्थ के निवारण हेतु ही 'तद्युक्तः' कहा है, ताकि 'गंगायां घोषः' में गंगा के स्थान पर यमुना का तट न समझा जाये । इसीलिये मुख्यार्थ के साथ लक्ष्यार्थ के सम्बन्ध का ज्ञान भो लक्षणा का कारण माना गया है । हेतु (रूढि अथवा प्रयोजन) के बिना जिस किसी सम्बन्धी का लक्षणा के द्वारा बोधन होने पर तो अनेकत्र अतिव्याप्ति प्रसंग होगा – इसी के निवारणार्थ कारिका में 'रूढेः प्रयोजनाद्वा' अंश कहा है अर्थात् लक्षणा के लिये रूढि अथवा प्रयोजन में से किसी एक हेतु का होना अनिवार्य है।

कारिका में लक्षणा के दो भद किये हैं – (1) रूढिमूलालक्षणा (2) प्रयोजनमूला लक्षणा । रूढि लक्षणा का उदाहरण देते हैं – 'कलिङ्गः साहसिकः' यहाँ कलिङ्गादि शब्द अपने देशविशेषादिरूप मुख्य अर्थ में (देश–विशेष साहसी नहीं हो सकता इसलिये) अनुपन्न होते हुए शब्द की जिस शक्ति के द्वारा अपने अर्थ से आधाराधेय सम्बन्ध से संयुक्त पुरुषादिकों की प्रतीति कराते हैं । वह रूढिलक्षणा कही जाती है। यहाँ प्रयोजन के अभाव में (प्रसिद्धि अथ में) रूढिमूला लक्षणा है । इसी प्रकार प्रयोजनमूला लक्षणा का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं – 'गंगायां घोषः में गंगादि शब्द अपने जलमयादिरूप मुख्यार्थ में अनुपपन्न होते हुए शब्द की जिस शक्ति से अपने अर्थ से स्वसामीप्य सम्बन्ध से सम्बद्ध तटादि का बोध कराती है, वह लक्षणा कही जातो है । यहाँ 'गंगातटे घोषः' कहने पर शीतत्वपावनत्व की वह अतिशयता व्यक्त नहीं होती जो 'गंगायां घोषः' कहने पर हो रही है अतः यहाँ शीतत्वपावनत्व की अतिशयता को द्योतित करना प्रयोजन होने के कारण प्रयोजनमूला लक्षणा है । लक्षणा को अर्पिता, स्वाभाविकेतरा एवं ईश्वरा– नुद्भाविता भो कहा जाता है । जो अभिधा को स्वाभाविक शक्ति मानते हैं उनके लिये लक्षणा स्वाभाविकेतरा है एवं जो अभिधा को ईश्वरोद्भावित (ईश्वर–रचित) मानते हैं उनके लिये लक्षणा ईश्वरानुद्भावित शक्ति है ।

3.7 षष्ठ कारिका–मुख्यार्थस्य.......लक्षणा– की सप्रसंग व्याख्या

प्रसंग – पूर्व कारिका में लक्षणा के लक्षण के साथ ही उसके रूढ़ि एवं प्रयोजनवती दो भद भो किये हैं । इन्हीं भदों के क्रम में पुनः दोनों के दो–दो भद उपादान लक्षणा एवं लक्षणलक्षणा किये गये हैं । अग्रिम कारिका में उपादान लक्षणा का लक्षण बताते हुए व्युत्पत्तिपरक व्याख्या प्रस्तुत की गयी है –

कारिका– मुख्यार्थस्येतराक्षेपो वाक्यार्थे ऽन्वयसिये ।
स्यादात्मनोऽप्युपादानादेषोपादानलक्षणा ।।

अर्थ – वाक्यार्थ में (वाक्य के) अन्वय की सिद्धि हेतु (जिस वृत्ति के द्वारा) मुख्यार्थ से भिन्न अर्थ का आक्षेप किया जाता है । मुख्यार्थ का भो ग्रहण होने के कारण यह उपादान लक्षणा कही जाती है ।

व्याख्या – ''मुख्यार्थविषयिणी प्रतीतिरूपादानम् तद्धेतुर्लक्षणा उपादानलक्षणा'' अथवा ''उपादीयते स्वार्थो गृह्यतेऽनेनेत्युपादानम्, तन्नाम्नी लक्षणा उपादानलक्षणा'' इस प्रकार लक्षणा का उपादान नाम सार्थक ही है । वाक्यार्थ में स्वयं के अन्वय को सिद्ध करने हेतु जब अन्य अर्थ का भो आक्षेप किया जाता है और स्वयं का अर्थ भो ग्रहण किया जाता है, तब उपादान लक्षणा कही जाती है । यहाँ मुख्यार्थ अपना त्याग नहीं करता इसीलिये इसे अजहत्स्वार्था भो कहा जाता है । रूढ़ि में उपादानलक्षणा यथा – 'श्वेतो धावति' तथा प्रयोजन में उपादान लक्षणा यथा

–'कुन्ताः प्रविशन्ति' – इन दोनों में ही श्वेतादि तथा कुन्तादि अचेतन होने के कारण अकेले क्रमशः 'धावन' एवं 'प्रवेशन' क्रिया के कर्ता के रूप में अन्वित न हो पाने के कारण इनकी सिद्धयर्थ अपने से सम्बन्धित अश्वादि एवं पुरूषादिकों को आक्षिप्त कर लेते हैं अर्थात् 'श्वेतः' शब्द यहाँ समवाय सम्बन्ध से श्वेत रंग वाले अश्व का और 'कुन्ताः' शब्द समवाय सम्बन्ध से भाले धारण करने वाले (कुन्तधारी) पुरूषों का आक्षेप कराते हैं । प्रथम उदाहरण में प्रयोजन का अभाव होने के कारण रूढ़ि उपादान लक्षणा है एवं द्वितीय उदाहरण में कुन्तादिकों की अतिगहनता को प्रकट करना प्रयोजन है अतः यह प्रयोजनमूला उपादान लक्षणा है ।

लक्षणलक्षणा में तो मुख्यार्थ स्वयं को पूर्णतथा समर्पित कर देता है, स्वयं उपलक्षण मात्र बन कर रह जाता है । दोनों में यही अन्तर है ।

3.8 सप्तम कारिका–अर्पणं.....लक्षणलक्षणा– की सप्रसंग व्याख्या

प्रसंग – उपादान लक्षणा का लक्षण प्रस्तुत करने के उपरान्त विश्वनाथ क्रमशः लक्षणलक्षणा का लक्षण एवं नाम सार्थकता प्रस्तुत करते हुए कहते है –

कारिका– अर्पणं स्वस्य वाक्यार्थे परस्यान्वयसिये ।
उपलक्षणहेतुत्वादेषा लक्षणलक्षणा ।।

अर्थ – वाक्यार्थ में दूसरे (मुख्यार्थभिन्नार्थ) के अन्वय की सिद्धि के लिये (जिस वृत्ति के द्वारा) स्वयं के अर्थ का परित्याग कर दिया जाता है, उपलक्षण का हेतु होने के कारण वह लक्षणलक्षणा कहलाती है । अर्थात् जो शब्द अपने मुख्यार्थ को त्याग ;समर्पितद्ध कर जिस वृत्ति से लक्ष्यार्थ का उपलक्षण बन जाता है वह लक्षणलक्षणा कही जाती है ।

व्याख्या – ''लक्ष्यते उपलक्ष्यतेऽनेनेत्युपलक्षणम् । तन्नाम्ना लक्षणा लक्षणलक्षणा'' इस व्युत्पत्ति के अनुसार यहाँ लक्षणलक्षणा नाम की सार्थकता –'उपलक्षणहेतुत्वात्' से बतायी गयी है । उपादानलक्षणा में जहाँ वाक्यार्थ में अपने अन्वय की सिद्धि के लिये अपने अर्थ का ग्रहण करते हुए ही अन्यार्थ आक्षिप्त कर लिया जाता है । वहाँ लक्षणलक्षणा में इसके ठीक विपरीत वाक्यार्थ में दूसरे अन्वय की सिद्धि के लिये मुख्यार्थ का पूर्णतया परित्याग कर दिया जाता है । उपलक्षक मात्र बन कर रह जाता है । इसे जहत्स्वार्था भो कहा जाता है । रूढ़ि और प्रयोजन में क्रमशः इसके उदाहरण – 'कलिङ्गः साहसिकः' एवं 'गंगायां घोषः' है । इन दोनों में ही पुरूष और तट के अन्वय की सिद्धि के लिये कलिङ्ग और गंगा शब्द अपने मुख्यार्थ को समर्पित कर देते हैं । एक अन्य उदाहरण यथा –

उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते सुजनता प्रथिता भवता परम् ।
विदधदोदृशमेव सदा सखे सुखितमास्व ततः शरदां शतम् ।।

यह एक मित्र की अपकारी मित्र के प्रति उक्ति है । यहाँ वाक्यार्थ में अपकारादि के अन्वय की सिद्धि के लिये उपकृत आदि शब्द अपने मुख्यार्थ को पूर्णतया समर्पित कर देते हैं । अपकारी के प्रति उपकारादि का प्रतिपादन होने के कारण मुख्यार्थ बाधित होने से वैपरीत्य लक्षण सम्बन्ध से अपकारादि अर्थों को आक्षिप्त किया गया है । अपकारातिशय द्योतित करना यहाँ प्रयोजन है । इस प्रकार लक्षण लक्षणा में मुख्यार्थ का परित्याग कर दिया जाता है । वह उपलक्षण बन कर रह जाता है । 'गंगायां घोषः' मे गंगा के तट पर घोष ह यह अर्थ किया जाता है । न कि यमुना या किसी अन्य के तट पर ।

3.9 अष्टम कारिका–विषयस्य....साध्यवसानिका–की सप्रसंग व्याख्या

प्रसंग – रूढ़ि एवं प्रयोजन तथा पुनः उपादान एवं लक्षण लक्षणा के भद से लक्षणा के चार प्रकार बताये गये हैं । इसी क्रम में इन चारों के सारोपा एवं साध्यवसाना के कारण पुनः दो–दो भद होकर अष्टभदा लक्षणा हो जाती है । इन्हीं दोनों भदों का निरूपण अग्रिम कारिका में किया जा रहा है ।

कारिका– विषयस्यानिगीर्णस्यान्यतादात्म्यप्रतीतिकृत् ।
सारोपा स्यान्निगीर्णस्य मता साध्यवसानिका ।।

अर्थ – (विषयी के द्वारा) अनिगीर्ण विषय का अन्य (विषयी) के साथ तादात्म्य की प्रतीति कराने वाली सारोपा कही जाती है, तथा (विषयी के द्वारा) निगीर्ण (आच्छादित) स्वरूप विषय का विषयी के साथ तादात्म्य (अभद) ज्ञान कराने वाली लक्षणा साध्यवसाना कही जाती है ।

व्याख्या – वाक्य में जिस पदार्थ के स्वरूप का स्पष्टतया निर्देश किया गया है, जिस उपमेय का स्वरूप अप्रधान उपमानभ्त–चन्द्रादि (विषयी) से अनाच्छादित है, निगीर्ण नहीं है, उसी प्रकृत उपमेय मुखादि विषय की अन्य अर्थात् अप्रकृत उपमानरूप चन्द्रादि विषयी के साथ अभद का ज्ञान कराने वाली लक्षणा सारोपा कहलाती है । 'आरोपेण सह वर्तत इति सारोपा' अर्थात् जिसका आरोप हो वह सारोपा है । यहाँ आरोप से तात्पर्य है – विषयविषयिणोभदेनोपन्यासोऽत्रारोपार्थः विषय एवं विषयी का भदपूर्वक उपन्यास यहाँ आरोप है । साध्यवसाना अर्थात् – विषयनिगरणेन विषयिणो– ऽभदप्रतीतिरध्यवसानम्, तेन सह वर्तत इति साध्यवसाना अर्थात् विषय के निगरण पूर्वक (विषयी के द्वारा आच्छादित विषय की) विषयी के साथ अभद की प्रतीति कराना अध्यवसान कहलाता है । और उस अध्यवसान के साथ होना – साध्यवसाना कहलाती है ।

सारोपा लक्षणा ही रूपकालङ्कार का बीज है। रूढ़ि में सारोपा उपादान लक्षणा का उदाहरण – यथा – 'अश्वः श्वेतः धावति।' यहाँ श्वेतगुणविशिष्ट अश्व (श्वेतः रूप विषयी से) अनिगीर्ण स्वरूप है । 'अश्वः' को 'श्वेतः' से निगीर्ण नहीं किया गया है, क्योंकि स्ववाचक 'अश्व' शब्द से वह उपलब्ध ह तथा अपने में समवाय सम्बन्ध से विद्यमान श्वेत गुण के साथ अभिन्न रूप से प्रतीत हो रहा है । अतः यह सारोपा का उदाहरण है । 'श्वेत' शब्द की श्वेत गुणविशिष्ट के रूप में प्रसिद्धद्धि होने के कारण रूढ़ि है । श्वेत गुण अपने स्वरूप (श्वेत वर्णता) को भो लक्ष्यार्थ के साथ बोध करा रहा है, अतः उपादान लक्षणा है । इस प्रकार यह रूढ़ि में सारोपा उपादान लक्षणा का उदाहरण है । 'श्वेतो धावति' रूढि में साध्यवसाना उपादान लक्षणा का उदाहरण है । यहाँ श्वेत (विषयी) के द्वारा अश्व (विषय) का आच्छादन कर विषयी श्वेत के साथ विषय अश्व की अभद प्रतीति होने के कारण साध्यवसाना है ।

प्रयोजन में सारोपा उपादान लक्षणा–यथा 'एते कुन्ताः प्रविशन्ति।' यहाँ सर्वनाम के द्वारा कुन्तधारी पुरूषों का निर्देश होने के कारण आरोप है । 'कुन्ताः' के द्वारा 'एते' अनिगीर्ण स्वरूप है – 'कुन्ताः प्रविशन्ति' प्रयोजन में साध्यवसाना उपादान लक्षणा का उदाहरण है, क्योंकि यहाँ 'कुन्ताः' के द्वारा 'एते' का निगरण कर लिया गया है । रूढ़ि में लक्षणलक्षणा सारोपा– यथा– 'कलिः पुरूषो युध्यते' । 'कलिङ्ग' से अनिगीर्ण 'पुरूष' की कलिङ्ग के साथ तादात्म्य की प्रतीति होने के कारण यहाँ सारोपा है । यहाँ आधाराधेयभाव सम्बन्ध ह । रूढ़ि में लक्षणलक्षणा साध्यवसाना यथा – 'कलिङ्गः साहसिकः'। यहाँ कलिङ्ग के द्वारा निगीर्ण पुरूष का कलि से अभद प्रतिपादित होने के कारण साध्यवसाना है । प्रयोजन में लक्षण लक्षणा सारोपा यथा – 'आयुघृर्तम्' । यहाँ यद्यपि घृत आयु का कारण है तथापि घृत अपने

कार्यकारण भाव सम्बन्ध से सम्बन्धी आयु के साथ अभिन्न रूप से प्रतीत हो रहा है । दोनों (आयु एवं घृत) की उपलब्धता के कारण सारोपा है । आयु शब्द आयु के कारण को उपलक्षित मात्र करता है । अतः लक्षणलक्षणा है तथा अन्य आयुवर्धक कारणों की अपेक्षा घृत का विलक्षण रूप से अव्यभिचारी भाव से आयुष्य को करना यहाँ प्रयोजन है । इस प्रकार यहाँ प्रयोजनवती सारोपा लक्षणलक्षणा है । प्रयोजन में साध्यवसाना लक्षण लक्षणा का उदाहरण 'गंगायां घोषः' है । इस प्रकार यहाँ तक अष्टभदा लक्षणा का निरूपण किया गया है।

3.10 दशम कारिका–व्यङ्ग्यस्य.....द्विधा–की सप्रसंग व्याख्या

प्रसंग – अनन्तरोक्ता अष्टभदा लक्षणा के पुनः शुद्धा और गौणी के कारण दो–दो भद होकर 16 प्रकार हो जाते है। सादृश्य सम्बन्ध के कारण शुद्धा एवं सादृश्यसम्बन्ध के कारण गौणी कही जाती है । इस षोडशभदात्मिका लक्षणा में से प्रयोजनवती लक्षणा के आठ भदों के व्य्य के गूढ़ एवं अगूढ होने के कारण दो–दो भद से कुल षोडश भद तथा प्रयोजन के धर्मि एवं धर्मगत होने के कारण द्वात्रिंशद् भद कहे गये हैं । इसी को अग्रिम कारिका में निरूपित किया जा रहा है ।

कारिका– व्यङ्ग्यस्य गूढागूढत्वाद् द्विधा स्युः फललक्षणणा ।। 10 ।।
धर्मिधर्मगतत्वेन फलस्यैता अपि द्विधा ।।

अर्थ – (प्रयोजन मूला लक्षणा में) व्यङ्ग्य के (कहीं) गूढ एवं (कहीं) अगूढ (स्पष्ट) होने के कारण (अष्टभदा) फलवती लक्षणा दो प्रकार की होती है तथा फल के धर्मिगत एवं धर्मगत होने के कारण यह (षोडश भदा लक्षण) पुनः दो प्रकार की होती है । (इस प्रकार फलवती लक्षणा के द्वात्रिंशत् भद हो जाते हैं।)

व्याख्या – प्रयोजन में जो अष्टभदा लक्षणा निरूपित की गई है वह प्रयोजन रूप व्यङ्ग्य के गूढ और अगूढ होने के कारण प्रत्येक दो प्रकार की होकर षोडश भदा हो जाती है । गूढ़ से यहाँ तात्पर्य है जो वाक्यार्थ भावना से परिपक्व बुद्धि–विलास मात्र सहृदय सामाजिकों के द्वारा संवेद्य हो क्योंकि उसमें प्रयोजन अत्यन्त गहरा होने के कारण सर्वजन संवेद्य नहीं होता है। यथा – पूर्व में प्रस्तुत श्लोक–'उपकृतं बहु तत्र' इत्यादि । जो प्रयोजन स्पष्ट होने के कारण सर्वजनसंवेद्य हो वह अगूढ कहा जाता है यथा–

'उपदिशति कामिनीनां यौवनमद एव ललितानि ।' यहाँ 'उपदिशति' से 'आविष्करोति' प्रकट हो रहा है और यह लक्ष्यार्थ अभिधा के समान स्पष्ट रूप से प्रतीत हो रहा है।

फल के कहीं धर्मिगत एवं कहीं धर्मगत होने के कारण अनन्तरोक्त षोडश भदा लक्षणा पुनः दो प्रकार की हो जाती है । इस तरह यहाँ तक फलवती लक्षणा के द्वात्रिशंद भद बताये गये हैं । धर्मिगत का उदाहरण यथा –

स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्तवियतो वेल्लद्बलाका घना
वाता शीकरिणः पयोदसुहृदांमानन्दकेकाः कलाः ।
कामं सन्तु दृढं कठोरहृदयो रामोऽस्मि सर्वं सहे
वैदेही तु कथं भविष्यति हहा हा देवि धीरा भव ।।

यह वर्षा विलासों को अठखेलियाँ करते देख सीता वियोग से सन्तप्त भगवान रामचन्द्र की उक्ति है – स्निग्ध एवं श्यामल कान्ति से आकाश को आच्छादित करने वाले तथा विचरण करती हुई बलाकाओं से युक्त मेघ भले ही घुमड़ें, शीकर युक्त मन्दमन्द समीर भले ही बहे, और मेघों के मित्र मयूरों की मधुर आनन्द भरी केकारव भले ही सुनाई दे, मैं तो अत्यन्त कठोरहृदय –'राम' हूँ । सब कुछ सहन कर लूँगा, किन्तु अत्यन्त सुकुमारी कोमलहृदया वैदेही का क्या होगा ? हे देवि ! धैर्य रखना । – यहाँ 'राम' शब्द की विशेष ध्वनि को बोधित करने के लिये ही 'कठोरहृदय'

विशेषण का प्रयोग किया है, जिससे यह अर्थ ध्वनित हो रहा है कि मैं तो अनर्थ परम्पराओं को सहन करने का आदि हो गया हूँ अतः मैं दुःखसहिष्णु 'राम' हूँ । इस प्रकार यहाँ अत्यन्त दुःखसहिष्णुरूप धर्मी राम में लक्षमणा के द्वारा उस दुःखसहिष्णुत्व रूप की ही अतिशयता का बोध कराना प्रयोजन है । 'गंगायां घोषः' में तट की शीतलतापावनता रूप धर्म की अतिशयता बताना प्रयोजन है, अतः यह धर्मगत फलवती लक्षणा का उदाहरण है ।

इस प्रकार द्वात्रिंशद्भदा प्रयोजनवती लक्षणा एवं अष्टभदा रूढ़ि लक्षणा को मिलाकर लक्षणा के चालीस भद कहे हैं । अन्त में पुनः इन सभो के पदगत एवं वाक्यगत भद करके कुल अस्सी प्रकार की लक्षणा साहित्यदर्पण में वर्णित की गयी है । पदगत का उदाहरण – 'गंगायां घोषः' तथा वाक्यगत का उदाहरण यथा – 'उपकृतं बहु तत्र' इत्यादि है ।

3.11 द्वादश कारिका – विरतासु..... अर्थादिकस्य च–की सप्रसंग व्याख्या

प्रसंग – लक्षणा का भदों एवं उदाहरणपूर्वक निरूपण करने के उपरान्त विश्वनाथ कविराज क्रमशः शब्द की तृतीय वृत्ति व्यञ्जना को भदों एवं उदाहरण सहित प्रस्तुत करने के क्रम में सर्वप्रथम लक्षण प्रस्तुत करते हैं –

कारिका– विरतास्वभिधाद्यासु ययाऽर्थो बोध्यते परः ।
सा वृत्तिर्व्यञ्जनानाम शब्दस्यार्थादिकस्य च ।।

अर्थ – अभिधाादि वृत्तियों के (अपने अपने व्यापार के उपरान्त) विरत हो जाने पर जिस वृत्ति के द्वारा (इन वाच्य, लक्ष्यादिक अर्थों से पृथक) अन्य अर्थ की प्रतीति करायी जाती है, वह शब्द की तथा – अर्थादि (में रहने वाली) की वृत्ति व्यञ्जना नाम (से कही जाती) है ।

व्याख्या – 'शब्दबुद्धिकमणां विरम्य व्यापाराभावः' अर्थात् शब्द, बुद्धि एवं कम का एक बार अपना कार्य कर विरत होने के उपरान्त पुनः व्यापार नहीं होता । कम का उदाहरण यथा देवदत्त ने किसी को थप्पड मार दिया । अब कितना ही प्रयत्न कर लिया जाये वह थप्पड़ 'नहीं लगा हुआ' नहीं हो सकता । उस क्रिया के विरत हो जाने पर पुनः उसे कोई नहीं कर सकता। बुद्धि–यथा–रस्सी को देखकर एक बार सर्पबुद्धि हो जाने पर देवदत्त डर गया । अब चाहे कितनी भो कोशिश की जाये वह प्रथम ज्ञान निकल नहीं सकता । भले ही रस्सी का वास्तविक ज्ञान होने पर प्रथम ज्ञान असत्य प्रतीत हो, किन्तु एक बार हुआ ज्ञान नहीं निकाला जा सकता । इसी प्रकार शब्द भो एक ही बार व्यापार करता है, अतः अपना अपना अर्थ उपस्थित करके अभिधा, लक्षणा, तात्पर्य नामक शब्द की तीनों वृत्तियाँ उपक्षीण हो जाती है, उनमें पुनः व्यापार नहीं होता । इस नियम से अभिधा, लक्षणा एवं तात्पर्य नामक वृत्तियों के अपने–अपने अर्थ की प्रतीति कराके उपरत हो जाने पर जिस वृत्ति के द्वारा इन सबसे भिन्न अन्य अर्थ का बोधन होता है, वह व्यञ्जना कहलाती है। यह व्यञ्जना शब्द, अर्थ, प्रकृति, प्रत्यय उपसर्गादिनिष्ठ होने के कारण विविध प्रकार की होती है, किन्तु यहाँ विशेष रूप से केवल शाब्दी एवं आर्थी व्यञ्जना का ही निरूपण किया गया है । व्यञ्जना को व्यञ्जन, ध्वनन, गमन, प्रत्यायनादि नामों से भो व्यवहृत किया जाता है।

यथा–पदार्थोपस्थिति के अनन्तर अभिधा के विरत हो जाने पर 'गंगायां घोषः' इत्यादि स्थलों पर तटादि अर्थों के बोधनार्थ दूसरी (लक्षणा) शक्ति का आश्रय लेना पड़ता है । अपने कार्य से विरत हुई अभिधा का पुनः आश्रय नहीं लिया जा सकता। इसी प्रकार वाच्य, लक्ष्य और तात्पर्यार्थ का बोधन कराकर उपक्षीण हो चुकी अभिधा, लक्षणा एवं तात्पर्य में से किसी से भो इनसे भिन्नार्थ का बोध नहीं हो सकता, उसके लिये अन्य वृत्ति ;व्यञ्जनाद्ध का आश्रय लेना होगा । यह व्यञ्जना

दो प्रकार की कही गयी है – शाब्दी व्यञ्जना एवं आर्थी व्यञ्जना । कारिका के अन्त में विद्यमान आदि शब्द से तात्पर्य है कि हस्तादि की चेष्टा के द्वारा भो विभिन्न आकारों आदि का बोधन कराया जाता है । यथा – 'इतना बड़ा कमल' अथवा 'इतनी–सी कली' इत्यादि ।

3.12 चतुर्दश कारिका–अनेकार्थस्य....अभिधाश्रया –की सप्रसंग व्याख्या

प्रसंग – व्यञ्जना के लक्षण के साथ ही शाब्दी एवं आर्थी दो प्रकार की व्यञ्जना का निरूपण किया गया है । पुनः शाब्दी व्यञ्जना के दो भद बताये गये हैं – अभिधामूला एवं लक्षणामूला व्यञ्जना । अभिधामूला व्यञ्जना का निरूपण करते हुए कहते हैं –

कारिका– अनेकार्थस्य शब्दस्य संयोगाद्यैर्नियन्त्रिते ।
एकत्रार्थेऽन्यधीहेतुर्व्यञ्जना साऽभिधाश्रया ।।

अर्थ – संयोगादि के द्वारा अनेकार्थक शब्द के एक अर्थ में नियन्त्रित हो जाने के उपरान्त (जिसके द्वारा) अन्यार्थ का ज्ञान होता है, वह अभिधाश्रया व्यञ्जना कही जाती है ।

व्याख्या – प्रकरणप्राप्त अर्थ का बोध कराके अभिधा के उपक्षीण हो जाने पर अप्राकरणिक अर्थ के बोधन हेतु व्यञ्जनावृत्ति अभिधा की अपेक्षा करती है, अतः इसे अभिधाश्रया या अभिधामूलाव्यञ्जना कहा जाता है । यहा अनेकार्थक शब्द को प्रथम संयोगादि के द्वारा प्राकरणिक अर्थ में नियन्त्रित कर अभिधा के क्षीण हो जाने पर पुनः अभिधा के आश्रय से ही अप्राकरणिक की प्रतीति होती है । संयोगादि के निरूपणार्थ विश्वनाथ प्रस्तुत पद्यांश उद्घृत करते है –

संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता ।
अर्थः प्रकरणं लिङ्ग शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः ।।
सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः ।
शब्दार्थस्य अनवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः ।।

अर्थात् अनेकार्थ शब्द के अर्थ का निर्धारण न होने पर संयोग, विप्रयोग, साहचर्य, विरोधिता, अर्थ, प्रकरण, लिङ्ग, अन्यशब्दसन्निधि, सामर्थ्य, साहचर्य, औचित्य, देश, काल, व्यक्ति, स्वरादि विशेष ज्ञान के कारण होते हैं। जब अनेकार्थक शब्द का किसी एक अर्थ में नियन्त्रित करने का निश्चय नहीं हो पाये तो ऐसी स्थिति में से उक्त विभिन्न कारणों में से किसी भो एक से एकार्थ–नियन्त्रण का निश्चय किया जा सकता है । विश्वनाथ इन सभो के क्रमशः एक एक उदाहरण भो प्रस्तुत करते है' सशंखचक्रो हरिः' यहाँ शंखचक्र के संयोग के कारण ही 'हरि शब्द 'विष्णु' अर्थ का ही अभिधान करता है । (यद्यपि 'यमाऽनिलेन्द्रार्कविष्णुसिहांशुवाजिषु। शुकाहिकपिभकेषु हरिर्ना कपिले त्रिषु के अनुसार हरि के यमादि विभिन्न अर्थ होते हैं, किन्तु शंखचक्र का संयोग तो केवल विष्णु के साथ ही प्रसिद्ध है।) 'अशंखचक्रो हरिः' यहाँ भो शंखचक्र के वियोग के कारण 'हरि' से 'विष्णु' अर्थ ही ग्रहण किया जाता है । 'भोमार्जुनौ' यहाँ साहचर्य के कारण ही भोम का अर्थ होगा भोम नामक पाण्डव (न कि भयंकर) तथा अर्जुन का अर्थ होगा पार्थ (न कि अर्जुन नामक वृक्ष) । 'कर्णार्जुनौ' में विरोधिता के कारण ही 'कण' का अर्थ सूतपुत्र 'कण' ग्रहण किया जायेगा (न कि कान) । 'स्थाणुं वन्दे' में अर्थ (प्रयोजन) के कारण 'स्थाणु' का अर्थ 'शिव' होगा (न कि ठूँठ आदि। यहाँ पूर्ण वाक्य है – 'स्थाणुं वन्दे भवच्छिदे' भवछेदन का प्रयोजन शिव से ही संभव है, अन्य से नहीं।) 'सर्वं जानाति देवः' में प्रकरण वश 'देव' का अर्थ 'आप' है (पुरोवर्ती राजा न कि कोई अन्य देवता) । 'कुपितो मकरध्वजः' में लि के कारण 'मकरध्वज' का अर्थ 'कामदेव' है (न कि समुद्र क्योंकि कोपरूप लि चेतन का ही धर्म हो सकता है, अचेतन का नहीं) । 'देवः

पुरारिः' देवशब्द के सान्निध्य से 'पुरारिः' शिव का अभिधान करता है, (किसी अन्य का नहीं) । 'मधुना मत्तः पिकः' (कोयल को मस्त करने की) सामर्थ्य के कारण 'मधु' शब्द (दैत्य, वसन्त, मद्य आदि विभिन्न अथो में से) वसन्त का ही अभिधान करता है । 'पातु वो दयितामुखम्' औचित्य के कारण 'मुख' से 'साम्मुख्य' (अनुकूलता) का ग्रहण होता है । (वदनादि का नहीं) । 'विभाति गगने चन्द्रः' यहाँ देश के कारण चन्द्र से चन्द्रमा का ग्रहण होता है (क्योंकि आकाश में चन्द्रमा ही सुशोभित हो सकता है कपूर्रादि नहीं) । 'निशि चित्रभानुः' कालवश 'चित्रभानु' वह्नि का अभिधान करता है । (रात्रि में अग्नि ही हो सकता है, सूर्यादि नहीं) 'भाति रथाम्' नपुंसक व्यक्ति के कारण रथा चक्र का बोधक है (चक्रवाक आदि का नहीं । चक्रवाक के अर्थ में रथाः इस प्रकार पुंलि में प्रयोग होता) । स्वर तो वेद में ही विशेष प्रतीति कराने वाले होते है । अतः यहाँ उसका उदाहरण नहीं दिया गया । इस प्रकार इन संयोगादिकों के द्वारा अनेकार्थक शब्द का एक अर्थ में नियमन हो जाने पर जिस वृत्ति के द्वारा अन्यार्थ की प्रतीति हो उसे अभिधामूला व्यञ्जना कहा जाता है । यहाँ विश्वनाथ कविराज ने अपने पितृचरण श्री चन्द्रशेखर का पद्य उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है –

दुर्गालङ्घितविग्रहो मनसिजं सम्मीलयंस्तेजसा
प्रोद्यद्राजकलो गृहीतगरिमा विष्वग्वृतो भोगिभिः ।
नक्षत्रेशकृतेक्षणो गिरीगुरौ गाढां रूचिं धारयन्
गामाक्रम्य विभूतिभूषिततनू राजत्युमावल्लभः ।।

प्रकृत पद्य में प्रकरणवश अभिधा के द्वारा 'उमावल्लभ' शब्द के उमा नामक महारानी के पति 'भानुदेव नृपति' रूप अर्थ में नियन्त्रित हो जाने पर व्यञ्जना नामक वृत्ति के द्वारा ही उमा अर्थात् गौरी वल्लभ शिवरूप अर्थ का बोधन कराया जाता है । प्रकृत पद्य में सभो विशेषण उमावल्लभ के है जो एक ओर उमा महारानी के पति राजा भानुदेव के पक्ष में अभिधा के द्वारा अर्थबोध कराते है तो दूसरी ओर व्यञ्जना के द्वारा अन्यार्थ प्रस्तुत कर उमावल्लभ, पार्वतीपति शिव के अर्थ का बोध कराते हैं।

3.13 पञ्चदश कारिका–लक्षणोपास्यते.....लक्षणाश्रया–की सप्रसंग व्याख्या

प्रसंग – अभिधामूला व्यञ्जना का निरूपण करने के उपरान्त विश्वनाथकविराज क्रमशः लक्षणामूला व्यञ्जना का उपन्यास करते हैं –

कारिका– लक्षणोपास्यते यस्य कृते तत्तु प्रयोजनम् ।
यया प्रत्याय्यते सा स्याद्व्यञ्जना लक्षणाश्रया ।।

अर्थ – जिस (प्रयोजन) के (बोध के) लिये (प्रयोजनवती) लक्षणा का आश्रय लिया जाता है, वह प्रयोजन जिस (वृत्ति) के द्वारा बोधित हो वह लक्षणामूला व्यञ्जना कही जाती है ।

व्याख्या – जिस प्रयोजन विशेष को लक्ष्य कर शब्द में अभिधा को छोड़कर प्रयोजनवती लक्षणा का आश्रय लिया जाता है, वह प्रयोजन लक्षणामूला व्यञ्जना के द्वारा ही प्रतीत हुआ करता है । जिस शीतत्व पावनत्व के अत्याधिक्य को द्योतित करने हेतु 'गंगातटे घोषः' के स्थान पर जैसे 'गंगायां घोषः' कहा जाता है, उस प्रयोजन की प्रतीति व्यञ्जना वृत्ति के द्वारा ही हुआ करती है । 'गंगायां घोषः' इत्यादि में जलमयप्रवाहादि मुख्यार्थ का बोधन कराके अभिधा के विरत हो जाने पर, तटादि रूप लक्ष्यार्थ का बोधन कराके लक्षणा के विरत हो जाने, पर शब्द की जिस शक्ति के द्वारा शीतलता–पावनता आदि के आधिक्य रूप अर्थ की प्रतीति होती हैं वह लक्षणामूला व्यञ्जना कही जाती है ।

3.14 षोडश कारिका–वक्तृ बोव्य......अर्थसम्भवा–की सप्रसंग व्याख्या

प्रसंग – व्यञ्जना–निरूपण प्रसंग में व्यञ्जना के दो भद कहे गये हैं शाब्दी एवं आर्थी व्यञ्जना। शाब्दी व्यञ्जना के अभिधामूला एवं लक्षणामूला दो भदों का वर्णन करने के उपरान्त विश्वनाथ कविराज सम्प्रति भदों एवं उदाहरणों सहित आर्थी व्यञ्जना प्रस्तुत करते हैं ।

कारिका– वक्तृ बोव्यवाक्यानामन्यसंनिधिवाच्ययोः ।
प्रस्तावदेशकालानां काकोश्चेष्टादिकस्य च ।।
वैशिष्ट्यादन्यमर्थं या बोधयेत्साऽर्थसम्भवा ।

अर्थ – वक्ता, बोव्य, वाक्य, अन्यसन्निधान, वाच्य, प्रस्ताव, देश, काल, काकु तथा चेष्टा आदि के वैशिष्ट्य के कारण जो वृत्ति अन्यार्थ का बोध कराती है वह आर्थी व्यञ्जना कही जाती है ।

व्याख्या – वक्ता अर्थात् कहने वाला, बोव्य अर्थात् जिससे बात कही जाये, वाक्य, अन्य सन्निधान, वाच्य (अर्थ), प्रस्ताव अर्थात् प्रकरण, देश (स्थान), काल (समय), काकु (विशिष्ट कण्ठध्वनि) तथा चेष्टा आदि में से किसी भो एक या अनेक की विशेषता के कारण जहाँ अन्य अर्थ का बोध हो, वहाँ आर्थी व्यञ्जना कही जाती है । वक्तृ वाक्य, प्रस्ताव, देशकाल की विशेषता के कारण बोधित आर्थी व्यञ्जना के उदाहरण के रूप में विश्वनाथ कविराज स्वयं का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं –

कालो मधुः कुपित एष च पुष्पधन्वा
धीरा वहन्ति रतिखेदहराः समीराः ।
केलीवनीयमपि वञ्जुलकुञ्मञ्जु–
दूरे पतिः कथय किं करणीयमद्य ।।

नायिका अपनी सखी से कहती है – वसन्तुऋतु का समय है और कामदेव भो कुपित हैं, रतिश्रम को हरने वाली वायु मन्द–मन्द बह रही है, यह क्रीडावन भो अशोकवृक्ष के कुञ्जों से मनोहर है, किन्तु पति दूर है, अतः हे सखि बताओ, आज क्या करना चाहिए ? यहाँ वक्ता, वाक्य, प्रस्ताव एवं देशकाल के वैशिष्ट्य के कारण व्यञ्जना से यह अर्थ ध्वनित हो रहा है कि 'हे सखि ! तुम शीघ्र ही प्रच्छन्न कामुक को यहाँ भज दो ।

बौद्धव्य वैशिष्ट्य का उदाहरण देते हैं –

निःशेषच्युतचन्दनं स्तनतटं निर्मृष्टरागोऽधरो
नेत्रे दूरमनञ्जने पुलकिता तन्वी तवेयं तनुः ।
मिथ्यावादिनि ! दूति ! बान्धवजनस्याज्ञातपीडागमे
वापीं स्नातुमितो गतासि न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकम् ।।

नायक को बुलाने हेतु भजी गयी, किन्तु नायक द्वारा उपभक्त और स्वयं को वापी स्नान करके आयी बताने वाली दूती के प्रति विदग्धा एवं कुपिता नायिका का उक्ति है –

हे मिथ्या वादिनी ! ('मैंने नायक को तुम्हारे पास लाने का अत्यन्त प्रयास किया किन्तु वह नहीं आया' इस प्रकार असत्य बोलने वाली) अपने बन्धु जन अर्थात् मेरी विरह पीडा को न समझने वाली दूति ! यहाँ से बावड़ी में स्नान करने गयी थी, उस अधम नायक के पास नहीं गयी थी, क्योंकि तुम्हारे स्तन तट का चन्दन साफ हो गया है (स्नान से तो पूरे शरीर का ही चन्दन मिट जाना चाहिये था), अधरोष्ठ की लालिमा मिट गयी है, दोनों नेत्र प्रान्त भाग से ही कज्जल रहित हो रहे हैं, (अन्यत्र नहीं) यह तुम्हारा कृश शरीर पुलकित हो रहा है । यह अर्थ यहाँ अभिधा के द्वारा निकल रहा है किन्तु बोव्य दूती की विशेषता के कारण 'उसी अधम के

पास गयी थी' यह विपरीत लक्षणा के द्वारा प्रतिपादित हो रहा है, साथ ही यह व्यंग्यार्थ भो दूती के वैशिष्ट्य से ही ध्वनित हो रहा है कि तुम 'उस नायक के पास रतिक्रीडा करने गयी थो', क्योंकि उसके बिना तुम्हारे शरीर की यह स्थिति असंभव थी । इस प्रकार तुम यहाँ से वापी में स्नानार्थ नहीं गयी थी, अपितु उस अधम के पास गयी थी (लक्ष्यार्थ) । 'रमणार्थ गयी थी,' (व्यग्यार्थ), यह प्रयोजन बोव्य दूती के वैशिष्ट्य से ही बोधित हो रहा है। अन्यसन्निधि के वशिष्ट्य का उदाहरण, यथा –

पश्य निश्चल निस्पन्दा बिसिनीपत्रे राजते बलाका ।
निर्मलमरकतभाजनपरिस्थिता शंखशुक्तिरिव ।।

यह निर्जन वन कुञ्ज में निश्चेष्ट प्रियतम के प्रति नायिका का कथन है – हे निश्चल ! देखो ! कमलिनी के पत्ते पर बैठी हुई बलाका निर्मल मरकत की थाली में रखे हुए शंख के समान निस्पन्द शोभित हो रही है । यहाँ बलाका के निस्पन्द होने के कारण विश्वस्तता है । इस विश्वस्तता से इस स्थान की निर्जनता सूचित हो रही है । अतः यह संकेत स्थान हो सकता है ऐसा किसी नायिका के द्वारा प्रच्छन्न कामुक के प्रति कहा जा रहा है । इस सङ्केत स्थान का बोध अभिधा के द्वारा नहीं, प्रत्युत् व्यञ्जना के द्वारा हो रहा है ।

'भिन्नकण्ठध्वनिर्धीरैः काकुरित्यभिधीयते' भिन्न कण्ठ ध्वनि को काकु कहा जाता है । इसके वैशिष्ट्य का उदाहरण देते हैं–

गुरुपरतन्त्रतया बत दूरतरं देशमुद्यतो गन्तुम् ।
अलिकुलकोकिलललिते नेष्यति सखि, सुरभिसमयेऽसौ ।।

नायिका का अपनी सखी से कथन है – गुरू (पिता या स्वामी) के आधीन होने के कारण मेरा पति अन्यन्त दूर देश में जाने को उद्यत हुआ है । हे सखि ! वह भमरकुल एवं कोकिलों से मनोहर इस बसन्त ऋतु में नहीं आयेगा ? अर्थात् अवश्य आयेगा । यहाँ अभिधा से नैष्यति' (नहीं आयेगा) अर्थ निकल रहा है, किन्तु काकुवैशिष्ट्य के कारण 'एष्यत्येव' (अवश्य ही आयेगा) अर्थ ध्वनित हो रहा है । इसी प्रकार चेष्टा वैशिष्ट्य का उदाहरण देते है –

सङ्केतकालमनसं विटं ज्ञात्वा विदग्धया ।
हसन्नेत्रार्पिताकूतं लीलापद्मं निमीलितम् ।।

सङ्केतकाल जानने की इच्छायुक्त विट को जानकर विदग्धा नायिका ने विकसित नेत्रों से अपने भावों को बताते हुए लीलाकमल बन्द कर दिया । यहाँ कमल को बन्द कर देने से यह सूचित किया गया है कि संध्याकाल, जब कमल मुकुलित हो जाता है, सङ्केत का समय है – यह व्यङ्ग्यार्थ चेष्टा के वैशिष्ट्य से निकल रहा है ।

इस प्रकार वक्ता आदि के वैशिष्ट्य से व्यंग्यार्थ का बोध कराया जाता है । वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य के भद से अर्थ के तीन प्रकार होने के कारण यह आर्थी व्यञ्जना भो तीन प्रकार की ही हुआ करती है । 1. वाच्यार्थ की व्यञ्जना यथा – 'कालो मधुः' इत्यादि । 2. लक्ष्यार्थ की व्यञ्जना यथा – 'निःशेषच्युतचन्दनं' – इत्यादि तथा व्यङ्ग्यार्थ की व्यञ्जना यथा – 'पश्य निश्चल' – इत्यादि ।

3.15 अष्टादश कारिका–शब्दबोध्यो.... सहकारिता–की सप्रसंग व्याख्या

प्रसंग – शाब्दी व्यञ्जना में जहाँ शब्द में चमत्कार होता है, वहीं आर्थी व्यञ्जना में अर्थ में चमत्कार होता है । तथापि शाब्दी में अर्थ की एवं आर्थी में शब्द की उपयोगिता कम नहीं होती – क्योंकि शब्द और अर्थ का निरन्तर सहभाव रहता है । बिना शब्द के अर्थ अपने चमत्कार को व्यक्त नहीं कर सकता और बिना अर्थ

शब्द का चमत्कार असम्भव है । तो फिर शाब्दी और आर्थी व्यञ्जना में भद क्यों किया गया है ? इसी आशंका का समाधान अग्रिम कारिका में करते है ।

कारिका– शब्दबोध्यो व्यनक्त् यर्थः शब्दोऽप्यर्थान्तराश्रयः ।
एकस्य व्यञ्जकत्वे तदन्यस्य सहकारिता ।।

अर्थ – शब्द से प्रतिपादित होकर ही अर्थ (अन्यार्थ को व्यञ्जना द्वारा) बोधित करता है और शब्द भो अन्यार्थ का आश्रय लेकर ही व्यञ्जक होता है, इस प्रकार एक के व्यञ्जक होने पर दूसरे की सहभागिता होती है ।

व्याख्या – आर्थी व्यञ्जना में जहाँ अर्थ अतिशय–चमत्कार पूर्ण होता है वहाँ अर्थ शब्द का आश्रय लेकर ही, शब्द के सहयोग से ही अन्यार्थ का बोधक होता है । दूसरी ओर शाब्दी व्यञ्जना में शब्द का चमत्कार अन्यार्थ के आश्रय से, उसके सहयोग से ही सम्भव हो सकता है, अतः शब्द और अर्थ में से किसी भो एक के व्यञ्जक होने पर दूसरे की सहकारिता अवश्य होती है अर्थात् दूसरा अप्रधान कारण होता है । इस प्रकार ये दोनों एक दूसरे के पूरक हुआ करते है । एक के बिना द्सरे की व्यञ्जकता सर्वथा असम्भव होती है । शब्द और अर्थ का सहभाव तो नित्य है । इसीलिये कालिदास ने रघुवंश के प्रारंभ में कहा है –

वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये ।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ ।।

3.16 विंश कारिका–तात्पर्याख्यां.....परे–की सप्रसंग व्याख्या

प्रसंग – तीन प्रकार के शब्द, अर्थ और उनकी शक्तियों का निरूपण करने के उपरान्त विश्वनाथ तात्पर्य नामक चतुर्थ वृत्ति का भो उल्लेख करते है कुमारभट्ट प्रभति मीमांसाचार्य और प्राचीन नैयायिक वाक्य के द्वारा अर्थ की प्रतीति कराने हेतु तात्पर्य नामक चतुर्थ वृत्ति को अनिवार्य मानते हैं । उनके अनुसार अभिधा या लक्षणा द्वारा प्रस्तुत प्रत्येक पद के अर्थों का सम्बन्ध वाक्य से प्रतीत होता हुआ तात्पर्य वृत्ति की अपेक्षा करता है । इसी मत की ओर सङ्केत करते हुए विश्वनाथ कहते हैं –

कारिका– तात्पर्याख्यां वृत्तिमाहुः पदार्थान्वयबोधने ।
तात्पर्यार्थं तदर्थं च वाक्यं तद्बोधकं परे ।।

अर्थ – कुछ लोग पदार्थ के अन्वय का बोधन कराने में तात्पर्य नामक वृत्ति को मानते हैं । उस तात्पर्य वृत्ति के प्रतिपाद्य अर्थ को तात्पर्यार्थ तथा वाक्य को उस तात्पर्यार्थ का बोधक मानते हैं ।

व्याख्या – जिस प्रकार अभिधा वृत्ति से वाच्यार्थ की प्रतीति होती है, उसका बोधक शब्द वाचक होता है, लक्षणा वृत्ति से लक्ष्यार्थ की प्रतीति होती है, उसका बोधक लक्षक होता है और व्यञ्जना वृत्ति से व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है, उसका बोधक व्यञ्जक होता है उसी प्रकार तात्पर्य वृत्ति से तात्पर्यार्थ की प्रतीति होती है और उसका बोधक वाक्य कहा जाता है। अभिधादि शक्तियों के एक एक पद के अर्थ का बोधन कराने के उपरान्त विरत हो जाने पर वाक्यार्थ रूप पद के अर्थ का अन्वय बोधित कराने वाली तात्पर्य नामक वृत्ति कही जाती है । इस वृत्ति द्वारा बोधित अर्थ तात्पर्यार्थ है और उस तात्पर्यार्थ का ज्ञान कराने वाला वाक्यार्थ कहा जाता है । यह मत 'अभिहितान्वयवादियों का है । इसके विपरीत अन्विताभिधानवादी मीमांसक यह मानते है कि क्रिया और कारक का पहले से ही अन्वय बोध होता है। उसके बाद शक्तिगृह होता है और पद विशेष के समुच्चय से पुनः विशेष स्मृति होती है, अतः तात्पर्य नामक चतुर्थ वृत्ति को स्वीकारने की कोई आवश्यकता नहीं है।

यहाँ दो प्रकार के मत प्रचलित है **(1) अभिहितान्वयवादी** – अभिहितानां स्वस्ववृत्या पदैरूपस्थितानामन्वय इति ये वदन्ति तेऽभिहितान्वयवादिन इत्यन्वर्थमभिधानम् । अभिहित (अभिधा से उपस्थित) अर्थों का अन्वय (सम्बन्ध) मानने वाले 'अभिहितान्वयवादी' कहे जाते हैं ।

(2) अन्विताभिधानवादी – पदान्यन्वितानि भत्वानन्तरं विशिष्टमर्थं बोधयन्तीति ये वदन्ति तेऽन्विताभिधानवादिन इत्यन्वर्थं नाम । अन्वित (परस्पर सम्बद्ध) ही अर्थ का अभिधान (अभिधा से उपस्थिति) मानने वाले अन्विताभिधान वादी कहे जाते हैं । प्रथम मत प्राचीन नैयायिक कुमारिलभट्टादि मीमांसकों का है तो द्वितीय मत प्राभाकर आदि मानते हैं । ये अर्थ के अन्वयार्थ तात्पर्य नामक वृत्ति को स्वीकार नहीं करते क्योंकि इनके मतानुसार पदार्थ परस्पर अन्वित ही उपस्थित होता है। विश्वनाथ कविराज भो इसी के पक्षपाती हैं इसीलिये उन्होंने पद लक्षण में 'अनन्वितैकार्थबोधकाः लिखा है ।

3.17 पारिभाषिक शब्दावली

वाक्य – योग्यता, आकांक्षा एवं आसत्ति से युक्त पदोच्चय अर्थात् पदसमूह वाक्य कहा जाता है। वाक्यों का समूह महावाक्य कहा जाता है, इस तरह वाक्य दो प्रकार के होते है ।

'स्वाश्रयोपस्थापकत्व' – योग्यता 'स्वाश्रयोपस्थापकत्व' सम्बन्ध से पदों में रहती है 'स्व' से योग्यता – उसका 'आश्रय' पदार्थ एवं उसका 'उपस्थापक ' पदसमूह होता है ।

शब्द की शक्तियाँ – अभिधा के द्वारा बोधित होने वाला अर्थ वाच्य, लक्षणा के द्वारा बोधित होने वाला अर्थ लक्ष्य एवं व्यञ्जना द्वारा बोधित होने अर्थ व्यङ्ग्य कहलाता है । इस प्रकार (अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना) ये तीन शब्द की शक्तियाँ होती हैं ।

शब्दशक्ति – अभिधा, लक्षणा एवं व्यञ्जना ये तीन शब्द की शक्तियाँ कही जाती हैं । इनमें अभिधा के द्वारा वाच्यार्थ, लक्षणा के द्वारा लक्ष्यार्थ एवं व्यञ्जना के द्वारा व्यङ्ग्यार्थ का बोधन कराया जाता है ।

संकेत ग्रहण – व्यक्ति में होता है अथवा उसकी उपाधि में ? यह दो प्रकार के मत संकेतग्रहण के विषय में प्रचलित है । विश्वनाथ कविराज संकेतग्रहण व्यक्ति में न मानकर व्यक्ति की चार उपाधियों– जाति, गुण, द्रव्य एवं क्रिया में मानते हैं ।

द्रव्य – एक व्यक्तिवाचक शब्द हैं । जैसे 'हरि', 'हर', डित्थ', 'डवित्थ' आदि । द्रव्य ही संज्ञा भी कहे जाते हैं । और 'संज्ञा' (1) चिरन्तनी' और (2) आधुनिकी दो प्रकार की होती है ।

लक्षणाशक्ति – मुख्यार्थ बाधित (अभिधा प्राप्त संकेतित अर्थ का वाक्य में अभीष्ट अर्थ का ज्ञान कराने में अनुपपन्न) होने पर जिस शक्ति के द्वारा उस (मुख्यार्थ) से सम्बन्धित (किन्तु मुख्यार्थ से भिन्न) अन्यार्थ की रूढ़ि अथवा प्रयोजन के कारण प्रतीति होती है उस शक्ति को अर्पित (कल्पित) एवं लक्षणाशक्ति कहा जाता है ।

लक्षणलक्षणा – जो शब्द अपने मुख्यार्थ को त्याग ;समर्पितद्ध कर जिस वृत्ति से लक्ष्यार्थ का उपलक्षण बन जाता है वह लक्षणलक्षणा कही जाती है ।

लक्षणा साध्यवसाना – (विषयी के द्वारा) अनिगीर्ण विषय का अन्य (विषयी) के साथ तादात्म्य की प्रतीति कराने वाली सारोपा कही जाती है, तथा (विषयी के द्वारा) निगीर्ण (आच्छादित) स्वरूप विषय का विषयी के साथ तादात्म्य (अभेद) ज्ञान कराने वाली लक्षणा साध्यवसाना कही जाती है ।

व्यञ्जना नाम – अभिधाादि वृत्तियों के (अपने अपने व्यापार के उपरान्त) विरत हो जाने पर जिस वृत्ति के द्वारा (इन वाच्य, लक्ष्यादिक अर्थों से पृथक) अन्य अर्थ की प्रतीति करायी जाती है, वह शब्द की तथा – अर्थादि (में रहने वाली) की वृत्ति व्यञ्जना नाम (से कही जाती) है ।

3.18 अभ्यासार्थ प्रश्न

बोध प्रश्न एवं अभ्यास

प्र.1 निम्न प्रश्नों के उत्तर संक्षेप में दीजिये –

(1) वाक्य का लक्षण बताइये ।
(2) वाक्य कितने प्रकार के होते है ? उनके नाम लिखिये ।
(3) शब्दों के प्रकार एवं उनके नाम लिखिए ।
(4) अर्थो के प्रकार एवं उनके नाम लिखिए ।

(5) शब्द की शक्तियाँ के प्रकार एवं नाम लिखिए ।
(6) सङ्केत का ग्रहण किसमें होता है ? उनके नाम लिखिए ।
(7) लक्षणा के कुल कितने भेद हैं ?
(8) द्वितीय परिच्छेद का क्या नाम रखा गया है ?

प्र.2. नीचे शब्द की तीन शक्तियाँ एवं तीन अर्थ लिखे गये हैं । प्रत्येक शक्ति से बोधित अर्थ का सही उत्तर रिक्त कोष्ठक में लिखिये ।

1.	अभिधा	(क) व्यङ्ग्यार्थ	( )
2.	लक्षणा	(ख) वाच्यार्थ	( )
3.	व्यञ्जना	(ग) लक्ष्यार्थ	( )

अभ्यास :–

प्र.1 विश्वनाथ कविराज के अनुसार अभिधा शक्ति का निरूपण कीजिये ।
प्र.2 विश्वनाथ कविराज के अनुसार लक्षणा शक्ति को भेदों एवं उदाहरणों सहित स्पष्ट कीजिये ।
प्र.3 विश्वनाथ कविराज के अनुसार व्यञ्जना का सोदाहरण निरूपण कीजिये ।
प्र.4 निम्न कारिकाओं की सप्रसंग व्याख्या कीजिए –

(1) मुख्यार्थबाधे तद्युक्तो ययाऽन्योऽर्थः प्रतीयते ।
रूढेः प्रयोजनाद्वासौ लक्षणाशक्तिरर्पिता ।।
(2) मुख्यार्थस्येतराक्षेपो वाक्यार्थेऽन्वयसिये ।
स्यादात्मनोऽप्युपादानादेषोपादानलक्षणा ।।
(3) अर्पणं स्वस्य वाक्यार्थे परस्यान्वयसिये ।
उपलक्षणहेतुत्वादेषा लक्षणलक्षणा ।।
(4) विरतास्वभिधाद्यासु ययाऽर्थो बोध्यते परः ।
सा वृत्तिर्व्यञ्जना नाम शब्दस्यार्थादिकस्य च ।।

बोध प्रश्नों के उत्तर

उ. 1.

(1) वाक्यं स्याद्योग्यताकांक्षासत्तियुक्तः पदोच्चयः ।
(2) वाक्य दो प्रकार के होते हैं – 1. वाक्य 2. महावाक्य
(3) शब्द तीन प्रकार के होते हैं – 1. वाचक 2. लक्षक 3. व्यञ्जक
(4) अर्थ तीन प्रकार के होते हैं – 1. वाच्यार्थ 2. लक्ष्याथ 3. व्यङ्ग्यार्थ
(5) शब्द की तीन शक्तियाँ होती हैं – 1. अभिधा 2. लक्षणा 3. व्यञ्जना
(6) सङ्केत का ग्रहण व्यक्ति की चार उपाधियों में होता है । यह हैं – 1. जाति 2. गुण 3. द्रव्य 4. क्रिया ।
(7) लक्षणा के कुल 80 भेद कहे गये हैं ।
(8) द्वितीय परिच्छेद का नाम 'वाक्यस्वरूपनिरूपण' रखा गया है ।

उ. 2.

1. (ख)
2. (ग)
3. (क)

अभ्यास

1. देखिए भाग 3.5
2. देखिए भाग 3.6 से 3.10 तक
3. देखिए भाग 3.11 से 3.15 तक
4. (1) देखिए भाग 3.6
   (2) देखिए भाग 3.7
   (3) देखिए भाग 3.8
   (4) देखिए भाग 3.11

3.19 सारांश

प्रस्तुत इकाई में साहित्यदर्पण के 'वाक्यस्वरूप निरूपण' नामक द्वितीय परिच्छेद के महत्वपूर्ण अंशों की व्याख्या प्रस्तुत की गयी है । प्रारंभ में द्वितीय परिच्छेद का प्रतिपाद्य भी उपस्थित किया है जिससे कारिका का अध्ययन करते समय छात्रों को कथावस्तु का ज्ञान रहे । 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' के अनसार रसात्मक वाक्य ही काव्य हैं । तो वाक्य क्या है ? 'वाक्यं स्याद्योग्यताकांक्षाऽऽसक्तियुक्तः पदोच्चयः' अर्थात् योग्यता, आकांक्षा एवं आसक्ति से युक्त पदसमूह को वाक्य कहा जाता है । अर्थ तीन होते है – वाच्य, लक्ष्य एवं व्यङ्ग्य । वाच्यार्थ अभिधाबोध्य लक्ष्यार्थ लक्षणाबोध्य एवं व्यङ्ग्यार्थ व्यञ्जना–बोध्य है । इस प्रकार तीनों अर्थो की तीन शक्तियाँ कही गयी हैं – अभिधा, लक्षणा एवं व्यञ्जना । इनमें संकेतितार्थ की बोधक अभिधा कही जाती है । सङ्केत का ग्रहण व्यक्ति की – जाति, गुण द्रव्य एवं क्रिया – इन चार उपाधियों में होता है । मुख्यार्थ बाधित होने पर उस मुख्यार्थ से सम्बद्ध अन्य अर्थ की रूढ़ि अथवा प्रयोजन के कारण जो शक्ति प्रतीति कराती है उसे लक्षणा कहा जाता है । लक्षणा के कुल अस्सी भेद बताये गये है । अभिधा, लक्षणा आदि वृत्तियों के अपने अर्थ का बोध कराने के बाद क्षीण हो जाने पर जिस वृत्ति से इनसे पृथक अन्यार्थ की प्रतीति होती है उसे व्यञ्जना कहा जाता है । इसके मुख्य दो भेद–शाब्दी एवं आर्थी व्यञ्जना है । शाब्दी पुनः दो प्रकार की एवं आर्थी के विभिन्न भेद इकाई में प्रस्तुत किये गये हैं । व्यञ्जना में जहाँ शब्द व्यञ्जक हो वहाँ अर्थ की एवं जहाँ अर्थ व्यञ्जक हो वहाँ शब्द की सहकारिता अवश्य माननी चाहिये । इन अर्थो के बोधक शब्द भी क्रमशः वाचक, लक्षक एवं व्यञ्जना के भेद से तीन प्रकार के होते हैं । इस प्रकार तीन शब्द, तीन अर्थ एवं शब्द की तीन शक्तियाँ ही विश्वनाथ को मान्य हैं । कुछ विद्वान् तात्पर्यनामक चतुर्थ वृत्ति को वाक्यार्थ के अन्वयबोधनार्थ स्वीकार करते हैं । उसका भी परिच्छेद की अन्तिम कारिका में उल्लेख मिलता है । वह अभिहितान्वयवादियों का मत है । अन्विताभिधानवादी तात्पर्य को चतुर्थवृत्ति के रूप में स्वीकार नहीं करते।

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप वाक्य, शब्द, अर्थ एवं शब्द की अभिधादि तीन शक्तियों से सम्बन्धित सभी प्रश्नों के उत्तर दे सकेंगे ।

3.20 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. साहित्यदर्पण ,आचार्य शालिग्राम शास्त्री (विमल टीका)मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली, 2004.
2. साहित्यदर्पण,निरूपण विद्यालङ्कार,साहित्य भण्डार मेरठ,1962.
3. साहित्यदर्पण,डॉ0 सत्यव्रत सिंह,शशिकला हिन्दी टीका,चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, 1976.
4. साहित्यदर्पण,आचार्य शेषराज शर्मा रेग्मी (चन्द्रकला संस्कृत हिन्दी टीका),कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, 1978.

इकाई–4

अभिधा, संकेत–ग्रह, लक्षणा, व्यंजना का विस्तृत विवेचन (साहित्य दर्पण)

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य
4.1 प्रस्तावना
4.2 अभिधा शब्द शक्ति
4.2.1 वाक्यार्थ–बोध एवं पदार्थ बोध
4.2.2 शब्द की तीन शक्तियाँ
4.2.3 अभिधा
4.3 संकेत – ग्रह
4.3.1 संकेत–ग्रह किसमें?
4.3.2 आनन्त्य दोष
4.3.3 व्यभिचार दोष
4.3.4 संकेत–ग्रह के अन्य कारण
4.4 लक्षणा शब्द शक्ति
4.4.1 लक्षणा का लक्षण
4.4.2 लक्षणा के प्रवर्तक कारण
4.4.3 रूढ़ि लक्षणा का उदाहरण
4.4.4 प्रयोजनवती लक्षणा का उदाहरण
4.4.5 'कमणि कुशलः' रूढ़ि लक्षणा का उदाहरण नहीं
4.4.6 लक्षणा के मुख्य 16 भद
4.4.7 लक्षणा के 80 भद
4.4.8 उपादान लक्षणा का लक्षण
4.4.8.1 लक्षणा के सारोपा, साध्यसाना तथा शुद्धा और गौणी भद
4.4.9 उपादान लक्षणा के आठ भदों के उदाहरण
4.4.10 लक्षण लक्षणा का लक्षण
4.4.11 लक्षण लक्षणा के आठ भदों के उदाहरण
4.4.12 अशीतिप्रकाराः लक्षणा
4.5 व्यंजना शब्द शक्ति
4.5.1 व्यंजना का लक्षण
4.5.2 व्यंग्यार्थ
4.5.3 व्यंजना के भद
4.5.3.1 शाब्दी व्यंजना
4.5.3.2 आर्थी व्यंजना
4.6 पारिभाषिक शब्दावली
4.7 अभ्यासार्थ प्रश्न
4.8 सारांश
4.9 संदर्भ ग्रंथ सूची

4.0 उद्देश्य

आप चतुर्थ प्रश्न–पत्र भारतीय काव्य शास्त्र एवं व्याकरण की चतुर्थ इकाई का अध्ययन करने जा रहे हैं। इसमें आपका परिचय शब्द की शक्तियों से कराया जायेगा। शब्द

शक्तियाँ तीन हैं – अभिधा, लक्षणा एवं व्यंजना। शब्द में निहित अर्थों का बोध कराने वाली वृत्ति ही उसकी शक्ति है।

- संकेत ग्रह एवं उसके उपायों के विषय में जान सकेंगे।
- संकेत ग्रह एवं उसके सम्बन्ध में विभिन्न मतों को समझ जायेंगे।
- लक्षणाशब्द शक्ति एवं उसके भदों का परिचय पा सकेंगे।

व्यजना वृति का लक्षण एवं उसके भद अभिधामूला शाब्दी व्यञ्जना तथा लक्षणामूला, शब्दी व्यञ्जना एवं आर्थी व्यञ्जना के विषय में जान सकेंगे।

4.1 प्रस्तावना

काव्य क्या है ? काव्य का स्वरूप एवं लक्षण, उसके अड्ग कौन से हैं ? वाक्यार्थ – बोध कैसे होता है? अर्थावबोध कराने वाली शब्द की शक्तियाँ कौन कौन सी है। रस, ध्वनि, रीति, गुण, अलंकारादि विषयों का विवेचन काव्य शास्त्र में तथा उसके प्रतिपादक लक्षण ग्रन्थों में किया जाता है। इस विषय को कभो काव्यालंकार नाम से अभिहित किया गया, कभो छात्रिन्याय से अलंकार शास्त्र कहा गया, तथा कभो शब्द और अर्थ के विशिष्ट नित्य अर्थ का सम्बन्ध बताने के कारण साहित्य शास्त्र कहा गया क्यों कि साहित्य का अर्थ ही है शब्द और अर्थ का सहभाव 'सहितयोर्भावः साहित्यम्' अतः आपको समझना चाहिये कि जिस शास्त्र में काव्य एवं उसके घटक तत्त्वों का विवेचन हो, उनकी प्राधान्यता के विषय में जैसे ध्वनि, रस, अलंकार, वक्रोक्ति आदि पर विचार किया जाय उस शास्त्र को काव्य शास्त्र कहते हैं।

काव्यशास्त्रीय रचनाकारों ने अपने काव्यलक्षणों का प्रतिपादन इस प्रकार किया कि उनके सम्पूर्ण ग्रन्थ की योजना का समावेश उसमें हो गया। जैसे मम्मट ने –

'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलकृंती पुनः क्वापि'

इस काव्यलक्षण के द्वारा काव्यप्रकाश के सभो उल्लासों, में आये हुए विषयों का समावेश कर दिया है। इसी प्रकाश साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने अपने काव्यलक्षण 'वाक्यं' रसात्मकं काव्यम्' के द्वारा साहित्य दर्पण ग्रंथ में अलंकार शास्त्र के सभो अंगों यथा काव्य स्वरूप, वाक्य स्वरूप, शब्दार्थ की त्रिविधता, शब्द शक्तियाँ अभिधा, लक्षणा, व्यंजना, रस, रसस्वरूप, रसास्वाद, आलम्बन विभाव, नायक – नायिका भद, रस के भद, काव्य के भद, दोष, गुण, रीति, दृश्यकाव्य के भदादि समस्त विषयों का समावेश तीन पदों में कर दिया है। विश्वनाथ ने रसमय वाक्य को काव्य कहा है। इस प्रकार उन्होंने काव्य में रस की प्रधानता को स्वीकार किया है। उन्होंने अपने काव्य लक्षण द्वारा अपने मत की स्थापना करते हुए मम्मट के काव्य–लक्षण के दोषों पर प्रहार करते हुए उसका खंडन भो किया है। मम्मट के साथ साथ उन्होंने आनन्दवर्धन के 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' कुंतक के 'वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्' तथा वामन के 'रीतिरात्मा काव्यस्य' का भो खंडन करते हुए उनके काव्य लक्षण के दोषों का विवेचन किया है। प्रथम परिच्छेद में काव्य स्वरूप विवेचन करने के पश्चात् द्वितीय परिच्छेद में वाक्यस्वरूप का निरूपण किया गया है –

'वाक्यं स्याद्योग्यताकाङ्क्षासत्तियुक्तः पदोच्चयः'

सार्थक पदों के समुदाय को वाक्य कहा जाता है जब वह योग्यता, आकांक्षा और आसत्ति से युक्त हो। शब्द एवं अर्थ काव्य पुरूष के शरीर है, रस उसकी आत्मा शौर्यादि गुण उसकी उन्नति के कारण होते है, दोष रस के प्रतिबंधक होने से अवनति के कारण बनते है, रीतियाँ उसके अवयवसंस्थान है – और अलंकार कटककुण्डल के समान शोभा बढ़ाने वाले –

'काव्यस्य शब्दार्थौ शरीरम् रसादिश्चात्मा, गुणाः शौर्यादिवत्, दोषाः काणत्वादिवत्, रीतयोऽवयवसंस्थानविशेषवत् अलङ्काराः कटककुण्डलादिवत्'

अतः द्वितीय परिच्छेद में आप वाक्य का स्वरूप, लक्षण, आकांक्षा, योग्यता सन्निधि के विषय में ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे। पद समुदाय को ही वाक्य कहते हैं अतः पद का लक्षण जानेगें। व्याकरणादि से शुद्ध प्रयोग के योग्य पद से ही अर्थ की प्रतीति हो सकती है अतः अर्थ का

बोध कराने वाले शब्द एवं उसकी शक्तियों अभिधा, लक्षणा एवं व्यंजना का ज्ञान आपको कराया जायेगा। संकेतित अर्थ का बोध कराने वाली शब्द शक्ति अभिधा है। संकेत ग्रह किस प्रकार होता है उसके उपाय क्या है इसकी जानकारी भो आपको दी जायेगी। शब्द की तीन शक्तियों के कारण अर्थ के भो तीन प्रकार हो जाते है। अभिधा शक्ति से बोध्य अर्थ वाच्य, लक्षणा से बोधित होने वाला अर्थ लक्ष्य एवं व्यंजना से बोधित होने वाला अर्थ व्यंग्य कहा जाता है।

वाच्योऽर्थोऽभिधया बोध्यो लक्ष्यो लक्षणतया मतः। व्यंग्यो व्यंजनया ताः स्युस्तिस्त्रः शब्दस्य शक्तयः।।

(साहित्यदर्पण 2.3)

इस प्रकार आपको समझना चाहिये कि वाचक, लाक्षणिक और व्यंजक इन तीन प्रकारों के शब्दों से वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ एवं व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है। वाचक शब्द लाक्षणिक और व्यंजक दोनों शब्दों का उपजीव्य होता है जबकि वाचक और लाक्षणिक दोनों शब्द, व्यंजक के उपजीव्य होते है। इस प्रकार आप जानेंगे कि किस प्रकार काव्य में प्रयुक्त शब्द अपनी विविध शक्तियों से विभिन्न अर्थो का बोध कराते हुए रसास्वादन के निमित्त बनते हैं।

4.2 अभिधा शब्द शक्ति

4.2.1 वाक्यार्थ–बोध एवं पदार्थ बोध

'वाक्य रसात्मकं काव्यम्' इस काव्य लक्षण में आये हुए वाक्य का स्वरूप इस प्रकार निरूपित किया गया है –

वाक्यं स्याद्योग्यताकाङ्क्षासत्तियुक्तः पदोच्चयः

अर्थात् योग्यता, आकांक्षा एवं आसत्ति से युक्त पदसमूह वाक्य कहलाता है। योग्यता है– **योग्यता पदार्थानां परस्परसंबन्धे बाधाभावः** अर्थात् योग्यता का अर्थ है सुबन्त एवं तिङन्त पदों के प्रतिपाद्य अर्थों के परस्पर अन्वय के बोध में किसी बाधा का अभाव **'वह्निना सिंचति'** यह वाक्य नहीं हो सकता क्योंकि वह्नि में सेचन क्रिया की योग्यता नहीं है वह्नि की योग्यता पाचन क्रिया के साथ है, अतः दोनों पदों के अर्थों में अन्वय बोध में बाधा है। आकांक्षा है –

'आकांक्षा प्रतीतिपर्यवसानविरहः'

अर्थात् वाक्य के अर्थ की पूर्ति के लिये श्रोता में किसी पदार्थ की जिज्ञासा का बना रहना अतः **गौऽश्वः पुरूषो हस्ती** की वाक्यता नहीं हो सकती क्यों कि इसमें आकांक्षा का अभाव है।

आसत्ति – वाक्यता के लिये तीसरी आवश्यक वस्तु है आसत्ति। **'आसत्तिर्बुद्ध्यविच्छेदः'** बुद्धि के अर्थात् पद के अर्थों की उपस्थिति के अव्यवधान को आसत्ति कहते है। एक दिन बोले गये **'देवदत्तः'** इस शब्द का दूसरे दिन **'उच्चरित गच्छति'** इस पद के साथ संगति नहीं हो सकती, अतः वाक्य स्वीकार नहीं किया जा सकता।

योग्यता, आकांक्षा एंव आसत्ति युक्त पदों का समूह वाक्य है। फिर पद क्या है ? **'वर्णाः पद प्रयोगार्हानन्वितैकार्थ बोधकाः'** प्रयोग के योग्य अनन्वित एक अर्थ का बोध कराने वाले वर्ण पद कहे जाते हैं। जैसे घट, यह पद व्याकरणादि से शुद्ध होने के कारण प्रयोग के योग्य है तथा अन्य पदार्थों से अनन्वित एक अर्थ (घड़े) का बोधक है।

उन पदों के अर्थ कितने प्रकार के है ? तीन प्रकार के –

अर्थो वाच्यश्च लक्ष्यश्च व्यङ्गचश्चेति त्रिधा मतः।।

4.2.2 शब्द की तीन शक्तियाँ –

वाच्योडर्थोऽभिधया बोध्यो लक्ष्यो लक्षणया मतः
व्यंग्यो व्यंजनया ता स्युस्तिस्त्रः शब्दस्य शक्तयः।

(सा द 2.3)

अभिधा शब्दशक्ति से बोधित अर्थ वाच्य, लक्षणा द्वारा बोधित अर्थ लक्ष्य एवं व्यंजना से बोधित अर्थ व्यंग्य कहलाता है। इस प्रकार शब्द की तीन शक्तियाँ – अभिधा, लक्षणा एवं व्यंजना होती है।

4.2.3 अभिधा –

अभिधा तत्र संकेतितार्थस्य बोधनादग्रिमाभिधा

शब्द की तीन शक्तियों में प्रथम शक्ति अभिधा है जो संकेतित अर्थात् मुख्य अर्थ (कोश, व्याकरणादि से नियन्त्रित अर्थ) का बोध कराती है।

यह अभिधा नामक शक्ति 'इस शब्द से यह अर्थ समझना चाहिये' इस प्रकार की ईश्वरेच्छारूप शक्ति से भिन्न है क्योंकि ऐसा मानने पर ईश्वर को न मानने वालों को अर्थ बोध नहीं हो सकता। यह अभिधा शक्ति संकेत–ग्रह के अनेक उपायों, जिनका विवेचन अभिधा शक्ति के अनन्तर किया जायेगा के द्वारा उस मुख्य अर्थ का बोध कराती है। अभिधा शक्ति द्वारा अर्थ बोध हेतु किसी अन्य शक्ति की अपेक्षा नहीं होती अर्थात् यह संकेतित अर्थ का बोध किसी दूसरी शक्ति से अव्यवहित होकर ही कराती है, लक्षणादि शक्तियों से पूर्व अभिधा शक्ति का होना आवश्यक है लेकिन अभिधा से पूर्व किसी अन्य शक्ति का होना आवश्यक नहीं है।

'तं च संकेतितमर्थं बोधयन्ती शब्दस्य शक्त्यन्तरानन्तरिता शक्तिरभिधा नाम'

अभिधा शक्ति संकेतित अर्थ का बोध कराती है अतः अब आपको संकेत ग्रह के विषय में विस्तार से समझाते है। अभिधा शक्ति और संकेत ग्रह अभिन्न है। अतः संकेत ग्रह को समझना आवश्यक है।

4.3 संकेत–ग्रह

4.3.1 संकेत ग्रह किसमें ?

संकेत ग्रह या शक्तिग्रह किसमें होता है ? व्यक्ति या जाति में ? संकेत का ग्रहण जाति, गुण, द्रव्य एवं क्रिया में होने से संकेतित अर्थ चार प्रकार का हो जाता है। संकेत ग्रह के उपाय या कारण क्या है? अब इन सबका विवेचन किया जायेगा।

संकेत ग्रह के सम्बन्ध में दो मत प्रचलित हैं एक मत व्यक्ति में संकेत मानता है, दूसरा मत व्यक्ति के उपाधिभ्त् धर्म, जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा में। व्यक्ति में संकेत ग्रह मानने वाले मत का निराकरण आनन्त्य और व्यभिचार दोष आ जाने के कारण किया गया है।

4.3.2 आनन्त्य दोष –

'एष्वेव हि व्यक्तेरूपाधिषु संकेतो गृहते न व्यक्तौ आनन्त्यव्यभिचारदोषापातात्'

यदि व्यक्ति में संकेत ग्रह माना जायेगा तो जिस व्यक्ति विशेष में संकेत ग्रह हुआ है उस शब्द से उस व्यक्ति विशेष की ही उपस्थिति होगी, अन्य व्यक्तियों की प्रतीति के लिये प्रत्येक व्यक्ति में अलग–अलग संकेत गृह मानना आवश्यक होगा। इस प्रकार एक गौ शब्द से प्रतीत होने वाली सभो गौ व्यक्तियों में अलग–अलग संकेत ग्रह मानने से अनन्त शक्तियों की कल्पना करनी होगी। यही आनन्त्य दोष हैं।

4.3.3 व्यभिचार दोष –

यदि यह कहा जाय सभो व्यक्तियों के लिये अलग–अलग शक्ति ग्रह की आवश्यकता नहीं है, दो चार व्यक्तियों में व्यवहार से संकेत ग्रह हो जाता है शेष व्यक्तियों का बोध बिना संकेत ग्रह के ही हो जायेगा तो यह व्यभिचार दोष होगा क्योंकि व्यभिचार का अर्थ है नियम का उल्लघंन।

संङ्केतो गृह्यते जातौ गुणद्रव्य क्रियासु च

(सा.द. 1.41)

संकेत का ग्रहण जाति, गुण, द्रव्य, और क्रिया में होता है। 'पदार्थस्य प्राणप्रदः' जाति कहलाता है। वस्तु का जो प्राणपदजीवनाधायक वस्तु धर्म है वह जाति है जैसे गौ पद में रहने वाली गोत्व जाति, जो सभो गो व्यक्तियों में रहने वाली है।

जातिर्गोपिण्डादिषु गोत्वादिका

गुणो विशेषाधानहेतुः सिद्धो वस्तुधर्मः – अर्थात् पदार्थ में विशेषता का आधान करने का कारण भ्त वस्तु धर्म जो पहले से सिद्ध है गुण कहलाता है, जैसे शुक्ल आदि गुण गौ आदि को सजातीय कृष्ण गौ आदि से पृथक् करते हैं। द्रव्य एक व्यक्ति के वाचक हरि, हर, डित्थ द्रव्य शब्द या यदृच्छा शब्द कहलाता है। द्रव्य को संज्ञा भो कहते है। क्रिया वस्तु के साध्यरूप धर्म पाकादि को कहते हैं। क्रिया साध्य होती है और गुण वस्तु में पहले से विद्यमान होता है, इन्ही जात्यादि चारों के मध्य जो व्यक्ति के उपाधि भ्त धर्म जाति, गुण, क्रिया रूप हैं, उन्ही में संकेत का ग्रहण होता है व्यक्ति में नहीं।

4.3.4 संकेत ग्रह के अन्य कारण –

संकेत ग्रह के अन्य कारण भो पाये जाते है। जैसे निम्न कारिका में कहा गया है

शक्तिग्रह व्याकरणोपमानकोषाप्तवाक्यात् व्यवहारतश्त।
सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धा वाक्यस्ये शेषात् विर्वृतेर्वदन्ति।।

1. व्याकरण से नियन्त्रित 'दाक्षि' पद का अर्थ **'दक्षस्यापत्यं दाक्षिः' 'अत इञ्'** इस नियम से दक्ष का पुत्र इस अर्थ की प्रतीति होती है।
2. उपमान से नियन्त्रित **'गो सदृशो गवयः'** गाय के समान पिण्ड (व्यक्ति) को देखकर 'गाय के समान गवय होता है' इस उपमान के स्मरण से यह गवय है ऐसा ज्ञान होता है।
3. कोष से – **'विनायके विध्नराजो द्वैमातुरगणधिपाः'** इत्यादिक ज्ञान कोष द्वारा।
4. आप्तवाक्य से – अयमश्वशब्द वाच्यः।
5. व्यवहार से – लोकव्यवहार संकेत ग्रह का मख्य साधन है। बालकादि को इसी साधन से संकेतग्रह होता है। जब कोई वृद्ध व्यक्ति एक बालक के सामने (जिसे संकेत का ज्ञान नहीं है) किसी युवक को **'गामानय'** कहता है और वह युवक सास्नादिमान पिण्ड को लाता है तो शक्ति ग्रहण से पूर्व बालक उस वाक्य का यही अर्थ लगाता है। बाद में **'गां बधान', 'अश्वमानय'** वाक्यों को सुनकर उनके आवापोद्वाप अर्थात् अन्वय व्यतिरेक द्वारा उसे गौ पद से सास्नादिमान पदार्थ को **'बोध', 'बधान'** और **'आनय'** आदि क्रियाओं का पृथक्–2 बोध होता है। जब वह **'गां बधान'** सुनता है तो उसे **'गो'** पद से सास्नादिमान् पदार्थ का बोध होता है और **'बधान'** इसके द्वारा पहले कहे गये **'आनय'** इस पद से भिन्न लाये जाने वाले पदार्थ बोध का अभाव होता है। अर्थात् पूर्व के समान 'आनयन' क्रिया का अभाव देखता है। 'अश्वमानय' कहने पर 'गामानय' की तरह सास्नादिमान पदार्थ का अभाव देखता है और 'आनयन' क्रिया से आहर को पूर्ववत् देखता है। इस प्रकार 'गो' शब्द का सास्नादिमान् पदार्थ रूप अर्थ एवं 'आनय' पद का लाना अर्थ पृथक् निर्धारित करता है।
6. वाक्य के शेष होने से यवमयश्चरूभवति – यहाँ यह 'यव शब्द' वसन्त कालीन शस्य विशेष का बोधक है या यवनों में प्रसिद्ध कुड्कुनाम शस्य विशेष का बोधक है इसका निर्धारण इस वाक्य शेष से–

   वसन्ते सर्वशस्याना जायते पत्रशातनम्।
   मोदमानाश्च तिष्ठन्ति यवाः कणिशशा लिनः

   वसन्त ऋतु में उत्पन्न होने वाले यव का ही ग्रहण होता है।
7. विवृत्ति से – **रामो दाशरथिः**– इसमें रामः का अर्थ परशुराम न होकर दशरथ का पुत्र राम ही है।

8. सिद्ध पद के सान्निध्य से **'प्रभिन्नकमलोदरे मधूनि मधुकरः पिबति'**

विकसित कमल के मध्यभाग में मधुकर मधु का पान कर रहा है – इस उदाहरण में 'मधुकरः इस पद का शक्तिग्रह भमर में ही है, मधुमक्खी में नहीं। कमल के अन्दर भमर ही रसपान करता है अतः 'कमल' पद के साहचर्य से 'मधुकर पद का अर्थ भमर ग्रहण हो जाता है।

इस प्रकार उपर्युक्त उपायों से जिस शब्द का जिस अर्थ में संकेत ग्रह होता है, वह अभिधा शक्ति द्वारा उसी का बोध कराता है।

4.4 लक्षणा शब्द शक्ति

4.4.1 लक्षणा का लक्षण –

मुख्यार्थबाधे तद्युक्तो ययाऽन्योऽर्थः प्रतीयते।
रूढः प्रयोजनाद्वासौ लक्षणाशक्तिरर्पिता।।

(सा. द. 2.5)

जब मुख्यार्थ का बाध हो (अर्थात् अभिधा के द्वारा संकेतित अर्थ वाक्य में आमीमत तात्पर्य अर्थ का ज्ञान कराने में अनुपपन्न हो) तब मुख्यार्थ से सम्बन्धित किंतु उससे भिन्न अर्थ की प्रतीति रूढि के कारण या प्रयोजन के कारण हो रही हो तो वह जिस शब्द शक्ति के द्वारा होता है वह शक्ति अर्पित (अर्थात् अमुख्य या कल्पित) लक्षणा कहलाती हैं।

4.4.2 लक्षणा के प्रवर्तक कारण –

आपको समझना चाहिये कि लक्षणा के प्रवर्तक चार कारण होते है :–

1. मुख्यार्थ बाध – मुख्यार्थ बाध
2. मुख्यार्थ के साथ लक्ष्यार्थ का सम्बन्ध तद्युक्त
3. रूढ़ि
4. प्रयोजन

लक्षणा के हेतुओ में मुख्यार्थ बाध एवं मुख्यार्थ से सम्बन्ध ये दोनों अनिवार्य है किन्तु रूढ़ि और प्रयोजन में से किसी एक कारण का होना आवश्यक है। अतः लक्षणा की प्रवृति में तीन ही कारण हुए और **'रूढ़े प्रयोजनाद्वा'** से लक्षणा के दो भद 1. रूढ़ि मूला लक्षणा 2. प्रयोजनमूला किये गये। 'अर्पिता' कहकर लक्षणा की अभिधा से भिन्नता दर्शाई गयी। अभिधा स्वयं शब्द में रहती है जबकि लक्षणा का शब्द में आरोप किया जाता है। कारिका में आये हुए **'मुख्यार्थबाधे'** कहकर **'राजत्युमावल्लभः'** में लक्षणा की प्रसक्ति का निवारण किया गया है क्योंकि यह शाब्दीव्यञ्जना का उदाहरण है न कि लक्षणा का। **'तद्युक्तः'** पद से मुख्यार्थ के साथ लक्ष्यार्थ का ज्ञान भो लक्षणा का कारण माना गया है क्योंकि यदि असम्बद्ध अर्थ की उपस्थिति मान ली जाये तो **'गंगायां घोषः'** में गंगादि पद से यमुनातट की उपस्थिति होने लगेगी। मुख्यार्थ से ही सम्बन्धित अन्य अर्थ का ज्ञान लक्षणा शक्ति करवाती है। यह **'अन्योऽर्थः'** इस पद से ज्ञात होता है।

4.4.3 रूढ़ि लक्षणा का उदाहरण –

रूढ़ि लक्षणा का उदाहरण – **'कलिंग साहसिकः'** – कलिंग देश के पुरूष साहसी है। इसमें कलिंग शब्द अपने वाच्य अर्थ देशविशेष रूप में घटित नहीं हो सकता क्योंकि कलिंग शब्द जड़ है और साहस चेतन का धर्म है अतः वह लक्षणावृत्ति से कलिंग देश में रहने वाले पुरूषों को लक्षित करता है। इस प्रकार वह अपने मुख्यार्थ 'देश विशेष अर्थ में बाधित होने पर संयोग सम्बन्ध से उस देश में रहने वाले पुरूषों का लक्षणा से ज्ञान कराता है। इस लक्ष्यार्थ ज्ञान में रूढ़ि अर्थात् प्रसिद्धि कारण है। देशवाचक शब्दों से देशर्स्थित पुरूषों की प्रतीति संसार में प्रसिद्ध है। अतः यह रूढ़ि लक्षणा का उदाहरण हुआ।

4.4.4 प्रयोजनवती लक्षणा का उदाहरण –

प्रयोजनवती लक्षणा का उदाहरण – **'गंगायां घोषः'** गंगा में ग्राम है – इस उदाहरण में **'गंगा'** पद अपने मुख्यार्थ प्रवाह रूप अर्थ में अनुपपन्न है क्योंकि प्रवाह में ग्राम नहीं हो सकता अतः वह सामीप्य सम्बन्ध से अपने सम्बन्धित तट का लक्षणा शक्ति से बोध कराता है जिसका प्रयोजन शीतलता एवं पवित्रता का अतिशय ज्ञान कराना है।

4.4.5 'कमणि कुशलः' रूढ़ि लक्षणा का उदाहरण नहीं –

विश्वनाथ मम्मट के द्वारा दिये गये रूढ़ि लक्षणा के उदाहरण कमणि कुशलः को रूढ़ि लक्षणा का उदाहरण नहीं मानते क्योंकि वे व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ को मुख्य अर्थ नहीं मानते। कमणि कुशलः में कुषान् लाति उस व्युत्पिति से कुशल का मुख्य अर्थ कुशों को ग्रहण करने वाला है। इस अर्थ में अनुपपन्न होने पर कुशल पद विवेचकत्वादि साधर्म्य सम्बन्ध से चतुर रूप लक्ष्यार्थ का लक्षणा शक्ति से बोध करवाता है। शब्दों की व्युत्पत्ति का निमित अन्य होता है और प्रवृति का निमित अन्य, अतः इसमें रूढ़ि लक्षणा नहीं हो सकती। यदि व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ को मुख्य अर्थ माना जायेगा तो गौः शेते मे भो लक्षणा हो जाएगी क्योंकि गच्छतीति गौः यह व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ मुख्य मानने पर शयन के समय गौ शब्द का प्रयोग अनुपपन्न होगा। किन्तु गौः शेते यह प्रयोग किया जाता है। अतः कर्माणि कुशलः रूढ़ि लक्षणा का उदाहरण नहीं हो सकता।

4.4.6 लक्षणा के मुख्य 16 भेद –

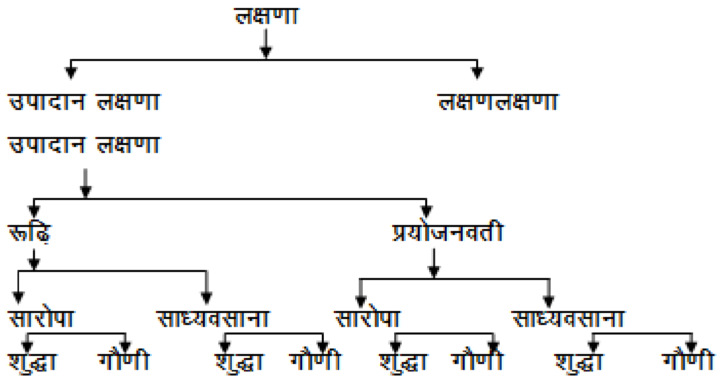

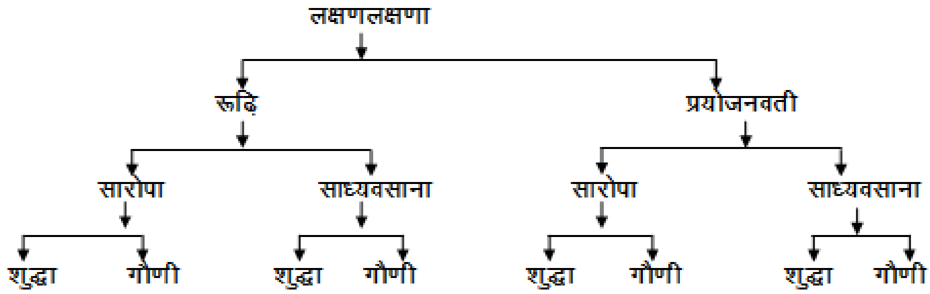

उपादान लक्षणा के आठ भेद –

1. रूढ़ि मूला उपादान लक्षणा सारोपा शुद्धा।
2. रूढ़ि मूला उपादान सारोपा गौणी।
3. रूढ़ि मूला उपादान लक्षणा साध्यवसाना शुद्धा।
4. रूढ़ि मूला उपादान लक्षणा साध्यवसाना गौणी।
5. प्रयोजनवती उपादान लक्षणा सारोपा शुद्धा।
6. प्रयोजनवती उपादान लक्षणा सारोपा गौणी।
7. प्रयोजनवती उपादान लक्षणा साध्यवसाना शुद्धा।

8. प्रयोजनवती उपादान लक्षणा साध्यवसाना गौणी।

लक्षण लक्षणा के आठ भेद –

1. रूढ़ि मूला लक्षण लक्षणा सारोपा शुद्धा।
2. रूढि मूला लक्षण लक्षणा सारोपा गौणी।
3. रूढ़ि मूला लक्षण लक्षणा साध्यवसाना शुद्धा।
4. रूढ़ि मूला लक्षण लक्षणा साध्यवसाना गौणी।
5. प्रयोजनवती लक्षण लक्षणा सारोपा शुद्धा।
6. प्रयोजनवती लक्षण लक्षणा सारोपा गौणी।
7. प्रयोजनवती लक्षण लक्षणा साध्यवसाना शुद्धा।
8. प्रयोजनवती लक्षण लक्षणा साध्यवसाना गौणी।

4.4.7 लक्षणा के 80 भेद –

इन सोलह भदों में आठ रूढ़िमूलक है और आठ प्रयोजनमूलक है। प्रयोजनमूलक आठ भदों के प्रत्येक के दो–दो भद व्यंग्य के गूढ़ और अगूढ़ होने से हो जाते है और इन सोलह भदों के दो–दो भद प्रयोजन के धर्मीगत और धमगत रूप से होने से कुल 32 हो जाते है। इस प्रकार अब तक लक्षणा के कुल 40 भद हुये आठ रूढ़िमूलक के और बत्तीस प्रयोजनमूलक के। ये चालीस प्रकार की लक्षणाएं भो पदगत और वाक्यगत के भद से दो – दो प्रकार की होकर कुल 80 प्रकार की हो जाती है । यह लक्षणा के भदों का संक्षेप में वर्णन हुआ। अब मुख्य भदों को विस्तारपूर्वक जानेंगे।

4.4.8 उपादान लक्षणा का लक्षण –

मुख्यार्थस्येतराक्षेपो वाक्यार्थेऽन्वय सिद्धये।
स्यादात्मनोऽप्युपादानादेषोपादान लक्षणा।।

(सा. द. 2.6)

जब वाक्यार्थ में वाक्य के अन्दर विद्यमान अन्वय की सिद्धि के लिये जिस वृत्ति द्वारा अन्य अर्थ का आक्षेप मुख्यार्थ के ग्रहण के साथ–साथ हो वह उपादान लक्षणा कहलाती है। उपादान लक्षणा की निरूक्ति इस प्रकार हो सकती है –

1. **मुख्यार्थ विषयिणी प्रतीति रूपादानम्, तद्धेतुर्लक्षणा उपादानलक्षणा।**
2. **उपादीयते स्वार्थो गृह्यतेऽनेनेत्युपादानम् तन्नाम्नी लक्षणा उपादानलक्षणा।**

4.4.8.1 लक्षणा के सारोपा साध्यवसाना तथा शुद्धा और गौणी भेद –

सारोपा व साध्यवसाना
आरोपाध्यवसानाभ्यां प्रत्येकं ता अपि द्विधा।
विषयस्यानिगीर्णस्यान्यतादात्म्यप्रतीतिकृत्
सारोपा स्यान्गिणीर्णस्य मता साध्यवसानिका

(सा. द. 2.8)

(रूढ़ि व प्रयोजन पर आधारित उपादान एवं लक्षण लक्षणा ये चारों सारोपा व साध्यवसाना भद से दो–दो प्रकार की होकर आठ प्रकार की हो जाती हैं।)

सारोपा लक्षणा वह है जिसमें वाक्य में पदार्थ के स्वरूप का स्पष्ट निर्देश हो, जिसका स्वरूप विषयी चन्द्रादि द्वारा निगीर्ण न हो तथा जहाँ विषय मुख पर विषयी चन्द्रादि के तादात्म्य प्रतीति के कारण अभद का आरोप हो **'आरोपेण सह वर्तते इति सारोपा'। जैसे अश्वः श्वेतः धावति।**

साध्यवसाना लक्षणा वह है जहाँ निगीर्ण विषय का विषयी के साथ अभद का प्रतिपादन हो जैसे – **'श्वेतो धावति'** इसमें अश्वः पद का श्वेत पद द्वारा निगरण कर लिया गया है।

शुद्धा व गौणी
सादश्येतरसंबंधाः शुद्धास्ताः सकला अपि।
सादृश्यात्तु मता गौण्यस्तेन षोडश भेदिताः।।

(सा. द. 2.9)

पूर्वोक्त आठ प्रकार की लक्षणाएं शुद्धा व गौणी इन दो–2 प्रकार के भदों से 16 प्रकार की हो जाती है। जहाँ सादृश्य से भिन्न जैसे कार्य–कारण भावादि सम्बन्ध लक्षणा के प्रयोजन हो वह शुद्धा लक्षणा होती है। उदाहरण के तौर पर श्वेतः अश्वः धावति यहाँ श्वेतः गुण अश्वः में समवाय सम्बन्ध से स्थित है।

जहाँ लक्षणा का कारण सादृश्य सम्बन्ध है वहाँ गौणी लक्षणा है– **'एतानि तैलानि हेमन्ते सुखानि'** तिलों से उत्पन्न तैल को ही तैल कहते हैं किन्तु सादृश्य के कारण सरसों आदि के स्नेह को भो तैल कह देते हैं यद्यपि उनमें तिल भावत्व का अभाव है।

अब हम क्रमशः इन सभो सोलह प्रकार की लक्षणाओं को उदाहरण सहित समझेंगे।

4.4.9 उपादान लक्षणा के आठ भेदों के उदाहरण –

उपादान लक्षणा रूढ़िगत और प्रयोजन में दो प्रकार की होती है।

रूढ़िगत उपादान लक्षणा –

1. **'श्वेतो धावति'** – इसमें धावति क्रिया का कर्ता श्वेतः नहीं हो सकता अचेतन होने के कारण। अतः वह अर्थ के अन्वय हेतु अश्वः इस पद का आक्षेप कर लेता है और लक्ष्यार्थ होता है श्वेत घोड़ा दौड़ता है। श्वेत शब्द समवाय सम्बन्ध से श्वेत रंग वाले अश्वः अर्थ का आक्षेप करता है यह आक्षेप रूढ़िमूलक है। प्रयोजन का यहां अभाव होने से यहाँ विषय अश्व का निगरण होने से साध्यवसाना तथा सादृश्येतर सम्बन्ध होने से शुद्धा का उदाहरण है। अतः यह रूढ़िगत साध्यवसाना शुद्धा उपादान लक्षणा का उदाहरण हुआ।
2. **अश्वः श्वेतो धावति** – यह अनिगीर्ण स्वरूप विषय अश्वः का स्पष्ट निर्देश होने से रूढ़िगत सारोपा शुद्धा उपादान लक्षणा का उदाहरण है।

   उपादान लक्षणा के रूढ़िगत गौणी के सारोपा एवं साध्यवसाना के उदाहरण क्रमशः निम्न है –
3. एतानि तैलानि हेमन्ते सुखानि
4. तैलानि हेमन्ते सुखानि

   यहां तैल शब्द का अर्थ तिलों से उत्पन्न तैल है किन्तु सादृश्य के गौण सम्बन्ध से सरसों आदि के स्नेह को भो तैल कह देते है अतः मुख्यार्थ का ग्रहण करते हुये भो अन्य अर्थ का उपादान करने से गौणी उपादान लक्षणा है और प्रसिद्धि से होने के कारण रूढ़िगत है।

   ये रूढ़िगत उपादान लक्षणा के चार उदाहरण हुये अब प्रयोजनवती उपादान लक्षणा के क्रमशः सारोपा और साध्यवसाना के शुद्धा और गौणी के दो – दो उदाहरण स्पष्ट करते है।
5. प्रयोजनवती सारोपा शुद्धा उपादान लक्षणा –

   एते कुन्ताः प्रविशन्ति– कुन्ताः में चेतन क्रिया प्रविशन्ति का अभाव होने से कुन्त धारी पुरूषाः अर्थ का आक्षेप तथा कुन्तादिको की गहनता का प्रयोजन होने से एवं संयोग संबंध के कारण यह प्रयोजनवती सारोपा शुद्धा उपादान लक्षणा का उदाहरण है।
6. कुन्ताः प्रविशन्ति यह इसी का साध्यवसाना का उदाहरण हुआ।
7. प्रयोजनवती गौणी उपादानलक्षणा के सारोपा और साध्यवसाना क्रमशः उदाहरण है– **एते राजकुमाराः गच्छन्ति। एवं राजकुमाराः गच्छन्ति।**

उपादान लक्षणा को मुख्यार्थ का परित्याग न करने के कारण अजहत्स्वार्था लक्षणा भो कहा जाता है ।

4.4.10 लक्षणलक्षणा का लक्षण –

अब लक्षण लक्षणा एवं उसके आठ भदों का निरूपण किया जायेगा।

लक्षणलक्षणा

अर्पणं स्वस्य वाक्यार्थे परस्परान्वयसिद्धये।
उपलक्षणहेतुत्वादेशा लक्षणलक्षणा।।

अर्थात् जब वाक्यार्थ में मुख्यार्थ से भिन्न अर्थ की अन्वय सिद्धि के लिये अपने अर्थ का परित्याग कर दिया जाय अर्थात् जो शब्द अपने मुख्यार्थ को छोड़कर लक्ष्यार्थ का उपलक्षण जिस वृत्ति के द्वारा हो जाता है वहाँ उपलक्षण का हेतु होने के कारण लक्षणलक्षणा कहलाती है। **'लक्ष्यते उपलक्ष्यतेऽनेनेत्युपलक्षणम् तन्नाम्नी लक्षण लक्षणा'।** यही लक्षणा जहत्स्वार्था लक्षणा भो कहलाती है।

4.4.11 लक्षण लक्षणा के आठ भेदों के उदाहरण –

उपादानलक्षणा के समान ही इसके भो आठ भद होते हैं चार रूढ़िगत एवं चार प्रयोजनगत। हमने देखा कि उपादान लक्षणा एवं लक्षलक्षणा का भद यही है कि उपादानलक्षणा के अन्दर मुख्यार्थ का लक्ष्यार्थ में ग्रहण होता है जबकि लक्षणलक्षणा में लक्ष्यार्थ की सिद्धि के लिये मुख्यार्थ अपने अर्थ का परित्याग कर देता है।

लक्षणलक्षणा के भेद

1. रूढ़िगत शुद्धा सारोपा लक्षण लक्षणा।
2. रूढ़िगत शुद्धा साध्यवसाना लक्षण लक्षणा।
3. रूढ़िगत गौजी सारोपा लक्षण लक्षणा।
4. रूढ़िगत गौणी साध्यवसाना लक्षण लक्षणा।
5. प्रयोजनवती शुद्ध सारोपा लक्षणा।
6. प्रयोजनवती शुद्धा साध्यवसाना लक्षण लक्षणा।
7. प्रयोजनवती गौणी सारोपा लक्षण लक्षणा।
8. प्रयोजनवती गौणी साध्यवसाना लक्षण लक्षणा।

1. रूढ़िगत शुद्धा सारोपा लक्षणलक्षणा – **कलिङ्ग पुरूषो युध्यते।** यहाँ 'कलिङ्गः' शब्द कलिङ्ग देशवासी का उपलक्षण होने से लक्षणलक्षणा है। पुरूषः का पृथक निर्देश होने एवं अभद प्रतीति होने से सारोपा है और प्रसिद्धि के कारण रूढ़ि है। सादृश्येतर
आधार – आधेय सम्बन्ध होने से शुद्धा भद है। जैसा कि कहा है :–

सादृश्यतरसम्बन्धाः शुद्धास्ताः सकला अपि।
सादृश्यात्तु मता गौण्यस्तेन षोडशभेदिताः। (सा. द. 2.9–10)

2. रूढ़िगत शुद्धा साध्यवसाना लक्षणलक्षणा – **कलिङ्गः साहसिकः।** 'कलिङ्गः' कलिङ्ग देशवासी पुरुष जिसका पृथक् निर्देश न होने से यह साध्यवसाना लक्षणलक्षणा है प्रसिद्धि के कारण रूढ़ि है और सादृश्येतर सम्बन्ध होने से शुद्धा भद है।
3. रूढ़िगत गौणी सारोपा लक्षणलक्षणा – **'राजा गौडेन्द्रं कण्टकं शोधयति** – यहाँ कण्टक शब्द सादृश्य सम्बन्ध से काँटे के समान दुःख देने वाले क्षुद्र शत्रु का उपलक्षण है। कण्टक शब्द की क्षद्रु शत्रु रूप में प्रसिद्धि होने के कारण रूढ़ि है और गौडेन्द्र शब्द से पृथक निर्देश होने से सारोपा है। सादृश्य सम्बन्ध के कारण गौणी है।

4. रूढ़िगत गौणी साध्यवसाना लक्षणलक्षणा – **'राजा कण्टकं शोधयति'** – विषय गौडेन्द्र के निगरण से यह साध्यवसाना का उदाहरण है।

5. प्रयोजनवती शुद्धा सारोपा लक्षणलक्षणा – **'आयुर्घृतम्'** – इसमें आयु शब्द आयु के कारण को उपलक्षित करता है, अतः लक्षणलक्षणा है, सादृश्येतर सम्बन्ध होने से शुद्धा, आयु का सम्बन्धी घृत आयु के तादात्म्य से स्थित होने से सारोपा और अन्य वस्तुओं की अपेक्षा विलक्षणता से आयु उत्पन्न करना प्रयोजन है।

6. प्रयोजनवती शुद्धा साध्यवसाना लक्षणलक्षणा – **'गंगायां घोषः'** इसमें गंगा पद तट रूप अर्थ का ज्ञान कराने हेतु मुख्यार्थ 'प्रवाह' का त्याग कर देता है, प्रयोजन शत्य पावनत्व की प्रतीति कराना एवं आधार–आधेय सम्बन्ध होने से शुद्धा। विषय तट का निगरण होने से साध्यवसाना है।

7. प्रयोजनवती गौणी सारोपा लक्षण लक्षणा– **'गौर्वाहीकः'** गौं शब्द सादृश्य सम्बन्ध से वाहीक को लक्षित करता है अतः गौणी है। अपने मुख्य अर्थ बैल का उपादान न करने से लक्षणलक्षणा तथा वाहीक की अत्यन्त मूर्खता का द्योतन करना प्रयोजन है। अनिगीर्ण स्वरूप वाहीक के साथ गौ का तादात्मय होने से सारोपा है।

8. प्रयोजनवती गौणी साध्यवसाना लक्षणलक्षणा – **'गौर्जल्पति'** यहां गौ शब्द अज्ञत्वादि सादृश्य सम्बन्ध से वाहीक के अर्थ को लक्षित करता है। अतः गौणी लक्षण लक्षणा है। वाहीक का निगरण होने से साध्यवसाना तथा वाहीक की अतिशय अज्ञता का द्योतन प्रयोजन है।

4.4.12 अशीतिप्रकाराः लक्षणा –

इस प्रकार लक्षणा के इन सोलह भदों में आठ रूढ़िमूलक भद हैं तथा आठ प्रयोजनमूलक। आठ प्रयोजन मूलक लक्षणाओं के प्रयोजन के गूढ और अगूढ़ दोनों प्रकार के होने से सोलह भद हो जाते हैं।

व्यंग्यस्य गूढागूढत्वाद् द्विधा स्युः फललक्षणाः (सा.द. 2.10)

जैसे निम्न उदाहरण में गूढ, व्यंग्य होने से तात्पर्यरूप लक्षणा का ज्ञान सूक्ष्य बुद्धि से ही हो सकता है–

उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते सुजनता प्रथिता भवता परम्।
विदधदीदृशमेव सदा सखे। सुखितभास्स्व ततः शरदां शतम्।

इसमें **उपकृतं, सुजनता** आदि पद अपना अर्थ छोड़कर विपरीत अर्थ अपकारादि को लक्षित करते हैं।

अगूढ़ व्यंग्य का उदाहरण है– **उपदिशति कामिनीनां यौवनमद एवं ललितानि**– यहाँ उपदिशति पद आविष्करोति अर्थ को लक्षित करता है क्योंकि उपदेश देना चेतन का कार्य है।

प्रयोजनमूलक इन 16 भदों के धर्मीधर्मगत होने से 32 भद हो जाते हैं

धर्मीधर्मगतत्वेन फलायैता अपि द्विधा।
तदेवं लक्षणाभेदाश्चत्वारिंशन्मता बुधैः।। (सा. द. 2.11)

आठ रूढिमूलक एवं बत्तीस प्रयोजनमूलक भद कुल मिलाकर 40 भद भो पदगत एवं वाक्य गत दो प्रकार के होने से लक्षणा कुल अस्सी प्रकार की हो जाती है। पदगत का उदाहरण – **'गंगायां घोषः'** और वाक्यगत का उदाहरण – **उपकृतं बहुतत्र।**

– एवमशीतिप्रकाराः लक्षणाः

इस प्रकार आपने लक्षणा के भदों का उदाहरणपूर्वक विस्तार से अध्ययन किया। लक्षणा को ही भक्ति, उपचार और अमुख्यावृत्ति भो कहा जाता है।

4.5 व्यंजना शब्द शक्ति

4.5.1 व्यंजना का लक्षण –

विरतास्वभिधाद्यासु ययाऽर्थो बोध्यते परः।

सा वृत्तिर्व्यञ्जना नाम शब्दस्यार्था दिकस्य च।।

अभिधादि अर्थात् अभिधा, लक्षणा, तात्पर्यवृत्ति आदि के अपने–अपने व्यापार से विरत होने पर जिस वृत्ति या शब्द शक्ति के द्वारा उन उन वाच्य, लक्ष्य या तात्पर्यार्थ से भिन्न अर्थ की प्रतीति होती है, उसे व्यञ्जना वृत्ति कहते हैं जो उस शब्द या अर्थादि में रहती है। इस वृत्ति द्वारा जिस अर्थ का बोध होता है वह व्यंग्यार्थ कहा जाता है।

4.5.2 व्यंग्यार्थ –

यह व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ के समान नियत नहीं होता अपितु वक्ता के प्रकरणादि के अनुसार अनियत होता है। जैसे–गतोऽस्तमर्कः का वाच्यार्थ है सूर्य छिप गया परन्तु प्रकरणादि के अनुसार वक्ता एवं श्रोता के अभिप्राय से विभिन्न अर्थ हो जाते हैं। यथा

– राजा का सेनापति के प्रति अर्थ होगा ''शत्रुओं पर आक्रमण का अवसर है।
– दूती का अभिसारिका के प्रति – 'अभिसरण की तैयारी करो।
– सखी का वासकसज्जा के प्रति – तुम्हारा प्रिय आने वाला है।
– काम करने वालों का साथियों के प्रति 'कार्य करना, बंद करो।

इस प्रकार एक ही वक्ता के विभिन्न व्यक्तियों के प्रति कहे गये एक ही वाक्य के प्रकरणानुसार अनेक अर्थ व्यञ्जना वृत्ति के बल से हो जाते हैं।

'शब्दबुद्धिकमणां विरम्य व्यापाराभावः' इस नियम से शब्द,बुद्धि और कम अपना कार्य एक बार कर चुकने के बाद पुनः व्यापार या कार्य नहीं कर सकते। इसी प्रकार जब अभिधा, लक्षणा और तात्पर्यवृत्ति अपना अभिधेय, लक्ष्य और तात्पर्यार्थ का बोधन कर विरत हो जाती हैं उसके अनन्तर जिस अर्थ की प्रतीति होती है वह इन तीनों वृत्तियों से नहीं हो सकती उसके लिये चौथी वृत्ति व्यंजना माननी पड़ती है। यह वृत्ति शब्दनिष्ठ, अर्थनिष्ठ, प्रकृतिनिष्ठ, प्रत्ययनिष्ठ आदि होती है।

4.5.3 व्यंजना के भेद –

व्यंजना के शाब्दी और आर्थी ये दो मुख्य भद होते हैं।

4.5.3.1 शाब्दी व्यंजना – शाब्दी व्यंजना पुनः दो प्रकार की होती– अभिधामूला एवं लक्षणामूला।

अभिधा लक्षणामूला शब्दस्य व्यञ्जना द्विधा।। (सा. द. 2.13)

1. अभिधामूला व्यंजना –

अनेकार्थस्य शब्दस्य संयोगाद्यैर्नियान्त्रिते।

एकत्रार्थेऽन्यधी हेतुर्व्यञ्जना साऽभिधाश्रया (सा.द. 2.14)

संयोगादि ;अर्थात् विप्रयोग एवं अन्यद्ध के द्वारा जब अनेकार्थक शब्द एक अर्थ में नियन्त्रित हो जाता है तब जो अन्य अर्थ की प्रतीति होती है उसका कारण अभिधा शक्ति के आश्रित व्यञ्जना है इसीलिये इसे अभिधामूला व्यंजना कहते हैं।

संयोगादि क्या हैं?

संयोगो विप्रयोगच साहचर्यं विरोधिता।
अर्थः प्रकरणं लिङ्ग शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः।।
सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृति हेतवः।।

ये 14 संयोगादि अनेकार्थक शब्द के एक अर्थ में नियन्त्रित हो जाने पर अन्य अर्थ की प्रतीति अभिधाश्रित व्यञ्जना से कराते हैं – संयोग, विप्रयोग, साहचर्य, विरोध, अर्थ, प्रकरण, लिङ्ग, अन्य शब्द सन्निधि, सामर्थ्य, औचिती, देश, काल, व्यक्ति और स्वर

1. संयोग – सशंखचक्रो हरिः – इसमें अनेकार्थक हरि शब्द हैं किंतु शंख और चक्र के योग से हरि शब्द विष्णु का बोधन अभिधा से कराता है।
2. विप्रयोग – अशंखचक्रो हरिः
3. साहचर्य – भोमार्जुनौ – भोम के साहचर्य से अर्जुन शब्द पृथापुत्र धनञ्जय का बोध कराता है ककुभादि का नहीं
4. विरोध – कर्णार्जुनौ – कण का अर्थ कर्णेन्द्रिय न होकर सूतपुत्र कण है क्योंकि अर्जुन से उसका विरोध था।
5. अर्थ – स्थाणुं वन्दे। स्थाणु शिव का बोध कराता है न कि ठूंठ का। भवच्छेदन रूपी प्रयोजन का अर्थ होने से
6. प्रकरण – सर्वं जानाति देवः। देव शब्द पुरोवर्ती राजा का बोध कराता हैं प्रकरणगत होने से। किसी देवता आदि का नहीं
7. लिंङ्ग – कुपितो मकरध्वजः। मकरध्वजः कामदेव का ज्ञान कराता है न कि समुद्र का। कोप रूपी लिङ्गकिसी चेतन का ही धर्म होने से।
8. शब्द सन्निधि – देवः पुरारिः। देव शब्द के सान्निध्य के कारण पुरारिः शिव का बोध कराता है।
9. सामर्थ्य – मधुना मत्तः पिकः। मधु के दैत्य, वसन्त, मद्यादि अनेक अर्थ होने पर भो वसन्त में ही पिक को मस्त करने की सामर्थ्य के कारण मधुशब्द वसन्त का अभोधान करता ह। अन्य का नहीं।
10. औचिती – 'पातु वो दायितामुखम्'। मुख शब्द औचित्य के कारण साम्मुख्य का बोधक है बदन आदि का नहीं।
11. देश – 'विभाति गगने चन्द्रः'। चन्द्रः चन्द्रमा का बोध कराता है आकाश देश में स्थित होने के कारण।
12. काल – 'निशि चित्रभानुः' इसमें चित्रमानु अग्नि का वाचक है सूर्य का नही रात्रि काल में होने से ।
13. व्यक्ति – भाति रथाङ्गम – यहां रथाङ्गम शब्द नपुसंकलिंग होने के कारण चक्र का बोध कराता है। चक्रवाक का नहीं।
14. स्वर – स्वर का उदाहरण नहीं दिया जा रहा है। क्योंकि इनकी विशेष अर्थ की प्रतीति वेदों में ही होती ह।

2. लक्षणामूला व्यञ्जना –

लक्षणो पास्यते यस्य कृते तन्तु प्रयोजनम्।

यया प्रत्यायते सा स्याद् व्यञ्जना लक्षणाश्रया। (सा. द. 2.5)

जिस प्रयोजन के ज्ञान के लिये प्रयोजनवती लक्षणा को शब्द शक्ति रूप में स्वीकार किया जाता है उस प्रयोजन की प्रतीति जिस वृत्ति से बोधित होती है वह लक्षणामूलक व्यंजना है।

गङ्गायां घोषः – इसमें गङ्गा के प्रवाहरूप मुख्यार्थ का ज्ञान कराके अभिधा शक्ति विरत हो जाती है, तटादि लक्ष्य अर्थ का ज्ञान करवाकर लक्षणा शक्ति, के विरत होने पर जिस शक्ति द्वारा घोष के अन्दर विधमान शैत्य पावनत्व के अधिक्य का जो प्रयोजन ज्ञान होता है। वह लक्षणामूला व्यंजना होती है।

वक्ता गंगात घोषः न कहकर गंगायां घोषः इसीलिये कहता है घोष में गंगा की धारा की शीतलता और पवित्रता है। इसके अधिक्य की प्रतीति के लिये ही वह लाक्षणिक पद का

प्रयोग करता है। इस शैत्यपावनत्य रूप प्रयोजन की प्रतीति न अभिधा से हो सकती है और न लक्षणा से अतः इसकी प्रतीति केवल व्यंजना से ही हो सकती है।

4.5.3.2 आर्थी व्यंजना –

वक्तृ बोद्धव्यवाक्यानामन्यसंन्निधि वाच्ययोः
प्रस्ताव देश कालानां काकोश्चेष्टादिकस्य च
वैशिष्ट्यादन्यमर्थं च या बोध येत्सार्थसम्भवा।।

वक्ता, बोद्धव्य, वाक्य अन्य का सन्निधान, प्रस्ताव, देश, काल काक तथा चेष्टादि की– विशेषता के कारण जो शब्द शक्ति अन्य अर्थ का बोधन करती है वह अर्थमूलक होने से आर्थी व्यंजना कहलाती है।

क्रमशः उदाहरण देते है।

1. वक्ता, वाक्य प्रकरण और देश–काल के वैशिष्टय से उत्पन्न व्यंजना

कालो मधुः कुपित एव च पुष्पधन्वा
धीरा वहन्ति रतिखेदहराः समीराः।
केलीवनीयमपि वञ्जुलकुञ्जमञ्जु
दूॅरे पतिः कथय किं करणीयमदा।।

हे सखि, तू शीघ्र प्रच्छन कामुक को भज यह बात व्यंजना के द्वारा सूचित हो रही है।

2. बोद्धव्य के वैशिष्टय से

निःशेषच्युतचन्दनं स्तनतटं निर्मृष्टरागोऽधरो

नेत्रे दूरमञजने पुलकिता तन्वी तवेयं तनुः।

निथ्या वादिनि दूति बान्धवजनस्याज्ञात पीडागये

वापी स्नातुमितो गतासि न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकम्

'न पुनः तस्याधमस्यान्तिकम्।' इस अंश से विपरीत लक्षणा के द्वारा तदन्तिकमेव गतासि यह अर्थ लक्षित होता है। रन्तुं यह व्यग्यार्थ दूती के वैशिष्टय से ज्ञात होता है।

3. अन्य सन्निधि का वैशिष्टय

पश्य निश्चल निष्पदा बिसिनीपत्रे राजते बलाका।
निर्मलमरकत भजन परिस्थिता शुंख शक्तिरिव।।

बलाका के निःस्पन्द एवं निःशंक होकर बैठने के कारण स्थान की निर्जनता व विश्वसीनयता व्यंग्य है।

4. काकु की विशेषता – काकु का अर्थ है विद्वानों से भिन्न कण्ठ ध्वनि

भिन्नकण्ठध्वनिधीरैः काकुरित्याभिधीयते
गुरूपरन्त्रतया बत दूरतरं देशमुधते गन्तुम।
अलिकुल को किलललिते नैष्यति साखि, सुराभि समयेऽसौ।।

नैष्यति नहीं आयेगा क्या ? अपितु एष्यत्येव 'आयेगा ही – यह अर्थ काकु के द्वारा व्यक्त होता है।

5. चेष्टा के वैशिष्टय से –

संकेत कालमनंस विटं ज्ञात्वा विदग्धया
हसन्नेत्रार्पिताकूतं लीला पदमं निमीलितम्।।

यहाँ कमल बंद करने की चेष्टा से – कामिनी ने सायंकाल का समय संकेत का समय है यह सूचित किया है।

यह आर्थी व्यञ्जना तीन प्रकार के अर्थों वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य के भद से तीन प्रकार की होती है–वाच्य व्यंजना, लक्ष्य व्यंजना तथा व्यंग्य व्यंजना

अभिधा, लक्षणा एवं व्यञ्जना के अतिरिक्त विश्वनाथ ने तात्पर्यावृत्ति को भो माना है।

4.6 पारिभाषिक शब्दावली

अभिधा – वाच्यार्थ या मुख्यार्थ का बोध कराने वाली शब्द की शक्ति है।

लक्षणा – जिस शब्द शक्ति से मुख्यार्थबाध होने पर अन्य अर्थ लक्षित होता हो रूढ़ि या प्रयोजनवष उसे लक्षणा कहते हैं।

व्यंजना – मुख्यार्थ, लक्ष्यार्थ से भिन्न व्यंग्यार्थ का बोध कराने वाली शब्द शक्ति व्यञ्जना है।

तात्पर्यवृत्ति – यह वाक्यार्थ में वक्ता के तात्पर्य का बोध कराने वाली शब्द शक्ति है।

संकेतग्रह – संकेतग्रह या शक्तिग्रह शब्द की अभिधा शक्ति द्वारा जिस अर्थ का संकेत ग्रहण किया जाय उसे कहते हैं। जैसे गौ पद का संकेत ग्रह सास्नादिमान् पशु गाय में व्यवहार से होता है।

4.7 अभ्यासार्थ प्रश्न

बोध प्रश्न

1. अभिधा का लक्षण देते हुए संकेत ग्रह के उपायों का विवेचन कीजिए।
2. लक्षणा शब्द शक्ति का लक्षण स्पष्ट करते हुए उपादान लक्षणा एवं लक्षणलक्षणा भेदों को उदाहरण सहित समझाइए।
3. लक्षणा के भेदों का निरूपण कीजिए।
4. व्यञ्जना वृति का विवेचन कीजिए।

बोध प्रश्नों का उत्तर

इकाई के 4.2, 4.3, 4.4 एवं 4.5 देखें।

4.8 सारांश

आपने शब्द शक्तियों को विस्तार से समझा। आपने जाना कि शब्द की अभिधा शक्ति केवल संकेतित अर्थ का ही बोध करा सकती है। जिस शब्द का जिसमें संकेत ग्रह होता है वहीं उसका अर्थ होता है। आपने संकेत ग्रह के उपायों को भी समझा जिनमें लोक–व्यवहार मुख्य है। अभिधा से बोध्य अर्थ को वाच्यार्थ या मुख्यार्थ कहते हैं।

जब अभिधा शक्ति के द्वारा जिस मुख्यार्थ का बोध हो रहा है उसका वाक्य में अभिमत तात्पर्य अर्थ से अन्वय अनुपपम होता हो तब उस मुख्यार्थ से संबंधित अन्य अर्थ की प्रतीति रूढ़ि या किसी प्रयोजनवश लक्षणा शक्ति से ही होती है। यह शक्ति स्वाभाविक न होकर अर्पित या कल्पित होती है। इस लक्षणा के उपादान एवं लक्षणलक्षणा ये दो मुख्य भेद होते हैं किंतु इसके कुल अस्सी भेद आपने जाने। लक्षणा द्वारा जिस अर्थ का बोध कराया जाता है उसे लक्ष्यार्थ कहते हैं।

अभिधा, लक्षणा, एवं तात्पर्यवृत्ति के अपने–अपने व्यापारों से विरत होने पर भी जिस अन्य अर्थ की प्रतीति होती है उसमें शब्द की व्यंजना शक्ति कारण होती है। यह व्यंग्यार्थ नियत नहीं होता अपितु प्रकरणादि के अनुसार वक्ता एवं श्रोता के अभिप्राय से भिन्न–भिन्न हो सकता है। व्यंजना के दो मुख्य भेद हैं– शब्दी एवं आर्थी। व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ के एकदम विपरीत भी हो सकता है जैसे आपने **'निःशेषच्युतचन्दनं'** इस उदाहरण में देखा। इसमें वाच्यार्थ निषेध रूप है और व्यंग्यार्थ विधिरूप।

4.9 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. साहित्यदर्पण ,आचार्य शालिग्राम शास्त्री (विमल टीका)मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली, 2004.
2. साहित्यदर्पण,निरूपण विद्यालङ्कार,साहित्य भण्डार मेरठ, 1962.
3. साहित्यदर्पण, डॉ0 सत्यव्रत सिंह,शशिकला हिन्दी टीका,चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, 1976.
4. साहित्यदर्पण,आचार्य शेषराज शर्मा रेग्मी (चन्द्रकला संस्कृत हिन्दी टीका),कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, 1978.
5. Sahitya Darpan - P. V. Kane, Choukhmbha Samskrit Series, Varanasi, 1950.
6. History of Sanskrit Poetics - P. V. Kane, Choukhmbha Samskrit Series, Varanasi, 1950.

इकाई – 5

तृतीय परिच्छेद (साहित्य दर्पण प्रथम 30 कारिकाओं में से)प्रमुख कारिकाओं/अंशों की व्याख्या/रस का स्वरूपरसास्वाद, परिभाषा साधारणीकरण का विवेचन

इकाई की रूपरेखा

5.0 उद्देश्य
5.1 प्रस्तावना
5.2 तृतीय परिच्छेद की प्रथम से लेकर तीस कारिकाओं की व्याख्या
5.2.1 प्रथम कारिका 'विभावेनानुभावेन ....'।
5.2.2 द्वितीय कारिका 'सत्त्वोद्रेकादखण्ड ....'।
5.2.3 तृतीय कारिका 'लोकोत्तरचमत्कार ....'।
5.2.4 चतुर्थ कारिका 'करूणादावपि ....'।
5.2.5 पंचम कारिका 'किंच तेषु ....'।
5.2.6 षष्ठ कारिका 'हेतुत्वं ....'।
5.2.7 सप्तम कारिका 'अलौकिकविभावत्वं ....'।
5.2.8 अष्टम कारिका 'अश्रुपाताद ....'।
5.2.9 नवम कारिका 'व्यापारोऽस्ति ....'।
5.2.10 दशम कारिका 'प्रमाता तदभदेन ....'।
5.2.11 एकादश कारिका 'नृणामपि ....'।
5.2.12 द्वादश कारिका 'पस्य न ....'।
5.2.13 त्रयोदश कारिका 'विभावनादि ....'।
5.2.14 चतुर्दश कारिका 'कारण–कार्य ....'।
5.2.15 पंचदश कारिका 'प्रतीयमान ....'।
5.2.16 षोडश कारिका 'प्रपाणकरस ....'।
5.2.17 सप्तदश कारिका 'झटित्यन्य.....................'।
5.2.18 अष्टादश कारिका 'अनुकार्य्यस्य ....'।
5.2.19 नवदश कारिका 'दर्शयन्नर्तको ....'।
5.2.20 विंशति कारिका 'यस्मादेश ....'।
5.2.21 एकविंशति कारिका 'तस्मान्नय कार्यः ....'।
5.2.22 द्वाविंशति कारिका 'नापि भविष्यन् ....'।
5.2.23 त्रयोविंशति कारिका 'विभावादि ....'।
5.2.24 चतुर्विंशति कारिका 'न निर्विकल्पकं ....'।
5.2.25 पंचविंशति कारिका 'सविकल्पकसंवेद्यः ....'।
5.2.26 षड्विंशति कारिका 'तस्मादलौकिकः ....'।
5.2.27 सप्तविंशति कारिका 'निष्पत्त्या ....'।
5.2.28 अष्टाविंशति कारिका 'रत्यादिज्ञान ....'।
5.2.29 नवविंशति कारिका 'आलम्बन ....'।
5.2.30 त्रिंशतमी कारिका 'त्यागी कृति ....'।
5.3 रस का स्वरूप
5.4 रसास्वाद
5.5 रस की परिभाषा

5.6 साधारणीकरण का विवेचन
5.7 पारिभाषिक शब्दावली
5.8 अभ्यासार्थ प्रश्न
5.9 सारांश
5.10 संदर्भ ग्रंथ सूची

5.0 उद्देश्य

आप चतुर्थ प्रश्न पत्र की पंचम इकाई का अध्ययन करने जा रहे हैं। इसमें आपका परिचय विभाव, अनुभाव संचारिभाव, स्थायीभाव, रसादि से कराया जायेगा।

- आप जानेंगे रस किसे कहते है।
- विभाव, अनुभाव, व्यभिचारिभाव क्या हैं?
- रस के विषय में विभिन्न मत कौन–कौन से हैं।
- रस किस प्रकार अलौकिक है।
- रत्यादि स्थायिभावों को जान सकेंगे।
- साधारणीकरण की प्रक्रिया समझ सकेंगे।

5.1 प्रस्तावना

विश्वनाथ द्वारा प्रतिपादित काव्यलक्षण में आये हुए 'रसात्मकम्' पद का विवेचन तृतीय परिच्छेद में किया गया है। विश्वनाथ रसवादी आचार्य हैं एवं रस को काव्य की आत्मा या काव्य का प्रधान तत्त्व स्वीकार करते हैं। उनके मत में रसयुक्त वाक्य ही काव्य है। **'रस्यते इति रसः', 'आस्वाद्यत्वाद्रसः', 'रसो वै सः', 'न रसाद् ते कश्चिदर्थः प्रवर्तते'** इत्यादि उक्तियाँ रस के विषय में प्रचलित हैं।

यह रस क्या है? काव्य या नाटक में वर्णित विभाव, अनुभाव तथा संचारिभाव के द्वारा सहृदय सामाजिक के हृदय में विद्यमान रत्यादि स्थायी भाव ही रस रूप में परिणत होते हैं। रसानुभ्ति का आश्रय कौन है अनुकार्यरामादि या अनुकर्ता नट या सामाजिक? रस की उत्पत्ति होती है या अभिव्यक्ति इसके विषय में विभिन्न मत पाये जाते हैं।

जैसे – दूध अम्लादि के योग से दूसरे रूप में परिणत होकर दही कहलाता है, या आमिक्षा, कर्पूर और मिर्च के योग से दूसरे रूप में परिणत होकर प्रपाणक कहलाता है उसी प्रकार रति आदि स्थायीभाव जो सामाजिक के हृदय में वासनारूप से विद्यमान रहते हैं, विभाव, अनुभाव तथा संचारिभावों के योग से दूसरे रूप में परिणत होकर रसता को प्राप्त करते हैं।

जो स्थायी भावों को सामाजिकों के हृदय में वासना रूप में स्थिति को नहीं मानते वे रस को ज्ञान का विषय कहते हैं। किंतु ज्ञान का विषय होने के लिये उसकी पूर्वसत्ता होना आवश्यक है जैसे कि दीपक पहले से ही विद्यमान घटपटादि पदार्थों को प्रकाशित करता है किन्तु रस की विभावादिकों से पूर्व सत्ता नहीं है अतः वे उसे विषय बनाकर प्रकाशित नहीं कर सकते। रसाः प्रतीयन्ते यह व्यवहार तो उसी प्रकार किया जाता है जैसे कि ओदनं पचति। वास्तव में पकाये तो चावल ही जाते हैं पकने के बाद ही उनकी भात संज्ञा होती है। जिस प्रकार पाक के सम्बन्ध से चावल भातत्वेन स्वीकार किये जाते हैं उसी प्रकार प्रतीति के सम्बन्ध से ही रसरूप को प्राप्त सामाजिकों की वासना रसत्वेन स्वीकार की जाती हैं। यह रस केवल प्रतीति काल में ही रहता है, न इसके पूर्व और न इसके पश्चात्, जबकि घटादि पदार्थों की सत्ता प्रतीति से पूर्व भो है और पश्चात् भो। रति आदि स्थायीभाव ही विभाव, अनुभाव तथा संचारिभावों के साथ विशिष्ट प्रक्रिया से गुजरकर रस कहलाते हैं अतः स्थायीभाव और रस में तात्विक दृष्टि से कोई भद नहीं है, जैस कि गन्ना और चीनी में कोई तात्विक भद नहीं है, गन्ना ही विशिष्ट प्रक्रिया के पश्चात् चीनी नाम से कहा जाता है।

रस का स्वरूप क्या है? उसका आस्वादन किस प्रकार होता है? उसका अधिकारी तथा आश्रय कौन है? किस प्रकार साधारणीकरण की प्रक्रिया से रसास्वादन होता है यह सब आप अब जानेंगे।

5.2 तृतीय परिच्छेद की प्रथम से लेकर तीस कारिकाओं की व्याख्या

5.2.1 प्रथम कारिका 'विभावेनानुभावेन ....'। (सा.द. 3.1)

सहृदय सामाजिक के हृदय में वासना रूप में स्थित रति, हासादि स्थायी भाव जब काव्य या नाटक में देखे या सुने गये विभावों (आलम्बन एवं उद्दीपन) अनुभावों (भ् विक्षेप, कटाक्ष) तथा संचारिभावों (निर्वेद, ग्लानि) से अभिव्यक्त होते हैं तो वे श्रृंगार, हास्यादि रसों के रूप में परिणत होते हैं। स्तम्भ, स्वेदादि सात्विक भावों का अन्तर्भाव अनुभाव में ही किया गया है। जिस प्रकार दूध अम्लादि के संयोग से दहो रूप में या अन्य पदार्थों के संयोग से प्रपाणक रूप में परिणत होता है उसी प्रकार स्थायीभाव भो विभाव, अनुभाव तथा संचारिभाव के संयोग से दूसरे रूप में परिणत हुए रसरूप को प्राप्त होता हैं।

5.2.2 द्वितीय कारिका 'सत्वोद्रेक ....'। (सा.द. 3.2)

रसास्वादन के समय सहृदय के हृदय में रज और तम के स्पर्श से रहित सत्त्व गुण विशेष का आविर्भाव होता है, उसके कारण सहृदयों के द्वारा अखण्ड (पूर्ण) अर्थात् विभावादि एवं रत्यादि स्थायीभाव, उनका प्रकाश, आनन्द एवं चमत्कार इन सबसे अभिन्न रूप में एतदात्मा रस का एक रूप में अनुभव होना, स्वयं प्रकाश (अर्थात् जिसका कोई अन्य प्रकाशक न हो) आनन्द से युक्त, चमत्कारिक, अन्य ज्ञेय विषय के सम्पर्क से शून्य अतः ब्रह्मानन्द (परमात्म साक्षात्कार) के समान रसानुभ्ति की जाती है। ब्रह्मानन्द के समय केवल ब्रह्म मात्र की अनुभ्ति होती है जबकि रसानुभ्ति में विभावादिकों की भो अनुभ्ति होने से उसे ब्रह्मास्वादसहोदर कहा है।

5.2.3 तृतीय कारिका व 'लोकोत्तरचमत्कार ....'।

कोई प्राक्तन पुण्यों के कारण पुण्यशाली सहृदयजन उस काव्यानन्द रस का आस्वादन करते हैं, अलौकिक चमत्कार जिसका प्राणभ्त है क्योंकि नायकादि का नायिकादिगत रत्यादिक भाव तो लौकिक चमत्कार ही हैं किन्तु यह सामाजिक गत होने से अलौकिक हो जाता है। यह रस तादात्म्यरूप से उसी प्रकार अनुभव किया जाता हैं जैसे आत्मा द्वारा अपने से भिन्न शरीर के विषय स्थूलत्व और कृशत्व के प्रति अभद की प्रतीति की जाती हैं। यह रस नायकादि निष्ठ होने के कारण 'मैं राम सीता विषयक रति वाला हूँ' इस प्रकार ज्ञाता और ज्ञान के अभद रूप में आस्वाद्यमान किया जाता है।

5.2.4 चतुर्थ कारिका 'करूणादावपि ....'।

रस को आनन्दमय स्वीकार किया गया हैं तो करूण रस को जो शोक स्थायीभाव के कारण दुःखमय है कैसे रस मानेंगे। इस प्रकार रस लक्षण में अव्याप्ति दोष हो जायेगा। इसका निराकरण सहृदयों के अनुभव के आधार पर करते हुए कहते हैं कि करूणादि रसों में भो (शोक, भयादि, स्थायीभाव होने के कारण) जो अत्यन्त आनन्द की अनुभ्ति होती है उसमें अर्थात् उस आनन्दानुभव के विषय में सहृदयों का अनुभव ही प्रमाण है। अतः करूण, वीभत्स भयानकादि रस सुखमय ही हैं दुःखमय नहीं।

5.2.5 पंचम कारिका 'किंच तेषु यदा ....'।

यदि करूण, वीभत्स तथा भयानकादि रसों में दुःख हो तो कोई भो दुःखोत्पादक करूणादि रसों के काव्य को सुनने में प्रवृत्त नहीं होगा। उन करूणादि रसों के सुखमय होने से ही उनके श्रवण में प्रवृत्ति होती है। केवल कुतूहल के निमित्त उन काव्यों को सुनने में कोई प्रवृत्त नहीं होता अपितु आग्रह पूर्वक ही प्रवृत्त होता है। यदि करूणरसादि को दुःखमय माना जायेगा तो फिर करूणरस प्रधान रामायण, उत्तररामरचित आदि काव्यों को भो दुःख का हेतु

मानना पड़ेगा। ऐसा मानने पर इन काव्यों के प्रति पढ़ने सुनने की प्रवृत्ति नहीं होगी और इनके विलीन होने का प्रसंग हो जायेगा, अतः ये सुखमय ही हैं।

5.2.6 षष्ठ कारिका 'हेतुत्वं .... लौकिकाः'

शोकादि स्थायीभाव के दुःखजनक होने से करूणादि रसों में सुख की उत्पत्ति कैसे हो सकती हैं, इस शंका का उत्तर देते हैं – भले ही लौकिक नियम यह हो कि शोक, हर्षादि कारणों से शोक हर्षादि उत्पन्न होते हैं जैसे राम के वनवासादि से दुःख की उत्पत्ति स्वाभाविक रूप से होती है किंतु काव्य के सम्बन्ध में यह नियम नहों है।

5.2.7 सप्तम कारिका 'अलौकिकविभावत्वं ....'।

काव्य के संदभ में लौकिक दुःख के कारणों के विद्यमान होने पर भो कवि द्वारा उपनिबद्ध किये हुए अलौकिक विभावन व्यापार के द्वारा (अर्थात् रत्यादिकों को आस्वादन योग्य बनाने) कारण शब्द की वाच्यता को छोड़कर अलौकिक विभाव शब्द की वाच्यता को प्राप्त कर लेते हैं। अतः काव्य में तो सभो विभावादिकों से सुख की ही प्राप्ति होती है।

5.2.8 अष्टम कारिका 'अश्रुपातादय ....'।

हरिश्चन्द्र आदि के चरित को सुनने या देखने से जो अश्रुपातादि होता हैं वह तो दुःख के कारण ही होता है, इस शंका के निवारण हेतु कहते हैं कि काव्य के श्रवण या दर्शन से जो अश्रुपातादि (दीर्घ निःश्वास) देखे जाते हैं उसमें चित्त का द्रुत हो जाना (दयायुक्त) कारण है। वह सुखोत्पत्ति के समान ही है। काव्य तो सम्पूर्ण रूप से आह्लाद का ही कारण है किंतु वह रसास्वाद बिना रत्यादि की वासना या संस्कार के नहीं होता। रत्यादि की वासना वाले ही रस का आस्वाद ले सकते हैं। वह संस्कार आधुनिक और प्राचीन दो प्रकार का होता है।

5.2.9 नवम कारिका 'व्यापारोऽस्ति ....'।

विभाव, अनुभाव, संचारिभावों का साधारणीकरण नाम का व्यापार विशेष (सामर्थ्य) होता है, जिसके प्रभाव से राम या हनुमान् द्वारा किये गये समुद्र लंघनादि को सामाजिक राम या हनुमान के तादात्म्य भाव के कारण अभद का अनुभव करते हुए अपने स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। यहाँ सामाजिक राम के उत्साह के साथ अभद होने के कारण 'स्वादनाख्य व्यापार' बल से अपनी वासना का ही आस्वादन करता है। जिस प्रकार स्फटिक के पत्थर के ऊपर रखे हुए जवा कुसुम की लालिमा के प्रतिबिम्ब से स्फटिक शिला भो लालिमा युक्त प्रतीत होती है, उसी प्रकार साधारणीकरण व्यापार से सीतागत राम की रति ही सामाजिक के हृदय में प्रतिफलित होती है।

5.2.10 दशम कारिका 'प्रमाता तदभेदेन ....'।

जब सामाजिक राम के साथ या हनुमान के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेता है तो विभावादि के उस साधारणीकरण व्यापार के कारण उसमें समुद्रादि के लंघनादि में उत्साहादि भावों का उदय हो जाता है।

5.2.11 एकादश कारिका 'नणामपि ....'।

हनुमान् आदि के द्वारा समुद्रलंघनादि में साधारणीकरण द्वारा साधारण मनुष्यों में भो उत्साहादि का उदय हो जाता है। उसी प्रकार श्रृंगार, हास्यादि अन्य रसों के रत्यादि भावों के विषय में भो समझना चाहिये। सीता विषयक राम का अनुराग भो साधारणीकरण व्यापार द्वारा सामाजिक को रामादि से अपने अभद ज्ञान द्वारा प्रतीत होता है। यह साधारणीकरण नायक और सामाजिक दोनों का होता हे।

5.2.12 द्वादश कारिका 'परस्य न ....'।

विभाव, अनुभाव तथा संचारिभाव रस से पूर्व किस प्रकार साधारणीकृत होकर सामाजिकों को प्रतीत होते हैं? रस के आस्वादन के समय आलम्बन और उद्दीपनादि विभाव ;समुद्रलंघनादि व्यापारद्ध नायक के ही थे, या फिर नायक रामादि के नहीं थे, ये अवलोकनादि व्यापार मेरे

ही हैं या मेरे नहीं हैं, इस प्रकार का ज्ञान अर्थात् सम्बन्ध विशेष का स्वीकार या परिहार नहीं होता है। इस प्रकार विभावादि का साधारणीकरण होता हैं।

5.2.13 त्रयोदश कारिका 'विभावनादि ....'।

यद्यपि रामसीतादि आलम्बन विभाव, चन्द्रोदयादि उद्दीपन विभाव, कटाक्ष भ्विक्षेपादि अनुभाव व्रीडादि संचारिभाव लोक सिद्ध ही होते हैं, लौकिक होते हुए भो जब ये काव्य में उपनिषद होते हैं तो उनमें विभावनादि अलौकिक व्यापार आ जाता है। यह अलौकिकता अर्थात् लोकोत्तर चमत्कारशालिता सहृदयों का आस्वाद के योग्य होने के कारण भ्षण ही है दूषण नहीं अलौकिक व्यापार से युक्त होने के कारण विभावादि भो अलौकिक हो जाते हैं। इन्हीं अलौकिक विभावादि से अलौकिक रस की उत्पत्ति होती है।

5.2.14 चतुदर्श कारिका 'कारण–कार्य ....'।

यद्यपि लोक व्यवहार की दृष्टि से विभाव को कारण, अनुभाव को कार्य एवं व्यभिचारी भाव को सहकारी कारण माना गया है किंतु रसोद्बोध की प्रक्रिया में ये तीनों ही कारण रूप में काव्यशास्त्रियों द्वारा स्वीकृत किये गये हैं। सामाजिकों के हृदय में श्रृंगारादि रस की पुष्टि में सीता के हर्ष, चांचल्य जैसे विभाव जिस प्रकार कारण होते हैं उसी प्रकार सीतागत स्तम्भ स्वेदादि अनुभाव भो कारण बनते हैं क्योंकि इन अनुभावों से भो रस की पुष्टि ही होती है अतः विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी भाव तीनों मिलकर ही रसोत्पत्ति के कारण है।

5.2.15 पंचदश कारिका 'प्रतीयमानः ......'।

विभाव, अनुभाव एवं संचारिभाव रसोत्पत्ति से पूर्व तो प्रत्येक 'अपने आप में स्थित होते हुए रसास्वाद का कारण कहलाते है किंतु रसोत्पत्ति के समय ये सभो मिलकर ही सम्मिलित रूप से रत्यादि को सहृदय के हृदय में, आस्वाद्यमान रस के रूप में परिणत करते है। रसोत्पत्ति के समय इनका अभिन्न रूप से स्फुरण होता है।

5.2.16 षोडश कारिका 'प्रशणकरस ....'।

जिस प्रकार चीनी, मिर्च, आमिक्षा एवं कर्पूर इन चारों के मेल से प्रपाणक रस में अपूर्व–अनिर्वचनीय आस्वाद उत्पन्न होता है उसी प्रकार विभावादि के संयोग से उत्पन्न श्रृंगारादि रस में भो विलक्षण रसास्वाद उत्पन्न होता है जो उन विभावादि के पृथक–पृथक आस्वाद से विलक्षण, अपूर्व एवं अनिर्वचनीय आस्वाद होता है। अब प्रश्न उठता है कि यदि उन सभो के संयोग से रसोत्पत्ति होती है तो उनमें से एक के या दो के ही होने पर रसोद्भावना कैसे होगी। जैसे लोक में पटोत्पत्ति तब तक नहीं हो सकती जब तक उसके मुख्य कारण के सभो सहकारी कारण तुरी वेमादि भो न हो। एक के भो अभाव होने पर पटादि कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती।

5.2.17 सप्तदश कारिका 'झटित्यन्य ....'।

यदि काव्य में विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी भावों में से किसी एक या दो की विद्यमानता है तो शीघ्र ही दूसरे अन्यों का अध्याहार हो जाने से जो कि व्यञ्जना के द्वारा बोध्य होता है कोई दोष नहीं है। अर्थात् यदि विभाव है और अन्य अनुभाव संचारी एवं रत्यादि नहीं है तो उनका वहाँ अध्याहार हो जाता है, जहाँ विभाव एवं अनुभाव है और संचारी एवं रत्यादि नहीं है या जहॉ अनुभाव और संचारी है एवं विभाव रत्यादि नहीं तो उनका भो प्रकरणादि के अनुसार अध्याहार हो जाता है। जैसे 'मालविकाग्नि–मित्रम्' के इस उदाहरण में **'दीर्घाक्षं......** मालविका के रूप का आलम्बन रूप में वर्णन होने पर भो मालविका गत नयनविस्फारादि अनुभावों एवं औत्सुक्यादि संचारिभावों का औचित्य से ही अध्याहार हो जाता है।

5.2.18 अष्टादश कारिका 'अनुकार्य्यस्य ....'।

यह रस रामादि अनुकार्यगत नहीं हो सकता क्योंकि रामादि की सीतादिविषयक रति का उद्बोध सीमित होता है जबकि रस तो अनेकों सामाजिकों के हृदयों में विद्यमान होने से व्यापक है और भो सीतादि विषयक रति लौकिक है जबकि समाजिकों में सीतादिनिष्ठ रति के अभद आरोप होने से वह अलौकिक हो जाती है। तीसरा कारण प्रतिकूलता है। अनुकार्य

रामादिगत रत्यादि का उद्बोध रस नहीं हो सकता क्योंकि वह रति नाट्य तथा काव्य के दर्शन और श्रवण में प्रतिकूल होती है।

रस ज्ञाप्य नहीं है, जन्य ज्ञान का विषय न होने से एवं अपनी सत्ता में प्रतीति से व्यभिचरित नहीं होने से। रस की जब सत्ता होती है तो सहृदयों को उसकी प्रतीति सदैव होती है। ऐसा नही होता कि रस तो हो परन्तु सहृदयों को उसकी अनुभ्ति न हो। घटादि लौकिक पदार्थ ज्ञाप्य होते हैं, छिपे होने पर विद्यमान होते हुए भो उनकी प्रतीति नहीं होती। अतः रस ज्ञाप्य नहीं है, वह स्वयंप्रकाश है।

यह रस अनुकर्ता नटनिष्ठ भो नहीं हो सकता क्योंकि शिक्षा तथा अभ्यास द्वारा वह रामादि की समातनता को अभिनय के द्वारा प्रकट करता हुआ अपना पूरा ध्यान दृश्य के अभिनय में एकाग्र कर देता है।

5.2.19 नवदश कारिका – 'दर्शयन्नर्तको नैव ....।'

रस नटगत नहीं हो सकता क्योंकि वह अपने अभिनय कौशल द्वारा रामादि के स्वरूप को प्रकट करने में अपनी पूरी प्रतिभा लगा देता है। नट को रस की प्रतीति तभो हो सकती जब वह अभिनय के साथ–साथ काव्य के अर्थ की भो भावना करे तो वह नट भो सहृदयता को प्राप्त कर लेता है और सहृदय होने पर रसानुभ्ति कर सकता है।

5.2.20 विंशति कारिका – 'यस्मादेव ....।'

यह रस विभावादि कारणों से उत्पन्न होकर उनका कार्यरूप नहीं है अपितु विभावादि समूहालम्बनात्मक है अर्थात् विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारि भावात्मक समुदाय ही है आलम्बन जिसका ऐसी आत्मा वाला है। यदि रस कार्य होता तो उसका कारक विभावादिकों का ज्ञान ही होता और रस की प्रतीति के समय उनकी प्रतीति नहीं होती क्योंकि कारण और कार्य की युगपत् प्रतीति नहीं होती। जैसे चन्दन के स्पर्श का ज्ञान और चन्दन के स्पर्श से उत्पन्न सुख का ज्ञान एक साथ नहीं होता। रस की प्रतीति विभावादि समूहालम्बनात्मक ज्ञान रुप से ही होती हैं अतः विभावादि ज्ञान रस का कारण नहीं है और नहीं रस उनका कार्य। विभावादि को रस के प्रति कारण केवल उनके पूर्ववर्ती होने से गौण रूप से कहा गया है।

5.2.21 एकविंशति कारिका – 'तस्मान्न कार्यः नो नित्यः ....'।

रस न तो कार्य है और न ही आकाश एवं आत्मा के समान उसे नित्य मान सकते हैं। यदि रस नित्य होता तो विभावादि के ज्ञान के पूर्व भो उसकी सत्ता होती। रस का ज्ञान सभा में जाने के समय सहृदयों को नहीं होता अभिनय देखने के समय ही होता है जबकि आत्मा और आकाश का ज्ञान कहीं जाने के समय भो होता है और उससे पूर्व स्थितिकाल में भो होता है। यदि रस नित्य होता तो विभावादि के ज्ञान के पूर्व भो उसकी प्रतीति होती किंतु प्रतीतिमात्र स्वरूप होने से उसकी सत्ता प्रतीति काल में ही होती है। नित्य वस्तु का असंवेदनकाल में भो अभाव नहीं होता।

5.2.22 द्वाविंशति कारिका – 'नापिभविष्यन् ......'।

रस भविष्यत् काल में होने वाली वस्तु भो नहीं है क्योंकि आनन्दघन एवं प्रकाशरूप होने से उसकी अनुभ्ति साक्षात्कार का विषय होती है। भविष्यकाल में होने वाली वस्तु का साक्षात्कार नहीं हो सकता। उसका अनुभव नहीं हो सकता।

रस वर्तमानकालिक भो नहीं है। क्योंकि वह घटपटादि के समान कार्य और ज्ञाप्य नहीं है। संसार की सभो वस्तुएं या तो ज्ञाप्य है या कार्य। घट जन्य होने से कार्य है और जो कार्य होता है वह ज्ञाप्य भो होता है अतः वर्तमानकालिक होता है। आकाश किसी से जन्य नहीं है अतः कार्य नहीं है किन्तु वह ज्ञाप्य है अतः वह भो वर्तमानकालिक है। किंतु रस न तो कार्य है और न ज्ञाप्य, अतः वह वर्तमानकालिक नहीं है। वह इन दोनों से विलक्षण है।

5.2.23 त्रयोविंशति कारिका – 'विभावादि परामर्श ....'।

विभावादि परामर्श का विषय होते हैं अर्थात् उनमें विशिष्ट वैशिष्टय सम्बन्ध होता है, अतः रस निर्विकल्पक ज्ञान का विषय नहीं हो सकता क्योंकि निर्विकल्पक ज्ञान में संबंध का भान नहीं होता। निर्गतों विकल्पः विभिन्न कल्पः विशिष्ट प्रकारः यस्मिन् तादृशं निरवच्छिन्नं अर्थः सम्बन्धानवगाहि। इसी प्रकार विर्विकल्पक ज्ञान में किसी धर्म का प्रकारता रूप से भान नहीं होता वह निष्प्रकारक होता है जबकि रस परमानन्दमय होने से सहृदय सामाजिकों को स्पष्ट रूप से संवेद्य होता ह। घट में जो घटत्वादि नाम, जाति रूप के वैशिष्ट से रहित ज्ञान हैं वह निर्विकल्पक ज्ञान है।

5.2.24 चतुर्विंशति कारिका 'न निर्विकल्पकं ....'।

रस न तो निर्विकल्पक ज्ञान का विषय है और न ही सर्विकल्पक ज्ञान का। घट पटादि पदार्थ सविकल्पक ज्ञान से संवेद्य हैं क्योंकि उनमें वचन के प्रयोग की योग्यता है। वे वाचक और लक्षक शब्दों के द्वारा प्रयोग के योग्य हैं। रस में अभिलाप संसर्ग अर्थात् वचन प्रयोग की योग्यता का अभाव है, वह व्यंग्य है, अनिर्वचनीय है। रस विभावादिकों के द्वारा ही जाना जा सकता है। काव्य में स्थित शब्दों द्वारा नहीं। रस का 'यदि शब्दतः कथन किया जायेगा तो **'स्वपदवाच्यत्व'** दोष हो जायेगा। **'अयं घटः'** यह प्रयोग हो सकता है किंतु **'अयं रसः'** यह प्रयोग नहीं हो सकता।

5.2.25 पंचविंशति कारिका – 'सविकल्पकसंवेद्यः ....'।

रस को परोक्ष या अतीन्द्रिय भो नहीं माना जा सकता क्योंकि उसका साक्षात् अनुभव होता है। परोक्ष का साक्षात्कार नहीं होता। रस यदि परोक्ष नहीं है तो प्रत्यक्ष है। वह प्रत्यक्ष भो नहीं है। क्योंकि वह काव्यार्थ के सूचक शब्दों से उत्पन्न होता है। अतः वह प्रत्यक्ष से भिन्न होते हुए भो उससे विलक्षण है।

5.2.26 षड्विंशति कारिका – 'तस्मादलौकिक ....'।

यह रस एक मात्र सहृदय सामाजिकों द्वारा संवेद्य तथा अलौकिक है क्योंकि यह लौकिक ज्ञान से विलक्षण है तथा ज्ञाप्यत्वादि लौकिक धर्मों से रहित है। वैयाकरण या मीमांसकादि द्वारा संवेद्य नहीं है। अलौकिक एवं संर्वसंवेद्य न होने से इसकी सत्ता में, चर्वणा से अभिन्न चर्वण स्वरूप विद्वानों की चर्वणा अर्थात् आस्वादन ही प्रमाण है। चर्वणा आस्वादानुभव को कहते हैं। काव्य या नाटक को सुनने और देखने के समय जो सहृदय सामाजिकों को रसानुभ्ति होती है, वही रस की सत्ता में प्रमाण है। **''काव्यार्थ संभेदादात्मानन्द समुद्भव'** यही रस का स्वरूप है।

5.2.27 सप्तविंशति कारिका – 'निषत्त्या ....'।

आचार्य भरत ने रस का जो लक्षण किया है 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्ति' अर्थात् विभाव अनुभाव एवं व्याभिचारीभावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है, उसमें रस की उत्पत्ति कही गई है और उत्पत्ति कार्य की होती है, तो रस कैसे कार्य नहीं हैं रस एवं रसास्वाद अभिन्न हैं। जब रस का आस्वादन होती हैं तभो चर्वणा की उत्पत्ति होती हैं और जब रस का आस्वादन नहीं होता है तो चर्वणा की उत्पत्ति भो नहीं होती, अतः उसके कभो आविर्भाव और कभो तिरोभाव के कारण उपचार प्रयोग से उसमें कार्यत्व का गौण प्रयोग कर दिया गया है।

वास्तव में चर्वणा भो कार्य नहीं है। अतः रस के विषय में 'निष्पत्ति' शब्द गौण है। रस अवाच्य एवं अलक्ष्य है, वह केवल व्यंग्य है।

5.2.28 अष्टाविंशति कारिका 'रत्यादिज्ञान ....'।

रत्यादि के ज्ञान से अभिन्न होकर ही रस उत्पन्न होता है अर्थात् रस रत्यादिक ज्ञान स्वरूप ही है। ज्ञान स्वप्रकाश एवं अखण्ड होता है अतः रस की स्वप्रकाशता और अखण्डता सिद्ध होती है। रस के सम्पादक रत्यादि का ज्ञान के साथ तादात्म्य या अभद स्वीकार किया गया है और तादात्म्य होने के कारण ही रस अखण्ड है। रत्यादि पहले रसावस्था से पूर्व

पृथकरूपेण प्रतीत होते हुए भो पश्चात् एकाकार होकर व्यंजना के द्वारा एक ज्ञान के विषय होकर चिद्रूपता को प्राप्त होते हुए रस रूप में परिणत होते हैं।

5.2.29 नवविंशति कारिका – 'रत्याद्युद्बोधका ....'।

लोक में जो रत्यादि ;रति, हासादि स्थायी भावों केद्ध के उद्बोधक है काव्य एवं नाटक में वहीं विभाव कहलाते हैं। लोक में जो रामनिष्ठ रति हासादि भाव को उद्बुद्ध करने वाले सीतादि हैं या वे ही जब काव्य या नाटक में निवेषित किये जाते है तो सामाजिकनिष्ठ रत्यादि भावों के उद्बोधक होने से विभाव कहलाते हैं। विभाव का अर्थ है वे जिनसे सामाजिकनिष्ठ रत्यादि भाव विशेष रुप से भावित किये जाते हैं अर्थात् रसास्वाद के अंकुर की तरह उत्पत्ति के योग्य किये जाते है। ये विभाव दो प्रकार के है – आलम्बन एवं उद्दीपन। आलम्बन विभाव नायक, नायिका आदि होते हैं क्योंकि उनका आश्रय लेकर ही रसोत्पत्ति होती है।

5.2.30 त्रिशंत् कारिका – 'त्यागी कृती ....'।

काव्य या नाटक में जो नायक होता है वह त्यागी (दानी) वीर (विद्वान पुण्यात्मा) उच्चकुलीन, धन सम्पन्न अथवा शोभा सम्पन्न, रूपवान युवा, उत्साही, शीघ्रकार्य करने वाला प्रजा में लोकप्रिय, तेजस्वी, चतुर एवं सदाचार आदि गुणों से युक्त होता है।

5.3 रस का स्वरूप

विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में रस का स्वरूप इस प्रकार बताया है –

सत्त्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मयः।
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः।।
लोकोत्तरचमत्कारप्राणः कैश्चित्प्रमातृभिः।
स्वाकारवदाभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः।। (3.2.3 सा.द.)

रस को **'अखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मय', वेद्यान्तरस्पर्शशून्य, 'ब्रह्मास्वादसहोदर' तथा 'लोकोत्तरचमत्कारप्राणः'** स्परूप वाला कहा गया है।

(1) **अखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मयः** – जब सहृदयों के हृदय में सत्त्व गुण का उद्रेक होता है, रज एवं तम के सम्पर्क, से रहित मानस धर्म विशेष सत्त्व है – **'अनुत्कृष्ट मनोधर्मविशेषःरज, 'निकृष्टनोधर्म विशेषज्ञः तम', 'रजस्तमोभ्यामस्पृष्ट मनः सत्त्वामिहोच्यते।** रजोगुण और तमोगुण के बीजभत् मानसधर्म का तिरस्कार कर जब सत्त्वगुण का आविर्भाव होता है, जो काव्यार्थ के परिशीलन से होता है तो अखण्ड रस अर्थात् पूर्ण, विभावादि एवं रत्यादि के ज्ञान, उसके आनन्द एवं चमत्कार इन सबसे अभिन्न एकाकार आत्मा वाला, स्वयं प्रकाशित होने वाला रस स्वरूप होता है। रस का अन्य कोई प्रकाशक नहीं होता जैसे घट ज्ञान के अनन्तर अपना ज्ञान घटादि को प्रकाशित कर देता है वैसे ही रस भो अपने आपको प्रकाशित करता है अर्थात् वह अखण्ड इसलिये है कि वह स्वयं प्रकाशमान, आनन्दरूप एवं चमत्कार युक्त स्वरूप वाला है। अखण्ड पद का अभिप्राय है कि विभाव एवं रत्यादि का ज्ञान, उनका आनन्द तथा चमत्कार इन सबसे अभिन्न एतादात्मा रस एक है। रस की अखण्डता इसमें है कि यद्यपि विभावादि खण्डरूप हैं किन्तु जैसे प्रपाणक रस में सब मिलकर ही एक रस होते है उसी प्रकार समूह की आलम्बन विधि के अनुसार उनमें अभिन्न होकर वे एक रस होते हैं।

(2) **वेद्यान्तरस्पर्शशून्यः** – रसास्वाद के समय अन्य किसी विषय के सम्पर्क से शून्य होने के कारण अर्थात् रसानुभ्ति के समय किसी अन्य क्षेत्र विषय का ज्ञान नहीं होने से इसे ब्रह्मास्वादसहोदर स्वरूप वाला गया है।

(3) **ब्रह्मास्वादसहोदर** :– रस का स्वरूप ब्रह्म अर्थात परमात्मा के साक्षात्कार के समान है। रस को ब्रह्मास्वाद सहोदर कहा गया है न कि ब्रह्मानन्द क्योंकि ब्रह्म के

साक्षात्कार के समय केवल ब्रह्ममात्र की अनुभ्ति होती है किन्तु रसानुभ्ति के समय विभावादि की भो अनुभ्ति होती हैं।

(4) **लोकोत्तर चमत्कारप्राण** :– रस अलौकिक चमत्कार है प्राण जिसका ऐसे स्वरुप वाला है। नायक की नायिका के प्रति रति में लौकिक चमत्कार ही सम्भव है किंतु रस में चमत्कार सामाजिक निष्ठ होने से वह अलौकिक हो जाता है और यही अलौकिक चमत्कार रस का सार रुप हैं। इस अलौकिक चमत्कार रुप होने के कारण रस सभो जगह अद्भ्त प्रतीत होता है। इस ऐसे अलौकिक चमत्कार रुप सार वाले रस की अनुभ्ति किन्ही पुण्यशाली सहृदयजनों को होती हैं।

5.4 रसास्वाद

रसास्वाद के प्रकार का कथन विश्वनाथ ने इस प्रकार किया हैं–

'कैश्चित् प्रमातृभिः स्वाकारवदभिन्न त्वेनायमास्वाद्यते रसः।

रस का आस्वादन उसी प्रकार होता है जैसे कि मनुष्य अपने शरीर को अपने से अभिन्न समझकर ''मैं स्थूल हूँ'' ''मैं कृश हूँ'' इस प्रकार उल्लेख करता है। रस भो नायकादि निष्ठ होने पर भो सामाजिक को ''मैं राम सीता विषयक रतिवाला हूँ'' इस प्रकार आत्मानिष्ठ होने के कारण ज्ञाता और ज्ञान के अभद रूप में आस्वाद किया जाता है। घटादि के पदार्थ ज्ञान में घट ज्ञान ओर '' मैं घडे को जानता हूँ'' इस प्रकार का ज्ञान और ज्ञाता में भद प्रतीत होता है, जबकि रसानुभ्ति में और रस में कोई भद नहीं होता है। रस आस्वाद रुप है, आस्वाद से भिन्न अन्य आस्वाद्य वस्तु रस नहीं है।

रसः आस्वाद्यते – 'रस आस्वादित होता है, यह जो कहा गया है वह **'राहोः शिरः'** – इस उदाहरण के समान कल्पित भद मानकर औपचारिक रुप से कहा गया है, जबकि यहाँ वास्तव में कोई भद नहीं है। कम एवं क्रिया के रुप में उल्लेख करने के लिये अभद होते हुए भो भद कल्पित किया गया है। अथवा इसे कम और कर्ता दोनों को कहने की विवक्षा से **'भिद्यतेकाष्ठ स्वयमेव'** के प्रयोग के समान अभद होने पर भो भद की विवक्षा के कारण प्रयोग किया गया समझना चाहिए।

रस विभावादि के ज्ञान प्रकाश शरीर से अभिन्न है क्योंकि रस में रस्यमानता ही साररुप में है। सहृदय सामाजिकों के हृदय में रत्यादि ही ज्ञान रुप को प्राप्त करके आनन्दरुप चमत्कार को उत्पन्न करते है।

यह आस्वाद क्या हैं? काव्यार्थ के परिशीलन से उत्पन्न होने वाला आनन्द का अनुभव ही आस्वाद कहलाता है। अतः आस्वाद रस से भिन्न नही है क्योंकि रस ज्ञेय नहीं है वह ज्ञान का विषय नहीं हैं। घटज्ञान अपने विषय घट से भिन्न होता है जबकि प्रकाश ;ज्ञानद्ध स्वरुप या आस्वाद स्वरुप रस न तो आस्वाद का विषय हो सकता है न ज्ञान का। स्वयं प्रकाश वस्तु अपने आपको प्रकाशित नहीं कर सकती।

रस या आस्वाद ज्ञेय क्यों नहीं है क्योंकि न तो यह ज्ञाप्य है और न ही कार्य। इस रस की अलौकिकता को सिद्ध करने हेतु उसके विषय में नौ लौकिक सामान्य धर्मो का निराकरण किया गया है।

रस अलौकिक है क्योंकि–

(1) **रस ज्ञाप्य नहीं है**– जो वस्तु ज्ञाप्य या ज्ञान का विषय होती है, वह कभो कभो प्रतीति का विषय नहीं होती है जैसे छिपा हुआ घट, किंतु रस कभो भो अपनी सत्ता में व्यभिचरित नहीं होता। अगर रस की सत्ता है तो उसकी प्रतीति अवश्य होगी। रस हो और उसकी प्रतीति न हो ऐसा नहीं हो सकता। रस अनुभव रुप ही है और यही उसकी सत्ता में प्रमाण है।

(2) **रस कार्य नहीं है**– रस विभाव, अनुभाव और संचारिभावों के ज्ञान से उत्पन्न होने वाला कार्य नहीं है। यदि रस कार्य होता तो विभावादि का ज्ञान उसका कारण होता किंतु इस प्रतीति के समय विभावादि की प्रतीति ही नहीं होती है। कारण का

ज्ञान और कार्य का ज्ञान एक साथ नहीं हो सकते । चन्दन के स्पर्श का ज्ञान और उसके स्पर्श से सुख का ज्ञान एक साथ एक समय में नहीं हो सकते। रस की प्रतीति विभावादि समूहालम्बनात्मक ज्ञान रुप से ही होती है अतः वे रस का कारण नहीं हो सकते, अतः रस कार्य नही है।

(3) **रस नित्य नहीं है**— जैसे आत्मा और आकाश अपने ज्ञान काल के अतिरिक्त समय में भो रहते है अतः वे नित्य हैं उस प्रकार रस संवेदन से पूर्व नहीं रहता। रस यदि नित्य होता तो विभावादि के ज्ञान से पूर्व भो रहता। रस केवल अपने ज्ञान काल में ही रहता है अतः वह नित्य नहीं है।

(4) **रस भविष्यत्काल में रहने वाला भी नहीं**—भविष्यत्काल में रहने वाली वस्तु का वर्तमान में साक्षात् नहीं हो सकता और रस साक्षात् आनन्दघन एवं प्रकाशस्वरुप है अतः यह भविष्यत्काल की वस्तु नहीं है। कल होने वाली वस्तु आज नहीं देखी जा सकती।

(5) **रस वर्तमानकालिक भी नहीं** — रस न तो कार्य है और न ही ज्ञाप्य। यह इन दोनों से विलक्षण है। वर्तमानकालिक वही होता है जो या तो घट के समान कार्य हो या आकाश के समान ज्ञाप्य। जो कार्य होता है वह ज्ञाप्य भो होता है और वही वर्तमानकालिक। रस न कार्य है और न ज्ञाप्य अतः वर्तमानकालिक भो नहीं।

(6) **रस निर्विकल्पक ज्ञान का विषय नहीं** — निर्विकल्पक ज्ञान में ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय इस सम्बन्ध का ज्ञान नहीं होता **'निर्गतोविकल्पः विशिष्ट प्रकारः यस्मिन्'** रस में विभावादिकों का परामर्श होने से विशिष्ट — वैशिष्ट्य सम्बन्ध होता है। निर्विकल्पक ज्ञान निष्प्रकारक होता है। उसमें किसी धर्म का प्रकारता रुप से मान नहीं होता जैसे 'गो' में गोत्व का ज्ञान निर्विकल्पक ज्ञान है, उसका रंग, उसकी नस्लादि विभिन्न धर्मों का कोई मान नहीं। परन्तु रस में सहृदय को परमानन्द होने के कारण स्पष्ट प्रतीति होती है।

(7) **रस सविकल्पक ज्ञान का विषय भी नहीं हो सकता** — रस शब्द से वाच्य नहीं है, वचन प्रयोग की उसमें योग्यता नहीं है, वह अनिर्वचनीय है। सविकल्पक ज्ञान के घट पटादि शब्द के द्वारा प्रकाशित किये जो सकते हैं। रस व्यंग्य होने से वाचक एवं लक्षक शब्दों से प्रयोग के योग्य नहीं हैं अतः सविकल्पक ज्ञान का विषय नहीं हो सकता।

(8) **रस अतीन्द्रिय नहीं है** — उसका साक्षात् अनुभव सहृदयों द्वारा किया जाता हैं अतः वह परोक्ष या अतीन्द्रिय नहीं हो सकता।

(9) **वह प्रत्यक्ष भी नहीं हैं** — रस काव्यार्थ के सूचक शब्दों से उत्पन्न होता है, वह विभावादि ज्ञान से उत्पन्न होता है अतः रस प्रत्यक्षानुभव से विलक्षण हैं।

इस प्रकार रस, आस्वाद या रसास्वाद की अलौकिकता रस में उपर्युक्त लौकिक सामान्य धर्मों का निराकरण करते हुए सिद्ध हो जाती हैं। **''तस्मादलौकिकः सत्यं वेद्यः सहृदयैरयम्''।**

इस रसास्वाद का अनुभव पूर्वजन्म के पुण्यशाली मनुष्यों को उसी प्रकार होती हैं जैसे योगियों की ब्रह्मज्ञान रुप अमृतधारा का क्योंकि श्रुति में ईश्वर को रसरुप कहा हैं **''रसो वै सः''।** इस अलौकिक, अनिर्वचनीय विलक्षण रस का आस्वाद रत्यादि के साथ तादात्म्य प्रतीति से होने वाली वासना के बिना नहीं होता। रत्यादि की वासना वाले ही रस का आस्वाद ले सकते हैं। यह वासना आधुनिकी अर्थात् इस जन्म की एवं प्राक्तनी अर्थात् पूर्वजन्म की, ये दो प्रकार की होती हैं। ये दोनों प्रकार की वासनायें कमलकर ही रसास्वाद के प्रति कारण होती हैं — **''सवासनानां सभ्यानां रसस्यास्वादनं भवेत्''।**

5.5 रस की परिभाषा

रस की परिभाषा देते हुए विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में कहा हैं –

विभावेनानुभावेन व्यक्तः संचारिणा तथा।
रसतामेति रत्यादिः स्थायीभावः सचेतसाम्।। (सा.द.3.1)

काव्य के श्रवण या नाटक के दर्शन से सहृदय सामाजिकों के हृदय में स्थित रत्यादि स्थायीभाव जब काव्य में वर्णित विभाव, अनुभाव एवं संचारीभावों से अभिव्यक्त होते हैं तो श्रृंगारादि रसो के रुप में परिणत हो जाते हैं। व्यक्तः का अर्थ दघ्यादि न्याय से अन्य रुप में परिणत होने वाला हैं।

अब, हम इन विभाव, अनुभाव सञ्चारीभाव तथा स्थायीभावों का एक एक कर समझेंगे।

(1) **विभाव** – **'विभाव्यन्ते आस्वादाङ्कुर प्रादुर्भावयोग्याः क्रियन्ते सामाजिक रत्यादि भावा एभिः इति विभावाः'।** ये विभाव इसलिये कहलाते है क्योंकि इनके द्वारा सहृदयगत रति आदि स्थायीभाव को रसास्वाद की अभिव्यक्ति के योग्य बनाया जाता हैं। विभाव दो प्रकार के हैं – आलम्बन एवं उद्दीपन।

'रसप्रकृतिभूतरत्याद्याश्रयत्वमालम्बनविभावत्वम' – आलम्बन विभाव राम सीतादि नायक–नायिका होते हैं क्योंकि उन्हीं का आश्रय लेकर रस की अभिव्यक्ति होती हैं। राम के लिये सीता आलम्बन विभाव हैं। क्योंकि सीता के हृदय में राम को आश्रय मानकर रस का उद्रेक हो रहा है अतः राम सीता दोनों एक दूसरे के लिये रस अभिव्यक्ति में आलम्बन विभाव हैं।

'उद्दीपनविभावास्ते रसमुद्दीपयन्ति ये' (3.131.सा.द.)

उद्दीपन विभाव वे हैं जो रस को उद्दीप्त करते हैं अर्थात् अतिशय पुष्ट करते हैं। उद्दीपन विभाव नायक नायिका की चेष्टाएँ एवं देश काल आदि होते हैं।

(2) **अनुभाव** –

उद्‌बुद्धं कारणैः स्वैः स्वैर्बहिभावः प्रकाशयन्।
लोके य कार्यरुपः सोऽनुभावः काव्यनाट्ययाः।। (3.132.सा.द.)

लोक में जो अपने अपने कारणो से उद्‌बद्ध स्थायीभाव को बाहर प्रकाशित करने वाला कार्य कहा जाता हैं नाटक या काव्य में उसी को अनुभाव कहते हैं। अर्थात् रत्यादि स्थायीभावों को जो अनुभव का विषय बनाते हैं वे अनुभाव कहलाते हैं – **रत्यादीन् स्थायिनः अनुभावयन्ति अनुभव विषयी कुर्वन्तीति अनुभावाः''।**

इस प्रकार जो नायिकाओं के अंगज एवं स्वभावज अलंकारादि हैं एवं रत्यादि से उत्पन्न अन्य चेष्टाएँ अनुभाव कहलाती हैं।

(3) **संचारीभाव** – इन्हें व्यभिचारीभाव भो कहते हैं। ये संख्या में तैंतीस हैं। रत्यादि स्थायीभाव में आविभ्त और तिरोभ्त होने वाले उन धर्मो को व्यभिचारी भाव कहा जाता हैं। जो विभाव और अनुभाव की अपेक्षा विशेष रुप से आस्वाद की अभिव्यक्ति में अनुकूल होते हैं–

विशेषादाभिख्येन चरणाद् व्याभिचारिणः।
स्थायिन्युमग्न निर्मग्नास्त्रयस्त्रिंशच्च तद्भिदाः। (3.140.सा.द.)

(4) **स्थायीभाव** –

अविरुद्धा विरुद्धा वा यं तिरोधातुमक्षमाः।
आस्वादाङ्कुरकन्दोऽसौ भावः स्थायीति सम्मतः।
(सा.द.3.174)

जिस भाव को विरुद्ध या अविरुद्ध भाव छिपाने में असमर्थ होते हैं तथा जो आस्वादरुप रस के अंकुर का मूलभ्त है वह भाव स्थायीभाव कहा जाता हैं।

वे स्थायी भाव दस हैं, रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय, शम एवं वत्सलता। ये ही दस स्थायीभाव श्रृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्भत, शांत एवं वात्सल्य इन दस रसों में परिणत होते हैं।

रस सिद्धांत के मूलप्रर्वतक आचार्य भरत ने जो रस की परिभाषा दी है, वह उनके रससूत्र के नाम से प्रसिद्ध हैं। और इस रससूत्र की व्याख्या भट्टलोल्लट, शङ्कुक, भट्टनायक और अभिनवगुप्त ने अपनी अपनी प्रतिमा और अपने अपने सिद्धांतो के अनुसार भिन्न भिन्न की हैं अतः उन चारों के मत भट्टलोल्लट का उत्पतिवाद, शङ्कुक का अनुमितिवाद, भट्टनायक का भक्तिवाद तथा अभिनवगुप्त का सिद्धांत अभिव्यक्तिवाद के रुप में प्रसिद्ध है। भरत के रससूत्र – **'विभावानुभावव्याभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पतिः'** अर्थात् विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारीभाव के संयोग से रस की निष्पति होती है, इसमें 'संयोग' और 'निष्पति' की भिन्न व्याख्याएँ की गई हैं। अब हम इन चारो के मतों को समझते हुए रस की परिभाषा को विस्तार से समझेंगे।

(अ) **भट्टलोल्लट का उत्पतिवाद** – इस मत के अनुसार विभाव रस को उत्पन्न करते हैं अत' रस के साथ उनका सम्बन्ध उत्पाद्य–उत्पादक भाव हैं, अनुभाव रस को प्रतीतिगम्य बनाते हैं अतः रस के साथ उनका सम्बन्ध गम्य–गमक भाव होता हैं तथा संचारी भाव रस को पुष्ट करते हैं अतः उनका रस से सम्बन्ध पोष्य–पाषक भाव का होता हैं। अतः इस मत के अनुसार 'संयोग' का अर्थ 'सम्बन्ध' तथा 'निष्पति' का अर्थ उत्पति, अभिव्यक्ति एवं पुष्टि हैं। इस मत में रस की स्थिति नायक रामादि में मानी गई है। जो अभिनय कौशल के द्वारा नट पर भो आरोपित हो जाती है एवं इस आरोप से ही चमत्कृत सामाजिक का आनन्द की अनुभति होती हैं। अर्थात् रस वास्तव में तो रामादि अनुकार्य में ही हैं और उसी का आरोप नर्तक में कर लेने से रस आरोपित हो जाता है और इस ज्ञान मात्र से दर्शक चमत्कृत होकर आनन्दित होता हैं।

यह मत निम्न कारणो से ग्राह्य नहीं हुआ –

1. रस की प्रतीति सामाजिक को कैसे होती हैं इसका उचित समाधान नहीं किया गया हैं ।
2. विभाव को रस का कारण कहा गया है तो रस कार्य हुआ। कारण और कार्य में पौर्वापर्य होता है जबकि रस का आस्वादन विभावों के दर्शन के साथ साथ ही होता है।
3. रस को कार्य मानने पर रस कारण के अनन्तर भो रह सकता हैं किंतु वास्तव में रस तभो तक रहता है जब तक विभावादि का प्रत्यक्ष दर्शन होता है।
4. भावों का अनुकरण नहीं किया जा सकता, वेषभ्षा, क्रियादि का हो सकता हैं

यह मत मीमांसाशास्त्र के अनुसार है भट्टलोल्लट के मीमांसक होने के कारण।

(ब) **शंकुक का अनुमितिवाद** – शंकुक नैयायिक हैं अतः वे रस को अनुमेय मानते है। विभावादि व रस में अनुमाप्य अनुमापक भाव सम्बन्ध से रस की अनुमिति होती है। चार प्रकार के ज्ञान लोक में प्रसिद्ध हैं– सम्यक् ज्ञान, मिथ्याज्ञान, संशयज्ञान व सादृश्यज्ञान।

1. यथार्थ विषय का ज्ञान कराने वाली सम्यक् बुद्धि होती है, इससे उत्पन्न ज्ञान सम्यक् होता है जैसे **राम एवायम् अयमेव रामः।**
2. जिस ज्ञान के विषय में बाद में चलकर बाधा उत्पन्न होती है वह – मिथ्याज्ञान है जैसे – **उत्तरकालिके न रामोऽयम् इति बाघो रामोऽयम्।**
3. जहाँ ज्ञान उभयकोटि में रहता हुआ परस्पर विरुद्ध होता है वह संशयात्मक ज्ञान है – **अयं रामो वा न इति।**

4. जहाँ दोनो विषयों में सादृश्य ज्ञान है जैसे **'रामसदृशोऽयम्'** इति यह सादृश्य ज्ञान हैं। इन चारों प्रकार के ज्ञानों के अतिरिक्त विलक्षण बुद्धि के द्वारा चित्र–तुरंग–न्याय से चित्र में विद्यमान घोड़े को **'तुरगोऽयम्'** इस व्यवहार के समान नट में **'रामोऽयम्'** इस प्रकार की बुद्धि सर्वप्रथम अभिनेता नट को अपना विषय बनाती है और दर्शक नट को रामादि मानने लगते है। यह प्रतीति विलक्षण हैं यह ज्ञान चारों प्रकार के ज्ञानों से भिन्न हैं। तदनन्तर नट में अविद्यमान भो कृत्रिम विभावादि से उस नट में स्थायी रति का अनुमान रस पदवी को प्राप्त करता हैं। यह अनुमिति सामाजिकों को होती है अतः रस को व्यवहार उन्हीं के लिये किया जाता है। इस प्रकार रत्यादि का अनुमान ही रस हैं। सामाजिक की अनुमिति का आधार नट द्वारा निपुणतापूर्वक प्रदर्शित कृत्रिम विभावादि हैं। सौन्दर्य बल से सामाजिक द्वारा उनमें अनुमानित आस्वाद की जाती हुई, चमत्कार को धारण करती रति रसता को प्राप्त होती हैं।

इस मत में 'संयोगात्' का अर्थ 'अनुमानात्' तथा 'निष्पति' अर्थ 'अनुमिति' हैं। अनुकरण के बल पर चित्र तुरंग न्याय के अनुसार रस का अनुमान नट में किया जाता है। नट रामादि के विभावों का अपनी शिक्षा और निपुणता के बल पर इस प्रकार अभिनय करता है कि वे नट के ही प्रतीत होते हैं। यहाँ रस की स्थिति अनुकर्ता नट में मानी गई हैं। सामाजिक को उसकी प्रतीति अनुमान द्वारा होती हैं।

इस मत की न्यूनता यह है कि प्रत्यक्ष ज्ञान से जो चमत्कारपूर्ण आनन्द की उपलब्धि हो सकती हैं वह अनुमान से नहीं मानी जा सकती। यदि अनुमान ज्ञान से सुख की प्रतीति होने लगेगी फिर तो स्मरण मात्र से ही सुख का अनुभव होने लगेगा। अनुमान उस कोटि का आनन्द कभो भो उत्पन्न नहीं कर सकता जिसकी रसावेश के समय सम्भावना रहती हैं।

(स) भट्टनायक का भुक्तिवाद –

भट्टनायक ने शंकुक के अनुमितिवाद, भट्टलोल्लट के उत्पतिवाद एवं अभिनवगुप्त के अभिव्यक्तिवाद तीनों का खण्डन करते हुए कहा कि रामादि विद्यमान नहीं हैं अतः उनके सम्बन्धित रति का अभाव होगा, तो उसका अनुमान कैसे किया जा सकता हैं। रामादि नायकों के अन्दर विद्यमान रति उत्पन्न नहीं हो सकती और न ही सामाजिकों के अन्दर रस की अभिव्यक्ति हो सकती हैं क्योंकि सामाजिकों में रस विद्यमान नहीं है। वे **'संयोगात्'** का अर्थ भोज्यभोजकभाव सम्बन्ध तथा **'निष्पति'** का अर्थ भक्ति करते हैं। स्थायीभाव के रस रुप में निष्पन्न होने में अभिधा, भावकत्व और भोजकत्व ये तीन व्यापार होते हैं। अभिधा वाक्य विषयक होती है, भावकत्व रस विषयक और भोजकत्व सह्रदय विषयक होता हैं। अभिधा के द्वारा काव्य के अर्थों का सामान्य या आंलकारिक ज्ञान होता हैं। भावकत्व व्यापार विभावादि एव रत्यादि स्थायी भावों का साधारणीकरण करता है अर्थात् सीतादि विषयक विभाव अनुभाव विशेषों से हटकर सामान्य रमणी मात्र के हो जाते हैं अर्थात् सीतादि की उपस्थिति सीतात्वेन न होकर एक सामान्य कामिनी के रुप में होती हैं। भोग के व्यापार द्वारा सामाजिक को रसानुभ्ति होती हैं, जो भोजकत्व कहलाता हैं। यह इन साधारणीकृत विभावादि के साथ भोजकत्व व्यापार की सहायता से रत्यादि स्थायीभाव साधरणीकृत होकर सामाजिकों के द्वारा उपभोग योग्य बनते हैं। और यही रत्यादि की भक्तिरस निष्पति हैं। यह भोग सत्वगुण के उद्रेक के कारण प्रकाशित होता हैं, आनन्द स्वरुप होता हैं। और लौकिक सुख के अनुभव से विलक्षण होता हैं।

इस मत में सामाजिक में रस की स्थिति मानी गई हैं। किंतु भावकत्व और भोजकत्व दो अन्य व्यापारों की कल्पना की गई है यही इस मत की न्यूनता हैं।

(द) आचार्य अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद –

अभिनवगुप्त 'संयोगाद्' का अर्थ व्यंग्यव्यञ्जक भाव सम्बन्ध तथा 'निष्पति' का अर्थ 'अभिव्यक्ति' करते हैं। उनके अनुसार स्थायी भावों का विभावादि के साथ व्यंग्यव्यंजक सम्बन्ध होता हैं अर्थात् वे परस्पर मिल जाते हैं और इससे रस की अभिव्यक्ति होती हैं।

रति आदि स्थायीभाव सहृदय सामाजिको के अन्तःकरण में वासना रुप से अव्यक्तदशा में विद्यमान रहते हैं। काव्यार्थ के परिशीलन से वाक्यार्थ का बोध होने पर, गुण अलंकार, अभिनयादि के द्वारा सामाजिक के हृदय में स्थित रत्यादि का विभावादिकों के साथ साधारणीकरण होकर, उन संस्कारों के ऊपर का आवरण हट जाता है और उसे एक अखण्ड, चिदानन्द रुप रस की प्रतीति होती है। ये रत्यादि स्थायीभाव जो सामाजिक के हृदय में वासना रुप से स्थित हैं साधारणीकरण की प्रक्रिया द्वारा उद्बुद्ध होते हैं और चित की एकतानता के कारण अखण्ड रस का अनुभव होने लगता है। इस मत के अनुसार विभावादि रस के व्यञ्जक हैं और रस व्यंग्य हैं। अतः वे स्थायीभाव को अभिव्यक्त करते हैं।

अतः रस की परिभाषा संक्षेप में हुई, जब विभाव अनुभाव और संचारी भावों के योग से स्थायीभाव (रत्यादि) आस्वादन करने योग्य हो जाता हैं तो सहृदय के रसरुप से उसका आस्वादन होता । यह रसास्वादन प्रेक्षक या सामाजिक को ही होता हैं।

5.6 साधारणीकरण का विवेचन

विश्वनाथ ने साधरणीकरण के विषय में निम्न कारिकाओं में स्पष्ट किया हैं कि –

व्यापारोऽस्ति विभावादेर्नाम्ना साधारणीकृतिः।
तत्प्रभावेण यस्यासन् पाथोधिप्लवनादयः।।
प्रमाता तदभेदेन स्वात्मानं प्रतिपद्यते
उत्साहादि समुद्रवेधः साधरण्याभिमानतः। (3.9–10 सा.द.)

साधारणीकरण विभाव, अनुभाव एवं व्याभिचारी भावों का वह व्यापार अथवा सामर्थ्य विशेष है जिसके कारण राम या हनुमान द्वारा समुद्रलंघनादि को सामाजिक राम या हनुमान के साथ अभद होने के कारण अपने स्वरुप को प्राप्त कर लेता हैं। जिस प्रकार स्फटिक के पत्थर के ऊपर रखे हुए जपाकुसुम की रागीमा के प्रतिबिम्ब से स्फटिक शिला भो राग युक्त प्रतीत होती हैं और सामाजिक स्वेदनाख्य व्यापार के बल से अपनी ही वासना का आस्वादन करने लगता है। वह अपने आपको रामादि समझने लगता हैं। इस साधारणकरण के प्रभाव से राम या हनुमान द्वारा समुद्र के लंघन के कार्य को स्वयं के द्वारा किया हुआ ही समझने लगते है तादात्म्य के कारण।

रोजमर्रा के उदाहरण से भो इसे समझा जा सकता हैं। जैसे किसी दर्शक का हाथ हॉकी के मैदान में बाहर खड़े होने पर भो गोल की डी मे आई हुई गेंद को हिट मारने के लिये उठ जाता हैं। या फुटबॉल के मैच में गोल करने के अवसर पर उसका पैर उस फुटबाल में किक मारने के लिए अनायास उठ जाता हैं। यह खिलाडी के साथ तादात्म्य होने से एवं साधारणीकरण की प्रक्रिया के कारण होता हैं।

साधारणीकरण की प्रक्रिया में सम्बन्ध विशेष का सर्वथा अभाव हो जाता हैं। विभाव (आलम्बन एवं उद्धीपन) अनुभाव एवं संचारीभाव नायक के ही थे या फिर नायकादि के नही थे, अवलोकनादि व्यापार मेरे ही हैं या मेरे नहीं हैं इस प्रकार सम्बन्ध विशेष को स्वीकार करने या न करने रुप ज्ञान सामाजिक को नहीं होता। इसे कारिका में इस प्रकार व्यक्त किया जाता हैं–

परस्य न परस्येति ममेति न ममेति च।
तदास्वादे विभावादेः परिच्छेदो न विद्यते।। (3.12.सा.द)

वस्तुतः रामसीतादि आलम्बन विभाव, चन्द्रादयादि उद्दीपन विभाव, कटाक्ष, भ्विक्षेपादि अनुभाव एवं 'व्रीडादि संचारीभाव यद्यपि लोकसिद्ध होते हैं तथापि काव्यादि में उपनिबद्ध होने के कारण उनमें विभावन, अनुभावन तथा संच्चारण ये अलौकिक व्यापार आ जाता है। यही साधारणीकरण हैं। इसी अलौकिक व्यापार से युक्त होने से विभावादि भो अलौकिक कहलाते हैं और इनके कारण सहृदय सामाजिक अपने हृदय में वासना रुप में स्थित रत्यादि स्थायी भावों का रसास्वाद करता हैं।

5.7 पारिभाषिक शब्दावली

निर्विकल्पक ज्ञान – यह ज्ञान बालक के ज्ञान के समान होता है। यह सामान्य मात्र होता है, जैसे बालक ने घड़ी देखी तो वह यह नहीं जानता कि इस घड़ी का आकार क्या है, रंग क्या है, किस कंपनी की है अर्थात् उस विषय के किसी धर्म की प्रकारता रूप से उसे ज्ञान नहीं होता – **'निर्गतो विकल्पः विभिन्न कल्पः विशिष्ट प्रकारः इत्यर्थः यस्मिन् तादृशं निरवच्छिन्नमित्यर्थः सम्बन्धानवगाहि'**

सविकल्पक ज्ञान – जिस विषय का ज्ञान उसके धर्मों का विकल्पों सहित होता है वह उसका सविकल्पक ज्ञान है जैसे एक वयस्क का घड़ी का ज्ञान।

5.8 अभ्यासार्थ प्रश्न

बोध प्रश्न –

1. रस की परिभाषा कीजिए।
2. रस का स्वरूप बतलाइये।
3. रस के विषय में विभिन्न मतों का प्रतिपादन कीजिए।
4. साधारणीकरण की प्रक्रिया का विवेचन कीजिए।

बोध प्रश्नों के उत्तर

इकाई के 5.3, 5.4, 5.5 और 5.6 देखिये।

5.9 सारांश

आपने साहित्य दर्पण के तृतीय परिच्छेद की प्रथम तीस कारिकाओं की व्याख्या समझी जिसमें आपका परिचय रस एवं उसके घटकों से कराया गया। आपने जाना कि काव्य में वर्णित विभाव (रामासीतादि आलम्बन तथा चन्द्रादयादि उद्दीपन) अनुभाव (कटाक्ष, भ्रूविखेपादि) तथा संचारीभावों (व्रीडादि) के मेल से सहृदय सामाजिक को अपने हृदय में वासना रुप से स्थित रत्यादि स्थायी भाव का रसास्वाद साधारणीकरण की प्रक्रिया से होता है। यह रसास्वाद ही रस हैं जो अपने स्वरुप में अलौकिक होता हैं। यह ब्रह्मास्वादसहोदर है क्योंकि इसके आस्वाद के समय अन्य किसी विषय का कोई ज्ञान नहीं होता। इसका आस्वाद केवल सहृदय सामाजिक ही कर सकता है।

इस रस का प्राण अलौकिक चमत्कार ही है। यह आनन्दघन, स्वप्रकाश एवं चमत्कारमय होने से अखण्ड है। इसका संवेदन प्राक्तन जन्म के पुण्यशाली लोगों द्वारा किया जाता है। यह न तो ज्ञाप्य है, न कार्य, न नित्य, न वर्तमानकालिक, न भविष्यकालिक, न निर्विकल्पक ज्ञान का विषय न सविकल्पक, का न प्रत्यक्ष है न अतीन्द्रिय अपितु विलक्षण व अलौकिक है।

आपने भरत के रससूत्र की व्याख्या करने वाले मीमांसक भट्टलोल्लट, नैयायिक शंकुक, सांख्यवादी भट्टनायक तथा आलंकारिक अभिनवगुप्त के मतों का भी अध्ययन किया।

आपने साधरणीकरण की प्रक्रिया को भी समझा जिससे स्थायीभाव रस रूप में परिणत होते हैं।

5.10 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. साहित्यदर्पण ,आचार्य शालिग्राम शास्त्री (विमल टीका)मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली,2004.
2. साहित्यदर्पण,निरूपण विद्यालङ्कार,साहित्य भण्डार मेरठ,1962.
3. साहित्यदर्पण,डॉ0 सत्यव्रत सिंह,शशिकला हिन्दी टीका,चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी,1976.
4. साहित्यदर्पण,आचार्य शेषराज शर्मा रेग्मी (चन्द्रकला संस्कृत हिन्दी टीका),कृष्णदास अकादमी, वाराणसी,1978.
5. Sahitya Darpan - P. V. Kane, Choukhmbha Samskrit Series, Varanasi, 1950.
6. History of Sanskrit Poetics - P. V. Kane, Choukhmbha Samskrit Series, Varanasi, 1950.

इकाई 6

नाट्यशास्त्र

इकाई की रूपरेखा

6.0 उद्देश्य

6.1 प्रस्तावना

6.2 नाट्योत्पत्ति पूर्व सामाजिक दशा

6.3 नाट्य की उत्पत्ति

6.3.1 मुनि भरत एवं नाट्यशास्त्र

6.3.2 भरत के टीकाकार

6.3.3 धनंजय एवं दशरूपक

6.3.4 भोज एवं श्रृंगार प्रकाश एवं सरस्वतीकण्ठाभरण

6.3.5 रामचन्द्र–गुणचन्द्र एवं नाट्यदर्पण

6.3.6 शारदातनय एवं भावप्रकाशन

6.3.7 शिङ्गभ्पाल एवं रसार्णव सुधाकर

6.3.8 विश्वनाथ एवं साहित्य दर्पण

6.4 नाट्योत्पत्ति विषयक विविध मत

6.4.1 दिव्य उत्पत्तिवाद

6.4.2 वैदिक संवादसूक्तों से नाट्योद्गम

6.4.3 धार्मिक उत्पत्तिवाद

6.4.4 धर्मनिरपेक्ष नाट्योत्पत्तिवाद

6.4.5 नाट्य की उत्पत्ति का विकासवादी सिद्धांत

6.4.6 भारतीय नाटकों पर ग्रीक का प्रभाव

6.5 पारिभाषिक शब्दावली

6.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

6.7 सारांश

6.8 संदर्भ ग्रंथ सूची

6.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई पढ़ने के बाद आप –

- नाट्य से पूर्व की सामाजिक स्थितियों को जान सकेंगे।
- नाट्य की उत्पत्ति कैसे हुई, जान सकेंगे।
- नाट्य की उत्पत्ति–विषयक विविध मतों से परिचित हो सकेंगे।

6.1 प्रस्तावना

एम.ए. पूर्वार्द्ध संस्कृत के चतुर्थ प्रश्न पत्र 'भारतीय काव्यशास्त्र एवं व्याकरण' की इस इकाई 6 में नाट्य विषयक परिचय दिया जाएगा। नाट्य की उत्पत्ति क्यों हुई, नाट्योत्पत्ति से पूर्व तत्कालीन समाज की क्या स्थिति थी। नाट्योत्पत्ति कैसे हुई? नाट्योंत्पत्ति के विषय में विविध मान्यताऐ क्या थी, जिनके कारण नाट्योत्पत्ति विषयक विविध मत् प्रचलित हुए – इन समस्त बिन्दुओं का विचार करेंगे।

6.2 नाट्योत्पत्ति से पूर्व सामाजिक दशा

नाट्योत्पत्ति से पूर्व वेद–वेदांगों का ही अध्ययन था किन्तु कृतयुग में स्वायम्भव मन्वन्तर में बीत जाने पर व त्रेतायुग वैवस्वत मन्वन्तर के आने पर लोग ग्राम्य धर्म में प्रवृत्त होने लगे एवं वेद–विरूद्ध आचरण करने लगे। इस कारण काम–क्रोध–लोभ–ईर्ष्यादि बढ़ने से लोग सुख–दुख के चक्र में पड़ गए। तब जम्बूद्वीप पर देव–दानव–गन्धर्व–यक्ष–राक्षस–नाग आदि का अधिकार हो गया। तब उस द्वीप पर इन्द्र आदि लोकपालों ने अपनी प्रतिष्ठा स्थापित की तथा पितामह ब्रह्मा के पास जाकर प्रार्थना की कि – जम्बूद्वीप के लोग स्वैच्छाचार, अर्थलिप्सा, ईर्ष्या क्रोधादि विकारों से ग्रस्त हो गए है। वेद–शास्त्रों के अध्ययन का ह्रास हो गया। ऐसी स्थिति में सुख के साथ दुःख भो जीवन में प्रविष्ट हुआ तथा सभो जन शूद्रतुल्य आचरण करने लगे तथा सत्त्व के स्थान पर रजोगुण व तमोगुण बढ़ने लगा, धर्म का कुछ अंश मात्र इसलिये शेष बचा था कि वहाँ लोकपालों का शासन था। इसके अतिरिक्त वेद सार्ववर्णिक नहीं थे। ऐसी स्थिति में सभो का कल्याण करने की कामना से महेन्द्रादि देवों ने ऐसे 'क्रीडनीयकं' की प्रार्थना की जो सार्ववर्णिक हो।

6.3 नाट्य की उत्पत्ति

संस्कृत वाङ्मय का प्रारम्भ वैदिक युग से होता है। साहित्य की वैदिक परम्परा उपनिषदों तक एक निश्चित दिशा की ओर गतिशील रही तदनन्तर वह लौकिक रूप में परिणत हुई। ऐसे समय छन्द, कोष, ज्योतिष धर्म, अर्थ, काम ही विवेचन के विषय बने रहे, फलतः शास्त्रों का प्रारम्भ हुआ। किन्तु नाट्य एवं काव्य विषयक शास्त्रों की निश्चित अवधि के विषय में कथन नहीं किया जा सकता।

किन्तु उपलब्ध नाट्यशास्त्र में वर्णित रंगमंच, नृत्य, सगीत, वाद्य, एवं अभिनय चतुष्ट्रय से तथा नाट्य के विविध तत्त्वों एवं भदों से इसके पूर्ण विकसित स्वरूप का अनुमान सहज है कि ईसा से कई सहस्राब्दियों पूर्व नाट्य का शास्त्रीय विवेचन प्रारम्भ हो चुका था। किन्तु हमें उस परम्परा और मूल के प्रतिनिधि ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। उपलब्ध ग्रन्थों में नाट्यशास्त्र ही सर्वोत्कृष्ट है। भरत के पश्चात् नन्दिकेश्वर, धनंजय, रामचन्द्र–गुणचन्द्र, शारदातनय, भोज एवं विश्वनाथ कविराज की कृतियाँ है।

संस्कृत साहित्य में लक्ष्य एवं लक्षण उभयविध ग्रन्थ प्रतित होते हैं। लक्ष्यग्रन्थों की रचना पहले होती है तथा लक्षण ग्रन्थ उनकी समलोचना कर उनके लिये कुछ नियम निर्धारित करते हैं। वे नियम लक्ष्य ग्रन्थों को नियंत्रित करते हैं।

संस्कृत नाटकों या रूपकों की रचना का आरंभ भो अंधकारमय है – फिर भो पतंजलि के बलिबन्धन, कंसवध आदि उद्धरणों के आधार पर ईसा से कई शताब्दी पूर्व नाट्य की उपलब्धि की बात सिद्ध होती है।

उपलब्ध प्राचीनतम सामग्री के आधार पर भरत के नाट्यशास्त्र से लेकर विश्वनाथ के साहित्यदर्पण तक में प्रयुक्त नाट्य विषय का ऐतिहासिक विवरण प्रस्तुत किया जा सकता है। 'नाट्यशास्त्र' पर उपलब्ध ग्रन्थ एवं ग्रन्थकारों की सूची इस प्रकार है –

1.	नाट्यशास्त्र	–	मुनि भरत एवं उनके टीकाकार
2.	अभिनयदर्पण	–	नन्दिकेश्वर
3.	दशरूपक	–	धनंजय
4.	भावप्रकाशन	–	शारदातनय
5.	श्रृंगारप्रकाश सरस्वती कण्ठाभरण	–	भोज
6.	नाट्यदर्पण	–	रामचन्द्र–गुणचन्द्र
7.	साहित्य दर्पण	–	विश्वनाथ कविराज

6.3.1 मुनि भरत एवं नाट्यशास्त्र

भरत मुनि का नाम नाट्यशास्त्र के आदि प्रणेता के रूप में सर्वमान्य है। नाट्यशास्त्र के उपलब्ध स्वरूप के कई पाठ–भद मिलते है, अतः इसका समय निर्धारण सम्यक् रूप से नहीं हो पाया है। विद्वानों का विचार है कि वर्तमान नाट्यशास्त्र एक काल की रचना नहीं है अपितु शताब्दियों के साहित्यिक प्रयास का फल है। नाट्यशास्त्र के तीन अंश है – 1. गद्य भाग
2. सूत्रविवरण स्वभावा कारिकाएँ 3. अन्य श्लोक, जो कि तीन प्रकार के है – (क) आनुवंश्य (ख) सूत्रानुविद्ध कारिकाएँ (ग) पूर्वाचार्यो की कारिकाएँ।

इस विवेचन से यह प्रकट होता है कि नाट्यशास्त्र का वर्तमान रूप अनेक परम्परागत–प्राप्त विद्याओं का समन्वित रूप है तथा इसका मूल रूप भरतमुनि द्वारा रचा गया है। नाट्यशास्त्र के समय के विषय में भो अनेक मतभद है। म0म0 हरप्रसंगाद शास्त्री ने इसका समय ई0पूर्व द्वितीय शती माना है। कीथ के अनुसार इसका रचनाकाल तीसरी शती से पूर्व का नहीं हो सकता। इसके लिए अनेक बाह्य एवं आभ्यन्तर प्रमाण भो मिलते हैं। जिन प्राकृतों का नाट्यशास्त्र में वर्णन है वे अश्वघोष के बाद की प्राकृते हैं व भास के नाटकों में उपलब्ध प्राकृतों से उनका अधिक सादृश्य है। भास ने अपने नाटकों के उपसंहार व आकार–प्रकार में अथवा रंगमंच पर मृत्यु के दृश्यों के बहिष्कार में नाट्यशास्त्र के नियमों का आंख मूंद कर पालन नहीं किया है। इससे स्पष्ट होता है कि भास के नाटकों के रचनाकाल तक शास्त्र की नियामक शक्ति प्रतिष्ठित नहीं हुई थी। मनमोहन घोष ने भरत के भाषा वैज्ञानिक तथा छन्द सम्बन्धी विवेचन, केवल चार अलंकारों का विवरण, उपाख्यान तथा भोगोलिक विवरण के आधार पर नाट्यशास्त्र का समय 100ई0पू0 तथा 200 ई0पू0 के मध्य निर्धारित किया है।

भरत का नाट्यशास्त्र संस्कृत काव्यशास्त्र एवं नाट्यशास्त्र का प्राचीनतम उपलब्ध ग्रन्थ है। इसमें नाट्य, नृत्य, संगीत, कला आदि सभो विषयों का विवेचन किया गया है। नाट्यभद तथा रस का अत्यन्त विस्तृत विवेचन है। नाट्यशास्त्र में 36 अथवा 37 अध्याय है। सर्वप्रथम पृथ्वी लोक पर नाट्यवेद ही प्रचलित था। क्लिष्टता अथवा विस्तृतता के कारण सभो भरतों के द्वारा संग्राह्य न होने के कारण मुनियों ने नाट्यवेद से सार ग्रहण करके दो संक्षिप्त संस्करणों का निर्माण किया। एक में बारह हजार श्लोक थे तथा एक में छः हजार। षट्साहस्रीसंहिता के रूप में वर्तमान नाट्यशास्त्र ही प्रसिद्ध है।

नाट्यशास्त्र में केवल नाट्यशास्त्रीय तत्वों का ही विवेचन नहीं है अपितु नाट्य से सम्बन्धित प्रत्येक विषय को नाट्यशास्त्र में समान रूप से ग्रहण किया गया है। वस्तुतः नाट्यशास्त्र विविध–विषयों का सम्मिलन हैं। भरत ने स्वयं नाट्यशास्त्र में वर्णित विषयवस्तु की विवेचना करते हुए नाट्यशास्त्र के विषय एवं उसकी सम्पूर्णता को इस प्रकार प्रस्तुत किया है –

न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
न स योगो न तत्कम यन्नाट्येऽस्मिन्न दृश्यते।।

नाट्यशास्त्र की विषयवस्तु का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है –

प्रथम अध्याय	–	इसमें नाट्य तथा नाट्यवेद की उत्पत्ति का वर्णन मिलता है।
द्वितीय अध्याय	–	इसमें नाट्यगृह की रचना आदि का वर्णन है।
तृतीय अध्याय	–	इसमें नाट्य–मण्डप में सम्पादित की जाने वाली विभिन्न धार्मिक क्रियाओं का निरूपण करते हुए महादेव, ब्रह्मा, विष्णु, बृहस्पति, गुह की पूजा का वर्णन है।
चतुर्थ अध्याय	–	इसमें देवों के समक्ष अमृत–मन्थन व महादेव के समक्ष त्रिपुरदाह नामक रूपकों के अभिनय की कथा का वर्णन है तथा ताण्डव नृत्य के उद्भव व शिक्षण का निरूपण है।
पंचम अध्याय	–	इसमें पूर्वरंग, नान्दी, प्रस्तावना आदि का वर्णन है।
षष्ठ अध्याय	–	इसमें स्थायी भाव रस आदि का विस्तृत विवेचन है। भरत द्वारा

प्रतिपादित रस की कारिका विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' पर परवर्ती आचार्यो ने सम्यक् विचार करके स्वमतों को प्रतिपादित किया था।

सप्तम अध्याय – इसमें भाव, विभाव, अनुभाव, सात्विक भाव व व्यभिचारी भावों का निरूपण है।

अष्टम अध्याय – इसमें सात्विक, वाचिक, आंगिक व आहार्य चार प्रकार के अभिनयों का वर्णन है।

आगे नवम अध्याय से द्वादश तक के अध्यायों में आंगिक अभिनय का विस्तृत वर्णन है। अन्य अध्यायों में भारती आदि वृत्ति का निरूपण, छन्द, नाट्यलक्षण, अलंकार, काव्य के गुण–दोष, भाषाओं के लक्षणों का निरूपण है।

अष्टादश अध्याय – इसमें दशरूपकों का निरूपण है।

उन्नीसवां अध्याय– इसमें कथावस्तु का वर्णन किया गया है। परवर्ती अधिकांश आचार्यो ने अठारहवे एवं उन्नीसवें अध्याय में वर्णित विषयों का ही विवेचन किया है।

बीसवा अध्याय – इसमें वृत्तियों का विवेचन है।

इक्कीसवां अध्याय– इसमें आहार्य अभिनय का वर्णन है।

बाईसवा अध्याय – सामान्याभिनय शीर्षक के अन्तर्गत अनेक विषयों का वर्णन किया है।

तईसवा अध्याय – वेश्या एवं वेशिक का वर्णन है।

चौबीसवां अध्याय– त्रिविध–प्रकृति के पात्रों का वर्णन है।

पच्चीसवां अध्याय– इसमें चित्राभिनय का वर्णन है।

छब्बीसवां अध्याय– यह विकृति–विकल्पाध्याय है।

सत्ताईसवा अध्याय– यह सिद्धिप्यंजकाध्याय है।

अट्ठाईसवे अध्याय से– इनमें संगीत सम्बन्धी विषयों, पात्रों की भ्मिका पेंतीसवे अध्याय तक की व्यवस्था, नाट्यावतार, नाट्यमाहात्म्य का वर्णन है।

छत्तीसवा अध्याय– उपसंहारात्मक अध्याय है।

6.3.2 भरत के टीकाकार

नाट्यशास्त्र की समय समय पर अनेक व्याख्याएँ की गई। शाङ्र्गदेव के 'संगीत–रत्नाकर' में नाट्यशास्त्र के व्याख्याकारों में लोल्लट, उद्भट, शङ्कुक, अभिनवगुप्त व कीर्तिधर का उल्लेख है। इसके अतिरिक्त भट्टनायक एवं भट्ट तौत का भो उल्लेख मिलता है। आज उपलब्ध टीकाओं में अभिनवगुप्त की अभिनव भारती ही सर्वाधिक प्राचीन है।

अभिनवगुप्त एवं अभिनवभारती

अभिनवभारती को 'नाट्यवेदविवृत्ति' भो कहा जाता है। आचार्य अभिनव गुप्त काव्यशास्त्र, नाट्यशास्त्र, दर्शन तन्त्रादि के अद्भत विद्वान थे। वे कश्मीर निवासी थे। अभिनवगुप्त ने विस्तार से अपना परिचय दिया है। इनका समय दशम शताब्दी का अन्त एवं एकादश शताब्दी का प्रारम्भ माना जाता है। अभिनवगुप्त की साहित्यशास्त्रीय, तान्त्रिक एवं दार्शनिक विषयों पर कृतियाँ ज्ञात है। इनमें से साहित्यशास्त्र पर दो कृतियाँ उपलब्ध है – ध्वन्यालोक–लोचन एवं अभिनवभारती। अभिनवभारती नाट्यशास्त्र की असाधारण टीका है एवं विद्वज्जनों में अन्तिम प्रमाण के रूप में आदृत है। ग्रन्थ में नाट्यशास्त्र के सभो अन्य विषयों के साथ–साथ रूपक एवं नाट्य सम्बन्धी मन्तव्यों का विशद वर्णन है। शैली की प्रौढ़ि एवं व्याख्या की गम्भोरता के कारण अभिनवभारती व्याख्या की अपेक्षा मौलिक ग्रन्थ मानी जाने

लगी है। भारतीय काव्यशास्त्र एवं नाट्यशास्त्र के अध्ययन मे अभिनवभारती का अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान है।

उद्भट

आचार्य अभिनवगुप्त के छः, नौ व उन्नीसवें अध्याय में आचार्य उद्भट के मतों का उल्लेख मिलता है। मम्मट ने उद्भट को रस–सूत्र का व्याख्याता एवं संगीतकार शाङ्र्गदेव ने उन्हें नाट्यशास्त्र का व्याख्याकार माना है। भट्लोल्लट ने उद्भट के विचारों की आलोचना की है। इससे भट्लोल्लट से पूर्ववर्ती सिद्ध है। कल्हण की राजतरंङ्गिणी के अनुसार काश्मीरी राजा जयापीड की विद्वत्सभा में उद्भट सभापति थे। भामह के काव्यालंकार के व्याख्याकार के रूप में भो इनकी प्रसिद्धि है। इनका समय सातवी शती का मध्यकाल माना जाता है।

भट्टलोल्लट

अभिनवगुप्त ने भट्टलोल्लट के रससूत्र की व्याख्या उद्धृत कर उसकी आलोचना की है। भट्टलोल्लट ने समग्र नाट्यशास्त्र पर अपना भाष्य लिखा था। भरतसूत्र के रसविषयक व्याख्यान क्रम में इन्हें उत्पत्तिवादी आचार्य माना जाता है। ये मीमांसक होने से व्यंजना विरोधी थे। काव्यप्रकाश सहित अनेक अलंकार शास्त्रीय ग्रन्थों में भट्टलोल्लट के मत का उल्लेख मिलता है। भट्टलोल्लट ने स्पन्दकारिका पर भो व्याख्या की जिसका नाम 'वृत्ति' था। इनका समय आठवी शती का उत्तरार्द्ध एवं नवी शती का प्रारम्भ है।

शङ्कुक

अभिनवगुप्त ने नाट्यविद्या के विभिन्न विषयों पर शङ्कुक के विचारों का बार–बार उल्लेख किया है। ये उद्धरण तीसरे अध्याय से लेकर उनतीसवें अध्याय तक के विषयों से सम्बन्धित है। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि शङ्कुक ने सम्पूर्ण नाट्यशास्त्र पर ही टीका लिखी हो।

भरत के रससूत्र विषयक व्याख्या में इन्हें अनुमानवादी माना जाता है।

शाङ्र्गधर, कल्हण व वल्लभदेव ने अपने संग्रह–ग्रन्थ में शङ्कुक के नाम से कई श्लोक उद्धृत किए है। कल्हण ने कवि शङ्कुक का समय अजितापीड़ के समय 813 ई. में ठहराया है। यदि कवि शङ्कुक व टीकाकार शङ्कुक एक ही व्यक्ति हो तो उनका काल नवीं शती के प्रथम चरण में ठहराया जा सकता है।

भट्टनायक

अभिनवगुप्त ने रससूत्र के प्रसंग में भट्टनायक का उल्लेख करते हुए उनके नाम से एक श्लोक उद्धृत किया। आचार्य हेमचन्द्र ने उस श्लोक को हृदय–दर्पण ग्रन्थ से उद्धृत किया है। जयरथ ने भो भट्टनायक को हृदय–दर्पणकार कहा है। भट्टनायक ने भो भरत के रससूत्र की व्याख्या के प्रसंग में भक्तिवाद को ग्रहण किया तथा व्यंजनावृत्ति को स्वीकार नहीं किया। अभिनवगुप्त ने भट्टनायक के विशिष्ट रस सिद्धान्त का प्रबल खण्डन किया।

आचार्य कीर्तिधर

अभिनवगुप्त ने अपने ग्रन्थ में केवल एक स्थान पर आचार्य कीर्तिधर क मत का उल्लेख किया है तथा उन्हें नाट्यशास्त्र का प्राचीन टीकाकार माना है। सम्भवतः ये उद्भट से प्राचीन है। अतः इनका काल सातवी शती मानना उचित है।

नान्यदेव

अभिनवगुप्त ने नान्यदेव के भरतभाष्य से भो कुछ उद्धरण दिए है। नान्यदेव के भरतभाष्य सम्प्रति उपलब्ध है। इन्होंने भवभ्ति के 'मालतीमाघव' पर अत्यन्त पाण्डित्यपूर्ण व्याख्या लिखी जिसमें अपने भरत–भाष्य का भो उल्लेख किया है। आचार्य कान्तिचन्द्र पाण्डेय के अनुसार नान्यदेव अभिनवगुप्त से दो पीढ़ी पुराने है। इससे इनका स्थितिकाल नवीं शती का उत्तरार्द्ध सिद्ध होता है।

भट्टतौत

अभिनवगुप्त ने अपने दोनों ग्रन्थों में भट्टतौत का अपने गुरु के रूप में उल्लेख किया है तथा नाट्यशास्त्र पर उनकी गम्भोर मान्यताओं का निदर्शन किया है। ये नाट्यशास्त्र के महान् व्याख्याता तथा नाट्यशास्त्र की पाठभद परम्परा में एक महत्वपूर्ण शाखा के समर्थक थे – यह शाखा थी – शान्तरस के विवरण को मूलपाठ की मान्यता देना, रस की अनुकरणशीलता का विरोध तथा काव्य एवं नाट्य में रस का प्रतिपादन। जिसका समर्थन अभिनवगुप्त ने भो किया।

6.3.3 धनंजय एवं दशरूपक

धनंजय का समय निश्चित सा ही है। उन्होंने ग्रन्थ के अन्त में स्वयं लिखा है कि उन्होंने राजा मुंज की सभा में वैदग्ध्य प्राप्त किया था। मुंजराज की पण्डित–परिषद् में उनका पर्याप्त प्रभाव था। अतः भोज से पूर्ववर्ती होने के कारण इनका समय दसवी शताब्दी का उत्तरार्द्ध निश्चित होता है। विद्यानुरागी महाराजा मुंज के ही राज्यकाल में धनंजय ने दशरूपक की रचना की। अतः यह स्पष्ट है कि दशरूपक का रचनाकाल 913 ई0 से 994 ई0 के मध्य रहा होगा। धनंजय के पिता का नाम विष्णु था। इनकी जीवनी के बारे में कोई तथ्य उपलब्ध नहीं होता। दशरूपक नाट्यशास्त्र का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में दशरूपकों का वर्णन है। नाट्यशास्त्र में अत्यन्त विस्तार से वर्णित नाट्य सम्बन्धी सामग्री का संक्षेप में किन्तु विशद रूप से प्रस्तुत करना ही धनंजय का लक्ष्य है। अनेक स्थानों पर नाट्यशास्त्र में प्रयुक्त नाम, लक्षण व विभाजन को धनंजय ने परिष्कृत किया है।

6.3.4 भोज एवं श्रृंगार प्रकाश व सरस्वतीकण्ठाकरण

भोजराज का समय 11वी शताब्दी निश्चित ही है। इनके द्वारा रचित ग्रन्थ श्रृंगारप्रकाश काव्यशास्त्र का एक सुविशाल ग्रन्थ है। इसमें 36 प्रकाश है। इनमें 11वे प्रकाश से अन्त तक रस एवं भावों का विस्तृत निरूपण किया गया है। इसी बीच बारहवें प्रकाश में रूपकों का निरूपण है तथा 21वे में नायक–नायिका का वर्णन है। डॉ0 राघवन ने श्रृंगारप्रकाश का विशद एवं विस्तृत अध्ययन किया है। उनके द्वारा रचित पुस्तक 'भोजाज श्रृंगार प्रकाश' श्रृंगारप्रकाश के स्वरूप को स्पष्ट रूप में हमारे समक्ष प्रस्तुत करती है। श्रृंगारप्रकाश का प्रतिपाद्य विषय श्रृंगार है। सरस्वतीकण्ठाभरण भो महाराजा भोज का ही प्रबन्ध है। इस ग्रन्थ में 643 कारिकाएँ है। इसमें पांच परिच्छेद है। प्रथम परिच्छेद में काव्यप्रयोजन, काव्यलक्षण, 16 पददोष, 16 वाक्यदोष और 16 अर्थदोष तथा 24 शब्दगुणों का निरूपण किया गया है। द्वितीय परिच्छेद में 24 शब्दालंकारों का, तृतीय में 24 अर्थालंकारों का, चतुर्थ में 24 उभयालंकारों का विवेचन किया गया है। इसके पंचम परिच्छेद में रस, भाव, नायक–नायिका व उनके भद तथा विशेषताओं, मुख आदि सन्धियों, भारती आदि वृत्तियों का निरूपण है। दशरूपक के अनेक उद्धरण सरस्वतीकण्ठाभरण में प्राप्त होते हैं।

6.3.5 रामचन्द्र–गुणचन्द्र एवं नाट्यदर्पण

नाट्यदर्पण दो जैनाचार्य – रामचन्द्र एवं गुणचन्द्र का संयुक्त प्रयास है। इन दोनों आचार्यो में रामचन्द्र का नाम अधिक महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि नाट्यदर्पण के अतिरिक्त भो रामचन्द्र कृत अनेक नाट्य–स्तोत्र तथा व्याकरण एवं दर्शन सम्बन्धी ग्रन्थ प्राप्त होते हैं। परन्तु गुणचन्द्र का अन्य कोई ग्रन्थ प्राप्त नहीं है। इसी महत्त्व के कारण ही सम्भवतः आचार्य–द्वय के नामों में रामचन्द्र का नाम पहले लिया गया है।

रामचन्द्र के परिचय के सम्बन्ध में केवल इतना ही प्राप्त होता है कि ये जैनाचार्य हेमचन्द्र के शिष्य थे। शिष्यत्व का उल्लेख स्वयं रामचन्द्र ने भो किया है। नलविलास नाटक के आमुख भाग में आचार्य रामचन्द्र ने हेमचन्द्र का शिष्य होने का स्पष्ट संकेत किया है। इसके अतिरिक्त अन्य स्थानों पर भो रामचन्द्र ने ऐसा ही संकेत किया है।

हेमचन्द्र के शिष्य होने के कारण रामचन्द्र के समय–निर्धारण में कठिनाई नहीं होती। आचार्य हेमचन्द्र का समय सर्वसम्मत एवं स्पष्ट है। उनका जन्म 1088 में तथा देहावसान 1172 में हुआ था। अणहिल्लपट्टम ;गुजरातद्ध के राजा जयसिंह सिद्धराज तथा कुमारपाल

के साथ हेमचन्द्र का घनिष्ठ सम्पर्क रहा। 1172 में हेमचन्द्र के निधन के तुरन्त बाद ही कुमारपाल का भो देहावसान हो गया तब अजयपाल ने शासन भार ग्रहण किया एवं रामचन्द्र की हत्या करवा दी। 'अणहिल्लपट्टम' के इन तीनों राजाओं का समय 1094 से 1173 तक निश्चित है तथा रामचन्द्र इन तीनों के साथ रहे। इससे रामचन्द्र का समय बारहवी शताब्दी ही निर्धारित किया जाता है। यही समय आधुनिक विचारकों ने भो स्वीकार किया है।

नाट्यदर्पण में मुख्यतः नाट्यशास्त्र के अठारहवें अध्याय के आधार पर रूपकों का वर्णन है। यह ग्रन्थ दशरूपक की प्रतिद्वन्द्विता में लिखा गया है। यह कारिका व वृत्ति के रूप में है। समस्त ग्रन्थ चार विवेकों में विभक्त है। इसमें नाट्यसम्बन्धी विषयों का विवेचन किया गया हैं। नाट्यशास्त्र के साथ–साथ अभिनवभारती का भो पूरा पूरा उपयोग किया गया है। नाट्यविषय के सन्दभ में अन्य लेखकों के माते की आलोचना भो की गई है। यत्र–तत्र भरत मुनि के मतों का परिष्कार भो किया है। इसकी विशेष देन इस प्रकार है –

1) नाटिका व प्रकरणिका को जोड़कर 12 रूपक मानना।

2) कैशिकी आदि वृत्तियों के आधार पर रूपकों का वर्गीकरण।

3) रसों का सुखात्मक एवं दुःखात्मक दो रूपों में विभाजन किया है। हास्य, वीर, अद्भत व शान्त सुखात्मक है व शेष दुःखात्मक है।

4) नौ रसों के अतिरिक्त स्नेहरस, व्यसन रस आदि की कल्पना।

5) नाट्य सम्बन्धी लक्षणों में नवीन दृष्टि। जैसे उनके द्वारा प्रदत्त अंक का लक्षण भरत व धनंजयादि के मत से अधिक परिष्कृत है।

6) 'देवीचन्द्रगुप्त' के उद्धरण ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

6.3.6 शारदातनय एवं भावप्रकाशन

आचार्य शारदातनय ने अपने काल के विषय में भाव–प्रकाशन में कोई उल्लेख नहीं किया है तथापि बाह्य–साक्ष्यों के आधार पर आचार्य शारदातनय का काल निर्धारित किया जा सकता है। आचार्य शारदातनय ने भरत, धनंजय इत्यादि के साथ ही भोज, सोमेश्वर एवं मम्मट का उल्लेख किया है। अतः शारदातनय का समय इनके बाद का है। मम्मट का समय 1050 ई0 से 1100 ई0 है। मम्मट के इस काल के आधार पर यह निश्चित होता है कि शारदातनय 1100 ई0 के बाद हुए। कुमारस्वामी, कल्लिनाथ, शिंगुभ्पालादि ने शारदातनय का अपने ग्रन्थ में उल्लेख किया है। उनके द्वारा प्रदृत्त लक्षणों में शारदातनय के भाव–प्रकाशन का प्रभाव परिलक्षित होता है। शिंगभ्पाल का समय 1330 ई0 माना गया है। कुमारस्वामी व कल्लिनाथ का समय 15वी शती निश्चित ही है; अतः शारदातनय 1330 ई0 के पूर्व हो चुके है। शिंगभ्पाल से भो पहले महीपति हम्मीर के पुत्र अल्लराज (1300 ई0 जिनका समय माना गया है) ने ''रसरत्नदीपिका'' में आचार्य शारदातनय का उल्लेख किया है। अतः शारदातनय का समय 1100 ई0 से 1275 ई0 के मध्य तक का माना जा सकता है।

भावप्रकाशन अलंकारशास्त्र एवं नाट्यशास्त्र का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें दशरूपक की अपेक्षा अधिक विस्तार से नाट्यसम्बन्धी विषयों का निरूपण किया गया है। शारदातनय ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यो को आधार बनाया है एवं अपनी मौलिक दृष्टि भो रखी है। इनके ग्रन्थ में दशरूपक कारिका एवं अवलोक टीका के अनेक उद्धरण मिलते हैं एवं कहीं–कहीं उन्हें स्पष्ट करने का प्रयास भो परिलक्षित होता है।

भाव प्रकाशन में नाट्य की रचना, नायक–नायिका तथा रसों का ही विशेष रूप से विवेचन किया गया है। अभिनय का भो संक्षिप्त वर्णन है। यह एक विशाल ग्रन्थ है जिसका दस अधिकारों में विभाजन किया गया है।

6.3.7 शिंगभूपाल एवं रसार्णव सुधाकर –

शिंगभ्पाल का समय 1350 ई0 के लगभग है। इन्होंने दो ग्रन्थों की रचना की – रसार्णव सुधाकर, नाटक–परिभाषा। नाटक परिभाषा में केवल नाट्य विषय का विशद विवेचन है। रसार्णव–सुधाकर में काव्य के अन्य विषयों के साथ–साथ नाट्य का भो संक्षिप्त वर्णन है। सम्पूर्ण ग्रन्थ का तीन विलासों में वर्णन है। प्रथम विलास में नायक–नायिका के सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन किया गया है। द्वितीय विलास में रसों का एवं तृतीय में दशरूपकों का तथा अन्य ऐतिहासिक वर्णन प्राप्त होता है।

6.3.8 विश्वनाथ एवं साहित्यदर्पण

विश्वनाथ ने अपने काल के विषय में स्वयं तो उल्लेख नहीं किया परन्तु उनके ग्रन्थ साहित्यदर्पण के अध्ययन एवं बाह्य–साक्ष्यों के आधार पर इनके समय की सीमा निर्धारित की जा सकती है। विश्वनाथ ने कहीं भो रूय्यक अथवा मम्मट का नामोल्लेख नहीं किया, परन्तु इन दोनों लेखकों की सामग्री का प्रचुर–मात्रा में उपयोग किया है। साहित्य–दर्पण के प्रथम परिच्छेद में ही मम्मट के प्रसिद्ध काव्यलक्षण – ''तददोषौ...'' की विश्वनाथ ने प्रतिपद आलोचना एवं खण्डन करके स्वमत का स्थापन किया है। उन्होंने अपने ग्रन्थ में रूय्यक के – ''भजंगमण्डलीव्यक्त...'' श्लोक का उद्धरण दिया है। इसके अतिरिक्त विश्वनाथ ने इसी शती के दो लेखकों ''गीतगोविन्द'' के रचयिता एवं ''नेषधीयचरित'' के रचयिता श्री हर्ष का उल्लेख किया है। उन्होंने जयदेव के ''प्रसंन्नराघव'' से ''कदली–कदली'' श्लोक को उद्धृत किया है। इन लेखकों का समय निश्चित ही है। इसमें विश्वनाथ की सीमा 12वीं शती के अन्तिम भाग से पूर्व निर्धारित नहीं हो सकती। विश्वनाथ की दूसरी ''तिथि–सीमा'' ''साहित्यदपण'' की एक हस्तलिपि से प्राप्त होती है। यह हस्तलिपि सं. 1440–1384 में तैयार की गई। स्टीन ने इसे जम्मू में खोजा था। अतः मोटे तौर पर विश्वनाथ का समय 1200 से 1350 के मध्य निर्धारित किया जा सकता है।

साहित्यदर्पण में काव्यशास्त्र के सभो विषयों का सरल, सुबोध शैली में विवेचन किया गया है। यह काव्यप्रकाश की शैली पर लिखा हुआ ग्रन्थ है। इसमें काव्यप्रकाश की अपेक्षा नायक–नायिका का वर्णन तथा नाट्य–विषय का विवेचन अधिक है। इसमें दस परिच्छेद है। नाट्य विषय की दृष्टि से तृतीय एवं षष्ठ परिच्छेद अधिक महत्वपूर्ण है। तृतीय परिच्छेद में नायक–नायिका व रस का वर्णन है। षष्ठ परिच्छेद में रूपक–उपरूपक एवं उसके विविध अंगो का विस्तारपूर्वक निरूपण किया गया है।

6.4 नाट्योत्पत्ति विषयक विविध मत

नाट्यशास्त्र में नाट्यवतरण का आधार देवमूलकता या धर्ममूलकता है। अन्य विद्वान् इसे एक पौराणिक गाथा से अधिक महत्त्व नहीं देते। उन्होंने नाट्यशास्त्र के नाट्य उपादानों के वेद से ग्रहण करने के कथन से प्रेरित होकर वेदों का गंभोर अनुशीलन करते हुए यह निष्कष निकाला कि नाट्य के मूल तत्त्वों का वेद के संवाद–सूक्तों से उद्गम हुआ। जिस प्रकार आज के समाज के आधार पर प्राचीनतम समाज की रूपरेखा का वास्तविक निर्धारण नहीं हो सकता। उसी प्रकार नाट्य की उपलब्ध एवं वर्तमान कृतियों का अध्ययन कर उसके मूल उपकरणों का 'इदमित्थम्' निर्धारण भो यथार्थ से परे है। नाट्यविषयक विविध मतों कों मुख्य रूप से पांच शीर्षकों के अन्दर रखा जा सकता है–

1. दिव्य उत्पत्तिवाद
2. वैदिक सम्वाद सूक्तों से नाट्योद्गम
3. धार्मिक उत्पत्तिवाद
4. धर्मनिरपेक्ष नाट्योत्पत्तिवाद
5. नाट्य की उत्पत्ति का विकासवादी सिद्धान्त

नाटय की प्राचीनता

वैदिक साहित्य में गीत और नृत्य का बहुधा उल्लेख हुआ है। यजुर्वेद में यज्ञ के अवसर पर गीत के लिए शैलूषों की नियुक्ति होती थी – "गीताय शैलूषम्।" कौशीतकी ब्राह्मण में संगीत को यज्ञ क्रिया का एक अंग माना गया है। पारस्कर गृह्यसूत्र में ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य के लिए उनका निषेध भो बताया है। महाव्रत में यह विधान है कि उक्त अवसर पर कुमारियाँ अग्नि की परिक्रमा करती हुई नाचे और गाये। जिससे वे सौभाग्यवती होकर सन्तान पाती थी।

पाणिनि की अष्टाध्यायी में शिलालि और कृशाश्व के नटसूत्रों तक का उल्लेख मिलता है :

"पाराशर्य–शिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः" –4/3/110
"कमन्दकृशाश्वादिनिः" – 4/3/111

किन्तु उन नटसूत्र ग्रन्थों के लोप हो जाने से यह नहीं कहा जा सकता कि उनके द्वारा प्रोक्त नाट्य का उद्भव कैसे हुआ तथा उसका स्वरूप क्या था।

वात्स्यायन के कामसूत्र में विद्यालयों में 'समाज' के होने का विधान है। "पक्षस्य मासस्य वा प्राज्ञातेऽहनि सरस्वत्या भवने नियुक्तानां नित्यं समाजः।"

यह समाज नाटक हो सकते हैं। वही आगे चलकर 'नागरकवृत्त प्रकरण' में कहा है – "कुशीलवाश्चागन्तवः प्रेक्षणकमेषां दद्युः। द्वितीयेऽहनि तेभ्यः पूजां नियतं लभरन्। ततो यथाश्राद्धमेषां दर्शनमुत्सर्गो वा व्यसनोत्सवेषु चैषा परस्पर्यैककार्यता।। 1/4/16)

कौटिल्य अर्थशास्त्र के 'अध्यक्ष–प्रचार' अधिकरण के 27वें अध्याय में लिखा है : "एतेन–नट–नर्तक–गायक–वादक–वाग्जीवन–कुशीलव– प्लवक– सौभिक–चारणानां स्त्री व्यवहारिणां स्त्रियों गूढा जीवाश्च व्याख्याताः।। (नट, नर्तक, गायक, वादक, वाग्जीवन कथा कहकर जीतने वाले), कुशीलव, प्लवक (रस्सी पर चढ़कर खेल दिखाने वाले), सौभिक (ऐन्द्रजालिक नट), चारण तथा और भो जो कोई स्त्रियो द्वारा अपनी जीविका कमाते हैं, उनकी स्त्रियों को (छिपकर व्यभिचार आदि से जीविका कमाने वाली स्त्रियों के सम्बन्ध में गायिकाओं के समान ही सब यथोचित नियम बरते जाएँ।)

महाभाष्यकार पतंजलि ने अपने महाभाष्य में 'कंसवध' और 'बलिबन्धन' नाटकों के होने का संकेत देकर यह सिद्ध कर दिया है कि महाभाष्यकार के समय नाटक अपनी प्रौढ़ता को प्राप्त हो चुका था –

इह तु कथं वर्तमानकालता कंसं घातयति बलिं बन्धयतीति चिरं हते कंसे चिरबद्धे च बलौ। अत्रापि युक्ता। कथम्। ये तावदेते शोभनिकाः नामैते प्रत्यक्षं बलिं च बन्धयन्तीति' (जो कंस इतने पूर्व मारा जा चुका है, जिस बलि का बन्धन इतने पहले हो चुका है, उसके लिए यह वर्तमान काल में क्यों कहा जाता है कि कंस को मारता है, बलि को बाँधता है। पर यह ठीक है, क्योंकि 'शोभनिक' (नट) हमारी आँखों के सामने ही नाटक में कंस को मारते और बलि को बाँधते हैं।)

जैनियों का 'रायपसेणीय सुत्त' नामक एक आगम–ग्रन्थ है। इसमें एक कथा दी गई है जिससे यह सिद्ध होता है कि जैन धर्म के आविर्भावकाल में भो नाटक का कोई न कोइ रूप विद्यमान अवश्य था। (भद्रबाहु कल्पसूत्र – साधु नटों की लीला)

बौद्धों के धर्मग्रन्थों में भो नाटक का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। एक बार बुद्धदेव जब राजगृह में थे, उस समय उनके शिष्य मौद्गलायन और उपतिष्य ने सबके सामने अभिनय करके दिखाया था। बौद्धों ने भो नाटक को धर्म–प्रचार का साधन माना था। इसका प्रमाण अश्वघोष की कृति 'शारिपुत्र–प्रकरण है' जो नौ अंकों से समन्वित, परम उत्कृष्ट कलामय संग्रन्थित है तथा जिसमें बुद्ध के द्वारा मौद्गलायन और शारिगुत्र के बौद्ध होने की कथा दी है। ललित विस्तर आदान जातक, सद्धर्म पुण्डरीक और महावंश आदि ग्रन्थों में भो विशिष्ट पर्वों पर नाट्य के अभिनय का उल्लेख है।

6.4.1 दिव्य उत्पत्तिवाद

नाट्यशास्त्र के प्रथम अध्याय में निरूपित नाट्यावतरण दिव्योत्पत्तिवाद के अन्तर्गत आता है। नाट्यशास्त्र में नाट्यविषयक दो कथाएँ प्राप्त होती है।

स्वायम्भव मन्वन्तर के सत्ययुग की परिसमाप्ति और त्रेता के सम्प्रवृत्त होने पर लोक में दुःख नामक तत्त्व का नया प्रादुर्भाव हुआ। महेन्द्रप्रमुख देवों ने पितामह के पास जाकर निवेदन किया कि इस नवागत दुःख के अपनोदनार्थ हम ऐसा क्रीडनीयक चाहते है जो दृ श्य–श्रव्यात्मक हो एवं सर्वसामान्य का मनोरंजन कर सके। चूँकि प्रकृत वेद स्त्री एव शूद्र जातियों में संश्राव्य नहीं है इसलिए अब एक सार्वजनिक या सार्ववर्णिक पंचम वेद की अलग रचना कीजिए। ब्रह्मा ने 'एवमस्तु' कह योगस्थ हो चतुर्वेद का ध्यान किया और चतुर्वेदाङ्ग सम्भव एवं ऐतिह्ययुत पंचम वेदस्वरूप 'नाट्यवेद' की रचना का संकल्प किया। 'ऋक्' से पाठ्य 'साम' से संगोत, 'यजुः' से अभिनय और 'अथर्व' से रसों का ग्रहण कर वेदोपवेद–सम्बद्ध 'नाट्यवेद' की ललित रचना की।

दूसरी कथा इस प्रकार है – अपने अनाचरण से भरत पुत्रों ;नटोंद्ध को मुनियों द्वारा श्राप प्राप्त हुआ। इन्द्र को जब नहुषका पद मिला तो स्वर्ग में अप्सराओं के नाट्यप्रयोग देखकर भ्तल पर भो इसे करने का अनुरोध किया। देवों के कहने पर भरतमुनि ने अपने पुत्रों के साथ नाट्य प्रयोग किया तथा भ्तल पर रहते हुए उनके शाप की निवृत्ति होने पर पुनः स्वर्गरोहण किया।

नन्दिकेश्वर, धनंजय, शारदातनय इस सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं तथा सभो आचार्य वेदों स पाठ्यादि का ग्रहण कर दिव्य उत्पत्तिवाद को स्वीकार करते हैं।

निष्कर्ष

इस सिद्धान्त से निम्नलिखित निष्कष निकालते हैं –

1. नाट्योद्भव सांसारिक दुःख के अपनोदनार्थ हुआ।
2. ब्रह्मा ही इसके आदि स्रष्टा एवं भरत आदि प्रचारक है।
3. नाट्य की सृष्टि वैदिक है।
4. पाठ्यगीत, अभिनय और रस नाट्य के मूल सिद्धान्त है।
5. यह सार्वभोमिक है।

समीक्षा

यह सिद्धान्त अवैज्ञानिक एवं अयथार्थ प्रतीत होता है। अधिकांश विद्वान् इस मत को पौराणिक गाथा से अधिक महत्त्व नहीं देते।

6.4.2 वैदिक संवादसूक्तों से नाट्योद्गम

20वीं सदी के विद्वानों ने भरत–प्रोक्त दिव्य उत्पत्तिवाद को एक कल्पित पौराणिक गाथा से अधिक कुछ महत्त्व नहीं दिया है किन्तु 'नाट्यशास्त्र' में आए हुए एक श्लोक :

"जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि।।"

में नाट्य की उत्पत्ति के उपादानों के वैदिक होने का संकेत दिया गया है उससे प्रेरित होकर अनेक विद्वान् वेदों के अनुशीलन में लग गए। फलस्वरूप 15 के लगभग ऐसे सम्वाद सूक्तों को खोज निकाला गया जिनसे नाट्य के मूलभ्त् तत्त्वों कों प्रोत्साहन मिला होगा। इस प्रकार इन्हीं सूक्तों से नाट्योत्पत्ति के वाद का प्रतिपादन हुआ। ये सम्वाद सूक्त सब ऋग्वेद के हैं:–

1. अजोगर्त और शुनःशेप का स्वगत, 2. इन्द्रमरुत् सम्वाद 3. अगस्त्य और उनकी पत्नी तथा पुत्रों के बीच हुआ सम्वाद, 4. विश्वामित्र और विपाशा एवं शतद्रू, 5. यम–यमी का सम्वाद,

6. इन्द्र वसु तथा उनकी पत्नी के बीच, 7. पुरुरवा और उर्वशी का सम्वाद, 8. सरमा और पणियों का सम्वाद।

विद्वानों का अनुमान है कि ऋग्वेद के इन्हीं सम्वाद–सूक्तों से नाट्य का उद्भव हुआ। कालिदास के 'विक्रमोर्वशीय' का बीज जिस प्रकार पुरुरवा और उर्वशी के सम्वाद में है उसी प्रकार सम्पूर्ण नाट्यतत्त्वों के अंकुर इन्हीं से उत्पन्न और विकसित हुए हैं। इन सूक्तों के स्वरूप तथा इनसे नाटयोद्भव की पद्धति में विद्वानों की विभिन्न धारणाएँ है।

जर्मन विद्वान मैक्समूलर एवं डॉ0 हर्नेल के अनुसार ये सूक्त गेय थे तथा इन्हें गाते समय वक्ताओं के अनेक होने से नाट्यभिनय की प्रेरणा मिली। प्रो0 वान श्रोडर के अनुसार इन सूक्तों के गान के साथ नृत्य भो होता होगा। अतः गेय व अभिनेय दोनों तत्त्व मिल जाते होंगे। यही नाट्य की बीज है। डॉ0 विंडिश, ओल्डेन वर्ग तथा पिशेल के अनुमान के अनुसार ये सूक्त पूर्व में गद्य–पद्यात्मक रहे होंगे। इसके अतिरिक्त ये आख्यानात्मक भो थे। रोचक एवं कण्ठस्थ होने में सरल होने से इनका पद्यात्मक भाग शेष रह गया, गद्यभाग लुप्त हो गया। संवाद सूक्त इसका प्रमाण है।

समीक्षा

डॉ0 कीथ इसे स्वीकार नहीं करते। उनके मत में गायन व अभिनय साम व यजुर्वेद के तत्त्व है। जिनमें संवाद सूक्तों का सर्वथा अभाव है। डॉ0 कीथ के अनुसार इन सूक्तों की गद्यपद्यात्मकता का अनुमान भो काल्पनिक ही प्रतीत होता है।

6.4.3 धार्मिक उत्पत्तिवाद

डॉ0 कीथ ने नाट्य की धार्मिक उत्पत्ति की व्याख्या करते हुए उसके मूल में मानवीय अन्तःकरण में प्रसुप्त धार्मिक भावना का होना निश्चित किया। डॉ0 कीथ ने नाट्य की उत्पत्ति पर विशद विवेचन कर यह दिखाया कि पतंजली के महाभाष्य में सबसे पहले पूर्ण रूप से नाट्य का संकेत है – ''यावदेते शोभनिकाः नामैते प्रत्यक्षं कंसं घातयन्ति प्रत्यक्षं च बलिं बन्धयन्ति इति। आतश्च सत व्यामिश्रा हि दृश्यन्ते। केचित् कंसभक्ताः भवन्ति केचिद् वासुदेवभक्ताः।।''

इसी स्पष्ट निर्देश से उन्होंने नाट्य की धार्मिक उत्पत्ति की बात उठायी है और इसे एक पक्ष बनाकर निरूपित किया है कि नाट्य की उत्पत्ति का मूल स्रोत मानव के अन्तःकरण में सुप्त उसकी धार्मिक भावना है। उनका कहना है कि नाट्योद्गम के अन्य सिद्धान्तों में धार्मिक उत्पत्ति का सिद्धान्त कम मूल्य नहीं रखता। प्राचीनतम नाटकों के नाम और वस्तु इसके साक्षी हैं। कंस–वध, बलि–बन्धन, इन्द्र–विजय, त्रिपुर–दाह आदि नाटकों के पुरातन नाम एवं उनमें वर्णित विषय ऐसे ही है।

समीक्षा

समीक्षा की कसौटी पर यह वाद खरा नहीं उतरता। भास व कालिदासादि के नाटकों को धार्मिक नहीं कहा जा सकता।

6.4.4 धर्मनिरपेक्ष नाट्योत्पत्तिवाद

1. वीरपूजा से नाट्योद्भव

डॉ0 रिजवे ने अपनी पुस्तक 'ड्रामाज एवं ड्रैमेटिक डान्सेज इन् ननयोरोपियन रेसेज' में नाट्योद्गम–विषयक् सभो मतों का निराकरण कर तथा संस्कृत नाट्य, रामलीला, रास एवं यात्रा–उत्सवों का विशद विवेचन कर यह निष्कष निकाला है कि नाट्य की उत्पत्ति का प्रेरक तत्त्व वीरपूजा है। उनका कहना है कि राम और सीता की कथा न केवल सम्पूर्ण भारत, अपितु जावा, सुमात्रा आदि वृहत्तर भारत में भो अत्यन्त लोकप्रिय है। महाभारत की कथा तथा श्रीकृष्ण के चरित के आधार पर मथुरा आदि स्थानों में नाटक किए गए। यही नहीं, ऐतिहासिक और पौराणिक वीरों के चरित भो नाटक के द्वारा दिखाए जाते हैं। वीर पुरुषों के चरित को निरन्तर स्मरण कराते रहने की प्रथा प्रारम्भ से अब तक हिन्दू नाटक की मूल प्रेरणा रही है। इन सब बातों से यही निष्कष निकलता है कि प्रशस्ति, स्तम्भ और

मूर्ति आदि साधनों के साथ किसी वीर व्यक्ति के साहस और पराक्रम का नाटक खेलना भो उसके प्रति आदर दिखाने का एक प्रमुख साधन जाना जाता था।

समीक्षा

कीथ तथा अन्य योरोपीय विद्वानों ने भो इस मत का खण्डन ही किया है। वास्तव में आजकल प्रचलित उत्सवों और समारोहों के आधार पर नाट्य के उद्गम का अनुमान कपोल–कल्पना के सिवा और कुछ नहीं हो सकता।

2. पुत्तलिका नृत्य से

प्रख्यात जर्मन विद्वान् डॉ0 पिशेल ने नाट्योद्गम की भारतीय मूल प्रेरणा पर एक बृहद् अनुसंधान कर डाला है। उनके विवेचन के अनुसार संस्कृत नाट्य की उत्पत्ति पुत्तलिका–नृत्य से हुई। भारत ही वह राष्ट्र है जहाँ से पुत्तलिका नृत्य का प्रचलन यूनान आदि देशों में हुआ था, फिर सर्वत्र व्याप्त हुआ। हेरोडोटस ने यूनान में होने वाले पुत्तलिकाओं के नृत्य और उत्सव के इतिहास का बड़ा ही रोचक ढंग से वर्णन किया है। प्रसिद्ध काश्मीरी पण्डित सोमदेव के 'कथासरित्सागर' में यन्त्रचालित पुत्तलियों का वर्णन मिलता है। पुत्तलिका–नृत्य मे एक सूत्रधार होता है जो सूत की डोरी के सहारे ही इन पुत्तलियों को नचाता है। यह 'सूत्रधार' शब्द ही इस बात का प्रमाण है कि पुत्तलिका नृत्य में से ही नाट्य प्रारम्भ हुआ। नाट्य का 'स्थापक' शब्द भो इसी बात का संकेत करता है कि पुत्तलियों को लाकर स्टेज पर रखने वाले के लिए प्रयुक्त यह शब्द वहीं से आता है।

समीक्षा

डॉ0 रिजवे ने अपनी 'ड्रामाज एवं ड्रैमेटिक डान्सेज इन् ननयोरोपियन रेसेज' नामक पुस्तक में पिशेल कि इस पुत्तलिका–नृत्य से नाट्योद्गम के 'वाद' का खण्डन कर उसे भमात्मक सिद्ध किया है। उनका कथन है कि यह तो स्वयंसिद्ध है कि यूनान म पुत्तलिका–नृत्य की क्रिया नाट्य से बहुत बाद में आरम्भ हुई। भारत के भो नाट्य उससे प्राचीनतम हैं, तथा उक्त उद्धरणों का पुत्तलियों के अभिनय से कोई सम्बन्ध नहीं है।

'सूत्रधार' शब्द के आधार पर इस सिद्धान्त की जो कल्पना की गई है वह भो सर्वथा अनुचित है। संस्कृत नाट्य में उपलब्ध 'सूत्रधार' को 'पुतली नचाने वाला' कहना कहाँ तक समुचित है, यह 'सूत्रधार' शब्द की व्युत्पत्ति और परिभाषाओं से विदित हो जायेगा।

3. छाया नाटकों से

डॉ0 पिशेल ने ल्यूडर्सन के विचारों से प्रभावित होकर संस्कृत–नाट्यों के उद्गम के एक और मत का प्रतिपादन किया है। वह है – छाया–नाटक से नाट्य की उत्पत्ति। डॉक्टर स्टेनकोनों ने भो इनके इस मत का जोरदार समर्थन किया है। छाया–नाटक के स्वरूप और लक्षण पर पाश्चात्य विद्वानों में बड़ा मतभद है। इसका अर्थ छाया द्वारा नाटक दिखाना है। दीपक की सहायता से यह छाया दिखाई जाती थी। यह छाया पुत्तलियों की या अभिनेताओं की होती थी। संस्कृत के नाट्यग्रन्थों में छाया नाटक का कहीं भो उल्लेख नहीं है। किन्तु सात नाटकों का ऐसा विवरण मिलता है, जिन्हें 'छाया नाटक' कह सकते हैं। 'दूताङ्गद' इनमें प्राचीनतम और सर्वोत्कृष्ट है, जिसमें रामायण की कथा ली गई है। शेष अनुपलब्ध एवं अप्रकाशित है।

समीक्षा

छाया नाटक से नाट्योद्गम की बात कोरी कल्पना से अधिक कुछ भो नहीं है, क्योंकि एक तो 'दूताङ्गद' बहुत बाद की रचना है। फिर छाया नाटक नाम से यदि नाट्य का कोई भद होता तो वह कहीं तो निरूपित होता।

4. इन्द्रध्वज महोत्सव से नाट्य की उत्पत्ति

यूनानी नाटकों की उत्पत्ति के विवेचन में अनेक विद्वानों ने उसे 'मे पोल डान्स' प्रसूत बताया है। योरोप में मई का मास बहुत सुखकर एवं आनन्दप्रद होता है। अतः इसी महीने में वहाँ सामूहिक रूप से महोत्सव मनाया जाता है। इसमें किसी नवयुवती को फूलों से समलंकृत

कर उस 'मई की रानी' बनाया जाता है। मई का प्रतिरूप एक बाँस होता है, वह भो अनेक प्रकार से अलंकृत किया गया होता है। उन्हीं दोनों के चारों ओर लोग नृत्य और गायन करते है। इसे ही 'मे पोल डान्स' कहते हैं। इसी आधार पर एक विदेशी विचारक ने नेपाल राज्य में इन्द्रध्वज महोत्सव की धूम देखकर यह कल्पना कर डाली कि संस्कृत नाट्य का उद्गम इन्द्रध्वज महोत्सव से हुआ है। भरत नाट्यशास्त्र में भो इन्द्रध्वज महोत्सव पर सबसे पहले नाट्य के अभिनय की बात ने उस पर मुहर लगा दी।

समीक्षा

नाट्यशास्त्र के अनुसार इन्द्रध्वज महोत्सव पर नाट्य का मंचन हुआ, इसका अभिप्राय यह कदापि नहीं कि इसी से नाट्य की प्रेरणा मिली। नन्दिकेश्वर ने नाट्य के किसी पर्व–विशेष पर खेले जाने का विधान किया है –

द्रष्टव्ये नाट्यनृत्ये पर्वकाले विशेषतः।

इसका तात्पर्य इतना ही है कि उत्सवों पर, शुभकार्यों में तथा हर्ष के अवसरों पर नाटक या नृत्य कराए जाएँ, न कि इनसे ही नाट्य की उत्पत्ति हुई।

5. प्रकृति–परिवर्तन से नाट्योद्गम

कीथ ने पातंजल महाभाश्य के 'कंस–वध' और 'बलि बन्धन' के उल्लेख को लेकर एक अजीब सिद्धान्त की कल्पना की है। उनका कहना है कि ये नाटक इस बात का स्पष्ट संकेत देते है कि वर्ष में होने वाले ऋतुओं के प्राकृतिक परिवर्तनों को जनसाधारण के सामने मूर्त रूप में दिखलाने की भावना से ही नाट्य की उत्पत्ति हुई है।

समीक्षा

कहना न होगा, डॉ0 कीथ स्वयं इस वाद में विश्वास नहीं करते। उन्होंने एक सम्भावना मात्र की कल्पना की है, जो उत्कृष्ट भले ही हो, यथार्थ नहीं। अतः इस पर विचार करना ही अनावश्यक है।

6.4.5 नाट्य की उत्पत्ति का विकासवादी सिद्धान्त

डॉ0 मेकडॉनल ने नाट्य के उद्गम को इसकी प्रारम्भिक अवस्था नृत्त से माना। डॉ0 मंकड ने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'द टाईप्स ऑफ संस्कृत ड्रामा' में इसका समर्थन किया तथा इसके लिए विकास क्रम की प्रक्रिया एवं प्रमाण भो दिए। इन्होंने यह बतलाने का प्रयत्न किया कि नृत्त से नृत्य होकर किस प्रकार, नाट्य रूप में परिणत हुआ। इनके मत में ताल–लयाश्रित नृत्त की दूसरी अवस्था है भावाश्रित नृत्य। इसी कारण दोनों के कार्यकलाप में अधिक साम्य दृष्टिगत होता है। नृत्त व नृत्य के मिश्रित रूप से नाट्य का उद्भव हुआ जो क्रमशः एक पात्र के एक भाव की रसात्मक प्रस्तुति को एक अंक में रखने से, फिर अनेक पात्रों द्वारा अनेक भावों की अनेक रसात्मक प्रस्तुतियों को अनेक अंकों में रख दिया। इस प्रकार नृत्त से नाट्य का विकास हुआ। नाट्य के भदों में क्रमशः इस विकास का क्रम रूपकों भाण, प्रहसन, ईहामृग जैसे प्रभदो से होकर नाटक और बाद में प्रकरण में जाकर पूर्ण हो जाता है।

इस प्रकार हम देखते है कि जहाँ नाट्य के प्रेरक एवं उपजीव्य उपजी व्यतत्त्वों में वैदिक साहित्य, रामायण एवं महाभारत, वृहत्कथा के आख्यान है। वहाँ उसके वर्तमान रूप धारण करने में विकास की यह परम्परा भो महत्त्व रखती है।

6.4.6 भारतीय नाटकों पर ग्रीक प्रभाव

पाश्चात्य विद्वानों ने संस्कृत नाट्य कला के विकास में इस बात पर भो विशेष रूप से अनुसंधान किया है कि ये नाटक भारतीयों की प्रतिभा से विकसित हैं या इसके लिए वह ग्रीक नाट्यकला का ऋणी है। प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् डॉ0 वेबर ने सबसे पहले यह सुझाया कि संस्कृत नाटकों पर ग्रीक नाट्यकला का अक्षुण्ण प्रभाव है। उनका कथन था कि सिकन्दर नाट्यकला का बहुत प्रेमी था। जब उसने भारत पर आक्रमण किया तो उसके साथ नाट्यमण्डली भो रहती थी और समय–समय पर नाट्य प्रदर्शन द्वारा उसका एवं

उसके सैनिकों का मनोविनोद करती थी। सिकन्दर को आत्म–समर्पण करने वाले राजाओं के दरबारियों को भो उनके नाटकों के अभिनय को देखने का अवसर मिला होगा जिससे भारतीय नाट्यकला पर उनका प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सका।

डॉ0 विण्डिश का कहना है कि 'न्यू एटिक कामेडी' भारतीय नाट्य पर ग्रीक प्रभाव पड़ने का मूल स्रोत है। इस प्रकार के सुखान्त नाटकों में समाज का विस्तृत चित्रण रहता है। ईसा–पूर्व की शताब्दियों में भो भारत का रोम राज्यों से परिचय तथा व्यापार आदि का सम्पर्क हो गया था। उज्जयिनी में लिखित 'मृच्छकटिक' के ऊपर ग्रीक नाटकों का प्रभाव है, जिसने उसे अन्य संस्कृत नाटकों से विलक्षण बना दिया। संस्कृत नाटकों में प्रयुक्त 'यवनी' शब्द को लेकर बहुत विवाद प्रस्तुत किया गया है। 'यवनिका' या 'जवनिका' शब्द भो पाश्चात्य प्रभाव का ही परिचायक बताया गया है।

यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि परदे के लिए प्रयुक्त शब्द 'जकारादि' 'जवनिका' है, 'यकारादि' 'यवनिका' नहीं। इसका प्रयोग 'नाट्यशास्त्र', दशरूपक, भर्तृहरिशतक तथा शिशुपालवध आदि एवं हरिवंश तथा भागवत पुराणों में भो हुआ है, जो स्पष्टतः परदे के लिए आया है। और फिर यदि 'यवनिका' को भो परदे के लिए प्रयुक्त मान लिया जाय तो भो उसे यूनानी प्रभाव नहीं कह सकते, क्योंकि पहले यूनानी नाटकों में पर्दा ही नहीं होता था।

6.5 पारिभाषिक शब्दावली

भरत – मुनि भरत नाट्यशास्त्र के प्रथम प्रचारक, नटों को भी भरत कहा जाता था।

नाट्यशास्त्र – नाट्यस्य नटवृत्तस्य शास्त्रं शासनोपायम्। नटवृत्त ही नाट्य है, नाट्य के नियमों का प्रदर्शक ग्रन्थ नाट्यशास्त्र है।

नाट्यवेद – नाट्यशास्त्र लिपिबद्ध ग्रन्थ विशेष है, किन्तु नाट्यवेद ''नाट्याख्यं वेदं लक्षणतो प्रवक्ष्यामि'' नाट्य वेद तत्त्व रूप है।

टीका – टीक्यते अवगम्यते ग्रन्थार्थोऽनया – ग्रन्थ के अवगमन के उपाय को टीका कहा गया है।

भाष्य – जहाँ सूत्र के पदों के अनुरूप सूत्र के अर्थ का वर्णन किया जाए साथ ही अपने पदों का भी वर्णन किया जाए वह भाष्य है।

सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र पदैः सूत्रानुसारिभिः।
स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः।।

सूत्र–

अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद्विश्वतो मुखम्।
अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः।।

भरतसूत्र – विभावानुभावव्याभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः – भरत रचित यह रसनिष्पत्ति सूत्र भरतसूत्र नाम से प्रसिद्ध है।

6.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

बोधप्रश्न

1. अभिनयदर्पण के रचयिता है।
   (अ) अभिवनगुप्त (ब) नन्दिकेश्वर
   (स) मातृगुप्ताचार्य (द) उद्भट
2. टीका होने पर भी मौलिक ग्रन्थ के रूप में अधिक मान्यता है –
   (अ) अभिनवभारती (ब) राजतरङ्गिणी
   (स) भावप्रकाशन (द) काव्यालंकार
3. साहित्यदर्पण के रचयिता है –

(अ) शिंगभूपाल (ब) शारदातनय
(स) अभिनवगुप्त (द) विश्वनाथ

4. भरत नाट्योत्पत्ति के किस सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं –
(अ) विकासवादी (ब) धार्मिक
(स) दिव्य–उत्पत्ति (द) धर्मनिरपेक्ष

5. पुत्तलिका नृत्य से नाट्योत्पत्ति स्वीकार करते हैं –
(अ) डॉ0 कीथ (ब) डॉ0 पिशेल
(स) डॉ0 रिजवे (द) डॉ0 मेकडॉनल

6. भारतीय नाटकों पर ग्रीक नाट्यों के प्रभाव के प्रतिपादक हैं –
(अ) डॉ0 वेबर (ब) डॉ0 विण्डिश
(स) भरत (द) डॉ0 कीथ

7. राजतरङ्गिणी के रचयिता हैं –
(अ) बिल्हण (ब) कल्हण
(स) विश्वनाथ (द) उद्भट

8. मालती–माधव के रचयिता हैं –
(अ) भरत (ब) विश्वनाथ
(स) शिलालि (द) भवभूति

9. अभिनव गुप्त पर टिप्पणी लिखिए।
10. विकासवादी सिद्धांत से क्या तात्पर्य है?
11. दिव्य–उत्पत्तिवाद की समीक्षा कीजिए।
12. नाट्यशास्त्र पर टिप्पणी लिखिए।

बोध प्रश्नों के उत्तर

1. (ब)
2. (अ)
3. (द)
4. (स)
5. (ब)
6. (अ)
7. (ब)
8. (द)
9. देखिये इकाई 6.3.2
10. देखिये इकाई 6.4.5
11. देखिये इकाई 6.4.1
12. देखिये इकाई 6.3.1

6.7 सारांश

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन से आपने जाना कि नाट्य के उद्गम एवं विकास की क्या परम्परा रही। भरत से पूर्व नाट्य का सर्वथा अभाव था। वैदिक वाङ्मय ही अध्ययन का विषय था। किन्तु युग परिवर्तन के साथ सामाजिक परिस्थिति में बदलाव आने के कारण

सत्त्वगुण का स्थान रजोगुण व तमोगुण ने लिया फलस्वरूप तामस एवं राजस प्रवृत्तियाँ बढ़ने से अनाचार, भ्रष्टाचार, वेद–निषिद्ध आचरण होने से चारों ओर दुःख का साम्राज्य होने लगा। ऐसी स्थिति में नाट्य का उद्गम हुआ। नाट्योत्पत्ति विषयक विविध वादों के परिचय के साथ नाट्य–विषयक प्रमुख शास्त्रीय ग्रन्थों एवं ग्रन्थकारों का परिचय भी आपने इस अध्याय में प्राप्त किया।

6.8 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. संस्कृत साहित्य का इतिहास – बलदेव उपाध्याय – शारदा संस्थान, वाराणसी,1985.
2. नाट्य समीक्षा – दशरथ ओझा, पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली, 1984.
3. नाट्यशास्त्र की भारतीय परम्परा एवं दशरूपक (छठा संस्करण), हजारी प्रसाद द्विवेदी एवं पृथ्वीनाथ द्विवेदी,राजकमल प्रकाशन, 2013.
4. संस्कृत नाटक–उद्भव एवं विकास – उदयभानु सिंह – मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 2012.
5. नाट्यशास्त्रम् (हिन्दी व्याख्या सहित) – प्रो. ब्रजमोहन चतुर्वेदी, विद्यानिधि प्रकाशन, दिल्ली 2001.
6. नाट्यशास्त्रम् (अभिनवभारती संस्कृत टीका एवं 'तात्पर्यदीपिका' हिन्दी व्याख्या सहित) – पं. जयनाथशास्त्री तैलंग, भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली, वाराणसी 1992.
7. नाट्यशास्त्रम् (प्रदीप हिन्दी व्याख्या) – श्री बाबूलाल शुक्ल, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी 1959.

इकाई 7

नाट्यशास्त्र – प्रथम अध्याय की व्याख्या

इकाई की रूपरेखा

7.0 उद्देश्य
7.1 प्रस्तावना
7.2 नाट्यवृत्ति विवेचन –
    7.2.1 नाट्यवृत्ति – लक्षण
    7.2.2 वृत्तियों का भद एवं स्वरूप
7.3 नाट्यशास्त्र : प्रथम अध्याय
    7.3.1 नाट्य : उत्पत्ति, अंग प्रमाण व प्रयोग
    7.3.2 नाट्य : प्रयोजन एवं अधिकारी
    7.3.3 नाट्य का प्रयोग
    7.3.4 नाट्य का महत्त्व
7.4 पारिभाषिक शब्दावली
7.5 अभ्यासार्थ प्रश्न
7.6 सारांश
7.7 संदर्भ ग्रंथ सूची

7.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद विद्यार्थी –

- विविध नाट्य–वृत्तियों से परिचय प्राप्त कर सकेंगे।
- नाट्य के प्रयोजन एवं महत्त्व को समझ सकेंगे।
- नाट्य–प्रयोग के लिए क्या योग्यताएं आवश्यक है, जान सकेंगे।
- नाट्य का प्रारम्भ कैसे किया जाना चाहिए, जान सकेंगे।
- प्रथम नाट्य प्रयोग के समय क्या विघ्न उपस्थित हुए तथा उनका निवारण कैसे हुआ, जान सकेंगे।
- नाट्य के स्वरूप के विषय में जान सकेंगे।

7.1 प्रस्तावना

इकाई 6 में नाट्योत्पत्ति पूर्व की स्थितियों एवं नाट्योत्पत्ति विषयक विविध मतों को पढ़ चुके हैं। प्रस्तुत इकाई में हम नाट्यवृत्तियों की चर्चा करेंगे। चूंकि भरत नाट्यशास्त्र के आदि प्रणेता माने गए हैं, अतः भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में नाट्य, रंगमंच, अभिनय, रस, छन्द, अलंकार, गुण, रीति, वेषभ्षा, संगीत, नृत्य, भाषा आदि नाट्य के सभो अपेक्षित तत्त्वों एवं प्रकारों का विशद विवेचन हुआ है। नाट्यशास्त्र ऐसा ग्रन्थ है जिसमें दृश्य व श्रव्य उभयविध–काव्य का सर्वाङ्ग विवेचन हुआ है। इस प्रकार नाट्यशास्त्र संस्कृत–काव्य के आलोचना शास्त्र का – जिसे बाद में अलंकार शास्त्र के नाम से अभिहित किया गया, आदि एवं उपजीव्य ग्रन्थ है। प्रस्तुत इकाई में नाट्य शास्त्र के प्रथम अध्याय के आधार पर नाट्य–प्रयोजन, महत्त्व, प्रयोग, स्वरूप आदि विविध विषयों की व्याख्या की जाएगी।

7.2 नाट्यवृत्तियों का विवेचन

वृत्ति नाट्य की आधारशिला है। भरत ने प्रारम्भ में नाट्य का प्रयोग भारती, सात्त्वती एवं आरभटी को आश्रय बनाकर ही किया तदनन्तर ब्रह्मा के आदेश से कैशिकी वृत्ति को भो इनके साथ जोड़ा गया।

7.2.1 वृत्तिलक्षण –

राजशेखर ने काव्यमीमांसा में वृत्ति का लक्षण देते हुए लिखा है– ''विलास–विन्यास क्रमो वृत्तिः।''विलास का विन्यास क्रम ही वृत्ति है। विलास का यह विन्यास नृत्य, गीत, वाद्य आदि के संयोग एवं कायिक, वाचिक आदि अभिनयों के द्वारा चार प्रकार से सम्पन्न होता है। अतः वृत्तियों के चार प्रकार होते हैं।

1. भारती
2. सात्त्वती
3. आरभटी
4. कैशिकी।

7.2.2 वृत्तियों का भेद एवं स्वरूप

1. भारती

या वाक्प्रधाना पुरुषप्रयोज्या स्त्री–वर्जिता संस्कृतवाक्यप्रयुक्ता
स्वनामधेयैर्भरतैः प्रयुक्ता सा भारती नाम भवेत्तु वृत्ति।। (ना.श. 20–37)

नाट्य के जिस अंश में पुरुषों का संस्कृत भाषा में वाचिक अभिनय अधिक होता है तथा स्त्री पात्र नहीं होते उसे भारती वृत्ति कहते हैं। इसमें भरतों (नटों) की ही उक्तियाँ

प्रधान होती है। अतः उसे 'भारती' संज्ञा दी गई है।

आचार्य अभिनव गुप्त ने इसे वाग्वृत्ति कहा है। वाचिक अभिनय में इसका सम्प्रयोग होता है।

2. सात्त्वती

या सत्त्वेनेह गुणेन युक्ता न्याय्येन वृत्तेन समन्विता च ।
हर्षोत्कटा संहतशोकभावा सा सात्त्वती नाम भवेत्तु वृत्तिः।। (ना.श. 20–37)

सत्त्वगुणों से युक्त, न्यायपूर्ण आचरण से समन्वित तथा प्रसन्नता की अधिकता एवं शोकभाव से रहित अंश के निरूपण में सात्त्वती वृत्ति का प्रयोग होता है।

अभिनवगुप्त के अनुसार मनोव्यापाररूपा सात्विक वृत्ति है। सत् कहते हैं – प्रख्यारूप संवेदन को। संवेदन मन में होता है इसलिए मन को भो सत्त्व कहते हैं इसलिये इस वृत्ति को सात्त्वती कहते है।

3. कैशिकी

या श्लक्ष्णनेपथ्य विशेषचित्रा स्त्रीसंयुता या बहुनृत्तगीता।
कामोपभोगप्रभवोपचारा तां कैशिकीं वृत्तिमुदाहरन्ति।।

नाट्य के जिस अंश के चित्रण में विशेष रूप से बनावटी श्रृंगार का आयोजन अपेक्षित होता है तथा जिसमें स्त्री–पात्र आकर नृत्य–संगीत से प्रेक्षकों का मन मोह लेते हैं, काम के उपभोगों से जनित उपचारों के उस चित्रण में कैशिकी वृत्ति व्यवहृत होती है।

आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार सौन्दर्योपयोगी व्यापार को कैशिकी कहते हैं। जिस प्रकार केश शरीर की शोभा के आधायक होते हैं इसके अतिरिक्त इनका अन्य कोई कार्य नहीं होता, उसी प्रकार विविध प्रकार के नृत्य, संगीत, श्रृंगार के हावभाव एवं विलास नाट्य की शोभा के आधायक है। उनसे युक्त वृत्ति का नाम केश शब्द से व्युत्पन्न होकर 'कैशिकी' सार्थक है।

4. आरभटी –

अभिनवगुप्त के अनुसार यह वृत्ति आंगिक अभिनय में होती है। इसमें नट सदा आर–सोत्साह रहते हैं। अतः यह आरभटी कही जाती है। नाट्यशास्त्र में इसका लक्षण इस प्रकार है –

प्रस्तावपातप्लुतलंघितानि चान्यानि मायाकृतमिन्द्रजालम्।
चित्राणि युक्तानि च यत्र नित्यं तां तादृशीमारभटीं वदन्ति।।

जहाँ उठना, गिरना, उछलना, लंघन की घटनाएँ तथा मायारचित इन्द्रजाल और विचित्र घटनाओं की योजना हो वहाँ आरभटी वृत्ति होती है।

7.3 नाट्यशास्त्र : प्रथम अध्याय

नाट्यशास्त्र के प्रथम अध्याय के प्रारम्भ में मुनि भरत स्वयं ब्रह्मा द्वारा निरूपित 'नाट्यशास्त्र' का प्रवचन करने की प्रतिज्ञा करते हैं। इससे नाट्यशास्त्र की प्रामाणिकता सिद्ध होती है।

प्रणम्य शिरसा देवौ पितामहमहेश्वरौ।
नाट्यशास्त्रं प्रवक्ष्यामि ब्रह्मणा यदुदाहृतम्।।

ब्रह्मा तथा शिव दोनों देवताओं को सिर नवाकर अभिवादन करके उस नाट्यशास्त्र का प्रवचन करूँगा जिसे ब्रह्मा ने स्वयं निरूपित किया है।

इस श्लोक से निम्नलिखित बातें स्पष्ट होती है –

- यहाँ नमस्कारात्मक, वस्तुनिर्देशात्मक व आशीर्वादात्मक मंगल के तीन प्रकारों में से नमस्कारात्मक मंगल का अभिधान किया गया।
- प्रस्तुत श्लोक में मंगल के साथ अनुबन्ध चतुष्टय – अभिधेय प्रयोजन, सम्बन्ध एवं अधिकारी का अभिधान हुआ।

नाट्य वेद अभिधेय, नाट्यशास्त्र का प्रवचन प्रयोजन, व्युत्पाद्य – व्युत्पादक भाव सम्बन्ध एवं नाट्यवेद–जिज्ञासु इस शास्त्र का अधिकारी है – इस प्रकार ब्रह्मा द्वारा निरुपित होने से ग्रन्थ की स्वतः प्रामाणिकता सिद्ध होती है।

7.3.1 नाट्य : उत्पत्ति, अंग प्रमाण व प्रयोग –

किसी अनध्याय के दिन आत्रेयादि मुनियों ने मुनि भरत से नाट्य विषयक प्रश्न किए –

नाट्यवेदः कथं ब्रह्मन्नुत्पन्नः कस्य वा कृते।
कत्यङ्गः किम्प्रमाणश्च प्रयोगश्चास्य कीदृशः।
सर्वमेतद् यथातत्त्वं भगवन् वक्तुमर्हसि।

यहां आत्रेयादि ऋषियों द्वारा मुनि भरत से पाँच प्रश्न किये गए –

1. **नाट्यः कथमुत्पन्न** :– यह प्रश्न प्रयोजन विषयक है। वेदादि शास्त्रों से अध्ययन, मनोरंजन आदि सकल प्रयोजन सिद्ध होते है और प्राचीन परम्परा में इन्हीं के अध्ययन और अध्यापन की परम्परा है तो फिर इस नाट्य नामक वेद की क्या आवश्यकता है।
2. **कस्य वा कृते उत्पन्न** :– यह प्रश्न अधिकारी से सम्बद्ध है। वेदादि का अध्ययन करने वाले ही इसके अधिकारी हैं या इतर जन भो। यदि केवल वेदादि का अध्ययन करने वाले ही इसके अधिकारी है तो इसकी रचना का क्या प्रयोजन है।
3. **कत्यङ्गः नाट्यवेद** :– नाट्यवेद के यदि अनन्त भदोपभद हैं तो दुःखधार्य होने से इसका प्रवचन अशक्य होगा तथा इन्हें ग्रहण करना तथा समझना भो दुष्कर होगा। 'तौर्यत्रिकं नृत्यगीतवाद्यं नाट्यमिदं त्रयम्' इस अमरकोश की परिभाषा के अनुसार नृत्य, गीत, वाद्य, संगीत, अभिनय आदि अनेक अंगों में से इस नाट्य के कितने अंग है। नाट्य का अंगीरूप से अपना विशेष स्वरूप है अथवा नाट्य अंग समुदाय मात्र है।

4. **किं प्रमाणम्** :– काव्य द्विविध होता है – 'दृश्यं श्रव्यं च यद्भवेत् ;ना. 1.11द्ध – दृश्य चाक्षुषप्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है तथा श्रव्य – श्रावणप्रत्यक्षप्रमाण से सिद्ध है। किन्तु यहाँ नाट्य यदि दृश्य और श्रव्य दोनों है तो किस प्रमाण के द्वारा इसका कौनसा रूप प्रधान अथवा अप्रधान होगा – दृश्यरूप अथवा श्रव्यरूप।

5. **प्रयोगश्चास्य कीदृशः** – चूंकि यह दृश्य और श्रव्य दोनों है, ऐसी स्थिति में इसका प्रयोग कैसे सम्भव है? क्योंकि इसके अंगों का युगपत् प्रयोग होता है तो भिन्न–भिन्न इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण होने से युगपत् संवेदन नहीं होगा फिर कैसे ज्ञात होगा कि नाट्य एक है?

   इस प्रश्न–पंचक के अनुरूप ग्रन्थ के स्वरूप का अनुमान किया जा सकता है। श्लोक में प्रयुक्त 'यथातत्त्वम्' इस बात को ध्वनित करता है कि प्रश्नकर्त्ता का अपने प्रश्नों के क्रम अथवा उसकी इयत्ता के प्रति विशेष आग्रह नहीं है। अपितु प्रश्न उपेयपरक है – अर्थात् जो प्रष्टव्य विषय पूछे गए हों अथवा न पूछे गए हो, विषयों में यदि कोई व्यतिक्रम हो तो उसे सुधारकर यथा सम्भव सकल तत्त्वों का निरूपण अपेक्षित है।

7.3.2 नाट्य का प्रयोजन एवं अधिकारी

भरतमुनि आत्रेयादि मुनियों द्वारा पूछे गए प्रश्नों में से सर्वप्रथम 'कथमुत्पन्नः', 'कस्य वा कृते' इस प्रश्न–द्वय का समाधान करते हैं। जिसमें महन्द्रादि देवों का ब्रह्मा के पास जाकर सार्ववर्णिक पंचम वेद के निर्माण की प्रार्थना का निरूपण है –

क्रीडनीयकमिच्छामो दृश्यं श्रव्यं च यद्भवेत्।
न वेदव्यवहारोऽयं संश्राव्यं शूद्रजातिषु।
तस्मात् सृजापरं वेदं पंचमं सार्ववर्णिकम्।

जब जम्बूद्वीप को देवताओं सहित दैत्य, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस एवं विकराल सर्पों ने आक्रान्त कर लिया तथा वेद निषिद्ध आचरण लोक में बलवान् हो गया तथा चारों ओर भष्टाचार, अनाचार एवं आतंक का साम्राज्य फैलने से लोक में सुख के साथ दुःख का प्रवेश हुआ तब प्राणियों के दुःखों को दूर करने के लिये इन्द्र को प्रधान बनाकर देवता ब्रह्माजी के पास गए तथा उनसे निवेदन किया कि हम क्रीड़ा (मनोरंजन) का ऐसा उपाय चाहते हैं जो दर्शनीय एवं श्रवणीय उभयविध हो क्योंकि वेदादि जो साधन उपलब्ध है वे शूद्रजाति के श्रवण एवं व्यवहार के योग्य नहीं है। अतः सभो वर्णो के व्यवहार योग्य चारों वेदों से भिन्न एक पंचम वेद का निर्माण कीजिए।

इन्द्रादि देवों की प्रार्थना को सुनकर ब्रह्मा ने योग में स्थित होकर चारों वेदों का स्मरण किया तथा नाट्य के स्वरूप–वर्णन पुरस्सर पंचम सार्ववर्णिक वेद के निर्माण की प्रतिज्ञा की।

धर्म्यमर्थ्यं यशस्यंच सोपदेश्यं ससंग्रहम्।
भविष्यतश्च लोकस्य सर्वकर्मानुदर्शकम्।।
सर्वशास्त्रार्थ सम्पन्नं सर्वशिल्पप्रदर्शकम्।
नाट्यसंज्ञमिमं वेदं सेतिहासं करोम्यहम्।।

ब्रह्मा ने कहा मैं नाट्य नामक पंचम वेद की रचना करने जा रहा हूँ जो सेतिहास अर्थात् इतिहास – पूर्वकालीन घटनाओं से युक्त है। यह धर्म्य (धर्म के अनुकूल) यशस्यं (यश को प्रदान करने वाला) सोपदेश्यं – (चतुर्वर्ग की प्राप्ति के उपायों के प्रदर्शित होने से उपदेश योग्य) ससंग्रहम् (इसमें नाना विद्याओं एवं शास्त्रों का सुन्दर संग्रह है) यह भावों तथा संसार के सभो शुभाशुभ कृत्यों का प्रदर्शक है। यह न केवल प्रधान पुरुषार्थ के ही उपाय का प्रदर्शन है अपितु सभो कला प्रधान शास्त्रों में जो नृत्य, गीत, वाद्य आदि विषय है, उनसे समन्वित है। यह सभो प्रकार की वास्तु एवं चित्रकलाओं के विविध रूपों का पथ–प्रदर्शक है।

इस प्रकार ब्रह्मा ने संकल्प करके सभो वेदों का पुनः पुनः ध्यान करके चारों वेदों के अङ्गोपाङ्ग से प्रत्युद्भ्त नाट्यवेद की रचना की।

एवं संकल्प्य भगवान् सर्ववेदाननुस्मरन्।
नाट्यवेदं ततश्चक्रे चतुर्वेदाङ्गसम्भवम्।।

चूंकि नाट्यवेद की चारों वेदों एवं उसके छः अंगों से उत्पत्ति हुई। इससे स्पष्ट है कि पाठ्यादि का ग्रहण तो वेदों से हुआ तथा भाषा, स्वर, उक्ति–वैचित्र्य आदि के लिए शिक्षा, कल्पादि वेदांगों की सहायता ली गई।

नाट्य के किस अंग में किस वेद का उपयोग हुआ, यह बता रहे हैं –

जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि।।

नाट्य में सर्वप्रथम कथावस्तु आवश्यक है। इसके लिए ऋग्वेद के उपाख्यान काम आए। संगीत तत्त्व का ग्रहण सामवेद से किया गया। यजुर्वेद में निरूपित यज्ञ–यागादि के संवादों एवं कमकाण्डों से अभिनय गृहीत हुआ। रस का अथर्ववेद से ग्रहण किया गया। इस प्रकार पाठ्य, गीत, अभिनय एवं रस इन चारों तत्त्वों को जुटाकर नाट्यवेद का स्वरूप बना। इस प्रकार ऋग्वेदादि वेदों एवं इनके उपस्कारक उपवेदों से सम्बन्धित नाट्यवेद की रचना हुई।

7.3.3 नाट्य का प्रयोग –

नाट्य की रचना करके ब्रह्मा ने इन्द्रादि देवों को इसके प्रयोग की आज्ञा दी। देवों ने इसके ग्रहण, धारण, ज्ञान एवं प्रयोग में स्वयं को अक्षम बताया तथा ऋषियों के द्वारा प्रयोग करवाने का निवेदन किया। चूंकि ऋषि वेदों के रहस्य को जानते है अतः बुद्धिमान है, कठोर तपस्यारत रहते हैं, श्रमशील है तथा किसी भो विषय के अभ्यास में प्रवीण है। अतः वे ही इस नाट्य के ग्रहण (गुरुमुख से अध्ययन), धारण (स्मरण) एवं प्रयोग (प्रदर्शन) में समर्थ हो सकते हैं।

ग्रहणे धारणे ज्ञाने प्रयोगे चास्य सत्तम।
अशक्ता भगवन् देवा अयोग्या नाट्यकमणि।।
य इमे वेदगुह्यज्ञा मुनयः संशितव्रताः।
एतेऽस्य ग्रहणे शक्ताः प्रयोगे धारणे तथा।।

देवताओं की प्रार्थना सुनकर ब्रह्मा ने मुनि भरत को अपने सौ शिष्यों सहित इस नाट्य के ग्रहण, धारण एवं प्रयोग की आज्ञा दी।

अपने शिष्यों को नाट्य का ग्रहण, धारण एवं ज्ञान कराकर प्रयोग निमित्त भरत ब्रह्मा के समक्ष उपस्थित हुए। इस नाट्य में सात्त्वती, आरभटी, एवं भारती तीन वृत्तियों का ही आश्रय लिया गया। इसे देखकर ब्रह्मा ने चतुर्थ वृत्ति कैशिकी का भो समायोजन करने का आदेश दिया। इस पर भरत ने निवेदन किया हे ब्रह्मन्! स्त्री पात्रों के बिना कैशिकी वृत्ति का संयोजन संभव नहीं है। अतः कैशिकी के अनुरूप सामग्री प्रदान कीजिए। ब्रह्मा ने जब उस सामग्री के विषय में जानना चाहा तो भरत ने भगवान् शंकर के नृत्य के अवसर पर देखे गए कैशिकी के स्वरूप का वर्णन किया –

नृत्ताङ्गहारसम्पन्ना रसभावक्रियात्मिका।
दृष्टा मया भगवतो नीलकण्ठस्य नृत्यतः।
कैशिकी श्लक्ष्णनेपथ्या श्रृङ्गाररससम्भवा।

भगवान शंकर द्वारा प्रयुक्त वह कैशिकी नृत्य के अङ्गोपाङ्ग विलास से युक्त थी जिसके क्रिया–कलाप में रस और भाव की अभिव्यक्ति हो रही थी तथा जो रङ्गमंच में सुन्दर वस्त्रों से विभ्षित एवं श्रृंगार रस से उत्पन्न प्रतीत हो रही थी। इस प्रकार की कैशिकी की योजना बिना स्त्री पात्रों के सम्भव नहीं थी। अतः भरत की प्रार्थना पर ब्रह्माजी ने कैशिकी वृत्ति के अनुरूप नाट्य में अलंकार रूप चमत्कार हेतु अभिनय कला में पारङ्गत अप्सराओं की मानसिक सृष्टि की।

वाद्य की कमी को पूरा करने के लिए स्वयम्भ ब्रह्मा ने 'स्वाति' नामक प्रसिद्ध संगीतकार को उसके शिष्यों सहित वाद्ययन्त्रों पर नियुक्त किया तथा नारद आदि गन्धर्वों को गान कम में नियुक्त किया।

तदनन्तर मुनि भरत ने समस्त प्रयोग में पारंगत अपने शिष्यों एवं अप्सराओं सहित ब्रह्मा के पास पहुँचकर नाट्य–प्रयोग के लिए आज्ञा मांगी। ब्रह्मा ने भो नाट्य प्रयोग का उचित अवसर जानकर 'इन्द्रध्वज महोत्सव' में प्रयोग की आज्ञा प्रदान की–

महानयं प्रयोगस्य समयः समुपस्थितः।
अयं ध्वजमहः श्रीमान् महेन्द्रस्य प्रवर्तते।।
अत्रेदानीमयं वेदो नाट्यसञ्ज्ञः प्रयुज्यताम्।

नाट्य प्रयोग का यह महान् समय उपस्थित हुआ है। यह इन्द्र की ध्वजपूजा का विशेष महोत्सव है। इस अवसर पर नाट्य नामक इस वेद का प्रयोग करो।

तदनन्तर देवों से व्याप्त इस इन्द्रध्वज महोत्सव में प्रयोग का शुभारम्भ हुआ। जिसमें भरत ने सर्वप्रथम आशीर्वचनों से युक्त नान्दी का पूर्व प्रयोग किया।

भरत द्वारा निर्मित यह नान्दी अष्टाङ्गपदा थी एवं वैदिक विधान के अनुसार थी। तदनन्तर दैत्यों पर देवों की विजय की अनुकृति रूप दृश्य का प्रयोग प्रारम्भ किया गया जिसमें सम्फेट (शेषयुक्त वाक्य) तथा विद्रव (पलायन) छेद्य तथा भद्य युद्ध के आह्वान का चित्रण था।

अष्टाङ्गपदसंयुक्ता विचित्रा वेदनिर्मिता।
तदन्तेऽनुकृतिर्बद्धा यथा दैत्याः सुरैर्जिताः।।
सम्फेटविद्रवकृता छेद्यभेद्याहवात्मिका।।

नाट्य के इस प्रथम प्रयोग से देवता अत्यन्त प्रसन्न हुए। प्रसन्न हुए सभो देवताओं ने नाट्य के योग्य भिन्न–भिन्न उपकरण प्रदान किए। इन्द्र ने शुभ ध्वज प्रदान किया, ब्रह्मा ने वक्रदण्ड (कुटिल) दिया, वरूण ने झारी, सूर्य ने छत्र, शिव ने सिद्धि, वायु ने व्यजन, विष्णु न सिंहासन, कुबेर ने मुकुट एवं देवी सरस्वती ने इस दृश्य नाट्य में श्रव्यत्व प्रदान किया। इसी प्रकार शेष देव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, नाग आदि ने भो अपनी–अपनी जाति के गुणों का आश्रय लेकर विविध भाव, रस एवं बल प्रदान किए।

इस दानयज्ञ में यक्ष, राक्षस एवं पन्नगों का उतना ही योग था जितना देवों एवं गन्धर्वों का। किन्तु दैत्यों ने इसमें योग नहीं किया। वस्तुतः दैत्यों पर देवों की विजय रूप इस अनुकृति को देखकर दैत्यों को अपमान एवं दुःख की अनुभ्ति हुई तथा विरूपाक्ष आदि दैत्यों ने इस प्रयोग में विभिन्न प्रकार के विघ्न उपस्थित किए। इसके परिणामस्वरूप अभिनय करने वालों की वाणी, चेष्टा एवं स्मृति स्तम्भित हो गई। सूत्रधार के कार्यों का इस प्रकार विध्वंसन देखकर इन्द्र ने योगबल से इसका कारण जान लिया। तत्पश्चात् क्रोध में इन्द्र ने ध्वज को अपने हाथ में उठा लिया, क्रोध से उनका चेहरा तमतमा उठा तथा इन्द्र ने रंगमंच पर पहुँचे विघ्नों को तथा उनके प्रेरक असुरों को उस ध्वज से जर्जरित कर दिया। इससे प्रसन्न होकर समस्त देवताओं ने समवेत स्वर में कहा –

अहो प्रहरणं दिव्यमिदमासादितं त्वया।
नाट्यविध्वंसिनः सर्वे येन ते जर्जरीकृताः।

अर्थात् हे इन्द्र! आपको यह अनुपम शस्त्र प्राप्त हो गया है जिसके प्रयोग से समस्त विघ्नों को जर्जरित ;जीर्ण–शीर्णद्ध कर दिया। चूंकि इसके प्रयोग से आपने समस्त विघ्नों को असुरों सहित जर्जरित कर दिया। अतः इसका नाम 'जर्जर' ही होगा तथा यह भो नाट्य का अङ्ग होगा। भविष्य में शेष हिंसक विघ्न इसे देखकर ही जर्जरित हो जाएंगे –

यस्मादनेन ते विघ्नाः सासुराः जर्जरीकृताः।
तस्माज्जर्जर इत्येवं नामतोऽयं भविष्यति।।

तब इन्द्र ने उन देवताओं को सम्बोधित करके कहा – 'ठीक है, ऐसा ही हो'। निस्संदेह यह जर्जर सबकी रक्षा का साधन होगा।

तत्पश्चात् इन्द्रध्वज महोत्सव में पुनः प्रयोग प्रारम्भ करने पर शेष विघ्नों ने अभिनेताओं में त्रास उत्पन्न किया। इन असुरों एवं विघ्नों की कुचेष्टाओं को देखकर समस्त देवताओं ने ब्रह्माजी के पास जाकर निवेदन किया "हे भगवन्! ये विघ्न इस नाट्य के विनाश हेतु कृतसंकल्प है, आप इसकी रक्षा का प्रयत्न कीजिए।

तदनन्तर ब्रह्मा ने विश्वकर्मा को सर्वलक्षणसम्पन्न नाट्यगृह बनाने की आज्ञा दी। ब्रह्मा की आज्ञानुरूप नाट्यगृह का निर्माण कर विश्वकर्मा ने उस नाट्यगृह को देखने की प्रार्थना की।

ब्रह्मा ने समस्त देवों सहित नाट्यगृह का अवलोकन कर उसकी रक्षा का दायित्व देवों को सौंपा।

चन्द्रमा को नाट्यगृह के मण्डप की रक्षा का भार दिया गया। चारों दिशाओं में चारो दिग्पाल, विदिशाओं की रक्षणार्थ मरूतों को, नेपथ्यभ्मि का मित्र व आकाश की रक्षार्थ वरूण को नियुक्त किया। इसी प्रकार वेदिका की रक्षा में अग्नि, वाद्ययन्त्रों की रक्षार्थ सकल देव, स्तम्भों की रक्षार्थ चारों वर्ण, स्तम्भों के मध्यवर्ती प्रदेश की रक्षार्थ द्वादश आदित्य एवं एकादश रुद्र नियुक्त किए गए। धारणियों में पंचमहाभ्तों के अधिष्ठातृ देव तथा शालाओं में अप्सराओं, समस्त गृहों में यक्षिणियों, महीतल पर समुद्र के अधिष्ठाता देव तथा द्वारशाला पर साक्षात् यम एवं काल नियुक्त किए गए।

नियति एवं मृत्यु द्वारपाल के रूप में नियुक्त किये गए। मत्तवारणी में दैत्यों की विनाशिनी विद्युत् रखी गई। इसके स्तम्भों की रक्षा के लिये भ्त, यक्ष, पिशाच एवं गुह्यक नियुक्त किये गए।

जर्जर में दैत्यों के विनाशक वज्र को स्थापित किया गया तथा उसके पर्वों की रक्षार्थ दिव्य तेज वाले विभिन्न देवों को नियुक्त किया गया –

शिरः पर्व में ब्रह्मा, द्वितीय में शंकर, तृतीय में विष्णु, चतुर्थ में कार्तिकेय, पंचम में शेष, तक्षक, वासुकि नियुक्त किए गए।

रंगपीठ के मध्य स्वयं ब्रह्मा अधिष्ठित हुए इसीलिए नाट्यारम्भ में इष्ट प्राप्ति हेतु रंगमंच के मध्य भाग में पुष्पमोक्ष किया जाता है।

पातालवासी यक्ष, गुह्यक एवं सर्प रंगपीठ के अधोभाग की रक्षा में नियुक्त किए गए।

नायक की रक्षा स्वयं इन्द्र करते हैं, नायिका की सरस्वती एवं विदूषक की रक्षार्थ शंकर को नियुक्त किया गया।

जिस देवता को नाट्यगृह के जिस स्थल की रक्षा हेतु नियुक्त किया गया तत् तत् स्थल के वही अधिष्ठातृ देव हुए।

तत्पश्चात् सभो देवों ने पितामह से सामपूर्वक समस्त विघ्नों को रोकने की प्रार्थना की। क्योंकि नीतिशास्त्र के अनुसार सर्वप्रथम साम (मधुर एवं प्रेमपूर्णवचनों) का ही प्रयोग करना चाहिए। इसमें सफलता न मिलने पर दान (प्रलोभन आदि उपायों) का प्रयोग करना चाहिए। इससे भो यदि शान्ति न मिले तो भद तदनन्तर दण्ड का प्रयोग करना चाहिए–

पूर्वं साम प्रयोक्तव्यं द्वितीयं दानमेव च।
तयोरूपरि भेदस्तु ततो दण्डः प्रयुज्यते।।

देवों के वचन सुनकर ब्रह्मा ने विघ्नों को बुलाकर प्रेमपूर्वक उनसे नाट्य प्रयोग को नष्ट करने का कारण पूछा।

ब्रह्मा के ऐसा पूछने पर दैत्यों एवं विघ्नों सहित विरूपाक्ष ने मन के दुःख का कारण बताया –

हे भगवन्! देवों की प्रार्थना सुनकर आपने जो नाट्यवेद बनाया यह दैत्यों का साक्षात् तिरस्कार है इसमें दैत्यों पर देवों की विजय है। अतः यह केवल देवों के लिए ही है। देवता

व दैत्य दोनो ही आपसे प्रसूत है। अतः आपको इस प्रकार का भद नहीं करना चाहिए। विघ्नों के वचनों को सुनकर ब्रह्मा ने नाट्य के महत्त्व को प्रतिपादित किया।

7.3.4 नाट्य का महत्त्व

विरूपाक्ष के मुँह से विघ्नों का पक्ष सुनकर ब्रह्मा ने उन्हें शान्त करते हुए कहा –

भवतां देवानां च शुभाशुभविकल्पकः।
कमभावान्वयपेक्षी नाट्यवेदो मया कृतः।।

मैंने आपके एवं देवों के सकल शुभ एवं अशुभ कर्मों के शुभाशुभ फल के द्योतक, धर्म–अधर्म आदि कम–भाव–वर्ण–कुल आदि के सहकारी रूप में निरूपण करने वाले नाट्यवेद की रचना की है।

इस नाट्यवेद में न तो केवल देवों के एवं न ही केवल दैत्यों के भावों का ही अनुभावन (कल्पना द्वारा अनुकरण) है अपितु तीनो लोकों के सकल भावों का अनुकीर्तन इस नाट्य में हुआ है –

नैकान्ततोऽत्र भवतां देवानां चानुभावनम्।
त्रैलोक्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तनम्।।

इस नाट्य में कहीं धर्म, कही क्रीड़ा, कहीं अर्थ, कहीं श्रम, कहीं हास्य, कहीं युद्ध, कहीं काम, कहीं वध है तो कहीं धर्मप्रवृत्त जनों का धर्म, कामसेवी जनों का काम है, दुर्विनीतों का दण्ड है तो विनीतजनों के दम (आत्मसंयम) का चित्रण है, नपुसंकों की धृष्टता, शूराभिमानियों के उत्साह का चित्रण है। कहीं अज्ञानियों के बोध का तो कहीं विद्वानों की विद्वत्ता का चित्रण हैं। कहीं राजाओं के विलास का तो कहीं दुःखी एवं पीड़ित जनों के धैर्य का उपाय है, नाट्य का अर्थ के रूप में आश्रय लेने वालों के लिए यह अर्थप्राप्ति का साधन है तथा उद्विग्न चित्त जनों के लिए धैर्य का साधन है।

नानाभावोपसम्पन्नं नानावस्थान्तरात्मकम्।
लोकवृत्तानुकारणं नाट्यमेतन्मयाकृतम्।।

ब्रह्माजी ने दैत्यों को समझाते हुए कहा कि यह नाट्य जो मेरे द्वारा रचा गया – यह विविध प्रकार के भावों से समन्वित है, इसमें अनुकार्यों की सुखदुःखादि विविध–अवस्थाओं का वर्णन है तथा सामान्य जनों के जीवन का भो अनुकरण है।

यह नाट्य दुःख से पीड़ित, श्रम से क्लान्त, शोकाकुल निरीह जनों के लिए विश्रान्तिजनक होगा अर्थात् उनके दुःख, शोक व श्रम को दूर करेगा। धर्म, यश, आयुष्य एवं लोककल्याण परक उपदेश वाला तथा ज्ञानवर्धक होगा।

विश्व में ऐसा कोई भो ज्ञान, शिल्प, विद्या, कला, योग एवं कम नहीं है जिसका उपयोग नाट्य में न होता हो क्योंकि यह सातों द्वीपों का अनुकरण है इसलिये आपको देवों के प्रति क्रोध नहीं करना चाहिए–

तन्नात्र मन्युः कतव्यो भवद्भिरमरान्प्रति।
सप्तद्वीपानुकरणं नाट्यमेतद् भविष्यति।।

यह नाट्य देवों, असुरों, राजाओं, गृहस्थजनों, ब्रह्मर्षियों के वृत्तान्त को प्रदर्षित करने वाला होगा। इसमें वेदों, स्मृतियों, महात्माओं के आचरण का वर्णन होगा।

वस्तुतः संसार का जो सुख दुःख मिश्रित स्वभाव है। वही आङ्गिक, वाचिक, सात्त्विक एवं आहार्य नामक चतुर्विध अभिनयों द्वारा रंगमंच पर प्रदर्शन होता है, वही नाट्य कहलाता है –

योऽयं स्वभावो लोकस्य सुखदुःखसमन्वितः।
सोऽङ्गाद्यभिनयोपेतो नाट्यमित्यभिधीयते।।

नाट्य के महत्त्व का इस प्रकार प्रतिपादन कर ब्रह्माजी ने नाट्यमण्डप में विधिवत् यज्ञ करने का निर्देश दिया। यह यज्ञानुष्ठान बलिप्रदान, मंत्र एवं औषधि से समन्वित हवनों द्वारा सम्पन्न होना चाहिए। देवों को भो कभो भो रंग की पूजा किए बिना नाट्य का प्रारम्भ नहीं करना चाहिए।

रंगपूजन के अभाव में उत्पन्न दोष इस प्रकार है –

1. यदि मृत्युलोक में कोई रंग की पूजा किये बिना नाट्य का अभिनय करेगा तो उसका नाट्य विषयक वह ज्ञान निष्फल होगा और वह मरकर तिर्यक् योनि में उत्पन्न होगा। अतः रंग पूजा पूर्ण भक्ति एवं शक्ति से आवश्यक है।
2. यदि कोई अभिनेता या नाट्य का संरक्षक कोई धनपति नाट्यारम्भ के पूर्व रंग की पूजा न तो स्वयं करेगा व न ही दूसरों से करवायेगा वह अवनति को प्राप्त होगा।
3. जो नर्तक या अर्थपति रंग पूजा करवायेगा वह सकल शुभ अर्थों एवं स्वर्गलोक को प्राप्त करेगा। इसलिये यथा विधि रंग पूजा अत्यावश्यक है।

न केवल मृत्यु लोक में अपितु देवों के लिये भो रंग पूजन आवश्यक माना गया।

7.4 पारिभाषिक शब्दावली

नाट्यशास्त्र – नाट्यस्य नटवृत्तस्य शास्त्रं शासनोपायः ग्रन्थः। नाट्य अर्थात् नट के वृत्त का शास्त्र नाट्यशास्त्र।

वृत्ति – वे सामान्य चेष्टाएँ जो साध्यस्वरूप धर्म–अर्थ–काम–मोक्ष, इन चार पुरुषार्थों की साधन स्वरूपा है। ये चेष्टाएँ वाचिक आंगिक एवं सत्त्वप्रधान होती है।

भारती – यह वृत्ति वाणी से सम्बद्ध है।

सात्त्वती – सत्त्व मन को कहते हैं, सत् संवेदन होता है, सत्त्वरूपा इयं सात्त्वती – सत्त्व (मनोव्यापार) से सम्बद्ध सात्त्वती है।

आरभटी – 'इयर्ति इत्यरा भटाः' अराणां भटानाम् इयम् आरभटी। जो आलस्य रहित एवं उत्साहशील है, उनकी वृत्ति आरभटी ;अरभट–उत्साहद्ध कहलाती है इसमें आङ्गिक अभिनय की प्रधानता है।

कैशिकी – केश कुछ अन्य कार्य न करते हुए भी शरीर की शोभाधायक होते हैं। इसी प्रकार नृत्य–गीतादि विलास नाट्य के शोभाधायक हैं। इस प्रकार सौन्दर्योपयोगी व्यापार ही कैशिकी (केश शब्द से व्युत्पन्न होकर) है।

ध्वजमहः – 'ध्वजस्येन्द्रार्थस्य महनं पूजनं यत्र सः' इन्द्र के निमित्त स्थापित ध्वज का महःपूजन जिसमें किया जाता है।

नान्दी– आशीर्वचनसंयुक्ता स्तुतिर्यस्मात् प्रयुज्यते
देवद्विजनृपादीनां तस्मान्नान्दीति संज्ञिता।

चूंकि मंगल विधान के लिए देव, द्विज, नृपादि के आशीर्वचनों से युक्त स्तुति की जाती है इसलिए नान्दी संज्ञा है। नन्दन्ति काव्यानि कवीन्द्रवर्गाः कुशीलवाः परिषदाश्च सन्तः।

पाठ्य – यह शब्द 'पठ व्यक्तायां वाचि' क्रिया से व्युत्पन्न है। पाठ्य नाट्य का शरीर माना गया है – 'नाट्यस्यैषा तनुः स्मृता'। ऋग्वेद के उपाख्यान एवं स्वर नाट्य के कथानक एवं काकु आदि स्वरसन्धान के लिए अन्यतम रूप से उपादेय है।

गीत – गीत का स्थान भी नाट्य में पाठ्य के तुल्य ही है। गीतं प्राणाः प्रयोगस्य – उपरंजक होने से पाठ्य के पश्चात् गीत का अभिधान हुआ। ऋषिगण यज्ञादि के समय सामगान करते थे – अतः सामवेद से गीत तत्त्व का ग्रहण हुआ।

अभिनय – अभिनय चार प्रकार के होते हैं – आंङ्गिक, वाचिक, सात्त्विक एवं आहार्य। वाचिक अभिनय पात्रों के सम्वाद में होता है। आङ्गिक अभिनय में शारीरिक अंगों के उत्क्षेपणावक्षेपणादि होते हैं। मूर्च्छा, निद्रा आदि भावों के अभिनय को 'सात्त्विक' तथा नेपथ्यविधि को आहार्य अभिनय कहते हैं।

रस – विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्ति : – विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी भावों के संयोग से रसनिष्पत्ति होती है। नाट्य के आठ रस है – श्रृंगार, हास्य, करूण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स एवं अद्भुत। अथर्ववेद में शान्ति, मारण आदि कर्मों का विधान है। ऋत्विक यज्ञों में तत्तद् भावों को जागृत करने का उपाय करते हैं। अतः अथर्ववेद से रस का संग्रह किया गया।

अनुकृति – अवस्थानुकृतिर्नाट्यम् – धीरोदात्तादि अवस्थाओं का चतुर्विध अभिनय से तादात्म्यापत्ति अनुकृति (अनुकरण) कहलाती है।

सम्फेट – रोषपूर्ण वाक्यों को सम्फेट कहते हैं।
विद्रव – राजा या अग्नि के भय से पलायन।
जर्जर – इन्द्र के द्वारा दैत्यों को जर्जरित करने में प्रयुक्त ध्वजदण्ड। असुरों को जर्जरित करने से ही जर्जर नाम।
विकल्प – शुभाशुभविकल्पकः – अर्थात् शुभ एवं अशुभ कर्मो का काल्पनिक चित्रण करने वाला।
कमभावान्वयापेक्षी – यह भी नाट्य का विशेषण है – इसमें ;नाट्यद्ध विविध कम एवं उनके फलों का साक्षात् उपदेश नहीं है, अपितु सामाजिकों ;सहृदयजनोंद्ध को कम, भाव एवं उनके फलों की संगति स्वयं करनी होगी।
भावानुकीर्तन – नाट्य भावों ;रत्यादि स्थायी भावोंद्ध का चतुर्विध अभिनय से अनुकीर्तन है।
ज्ञान – से तात्पर्य आत्मज्ञानादि से है।
शिल्प – माला, चित्र या पुस्त के योजन को शिल्प कहते है।
विद्या – दण्डनीति आदि चतुर्दश विद्याएँ
कला – गीत, वाद्यादि का ज्ञान
योग – ज्ञान, शिल्प कलादि के अपने या एक दूसरे के भेदों के योजन को योग कहते हैं।

7.5 अभ्यासार्थ प्रश्न

बोधप्रश्न

1. मूल रूप से नाट्य की रचना किसने की?
   (अ) भरत (ब) ब्रह्मा
   (स) इन्द्र (द) शंकर
2. 'नाट्यशास्त्र' के आदि प्रणेता है?
   (अ) भरत (ब) इन्द्र
   (स) अत्रि (द) भट्टतौत
3. पाठ्य का ग्रहण किस वेद से किया गया?
   (अ) साम (ब) यजु
   (स) ऋक् (द) अथर्व
4. नाट्यरसों की संख्या है ?
   (अ) आठ (ब) नौ
   (स) दस (द) ग्यारह
5. भारती वृत्ति का सम्बन्ध है
   (अ) वाणी (ब) वेशभूशा
   (स) मन (द) शरीर
6. विद्रव से तात्पर्य है?
   (अ) भय (ब) पलायन
   (स) क्रोध (द) द्वेष
7. दैत्यों का अग्रणी कौन बना?
   (अ) विरूपाक्ष (ब) इन्द्र
   (स) ब्रह्मा (द) शंकर
8. अनुकृति का अर्थ है?
   (अ) स्वीकृति (ब) चित्र
   (स) नकल (द) तादात्म्यापत्ति
9. नाट्य का प्रयोजन लिखिए।
10. कैशिकी वृत्ति से क्या तात्पर्य है?
11. चतुर्विध अभिनय कौनसे है?
12. 'जर्जर' पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

बोध प्रश्नों के उत्तर

1. (ब)

2. (अ)
3. (स)
4. (अ)
5. (अ)
6. (ब)
7. (अ)
8. (द)
9. देखिये इकाई 7.3.2
10. देखिये इकाई 7.2.2
11. देखिये इकाई 7.5
12. देखिये इकाई 7.3.3

7.6 सारांश

प्रस्तुत इकाई में आपने पढ़ा की नाट्य के विलास के विन्यास क्रम को वृत्ति कहते हैं। भारती, सात्त्वती आरभटी एवं कैशिकी ये चार नाट्यवृत्तियाँ है। ब्रह्मा द्वारा रचित एवं निरूपित नाट्य का स्वरूप ही मुनि भरत के नाट्यशास्त्र के रूप में हमारे समक्ष प्रस्तुत है। ब्रह्मा ने चारों वेद एवं वेदांगो से तत्त्वों को ग्रहण कर नाट्य की रचना की। नाट्य का प्रथम प्रयोग भरत एवं उनके शिष्यों द्वारा इन्द्रध्वज महोत्सव में किया गया। दैत्यों के विघ्न उपस्थित करने पर इन्द्र ने 'जर्जर' के द्वारा उन्हें जर्जरित कर दिया। सकल त्रिलोकी के सम्पूर्ण सुखदुःखादि शुभाशुभकर्मों, भावों का चतुर्विध अभिनय से अनुकरण ही नाट्य है। संसार में ऐसा कोई शिल्प, कला, योग, ज्ञान व विद्या नहीं है जो इस नाट्य में दिखाई नहीं देती हो। ब्रह्मा के आदेश पर विश्वकर्मा ने पहले नाट्यगृह का निर्माण किया, विधिवत् पूजन किए बिना नाट्यगृह में प्रवेश नहीं करना चाहिए।

7.7 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. संस्कृत साहित्य का इतिहास – बलदेव उपाध्याय – शारदा संस्थान, वाराणसी,1985.
2. नाट्य समीक्षा – दशरथ ओझा, पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली, 1984.
3. नाट्यशास्त्र की भारतीय परम्परा एवं दशरूपक (छठा संस्करण), हजारी प्रसाद द्विवेदी एवं पृथ्वीनाथ द्विवेदी,राजकमल प्रकाशन, 2013.
4. संस्कृत नाटक–उद्भव एवं विकास – उदयभानु सिंह – मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली,2012.
5. नाट्यशास्त्रम् (हिन्दी व्याख्या सहित) – प्रो. ब्रजमोहन चतुर्वेदी, विद्यानिधि प्रकाशन, दिल्ली 2001.
6. नाट्यशास्त्रम् (अभिनवभारती संस्कृत टीका एवं 'तात्पर्यदीपिका' हिन्दी व्याख्या सहित) – पं. जयनाथशास्त्री तैलंग, भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली, वाराणसी 1992.
7. नाट्यशास्त्रम् (प्रदीप हिन्दी व्याख्या) – श्री बाबूलाल शुक्ल, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी 1959.

इकाई–8

नाट्यशास्त्र – नाट्यमण्डप

इकाई की रूपरेखा

8.0 उद्देश्य

8.1 प्रस्तावना

8.2 नाट्यमण्डप

  8.2.1 नाट्यमण्डप का माप

  8.2.2 प्राचीनकाल में माप के क्रम

  8.2.3 विप्रकृष्ट नाट्यमण्डप

    8.2.3.1 भूमि परीक्षण, शोधन एवं विभाग

    8.2.3.2 स्तम्भ स्थापना

    8.2.3.3 मत्तवारणी

    8.2.3.4 रङ्गपीठ एवं रङ्गशीर्ष

8.3 चतुरस्र नाट्यमण्डप

8.4 त्र्यस्र नाट्यमण्डप

8.5 पारिभाषिक शब्दावली

8.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

8.7 सारांश

8.8 संदर्भ ग्रंथ सूची

8.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई पढ़ने के बाद आप –

- नाट्यमण्डप के लक्षण एवं उसके भदों के बारे में जान सकेंगे।
- नाट्यमण्डप के निर्माण हेतु भूमि–परीक्षा, भूमि शोधन, भूमि प्रमाण, पूजन, निवेशन आदि की विधिवत् जानकारी ले सकेंगे।
- नाट्यमण्डप के विभिन्न भाग–मत्तवारणी, रंगपीठ, रंगशीर्ष, स्तम्भ–स्थापना आदि का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।

8.1 प्रस्तावना

पिछली इकाई में आपने नाट्य के स्वरूप, प्रयोजन एवं महत्त्व के विषय में पढ़ा। इस इकाई में आप नाट्यमण्डप के निर्माण हेतु भूमि–परीक्षण, भूमि–शोधन आदि विभिन्न उपायों का विस्तार से अध्ययन करेंगे तथा नाट्य–मण्डप के माप एवं निर्माण विधि का शास्त्रोक्त विधि से विस्तृत अध्ययन करेंगे। भूमि परीक्षण, शोधन एवं माप में विशेष सावधानी की आवश्यकता है। साथ ही इस इकाई में नाट्य मण्डप के विविध प्रकारों का विस्तार से वर्णन करेंगे। नाट्य मण्डप निर्माण के समय की जाने वाली शास्त्रोक्त मंगल विधि का अध्ययन करेंगे।

8.2 नाट्यमण्डप

ब्रह्मा के आदेश पर विश्वकर्मा ने नाट्यमण्डप का निर्माण किया। तदनन्तर नाट्यमण्डप का विधिपूर्वक पूजन किया। इस विषय को सुनकर आत्रेयादि मुनियों ने भरत से नाट्यमण्डप का लक्षण एवं पूजन विधि के विषय में जानना चाहा। देवों के तो गृह, उपवन आदि की मानसी सृष्टि होती है। किन्तु मनुष्यों को अत्यन्त सावधानीपूर्वक मण्डप का निर्माण एवं पूजन करना चाहिए। बुद्धिमान् विश्वकर्मा ने वास्तुशास्त्र के अनुसार तीन प्रकार के

नाट्यमण्डप की रचना का विधान किया – आयताकार (विकृष्ट), वर्गाकार (चतुरस्र) एवं त्रिभजाकार (त्र्यस्र)।

1. **विकृष्ट** – शब्द की व्याख्या है 'विभागेन कृष्टः दीर्घः इति विकृष्टः' अर्थात् लम्बाई चौड़ाई की दोनों दिशाओं में जो अलग–अलग (विभागेन) खींचा गया (कृष्टः) हो अर्थात् चौड़ाई की अपेक्षा जिसकी लम्बाई अधिक हो, वह विकृष्ट है।
2. **चतुरस्र** – 'चतुस्रसु दिक्षु साम्येन इति चतुरस्रः' अर्थात् जिसकी लम्बाई चौड़ाई चारों दिशाओं में समान हो या जिसकी चारों भजाएँ समान हो ऐसा वर्गाकार क्षेत्र वाला प्रकार चतुरस्र कहलाएगा।
3. **त्र्यस्र** – 'तिस्रो अश्रयः त्र्यश्री तदस्मिन्निति त्र्यश्रः' अर्थात् जिसमें तीन कोण हो वह त्र्यश्री और त्र्यश्र जिसका प्रकार हो वह त्र्यस्र कहलाता है।

8.2.1 नाट्यमण्डप का माप

इन तीनों ही नाट्यमण्डप के माप भो तीन प्रकार के है –

प्रमाणमेषां निर्दिष्टं हस्तदण्डसमाश्रयम्।
शतं चाष्टौ चतुःषष्टिर्हस्ता द्वाविंशदेव च।।

एक सौ आठ, चौसठ एवं बत्तीस हाथ उनका माप है। उपर्युक्त तीनों – विकृष्ट, चतुरस्र, त्र्यस्र नाट्यमण्डप ज्येष्ठ, मध्यम एवं कनिष्ठ कहे गए है। इस प्रकार आकार की दृष्टि से नाट्यमण्डप नौ प्रकार के होते हैं।

कुछ व्याख्याकारों ने नाट्यमण्डप के इन उभयविध प्रकारों को एक ही माना है अर्थात् ज्येष्ठ को विकृष्ट, चतुरस्र को मध्यम एवं त्र्यस्र को कनिष्ठ माना है।

अभिनवगुप्त (नाट्यशास्त्र के टीकाकार) ने नाट्यमण्डप के पूर्वोक्त नौ भदों को स्वीकार किया।

इन नाट्यमण्डपों की माप भो दो प्रकार की बताई गई है –

1. हस्तप्रमाण 2. दण्डप्रमाण। इस प्रकार द्विविध माप के कारण नौ प्रकार के नाट्यमण्डप 18 प्रकार के हो जाते हैं।

8.2.2 प्राचीनकाल में माप के क्रम

अणु, रज, बाल, लिक्षा, यूका, यव, अंङ्गुल, हस्त एवं दण्ड माप के आठ क्रम है।

अणु रजश्च बालश्च लिक्षा यूका यवस्तथा।
अङ्गुलं च तथा हस्तो दण्डश्चैव प्रकीर्तितः।।

माप का यह अष्टाविध क्रम इस प्रकार है –

1. आठ अणुओं के बराबर एक रजः (धूलि–कण)
2. आठ रजः के बराबर एक बाल
3. आठ बाल के बराबर एक लिक्षा (लीख)
4. आठ लिक्षा के बराबर एक यूका (जूँ)
5. आठ यूका के बराबर एक यव
6. अष्ट यव के बराबर एक अङ्गुल
7. चौबीस अंङ्गुल के बराबर एक हस्त
8. चार हस्त के बराबर एक दण्ड

8.2.3 विप्रकृष्ट नाट्यमण्डप

मृत्युलोक के लिए नाट्यमण्डप की लम्बाई 64 हाथ एवं चौड़ाई 32 हाथ की प्रशस्त मानी गई है। यह माप विप्रकृष्ट मध्यम नाट्यमण्डप का माना गया है। मनुष्यलोक में यही माप उत्कृष्ट है, इससे बड़ा नाट्यमण्डप होने पर नाट्य के भाव अव्यक्त रह जाते हैं। ज्यष्ठ

विप्रकृष्ट मण्डप में ऊँचे स्वर से पाठ का उच्चारण करना पड़ता है। मण्डप बड़ा होने से उच्चरित ध्वनि शीघ्र बाहर नहीं निकल पाती जिसके कारण अनुरणन (गूँज) होने से स्वर विकृत होकर प्रतीत होता है। साथ ही समीप में बैठे लोगों को स्वर अधिक तेज सुनाई देता है। इसी प्रकार नाटयमण्डप कनिष्ठ होने पर भो स्वर अधिक तेज सुनाई देने से वैस्वर्य उत्पन्न होता है, किन्तु मध्यम नाट्यमण्डप इन दृष्टियों से उपयुक्त रहता है तथा वहाँ जितना भो पाठ्य और संगीत होता है वह आसानी से सुनाई देता है।

देवों की उपगृह–उपवन आदि में मानसी सृष्टि होती है तथा उनके चरित्र अलौकिक होते हैं। अतः अलौकिक चरित्र के अभिनय के लिये देवगण ज्येष्ठ–विप्रकृष्ट या इच्छानुसार किसी भो माप के नाट्यगृह का निर्माण कर सकते हैं। अतः देवों के कर्मों एवं भावों के साथ मनुष्यों को स्पर्धा नहीं करनी चाहिए।

8.2.3.1 भूमि परीक्षण, शोधन एवं विभाग

नाट्यमण्डप निर्माण हेतु भ्मि भाग की हेयोपादेय बुद्धि से परीक्षा करनी चाहिए तत्पश्चात् वस्तुशास्त्र के अनुसार कार्य प्रारम्भ करना चाहिए।

नाट्यमण्डप निर्माण के लिये उपयुक्त भ्मि भरत ने इस प्रकार बताई है –

समा स्थिरा तु कठिना कृष्णा गौरी च या भवेत्।
भूमिस्तत्रैव कत्तव्यः कर्त्तृभिनाट्यमण्डपः।।

जो भ्मि सम हो (नतोन्नत न हो), कठोर हो तथा जिसकी मिट्टी काली या पीली हो उसे नाट्यमण्डप के लिये चुनना चाहिए।

भूमि शोधन –

भ्मि का चयन करके सर्वप्रथम उसका शोधन करके हल से भ्मि का कषण करें तथा अस्थि, कील, कपाल, तृण–गुल्म (तिनके एवं झाड़ियों की जड़ों) आदि का शोधन करें तत्पश्चात् भ्मि का माप करना चाहिए।

सौम्य (मृगशिरा), तीनो उत्तरा (उत्तराषाढ़ा, उत्तराफाल्गुनी, उत्तराभाद्रपद), विशाखा, हस्त, तिष्य, अनुराधा, नक्षत्र नाट्यकम में प्रशस्त माने गए हैं –

सर्वप्रथम भ्मि को नापने के लिये पुष्य नक्षत्र में श्वेत सूत्र (डोरी) फैलाएें। यह सूत्र कपास, बल्व, मूंज या सन का बनाना चाहिए ताकि मजबूत बनें व नापने में टूटे नहीं।

सूत्र से नाप लेते समय अत्यन्त सावधानी आवश्यक है क्योंकि–

- सूत्र यदि बीच में से टूट जाए तो नाट्यमण्डप के स्वामी की मृत्यु निश्चित है।
- सूत्र का तीसरा भाग टूट जाए तो राष्ट्रकोप होता है।
- चौथा भाग टूटने पर प्रयोगकर्त्ताओं ;अभिनेताओंद्ध का नाश होता है।
- नापते समय यदि सूत्र हाथ से छूटकर गिर जाए तो भो कोई न कोई अनिष्ट अवश्य होता है।

अतः रज्जुग्रहण ;सूत्रग्रहणद्ध अत्यन्त सावधानीपूर्वक करना चाहिए।

सूत्र प्रसार करने से पूर्व अनुकूल मुहूर्त, तिथि एवं शुभकरण का अवश्य विचार करना चाहिए। ब्राह्मणों को ;भोजन–दक्षिणा द्वाराद्ध तृप्त करके, पुण्याह–वाचन करवाना चाहिए तदनन्तर शान्तिजल छिड़ककर जमीन पर माप–सूत्र फैलाना चाहिए।

चतुष्षष्टिकरान् कृत्वा द्विधा कुर्यात् पुनश्च तान्।
पृष्ठतो यो भवेद्भागो द्विधाभ्तस्य तस्य तु।।
सममर्धविभागेन रङ्गशीर्षं प्रकल्पयेत्।।
पश्चिमे च विभागेऽथ नेपथ्यगृहमादिशेत्।
विभज्य भागान् विधिवद्यथावदनुपूर्वशः।।

पहले रस्सी को 64 हाथ नाप लेनी चाहिए तदनन्तर उसे दोहरी कर लेना चाहिए। उस रस्सी को दोहरी करने पर जो दो भाग हुए उनमें पिछला भाग हो उसके सामने के भाग में रंगशीर्ष की कल्पना करनी चाहिए।

इस रङ्गशीर्ष के पीछे वाले 8 द 32 भाग में नेपथ्यगृह बनाना चाहिए।

इस प्रकार यह सम्पूर्ण विभाग विधि हस्तप्रमाण विप्रकृष्ट मध्यम नाट्यमण्डप की कही गई है। मनुष्यों के लिए यही माप उत्कृष्ट माना गया है।

सर्वप्रथम 64 हाथ लम्बाई एवं 32 हाथ चौड़ाई का भ्मि का माप करलें। अब लम्बाई को पुनः दो भागों में बांट लें। पिछले आधे भाग को पुनः दो भागों में 16 द 32, 16 द 32 विभाग करें अन्तिम 16 हाथ वाले भाग का पुनः 8 द 32 हाथ का विभाग करें। इनमें पिछला 8 द 32 का भाग नेपथ्यगृह एवं उससे अगला 8 द 32 का भाग रंगशीर्ष कहलाता है। जैसा कि नक्शे में दिखाया गया है। नेपथ्य का भाग पात्रों की साजसज्जा और विश्राम के काम आता है।

नाट्यमण्डप निवेशन (नींव का कार्य)

नापने का कार्य पूरा होने के पश्चात् शुभ नक्षत्र एवं योग में नींव डालने का कार्य करना चाहिए।

शुभे नक्षत्रयोगे च मण्डपस्य निवेशनम्।
शङ्खदुन्दुभिर्निर्घोषैर्मृदङ्गपणवादिभिः।।
सर्वातोद्यैः प्रणुदितैः स्थापनं कार्यमेव तु।

मण्डप के स्थापन का कार्य शंख, दुन्दुभि, नगाड़े, मृदंग, पणव आदि सकल वाद्ययन्त्रों की मनोहर ध्वनि के साथ शुभ नक्षत्र एवं योग में करना चाहिये।

उत्सार्याणि त्वनिष्टानि पाषण्ड्याश्रमिणस्तथा।
काषायवसनाश्चैव विकलाश्चैव ये नराः।।

नींव रखने का कार्य करते समय अमङ्गल सूचक चिन्हों को हटा देना चाहिए। इसी प्रकार पाखण्डी, आश्रमवासी, गेरुआ वस्त्रधारी तथा विकलांगों को भो हटा देना चाहिए।

रात्रि के समय दसों दिशाओं के अधिष्ठाता देवों के अनुरूप तत्तद् दिशा में गन्ध, पुष्प फल से युक्त बलि कार्य मन्त्रपूर्वक सम्पन्न करना चाहिए।

1. पूर्व दिशा में शुक्ल अन्न से
2. दक्षिण दिशा में नीले अन्न से
3. पश्चिम दिशा में पीले अन्न से
4. उत्तर दिशा में लाल अन्न से

पुष्प वस्त्र आदि भो तदनरूप वर्ण के होने चाहिए। इस प्रकार दसों दिशाओं में मन्त्रपूर्वक बलिकार्य सम्पन्न करके ब्राह्मणों को घृतसमन्वित खीर, राजा को मधुपर्क तथा कारीगरों को गुड़मिश्रित चावल खिलाना चाहिए।

इस प्रकार मङ्गलोपचारपूर्वक निवेशन का कार्य सम्पन्न करके भित्तिकम (दीवार उठाने का कार्य) प्रारम्भ करना चाहिए। इस प्रकार माप, निवेशन (स्थापना, नींव रखना) एवं भित्ति कम के पश्चात् स्तम्भ स्थापना का कार्य प्रारम्भ करना चाहिए।

8.2.3.2 स्तम्भ स्थापना

नाट्यगृह में स्थापना का कार्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना गया है। अतः शुभ तिथि, नक्षत्र, योग एवं शुभकरण का विचार कर रोहिणी या श्रवण नक्षत्र में स्तम्भों का स्थापन कार्य करना चाहिए। तीन रात्रि तक उपवास करने वाले संयमित आचार्य के द्वारा मङ्गलमय सूर्योदय काल (प्रातःकाल) में स्तम्भों की स्थापना करवानी चाहिए।

स्तम्भों की स्थापना के समय ब्राह्मणों द्वारा स्वस्ति एवं पुण्याहवाचन तथा सबके द्वारा 'जय' घोष किया जाना चाहिए। स्तम्भों की स्थापना के समय मङ्गलार्थ पूजनादि कम आवश्यक है।

1. **ब्राह्मण स्तम्भ –**

प्रथम ब्राह्मण स्तम्भ में घी व पीली सरसों से पूजा करनी चाहिए तथा सकल पूजन विधि श्वेत वर्ण (श्वेत पुष्प, श्वेत वस्त्र, श्वेत नैवेद्य) से युक्त होनी चाहिए, ब्राह्मणों को खीर खिलानी चाहिए। स्तम्भ स्थापना से पूर्व स्तम्भ के मूल में कान के आभ्षण के बराबर सुवर्ण रखना चाहिए।

2. **क्षत्रिय स्तम्भ –**

क्षत्रिय स्तम्भ की स्थापना के समय सकल विधि रक्त वर्ण से युक्त होनी चाहिए। पूजन कम में लालवस्त्र एवं लाल पुष्पों का प्रयोग होना चाहिए। नैवेद्य मे एवं द्विजों को गुड़ौदन अर्पित करना चाहिए, स्तम्भ के मूल मे ताँबा रखना चाहिए।

3. **वैश्य स्तम्भ –**

वैश्य स्तम्भ की स्थापना में सकल प्ज़न विधि पीतवर्ण (पीला वस्त्र, पीले फूल, पीला नैवेद्यादि) की होनी चाहिए। ब्राह्मणों को घृतमिश्रित भात खिलाना चाहिए। स्तम्भ के मूल में चांदी रखनी चाहिए।

4. **शूद्रस्तम्भ –**

शूद्रस्तम्भ की सकल विधि नीले वर्ण (नीले पुष्प, नीले वस्त्र, नीला नैवेद्य) की होनी चाहिए तथा ब्राह्मणों को खिचड़ी खिलानी चाहिए, स्तम्भ के मूल में लोहा रखा जाना चाहिए।

इस प्रकार चारों स्तम्भों का विधिपूर्वक पूजन करके सभो स्तम्भों के मूल में सोना अवश्य रखना चाहिए।

सर्वेष्वेव तु निक्षेप्यं स्तम्भमूलेषु कांचनम्।

इस प्रकार सकल मङ्गलविधि, पुण्याहवाचन एवं जयकार के साथ स्तम्भों की स्थापना करके पुष्पमालाओं से उसे सजाना चाहिए ।

स्तम्भों की स्थापना के बाद ब्राह्मणों को गौसहित रत्न एवं वस्त्रादि के दान से सन्तुष्ट करके स्तम्भों को उठाना चाहिए। स्तम्भों को उठाने में अत्यन्त सावधानी रखनी चाहिए। –

अचलं चाप्यकम्पं च तथैवावलितं पुनः।
स्तम्भस्योत्थापने सम्यग् दोषाह्येते प्रकीर्तिताः।।

अर्थात् स्तम्भोत्थापन में निम्नलिखित दोष माने गए है – चलायमान होना, कम्पन होना तथा वलन अर्थात् घूम जाना इत्यादि। अतः स्तम्भोत्थापन में निम्नलिखित बातें ध्यान रखनी चाहिए –

1. स्तम्भ अचल रहें अर्थात ले जाते समय हिलना डुलना नही चाहिए।
2. अकम्प रहें अर्थात खड़ा होने पर अडिग रहें, कम्परहित स्थिर रहें।
3. अवलित – स्तम्भ टेढ़े–मेढे न हो सीधे रहे । कंगन की तरह घूमे नहीं।

स्तम्भों को उठाने में इन दोषों की वर्जना आवश्यक है। दोष रहने पर अनेक अमङ्गल सूचित होते है –

अवृष्टिरुक्ता चलने वलने मृत्युतोभयम्।
कम्पने परचक्रात्तु भयं भवति दारुणम्।।
दोषेरेतैर्विहीनं तु स्तम्भमुत्थापयेच्छिवम्।

यदि स्तम्भ उत्थापन के समय चलायमान होता है तो अवृष्टि (सूखा) का सूचक है, कंगन की तरह घूम जाने पर मृत्यु का भय है तथा (कम्पने) कांपने पर शत्रु के आक्रमण का भय होता है। अतः इन दोषों से रहित होकर स्तम्भ को उठाना चाहिए।

ब्राह्मण स्तम्भ उत्थापित होने पर ब्राह्मणों को गाय दक्षिणा रुप में देनी चाहिए तथा शेष स्तम्भों के उत्थापित होने पर सभो कार्य करने वालो को भोजन करवाना चाहिए। यह सम्पूर्ण उपक्रम बुद्धिमान् आचार्य के द्वारा मन्त्रपूवक स्वयं अपने हाथों से करना चाहिए।

इस अवसर पर नाट्याचार्य पुरोहित एवं राजा को मधु युक्त खीर तथा अन्य सकल कारीगरों को लवणप्रधान खिचड़ी अपने हाथ से खिलाएँ।

इस प्रकार सकल विधि करके स्तम्भों को अभिमन्त्रित करके उठाएँ तथा प्रार्थना करें–

यथाऽचलो गिरिर्मेरुर्हिमवांश्च महाबलः।
जयावहो नरेन्द्रस्य तथा त्वमचलो भव।।

जिस प्रकार महाबलशाली सुमेरु एवं हिमालय अचल स्थित है उसी प्रकार तुम भो अचल बनो एवं राजा को जय प्रदान करो।

तत्पश्चात् मण्डप रचना विधि के सम्यक् ज्ञाता आचार्य शास्त्रोक्त मंगल विधिपूर्वक स्तम्भद्वार, नेपथ्यगृह एवं दीवार उठवाए। रंगपीठ क पार्श्व भाग में मत्तवारणी की रचना होनी चाहिए।

8.2.3.3 मत्तवारणी

रङ्गपीठस्य पार्श्वे तु कत्तव्या मत्तवारणी।
चतुःस्तम्भसमायुक्ता रङ्गपीठप्रमाणतः।।

मत्तवारणी नाट्यशास्त्र का विशेष शब्द है। प्रथम अध्याय में नाट्यमण्डप की रक्षा उपायों में उल्लेख किया गया था कि दैत्यों का सहार करने वाली इन्द्र की व्रज्रस्वरूपा विद्युत् मत्तवारणी की रक्षा में नियुक्त की गई तथा इसके स्तम्भों की रक्षा हेतु भ्त, यक्ष, पिशाच एवं गुह्यक नियुक्त किए गए।

मत्तवारणी रङ्गपीठ के दोनों पार्श्वों में रङ्गपीठ के प्रमाण (नाप) के अनुरूप ही बनानी चाहिए। प्रत्येक मत्तवारणी चार स्तम्भों से युक्त होनी चाहिए।

अध्यर्धहस्तोत्सेधेन कत्तव्या मत्तवारणी ।
उत्सेधेन तयोस्तुल्यं कत्तव्यं रङ्गमण्डपम्।।

रङ्गपीठ के प्रमाण से अध्यर्धहस्त भ्मि से (डेढ हाथ) ऊँची मत्तवारणी का निर्माण करना चाहिए। दोनों ओर की मत्तवारणी की ऊँचाई के बराबर रङ्गमण्डप का निर्माण करना चाहिए। मत्तवारणी के स्वरुप को देखकर ज्ञात होता है कि प्रत्येक मत्तवारणी चार स्तम्भों से युक्त हो जो रङगमण्डप से बाहर सटकर होनी चाहिए। रङ्गमण्डप के दोनों ओर मत्तवारणी के दो–दो खम्भ रङ्गमण्डप की दीवार से सटकर नीचे की ओर होने चाहिए। उनसे हटकर आठ–आठ हाथ के अन्तर पर दो खम्भ होने चाहिए। इस प्रकार अभिनवगुप्त के अनुसार आठ हाथ चौड़ाई एवं आठ हाथ लम्बाई की समान वर्गाकार मत्तवारणी होती है।

रङ्गपीठ आठ हाथ लम्बा एवं सोलह हाथ चौड़ा होना चाहिए। इस प्रकार रङ्गपीठ आयताकार होना चाहिए व रङ्गपीठ की अपेक्षा मत्तवारणी की ऊँचाई आधा हाथ अधिक होनी चाहिए।

वस्तुतः मत्तवारणी के स्वरुप को लेकर विभिन्न आचार्यों में मतभद है किन्तु इसका उद्देश्य प्रेक्षकों को मंच पर आने से रोकना है।

8.2.3.4 रङ्गपीठ – रङ्गशीर्ष

मत्तवारणी के निर्माण के पश्चात् रङ्गपीठ– रङ्गशीर्ष का विधिवत् मङ्गलादि पूर्वक निर्माण कार्य करना चाहिए।

रङ्गशीर्षन्तु कत्तव्यं षड्–दारुक–समन्वितम्।
कार्यं द्वारद्वयं चात्र नेपथ्यगृहकस्य तु।।

रङ्गशीर्ष छः दारुक से युक्त होना चाहिए। इसके नेपथ्यगृह की भित्ति से लगे दो खम्भ हो तथा उन दोनों की दूरी आठ हाथों के अन्तर पर होनी चाहिए। उनके अग्रभाग में चार हाथों की दूरी पर दो खम्भ स्थापित किए जाने चाहिए तथा उन पर एक–एक करके ऊपर नीचे छः काष्ठफलक इस प्रकार रखे जाएँ ताकि रङ्गशीर्ष आच्छादित हो सके। रङ्गशीर्ष में प्रवेश करने के लिए नेपथ्यगृह के दो द्वार होने चाहिए– एक दक्षिण की ओर व दूसरा उत्तर की ओर। नेपथ्यगृह साजसज्जा, रंगमंच पर आवागमन एवं विश्राम के लिए गुप्तस्थल है। उसके आगे रङ्गशीर्ष है जो सकल रङ्गमण्डप की शोभा बढाता है।

रङ्गपीठ व नाटयमण्डल की नींव भरने मे प्रयत्नपूर्वक काली मिट्टी का प्रयोग करना चाहिए। उस जमीन पर हल चलाकर उसे पहले मिट्टी के ढेले, तिनके एवं ककड़, पत्थर से रहित कर लेना चाहिए। हल चलाते समय शुद्धवर्ण वाले दो बैलों को प्रयत्नपूर्वक जोतना चाहिए। हल चलाने वाले पुरुष अंगदोष से रहित होने चाहिए।

मिट्टी ढोने के लिए नियुक्त पुरुष भो अंगदोष से रहित हो तथा मिट्टी भरने वाली टोकरियाँ भो नई होनी चाहिए।

रङ्गशीर्ष का आकार –

इस प्रकार काली मिट्टी भरकर रङ्गशीर्ष की जमीन समतल करनी चाहिए ताकि उसमें किसी प्रकार का दोष न रहे –

कूर्मपृष्ठं न कत्तव्यं मत्स्यपृष्ठं तथैव च।
शुद्धादर्शतलाकारं रङ्गशीर्षं प्रशस्यते।।

अर्थात रङ्गशीर्ष का आकार न तो कूर्मपृष्ठ (कछुए की पीठ के समान बीच मे से ऊपर उठा हुआ) होना चाहिए एवं न ही मत्स्यपृष्ठ (मछली की पीठ के समान बीच में से अन्दर धंसा हुआ) होना चाहिए अपितु शुद्ध दर्पण के तल के समान समतल रंगशीर्ष बनाया जाना चाहिए।

रङ्गशीर्ष के निर्माण के समय भो मूल में विभिन्न रत्न रखने चाहिए। पूर्व में वज्र (हीरा), दक्षिण पार्श्व में वैदूर्य (पुखराज), पश्चिम में स्फटिक, उत्तर में प्रवाल (मूंगा) तथा मध्य में सुवर्ण रखवाना चाहिए। इस प्रकार रंगशीर्ष का कार्य विधिवत् सम्पन्न करना चाहिए।

दारुकम –

रङ्गशीर्ष की रचना के पश्चात् दारुकम (लकड़ी का कार्य) करना चाहिए। यह काष्ठकम अत्यन्त मनोहारो एवं विविध आकृतियों से युक्त होना चाहिए–

ऊहप्रत्यूहसंयुक्तं नानाशिल्पप्रयोजितं।
नानासंजवनोपेतं बहुव्यालोपशोभितम्।।
ससालभंजिकाभिश्च समन्तात् समलंकृतम्।।
निर्व्यूहकुहरोपेतं नानाग्रथितवेदिकम्।
नानाविन्याससंयुक्तं कपोतालीसमाकुलम्।
नानाकुट्टिमविन्यस्तैः स्तम्भैश्चाप्युपशोभितम्।।

ऊहप्रत्यूहसंयुक्तम् – ऊह–प्रत्यूह से तात्पर्य है तर्कशास्त्रीय अन्वय एवं व्यतिरेक से युक्त। ऊह – जो काष्ठखण्ड स्तम्भ के ऊपरी भाग से निकला हो, प्रत्यूह – स्तम्भों से बाहर की ओर निकली लकड़ी का भाग।

नानासंजवनोपेतम् – संजवन का तात्पर्य है (चतुष्कोण या चतु:शाल) विभिन्न प्रकार के चौकों से युक्त होना चाहिए।

बहुव्यालोपशोभितम् – बहुत सारी सर्प की आकृतियों से युक्त होना चाहिये।

ससालभंजिकाभिः – साल (वृक्ष–काष्ठ) पर भजिकाओं (चित्र विचित्र खुदी हुई पुत्तलियों से युक्त) से चारों ओर से सुशोभित होना चाहिए, ये पुत्तलिकायें अप्सराओं जसी सुन्दर होनी चाहिए।

निर्व्यूहकुहरोपेत – निर्व्यूह – तुला या धारन के किनारे से बाहर की ओर निकले दीवारो के काष्ठफलक।

कुहर – उन पर खुदी हुई पहाड़, नगर, गुफा आदि की आकृतियाँ (वेदिका)।

नानाग्रथितवेदिकम् – उन पर विभिन्न आकृतियों के वर्ग उत्कीर्ण होने चाहिए।

चित्रजालगवाक्षम् – यह विविध प्रकार के चित्र, जालियों एवं गवाक्ष (झरोखे) से अलंकृत हो।

सुपीठधारणीयुक्तम् – धारणी, धारिणी धरणी आदि शब्द धरनवाची है, रङ्गशीर्ष के स्तम्भपीठों पर मजबूत धरने स्थापित की जानी चाहिए।

नानाकुट्टिमविन्यस्तैः स्तम्भैः – विभिन्न प्रकार के लाल सफेद या विविध वर्णों से बने आंगन पर काष्ठ स्तम्भ स्थापित करने चाहिए एवं उन पर भो पूर्वोक्त पद्धति से शिल्पकारी करनी चाहिये।

काष्ठ स्तम्भ स्थापित करने चाहिए एवं उन पर भी पूर्वोक्त पद्धति से ि"ाल्पकारी करनी चाहिये।

काष्ठविधि सम्पन्न करके भित्ति–कम करना चाहिए।

स्तम्भं वा नागदन्तं वा वातायनमथापि वा।
कोणं वा सप्रतिद्वारं द्वारविद्धं न कारयेत्।।

भित्तिकम में विशेष ध्यातव्य है कि स्तम्भ, नागदन्त (खूँटी) तथा वातायन (खिड़की), कोण अथवा द्वार अन्य किसी द्वार के सामने नहीं होना चाहिए।

अभिनवगुप्त ने प्रतिद्वार का अर्थ 'अवान्तर द्वार' किया है। इसे द्वार से विद्ध अर्थात् परस्पर सम्मुखीकृत नहीं बनाना चाहिए – कोणं वा सप्रतिद्वारं द्वारविद्धं न कारयेत्। द्वारविद्धं का निर्वचन इस प्रकार है – द्वारेण विद्धं परस्परसम्मुखीभ्तमध्यम्। नागदन्त का तात्पर्य हाथीदाँत की बनी खूँटियों से है। नाट्यमण्डप पर्वत की कन्दरा के समान आकार वाला द्विभ्मि ;दोमंजिलाद्ध बनाया जाना चाहिए –

कार्यः शैलगुहाकारो द्विभूमिर्नाट्यमण्डपः।
मन्दवातायनोपेतो निर्वाता धीरशब्दवान्।।

नाट्यमण्डप में ऐखे झरोखे होने चाहिए जिससे वायु का मन्द संचार हो जिससे ध्वनि गंभोर प्रतीत हो।

नाट्यमण्डप को निर्वात बनाने से वाद्ययन्त्रों एवं गायन की ध्वनि गम्भोर होगी तथा नाट्यमण्डप में गूँज नहीं होगी।

भित्तिकम पूर्ण होने पर भित्तिलेप करना चाहिए उसके बाहर की ओर सुधाकम (सफेदी) करना चाहिए।

भित्तिलेप पर सफेदी करने के पश्चात् उसे विभिन्न चित्रों से अलंकृत करना चाहिए।

चित्रकम –

भित्तियों पर विविध रंगों से युक्त आकर्षक चित्र बनाने चाहिए। स्त्री–पुरुषों के विशेष श्रृंगार को प्रकट करने वाली लताबन्ध आदि क्रीड़ाओं के चित्र हो तथा लताओं, पर्वतों नदियों आदि के सुन्दर चित्र बनाए जाएँ जिससे नाट्यमण्डप आकर्षक हो।

यह सम्पूर्ण विधि मध्यम विप्रकृष्ट नाट्यमण्डप की कही गई है। अधुना चतुरस नाट्यमण्डप की विधि वक्तव्य है।

8.3 चतुरस्र नाट्यमण्डप

चतुरस्र नाट्यमण्डप वर्गाकार होता है। अतः इसकी चारों भजाएँ 32 x 32 हाथ की होनी चाहिए –

समन्ततश्च कत्तव्या हस्ता द्वात्रिंशदेव तु।
शुभभूमिविभागस्थो नाट्यज्ञैर्नाट्यमण्डपः।।

विकृष्ट नाट्यमण्डप के समान ही चतुरस्र नाट्यमण्डप में भो भमि परीक्षण, शोधन, माप एवं भमि विभाग शुभ मुहूर्त एवं मङ्गलविधि के अनुसार ही करने चाहिए।

भमि को चारों ओर से सम करके तथा सूत्र द्वारा माप कर उसके अनेक विभाग करके उसके बाहर की ओर चारों ओर से सटी हुई बिल्कुल पक्की ईंटों की दीवार उठानी चाहिए। तदनन्तर भोतर की ओर रंगपीठ के ऊपर मण्डप को धारण करने के लिये दस स्तम्भों की स्थापना की जानी चाहिए।

उन स्तम्भों के बाहरी तरफ सोपानाकृति वाली ईंट एवं लकड़ी के संयोग से पीठक (प्रेक्षकों के बैठने हेतु) बनाने चाहिए ताकि नाट्य आसानी से प्रेक्षणीय हो।

हस्तप्रमाणैरूत्सेधैर्भूमिभागसमुत्थितैः।
रङ्गपीठावलोक्यं तु कुर्यादासनजं विधिम्।।

धरातल से एक ऊँची उठती हुई सीढ़ियों का निर्माण कर इस प्रकार बैठने की विधि करनी चाहिए ताकि रंगपीठ आसानी से दिखाई दे।

मण्डप के भोतर की दिशाओं में छः स्तम्भों की इस प्रकार स्थापना हो कि मण्डप भली प्रकार धारण किया जा सके – अभिनवगुप्त ने छः स्तम्भों का स्थान इस प्रकार बताया है –

रंगपीठ के दक्षिण भाग में स्थापित स्तम्भद्वय के परस्पर चार हाथ के अन्तराल पर आठ हाथ की दूरी पर दो स्तम्भ होने चाहिए। आग्नेय कोण स्तम्भ के अन्तराल पर जो पूर्वस्थापित स्तम्भ है उसके चार हाथ की समानान्तर दूरी पर दक्षिण स्तम्भ स्थापित होगा। इस प्रकार पूर्व स्थापित दक्षिण–स्तम्भों एवं दाहिनी ओर की दीवार के बीच तीन स्तम्भ हो। इसी प्रकार उत्तर दिशा में भो तीन स्तम्भ होने चाहिए। इन छः स्तम्भों को मजबत् बनाना आवश्यक है ताकि नाट्यमण्डप दृढ़ता से टिका रहे।

तत्पश्चात् इनके ऊपर आठ स्तम्भों की स्थापना करें। ये आठ स्तम्भ कौनसे हो इसकी व्याख्या अभिनवगुप्त ने इस प्रकार से की है –

दक्षिण दीवार के उत्तरी ओर पूर्वस्थापित स्तम्भ और दीवार से चार हाथ की दूरी पर एक खम्भा गाड़ना चाहिए, उसी प्रकार उत्तरी दीवार के दक्षिण की ओर भो चार हाथ की दूरी पर एक खम्भा गाड़ना चाहिए। इसी प्रकार उत्तरी दीवार के दक्षिण की ओर भो चार हाथ की दूरी पर एक खम्भा गाड़ना चाहिए। तदनन्तर पूर्वी दीवार से चार हाथ की दूरी पर रंगमंच को दो भागों में विभक्त कर तदनुसार दो–दो खम्भों को स्थापित करना चाहिए।

इन आठ स्तम्भों पर अष्टहस्त प्रमाण विद्वास्य पीठ स्थापित करना चाहिए – विद्धं पद्मादिविरचितम् आस्यं मुखं यस्य तत् पीठं विद्धास्यम् – इस निर्वचन के अनुसार वह पीठ कमल आदि के आकार के मुखवाला होना चाहिए।

तत्पश्चात् चतुर कारीगरों को चाहिए कि वे मण्डप के धारण के लिए पुनः स्तम्भों की स्थापना करें। ये स्तम्भ सालभजिकाओं से अलंकृत हो तथा इन पर धारणी (धरन) रखी जाएँ जो छप्पर को धारण कर सकें।

वस्तुतः स्तम्भ स्थापना को लेकर टीकाकारों ने पर्याप्त विचार किया है। आचार्य शङ्कुक के अनुसार स्तम्भों की योजना स्वविवेकाश्रित होनी चाहिए।

दशः प्रयोक्तृभिः स्तम्भाः शक्ता मण्डपधारणे

इस कारिकार्द्ध की व्याख्या वार्तिककार इस प्रकार करते हैं –

नेपथ्यगृह के भोतर दो स्तम्भ, चार पीठ स्तम्भ तथा चारों दिशाओं में चार स्तम्भ इस प्रकार दस स्तम्भ होने चाहिए। दीवार और स्तम्भों के बीच अष्टहस्तप्रमाण रंगपीठ होना चाहिए, रंगपीठ चार स्तम्भों पर आधारित होना चाहिए। उसके अग्रिम एवं पश्चाद्वर्ती भागों में दो–दो एवं उसके अन्तराल में छः स्तम्भों की स्थापना करनी चाहिए। इसके बाद आठ अन्य स्तम्भों की स्थापना करनी चाहिए। उन स्तम्भों के चारों ओर सोपान के आकार की दर्शक–दीर्घा बनानी चाहिए।

इसके पश्चात् नेपथ्यगृह प्रयत्नपूर्वक बनाना चाहिए। उसमें रंगपीठ में प्रवेश हेतु एक द्वार होना चाहिए।

सामान्य जन के प्रवेश हेतु रंगपीठ के सामने वाले भाग में दूसरा द्वार बनाना चाहिए।

रंगपीठ का माप 8 हाथ का होना चाहिए जो चारां ओर से बराबर समतल एवं ऊँची वेदिका से युक्त हो।

वेदिका के पास चार खम्भों से युक्त मत्तवारणी का निर्माण होना चाहिए जिसका माप विकृष्ट नाट्यमण्डप की मत्तवारणी के सदृश ही होना चाहिए।

रंगशीर्ष वेदिका के समान ऊँचा या बराबर बनाना चाहिए। विकृष्ट मण्डप का रंगशीर्ष वेदिका से ऊँचा होता है किन्तु चतुरस्र में बराबर भो हो सकता है।

इस प्रकार विधिपूर्वक चतुरस्र नाट्यमण्डप का निर्माण होना चाहिए।

8.4 त्र्यस्र नाट्यमण्डप

त्र्यस्र नाट्यमण्डप त्रिकोण होता है। इसकी तीनो भजाएँ बराबर होती है। अतः त्रिभजाकार इसका स्वरूप होता है।

त्र्यस्रं त्रिकोणं कत्तव्यं नाट्यवेश्यप्रयोक्तृभिः।
मध्ये त्रिकोणमेवास्य रंगपीठ तु कारयेत्।।

अर्थात् प्रयोगकर्त्ताओं को त्र्यस्र नाट्यमण्डप त्रिकोण बनाना चाहिए तथा इसके मध्य रंगपीठ भो त्रिकोण ही बनाया जाना चाहिए।

इस नाट्यगृह का मुख्यद्वार रंगपीठ के सामने वाले कोण में होना चाहिए तथा रंगपीठ के पीछे की ओर दूसरा द्वार बनाना चाहिए। अन्य सकल विधि–चतुरस्र नाट्यमण्डप के सदृश ही होनी चाहिए।

इन तीनों प्रकार के नाट्यमण्डपों का पूर्वोक्त विधिपूर्वक निर्माण सम्पन्न करना चाहिए तथा तदनन्तर पूजनविधि करनी चाहिए।

8.5 पारिभाषिक शब्दावली

1. **नाट्यमण्डप** : यह शब्द पूरे नाट्यगृह के लिए प्रयुक्त हुआ है। इसी के पर्याय के रूप में नाट्यवेश्म, नाट्यगृह एवं प्रेक्षागृह आदि शब्द प्रयुक्त हुए है।
2. **विप्रकृष्ट** : विप्रकृष्ट का तात्पर्य है आयताकार। नाट्यगृह का यह विप्रकृष्ट मध्य हस्त प्रमाण नाट्यमण्डप मर्त्युलोक में श्रेष्ठ माना गया है। विकृष्ट एवं विप्रकृष्ण एक ही है।
3. **चतुरस्र** : चार कोणों से युक्त, वर्गाकार, चतुरस्र मध्यम नाट्यमण्डप की लम्बाई एवं चौड़ाई 32 द 32 हाथ की होती है।
4. **त्र्यस्र** : यह नाट्यमण्डप त्रिभुजाकार होता है। इसके बीच में त्रिकोण रंगपीठ होता है।
5. **मण्डप** : मण्डप नाट्यगृह का वह भाग है जिसम दर्शक बैठते हैं।

6. **भूमिशोधन** : कील–तष्ण–मूल, कंकर आदि निकाल कर भूमि का संस्कार करना।

7. **नेपथ्यगृह** : रंगमंच के पीछे का वह सुरक्षित एवं गुप्त भाग जो अभिनेताओं के साज–सज्जा एवं विश्राम के काम आता है।

8. **मत्तवारणी** : प्रेक्षकों को मंच तक पहुँचने से रोकने हतु रंगपीठ के दोनों पार्श्वों में भूमि से डेढ फीट ऊँचा उठा हुआ भाग जिसके बराबर रंगपीठ बनाया जाना चाहिए। मत्तवारणी बरामदे की तरह ही होती है।

9. **रंगशीर्ष** : नेपथ्यगृह से आगे का 8 द 32 का माप का वह भाग जो छः धरनों (षड्दारुक) से युक्त होता है इसे शुद्र दर्पण के तल के आकार का बनाना चाहिए जिससे प्रेक्षक पात्रों का अभिनय आसानी से देख सके।

10. **द्विर्भूमि** : द्विभूमि का अर्थ है दो मंजिला। कुछ विद्वान् रंगभूमि के ऊँची एवं नीची दो प्रकार की होने की बात करते हैं। मंच का आगे का धरातल जिस पर मत्तवारणी बनी है नीचा होता है तथा रंगमंच का धरातल ऊँचा होता है ताकि प्रेक्षकों को दृश्य आसानी से दिखाई दे।

11. **भित्तिकम** : दीवारों का ऊपर उठाना।

12. **निवेशन** : शिलान्यास, नींव डालना।

13. **कूमपृष्ठ** : कछुए की पीठ के समान ;बीच में से ऊपर उठा हुआद्ध।

14. **मत्स्यपृष्ठ** : मछली की पीठ के समान ;मध्य से नीचा आयताकारद्ध।

15. **उत्सेधेन** : उत्सेध का अर्थ है ऊँचाई। ऊँचाई के समान।

16. **निर्वात** : वायु की मन्द चाल से युक्त

8.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

बोधप्रश्न

1. चतुरस्र से तात्पर्य है?
   (अ) चार भाग (ब) आयताकार
   (स) वर्गाकार (द) त्रिभुजाकार

2. मध्यम विकृष्ट नाट्यमण्डप है –
   (अ) 8 द 32 (ब) 32 द 32
   (स) 108 द 64 (द) इनमें से कोई नहीं

3. भूमि नापने में कौनसे वर्ण के सूत्र का प्रयोग करना चाहिए।
   (अ) शुक्ल (ब) पीत
   (स) कृष्ण (द) रक्त

4. वैश्य स्तम्भोत्थापन की विधि किस वर्ण की है।
   (अ) पीत (ब) शुक्ल
   (स) नील (द) रक्त

5. निर्वात से तात्पर्य है?
   (अ) वातरहित (ब) मन्दवात
   (स) तीव्रवात (द) वातायन

6. मत्तवारणी की रचना होनी चाहिए।
   (अ) नेपथ्यगृह के पास (ब) रंगपीठ के दोनों ओर
   (स) रंगपीठ के मध्य में (द) नाट्यमण्डप के अंत में

7. कौनसा कम तीन रात्रि तक उपोषित आचार्य द्वारा सम्पन्न करना चाहिए।

(अ) निवेशन (ब) स्तम्भ–स्थापन

(स) भित्तिकम (द) स्तम्भोत्थापन

8. ब्राह्मणस्तम्भ के मूल में कौनसी धातु रखनी चाहिए।

(अ) रजत (ब) ताम्र

(स) सुवर्ण (द) लौह

9. विकृष्टमध्य नाट्यमण्डप ही क्यों प्रशस्त माना गया है?

10. स्तम्भोत्थापन में किन दोषों से बचना चाहिए?

बोध प्रश्नों के उत्तर

1. (स)
2. (अ)
3. (अ)
4. (अ)
5. (ब)
6. (ब)
7. (ब)
8. (स)
9. देखिये इकाई 8.2.3
10. देखिये इकाई 8.2.3.2

8.7 सारांश

प्रस्तुत विवेचन से आपने नाट्यमण्डप के स्वरूप, निर्माण कार्य तथा उसके ज्येष्ठ, मध्यम, विप्रकृष्ट, चतुरस्र एवं त्र्यस्र आदि भेदों के विषय में विस्तारपूर्वक जाना। अट्ठारह प्रकार के नाट्यमण्डपों में विप्रकृष्ट मध्य ही मनुष्यों के लिए सर्वोत्कृष्ट है। तीनों ही प्रकार के नाट्यमण्डप के निर्माण में भूमिपरीक्षण से लेकर चित्रकम तक की सम्पूर्ण विधि अत्यन्त कुशलता से सम्पन्न करनी चाहिए। शास्त्रोक्त विधि के अनुसार यथासंभव सकल दोषों की वर्जना करते हुए देवपूजन, दान, बलि, ब्राह्मणतर्पणादि कार्य सम्पन्न करने चाहिए। जिससे अमंगल का नाश हो। प्रेक्षकों के बैठने का स्थान इस प्रकार सीढ़ीनुमा हो कि रंगमंच आसानी से द्रष्टव्य हो।

8.8 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. संस्कृत साहित्य का इतिहास – बलदेव उपाध्याय – शारदा संस्थान, वाराणसी,1985.
2. नाट्य समीक्षा – दशरथ ओझा, पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली, 1984.
3. नाट्यशास्त्र की भारतीय परम्परा एवं दशरूपक (छठा संस्करण), हजारी प्रसाद द्विवेदी एवं पृथ्वीनाथ द्विवेदी,राजकमल प्रकाशन ,2013.
4. संस्कृत नाटक–उद्भव एवं विकास – उदयभानु सिंह – मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 2012.
5. नाट्यशास्त्रम् (हिन्दी व्याख्या सहित) – प्रो. ब्रजमोहन चतुर्वेदी, विद्यानिधि प्रकाशन, दिल्ली 2001.
6. नाट्यशास्त्रम् (अभिनवभारती संस्कृत टीका एवं 'तात्पर्यदीपिका' हिन्दी व्याख्या सहित) – पं. जयनाथशास्त्री तैलंग, भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली, वाराणसी 1992.

इकाई : 9

नाट्यशास्त्र : द्वितीय अध्याय के प्रमुख अंशो की व्याख्या

इकाई की रूपरेखा

9.0 उद्देश्य
9.1 प्रस्तावना
9.2 नाट्यशास्त्र का परिचय
9.2.1 नाट्य–लक्षण
9.2.2 नाट्यशास्त्र की पृष्ठभ्मि
9.2.3 नाट्यवेद का उद्गम एवं महत्त्व
9.3 नाट्यशास्त्र के प्रणेता
9.3.1 नाट्यशास्त्र के रचयिता भरतमुनि
9.3.2 नाट्यशास्त्र का रचनाकाल
9.3.3 नाट्यशास्त्र की परवर्ती परम्परा
9.4 नाट्यशास्त्र की विषयवस्तु
9.4.1 नाट्य–संग्रह
9.4.2 नाट्यशास्त्र का अध्याय–विभाजन
9.4.3 भरत का रससूत्र एवं उसके व्याख्याकार
9.5 नाट्यशास्त्र ;द्वितीय अध्यायद्ध में वर्णित नाट्यवेश्म
9.5.1 त्रिविध संनिवेश : प्रकार एवं प्रमाण
9.5.2 मध्यम विकृष्ट नाट्यवेश्म
9.5.3 नाट्यवेश्म के प्रमुख भाग
9.6 नाट्यशास्त्र का द्वितीय अध्याय
9.6.1 अध्याय का सार–संक्षेप
9.6.2 अध्याय का नाट्यशास्त्रीय महत्त्व
9.6.3 प्रमुख अंशों की व्याख्या
9.7 पारिभाषिक शब्दावली
9.8 अभ्यासार्थ प्रश्न
9.9 सारांश
9.10 संदर्भ ग्रंथ सूची

9.0 उद्देश्य

एम.ए.पूर्वार्द्ध संस्कृत के पाठ्यक्रम के चतुर्थ प्रश्नपत्र– खण्ड (2) से संबंधित इस इकाई में भरतमुनि–रचित नाट्यशास्त्र के द्वितीय अध्याय के प्रमुख अंशों की व्याख्या की गई है। इस अध्याय में भरतमुनि द्वारा प्रेक्षागृह–मण्डप के निर्माण, उसके आकार, प्रकार, प्रमाण तथा प्रेक्षागृह के भोतर अभिनेताओं एवं प्रेक्षकों के लिए निर्धारित स्थलों का शास्त्रीय नाम–सहित नाट्य–प्रयोग में उनके उपयोग का प्रामाणिक विवरण प्रस्तुत किया गया है।

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप जान सकेंगे :–

- भरतमुनि तथा नाट्यशास्त्र की रचना की पृष्ठभ्मि
- भरतोक्त प्रेक्षागृहों के 'त्रिविध संनिवेश' का शास्त्रीय स्वरूप
- रंगमण्डप के विभिन्न भागों का विस्तृत विवरण
- मूल श्लोकों की सन्दभ–सहित व्याख्या

9.1 प्रस्तावना

'नाट्य' भावानुकरण की कला है। जीवन की आस्थाओं एवं लोक की स्वाभाविक प्रवृत्तियों की विशिष्ट चतुर्विध अभिनय–कला द्वारा प्रेक्षकों के समक्ष रंगमंच पर नटों द्वारा की गई प्रस्तुति का नाम है– नाट्य। चारों वेदों से क्रमशः पाठ्य, गीत, अभिनय और रस तत्त्व लेकर ब्रह्मा द्वारा रचित 'नाट्यवेद' पंचम और सार्ववर्णिक वेद कहा गया है। इसकी प्रत्यक्ष प्रस्तुति को 'प्रयोग', इस वेद के ऋत्विक् को 'प्रयोक्ता' और नट–कलाकारों द्वारा किय गये रंगकम (काण्ड) महाकवि कालिदास की भाषा में 'चाक्षुष क्रतु' कहा गया है। नट का कार्य होने के कारण इसे 'नाट्य', दृश्य होने के कारण 'रूप' और अभिनेता में अभिनेय का आरोपण अथवा अनुकर्ता और अनुकार्य में अभद स्थापित करने के कारण इसे 'रूपक' कहा जाता है।

भारत में इस कला का उद्भव कब हुआ, यह कहना कठिन है। भरतमुनि ने अपने शास्त्रीय ग्रन्थ 'नाट्यशास्त्रम्' में ब्रह्मा द्वारा नाट्यवेद का उद्भव बताकर नाट्य की दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त प्रतिष्ठापित किया और त्रेतायुग में पृथ्वी पर इसके अवतरण का उल्लेख किया। जब मानव–जीवन में द्वन्द्व का समावेश हुआ, तब विरोधी वृत्तियों के संघर्ष के बीच मनोविनोद के लिए नाट्य का सृजन हुआ। आधुनिक पाश्चात्य और भारतीय विद्वानों ने अनुसंधान करके प्राचीन वैदिक संस्कृति में नाट्य के बीज खोजने का प्रयास किया। मैक्समूलर और मैक्डॉनल ने ऋग्वेद के संवाद (आख्यान) सूक्तों को भारतीय नाट्य का आदिम रूप बताया। डॉ.पिशेल ने 'सूत्रधार' शब्द के आधार पर काष्ठ–पुत्तलिका–नृत्य से नाट्य की उत्पत्ति मानी। डॉ. वेबर ने संस्कृत नाटकों में प्राप्त 'यवनिका' और 'यवनी' शब्दों को प्रमाण मानकर यूनानी नाटकों से संस्कृत नाट्य के उद्भव का सिद्धान्त स्थिर किया किन्तु ये सब विचार शब्दों की खींचतान और अनुमान पर आधारित है।

भारत में नाट्य–प्रयोग की परम्परा बहुत प्राचीन रही है। वैदिक साहित्य में प्राप्त सूत, शैलूष, कुशीलव, वाल्मीकि–रामायण में उल्लिखित नट नर्तक – संघ तथा कौटिलीय अर्थशास्त्र में रंगोपजीवी एवं प्रेक्षावेतन जैसे शब्द तत्कालीन नटों एवं नाट्य–प्रयोगों के प्रचलन के प्रमाण है। पाणिनि की अष्टाध्यायी में नट सूत्रों के उल्लेख तथा भारत के नाट्यशास्त्र में उद्धृत आनुवंश्य श्लोक भरत से पूर्व विद्यमान नाट्यशास्त्रीय ग्रंथों के लेखन और नाट्य–प्रयोगों की परम्परा पर प्रकाश डालते हैं।

भारतीय नाट्य–कला पर प्राचीनतम् विशद, सर्वांगीण और प्रमाण ग्रन्थ की तरह सर्वमान्य ग्रन्थ भरतमुनि द्वारा प्रणीत (ग्रथितो वेदसम्मितः) 'नाट्यशास्त्र' ही है। इसमें छत्तीस अध्याय और छः हजार श्लोक है। नाट्य, नृत्य, संगीत, रस और रंगमंच से सम्बन्धित विपुल सामग्री इस विशालकाय ग्रन्थ में संकलित (ग्रथित) है। भरतमुनि पौराणिक व्यक्ति तथा नाट्य एवं काव्यशास्त्र की साहित्य–परम्परा के आदिपुरुष की तरह मान्य रहे हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि परम्परा ने उन्हें व्यक्ति के रूप में नहीं, अपितु वेदव्यास और शंकराचार्य की तरह 'पीठ–पुरूष' की तरह सम्मान दिया है।

एम.ए.पूर्वार्द्ध–संस्कृत के चतुर्थ प्रश्नपत्र में भरतमुनि द्वारा प्रणीत नाट्यशास्त्र का द्वितीय अध्याय निर्धारित है। इस अध्याय में भारतीय प्रेक्षागृहों के त्रिविध स्वरूप, उनके परिमाण, नाट्यमण्ड़प के विभिन्न भागों यथा रंगपीठ, रंगशीर्ष, मत्तवारणी, नेपथ्य गृह, प्रेक्षक–मण्डप की रचना–विधि आदि का सांगोपांग वर्णन किया गया है। इस इकाई के अध्ययन के बाद आप शास्त्रोक्त भारतीय नाट्यवेश्मों का विस्तृत परिचय प्राप्त कर सकेंगे जिनका प्राचीन भारत में सुव्यवस्थित एवं निर्विघ्न नाट्य प्रयोग हेतु निर्माण किये जाने का भरत मुनि ने निर्देश किया था।

9.2 नाट्यशास्त्र का परिचय :

नाट्यशास्त्र भारतीय नाट्य का प्रतिपादक सर्वप्राचीन संस्कृत ग्रन्थ है, जो कला–विवेचन की व्यापकता और नाट्य–विषयक शास्त्रीय समग्रता से परिपूर्ण है। यह महान् ग्रन्थ नाट्यकला के अतिरिक्त उसके आनुषंगिक विषयों, जैसे काव्य, छंद, गीत, वाद्य, नृत्य तथा अन्य ललित कलाओं का भो विश्वकोश है। 'नाट्य' के सांगोपांग तथा सर्वांगीण वर्णन–विवेचन ने

'नाट्यशास्त्र' को जो अतुलनीय स्वरूप, स्थान तथा महत्त्व प्रदान किया, वह आज तक अक्षुण्ण है। चाहे नाट्याभिनय का व्याकरण हो, चाहे नाट्य से जुड़ी ललित कलाओं की व्याख्या हो अथवा कलाकृतियों के रसास्वाद का सिद्धान्त हो, नाट्यशास्त्र को हम भारतभ्मि की शाश्वत कला–चेतना का मूर्धन्य आकर–ग्रन्थ कह सकते है। भरत मुनि का 'रससूत्र' तो भारतीय सौन्दर्यशास्त्र का मेरुदण्ड है, रसानुभ्ति–प्रक्रिया की पारिभाषिक शब्दावली का विश्वस्तरीय मानदण्ड हैं। यही कारण है कि शास्त्रकारों ने नाट्यशास्त्र को 'नाट्यवेद', इसके प्रणेता भरताचार्य को 'मुनि' पद प्रदान किया और नाट्य–प्रयोग को चाक्षुष यज्ञ की संज्ञा देकर सम्मानित किया।

श्लोक–संख्या के आधार पर नाट्यशास्त्र की दो संहिताएं मानी जाती हैः (1) वृद्ध भरत द्वारा रचित द्वादशसाहस्री संहिता, और (2) भरतमुनि–प्रणीत षट्साहस्री संहिता। 10वीं शताब्दी ई. तक संभवतः ये दोनों संहिताएं विद्यमान थी, क्योंकि भोज ने प्रथम संहिता को तथा दशरूपककार धनजय ने द्वितीय संहिता को अपनी रचनाओं का आधार माना था। वर्तमान उपलब्ध नाट्यशास्त्र में छत्तीस (या सैंतीस) अध्याय और छः हजार श्लोक हैं। आचार्य अभिनवगुप्त ने अपनी 'अभिनवभारती' टीका इसी संहिता पर लिखी थी। अतः हम नाट्यशास्त्र के इसी पाठ या संस्करण को प्रामाणिक नाट्यशास्त्र कह सकते हैं। यही नाट्यशास्त्र अपने व्यापक विषय–विस्तार के कारण पुराकाल से आज तक नाट्यविशेषज्ञों, कलामर्मज्ञों साहित्यशास्त्रियों और शिल्प–वैज्ञानिकों को आकृष्ट करता चला आ रहा है।

नाट्य शास्त्र की रचना–शैली गद्य–पद्य सूत्रमयी है। प्रधान रूप से इसमें अनुष्टुप् पद्य में निबद्ध श्लोक हैं। गद्यमय सूत्रों में सिद्धान्त, निरुपण उनका गद्यमय भाष्य में व्याख्यान तथा प्रतिपाद्य विषय के निरूपण में आने वाले तथ्यों का निरुक्त या व्याकरण शैली में निर्वचन या व्युत्पत्ति–नाट्यशास्त्र के अन्य रचना स्तर हैं। अपने सिद्धान्त को पुष्ट करने के लिए परम्परा प्राप्त 'आनुवंश्य' श्लोकों को भरतमुनि ने उद्धृत किया है। साथ ही, अनक आनुवंशीय आर्याएँ, जिन्हें 'सूत्रानुविद्धे आर्ये' कहा गया है, भरतमुनि ने सूत्र रूप में कथित विषय को सरल ढंग से समझाने के लिए ग्रहण किया है। इन आनुवंश्य उद्धरणों के प्रसंगों में भरतमुनि ने स्वाति, गुह, नारद, तण्डु, नन्दी, बृहस्पति आदि पूर्वाचार्यो का नामोल्लेख किया है। भरतमुनि ने मूलतः नाट्यशास्त्र की रचना, रामायण, महाभारत, पुराणादि की तरह मुनिगण की जिज्ञासा और भरतमुनि द्वारा उसके समाधान की प्रश्नोत्तरमयी संवाद–शैली में की है।

यह महाग्रन्थ इस तथ्य का सूचक है कि भारतीय प्रज्ञा ने लोकजीवन को रसमय बनाने वाले रंजनकारी नाट्य, काव्य और ललित कलाओं को कितनी गंभोरता से ग्रहण किया, मानव–जीवन में उन्हें प्रतिष्ठित किया और उनके माध्यम से 'ब्रह्मास्वाद–सहोदर' परमानंद की प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त किया। अतः जब तक लोकजीवन में इन कलाओं का समादर है, तब तक 'नाट्यशास्त्र' का महत्त्व अक्षुण्ण बना रहेगा।

9.2.1 नाट्य–लक्षण

नाट्यशास्त्र का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है – नाट्य। भरतमुनि ने अपने ग्रन्थ में नाट्य को ही शास्त्र के साँचे में ढाला है। 'शिष्यते अनेनेति शास्त्रम्'– इस लक्षण से नाट्यशास्त्र उस ग्रंथ का नाम है जिसमें नाट्यविषयक सम्पूर्ण ज्ञान नियमबद्ध एवं क्रमबद्ध करके लिखा गया है। 'नट् अवस्पन्दने' धातु से निष्पन्न नट के कार्य को 'नाट्य' कहते हैं जिसमें जीवन की अवस्थाओं और सुखदुःखात्मक भावानुभ्तियों का कलात्मक अनुकरण प्रस्तुत किया जाता है। नाट्यशास्त्रीय भाषा में यह अनुकरण 'अभिनय' कहलाता है। 'आभिमुख्येन नीयते अनेनेति अभिनयः'। अभिनय वह कला है जिसमें नट (अभिनेता) अनुकार्य का भावानुकरण प्रेक्षकों के सम्मुख प्रस्तुत करके उन्हें भावित करता है। इसीलिए नाट्यशास्त्र का कथन है कि 'त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तनम्।' अर्थात् नाट्य समस्त तीनों लोकों के भावों का अनुकीर्तन है जिसकी प्रस्तुति का माध्यम होता है – 'अभिनय'। अभिनय के चार प्रकार हैं– आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्त्विक। इन चतुर्विध अभिनयों से सम्पन्न चराचर जगत् या लोक के सुखदुःखात्मक स्वभाव की प्रेक्षकों के समक्ष प्रस्तुति ही 'नाट्य' कहलाती है :–

योऽयं स्वभावो लोकस्य सुखदुःख–समन्वितः।
सोऽङ्गाद्यभिनेयोपेतो नाट्यमित्यभिधीयते।। ना.शा.1/121

दृश्य होने के कारण यही 'रूप' कहलाता है तथा जिस प्रकार रूपक अलंकार में उपमेय और उपमान में अभद स्थापित किया जाता है, उसी प्रकार अभिनेता पर अभिनेय का आरोप करके दोनों को अभिन्न मान लेने के कारण इसी को 'रूपक' कहते हैं।

ऐसे नाट्य के उद्भव के दो प्रमुख प्रयोजन ब्रह्मा ने बताये हैं– 'विनोदजननं' तथा 'उपदेशजनमम्'। नाट्य की प्रस्तुति देखकर सुख–दुःख श्रम एवं शोकादि से विश्रान्ति एवं अलौकिक रस की अनुभ्ति का नाम है विनोद (मनोरंजन)। यथार्थ और आदर्श की व्यवहार की शिक्षा है उपदेश जो नाट्य का दूसरा मुख्य प्रयोजन है। महाकवि कालिदास ने 'नाट्य' को भिन्न–भिन्न रूचि वाले लोगों का एकत्र 'समाराधन' कहा है।

नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाऽप्येकं समाराधनम्।

यह समाराधन वस्तुतः चतुर्विध अभिनयाकार शिव की आराधना है जो विश्वमूर्ति है। इसीलिए अभिनयदर्पणकार नंदिकेश्वर ने मंगलमूर्ति को इन शब्दों में नमन किया है :

आंगिकं भुवनं यस्य वाचिकं सर्ववाङ्मयम्।
आहार्यं चन्द्रतारादि तं नुमः सात्विकं शिवम्।।

9.2.2 नाट्यशास्त्र की पृष्ठभूमि :

शुक्ल यजुर्वेद की वाजसनेय संहिता के तीसवें (कण्डिका 6) अध्याय में पुरुषमेध प्रकरण में एक मंत्र में यह व्यवस्था दी गई है कि यज्ञ के समय किस प्रकार के कार्य के लिए किसे नियुक्त किया जाय –

नृत्ताय सूतं गीताय शैलूषं

(नृत्त के लिए सूत को, गीत के लिए शैलूष को) इन शब्दों से सिद्ध है वैदिक समाज में नर्तक, नट, गायक आदि कलाकार भो यज्ञ के समय अपनी कला प्रदर्शित करते थे। रामायण में उल्लिखित 'नटनर्तक संघ' एवं गायक महाभारत के विराट पर्व में अर्जुन का नृत्य–शिक्षक का वृहन्नला रूप एवं हरिवंश पर्व में (91–97) श्रीकृष्ण द्वारा वज्रनाभ के वध के लिए रचे गये नाटक के वर्णन से तत्कालीन नाट्य की कला का अस्तित्व प्रमाणित होता है।

महाकवि भास के समय (500 ई) तक संस्कृत नाटक प्रौढ अवस्था में पहुंच चुका था जिसके प्रमाण भास के विविध नाटक है।

नाटकों के लेखन और प्रस्तुति के साथ ही नाट्य के शास्त्रीय नियमों पर नट सूत्रों की भो रचना की जा रही थी जिनका उल्लेख पाणिनिकृत अष्टाध्यायी में प्राप्त होता है। यथा– पाराशर्य शिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः। उसी युग में अनेक विद्वान् निरन्तर नाट्य–सिद्धान्तों पर मौलिक ग्रन्थों की रचना कर रहे थे। इस परम्परा से प्राप्त आनुवेश्य श्लोकों एवं आर्याओं को स्वयं भरतमुनि ने 'नाट्यशास्त्र' में उद्धृत किया है। इन नाट्यविदों में स्वाति (गान्धर्ववेत्ता), छन्दः शास्त्री गुह, ध्रुवागान विशेषज्ञ नारद, नृत्य–मर्मज्ञ तण्डु एवं नन्दी तथा माननीय गुण विद् आचार्य बृहस्पति के नाम नाट्यशास्त्र में आये हैं। जिस प्रकार विभिन्न उपनिषदों में बिखरे भारतीय दर्शनों को महर्षि वेदव्यास ने ब्रह्मसूत्र में और पाणिनि ने पूर्ववर्ती व्याकरणाचार्यों के परम्परा प्राप्त ज्ञान को अष्टाध्यायी में सूत्रबद्ध किया, उसी प्रकार भरतमुनि ने पूर्ववर्ती सिद्धान्तों का अन्तर्भाव 'नाट्यशास्त्र' में करके एक विशाल ग्रंथ की रचना की। यही नाट्यशास्त्र की पृष्ठभ्मि है।

9.2.3 नाट्यवेद का उद्भव एवं महत्त्व :

भारतीय परम्परा चतुमुख ब्रह्मा के चारों मुख से ऋक्, साम, यजु तथा अथर्व– इन चारों अपौरुषेय वेदों की उत्पत्ति मानती है। इसी प्रकार त्रेता युग में जब चतुष्पद वृष रूप धर्म का एक चरण खंडित हुआ तो जीवन में धर्म एवं अधर्म का द्वन्द्व उपस्थित हुआ। वर्णव्यवस्था भिन्न–भिन्न होने लगी। तब देवताओ ने विश्वविधाता प्रजापति ब्रह्मा से लोक कल्याण के

लिए सक सार्ववर्णिक पंचम वेद रचने की प्रार्थना की जो लोकरंजनकारी क्रीडनीयक हो, दृश्य भो हो और श्रव्य भो तथा जिसके द्वारा दुःख, श्रम एवं शोकादि से आर्तजनों को मानसिक विश्रान्ति मिल सके, विनोद और उपदेश प्राप्त हो सके, तथा कुछ क्षण के लिए ब्रह्मास्वादसहोदर रस की अनुभ्ति से परमानंद की उपलब्धि हो सके। तब ब्रह्मा ने ऋग्वेद से पाठ्य (कथा एवं संवाद) सामवेद से गीत–संगीत, यजुर्वेद से अभिनय तत्त्व तथा अथर्ववेद से रस तत्त्व का ग्रहण एवं संयोजन करके पंचम वेद की सृष्टि की, यही नाट्यवेद है जिसके उद्भव की कथा नाट्यशास्त्र के प्रथम अध्याय में वर्णित है।

नाट्य को पंचम वेद कहकर वेदों के समकक्ष बताने का आशय यही है कि जिस प्रकार सारा चराचर जगत ब्रह्मा की सृष्टि है, उसी प्रकार नाट्य जो लोकस्वभाव का अनुकरण है, विधाता की सृष्टि का ही प्रतिबिम्ब है, भाव जगत् की मनोरम सष्टि है, पुनर्रचना है, अतः वेद के समान ही महत्त्वपूर्ण है। जिस प्रकार प्रत्येक वेद के ऋत्विक होते हैं जैसे – ऋग्वेद के होता, साम के उद्‌गाता, यजुर्वेद के अध्वर्यु तथा अथर्ववेद के ब्रह्मा, उसी प्रकार नाट्यवेद के ऋत्विक (प्रस्तुतकर्ता) को 'प्रयोक्ता' कहा जाता है। जिस प्रकार वेदमंत्रों से ब्रह्म–यजन होता है, उसी प्रकार नाट्य द्वारा 'लोक की आराधना' की जाती है। यही कारण है कि नाट्य का मानव–जीवन में शाश्वत महत्त्व है।

9.3 नाट्यशास्त्र के प्रणेता :

'नाट्य' लोकजीवन के कलात्मक अनुकरण है, रंजनकारी अनुकृति है, मंच पर प्रस्तुत किया गया भावों का पुनः सृजन है जो प्रेक्षक की रसानुभ्ति का प्रेरक बनता है। इस स्वतः स्फूर्त नाट्य की प्रस्तुति को शास्त्र द्वारा नियमबद्ध करने के लिए बहुत प्राचीनकाल से अनेक मनीषी इस देश में उत्पन्न हुए जिन्होंने भरतमुनि से पूर्व भो नाट्य के विभिन्न अंगों को परिभाषित किया। उनके सूक्ष्म तत्त्वों को उद्घाटित एवं व्याख्यायित किया, सूत्र लिखे, श्लोक लिखे और भरतमुनि के लिए सुव्यवस्थित विस्तृत 'नाट्यशास्त्र' लिखने का मार्ग प्रशस्त किया।

9.3.1 नाट्यशास्त्र के रचयिता भरतमुनि

भरतमुनि नाट्यशास्त्र के रचयिता कहे जाते है। अनेक समालोचक इनको एक काल्पनिक व्यक्ति मानते हैं। भरत के नाम से प्राचीनकाल में पाँच प्रसिद्ध व्यक्ति हुए हैं – (1) दशरथ पुत्र भरत (2) दुष्यन्त पुत्र भरत (3) मान्धाता के प्रपौत्र भरत (4) जड़ भरत और (5) भरतमुनि। इनमें से प्रथम चार व्यक्तियों का नाट्यशास्त्र की रचना से कोई सम्बन्ध नहीं। डॉ. मनमोहन घोष का मत है कि प्राचीनकाल में नट को ही भरत कहा जाता था भरत नाम की कोई नट कार्य करने वाली जाति थी जिसे गुजरात में आज भो बारोट या राजस्थान के बारहठ कहा जाता है। उनके आदिपुरूष के रूप में भरतमुनि के व्यक्तित्त्व की कल्पना कर ली गई और उन्हें पौराणिक व्यक्ति मान लिया गया। किन्तु यह मत अनेक समोलोचकों को स्वीकार्य नहीं है।

9.3.2 नाट्यशास्त्र का रचनाकाल

नाट्य शास्त्राचार्य भरतमुनि ने किस काल खण्ड में नाट्यशास्त्र का प्रणयन किया, यह विवाद का विषय रहा है। उनके विषय में महाकवि कालिदास का श्लोक 9.3.1 में उद्धृत किया जा चुका है। अश्वघोष (78 ई.) के 'सारिपुत्र प्रकरण' पर नाट्यशास्त्र का प्रबल प्रभाव है। अतः भरत मुनि ने ईसवी पूर्व काल में ही नाट्य शास्त्र की रचना की, यह सिद्ध है। संस्कृत नाटकों के आदिपुरुष भास का समय 500 ई.पू. माना जाता है जिनके नाटक नाट्यशास्त्रीय प्रौढ़ता के प्रमाण है। किन्तु उनमें 'भरतवाक्यम्' नहीं होने से वे भरत से पूर्ववर्ती लगते हैं। पी.वी.काणे महोदय ने नाट्यशास्त्र का रचनाकाल भास और कालिदास के मध्य लगभग 300–200 ई.पू. सिद्ध किया है। शेष अनुसंधान का विषय है।

9.3.3 नाट्यशास्त्र की परवर्ती परम्परा

भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र के प्रथम अध्याय में अपने सौ पुत्रों के नाम लिखे है। उनमें सर्वप्रथम कोहल का नाम आता है। इन्हीं आचार्य कोहल ने नाट्यशास्त्र के शेषांश का प्रणयन किया। तण्डु या नन्दी का प्रख्यात नाम नन्दिकेश्वर है। इन्होंने 'अभिनयदर्पण' की रचना की। तुम्बुरु नृत्यसंगीत के तथा काश्यप संगीत के मर्मज्ञ थे। दत्तिल का ग्रंथ है – दत्तिलम। अन्य भरतपुत्रों में अश्मकुट्ट, नखकुट्ट, बादरायण, शातकर्णि, शकलीगभ, कात्यायन, विशाखिल, चारायण, राहुल, गर्ग आदि उल्लेखनीय हैं जिनके उद्धरण परवर्ती ग्रंथकारों ने अपनी कृतियों में दिये हैं। ये सभो नाट्यशास्त्र के विषयों के स्वतंत्र ग्रंथकार थे।

भरत की परवर्ती व्याख्याकार–परम्परा में भरत–रस सूत्र 'विभावानुभावव्याभिचारसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' के व्याख्याकारों में लगभग 8वीं–9वीं शताब्दी में भट्टलोल्लट, श्री शंकुक, भट्टनायक, आचार्य कीर्तिधर राज्यदेव, दसवी शती में काव्य कौतुल के लेखक भट्टतौत तथा अभिनवभारती–टीकाकार आचार्य अभिनवगुप्त हुए। रस सूत्र की व्याख्याओं का अभिनवगुप्त ने रसनिष्पत्ति की अपनी व्याख्या के पूर्वपक्ष में उल्लेख किया। काव्यप्रकाशकार मम्मटाचार्य ने भो अपने मत के पूर्व इन व्याख्याकारों के मत उद्धृत किये हैं।

भरत की परवर्ती ग्रन्थकार परम्परा में 'दशरूपकम्' के रचयिता धनन्जय (975–1000 ई.), नाटक–लक्षण–रत्नकोष के प्रणेता सागरनन्दिन् (1050–1100 ई) नाट्यदर्पण के रचयिता रामचंद्र गुणचंद्र (1150–1200 ई.) भाव प्रकाशन के लेखक शारदातनय (1200–1250 ई.) के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त सिंह ;शिंगद्ध भ्पाल का रसार्णवसुधाकर (1300–1350 ई.), विश्वनाथ कविराज (1350–1400 ई.) रचित साहित्यदर्पण, भानुदत्त कृत रसमञ्जरी एवं रसतरंगिणी (1500–1550 ई.) तथा रूपगोस्वामी (1500–1550 ई.) द्वारा प्रणीत नाटक चन्द्रिका भो नाट्यशास्त्रीय परम्परा के प्रतिष्ठित ग्रन्थ हैं।

9.4 नाट्यशास्त्र की विषय वस्तु

नाट्य शास्त्र का मुख्य विषय है – नाट्य। नाट्य नट का कार्य है जो रंगमंच पर प्रेक्षकों के मनोरंजन के लिए प्रस्तुत किया जाता है। भरतमुनि ने इस ग्रन्थ में नट या अभिनेता की दृष्टि से जिन–जिन विषयों के ज्ञान, अभ्यास और रंगमंचीय कौशल की आवश्यकता होती है उनको विषयवस्तु बनाकर छत्तीस अध्यायों में उनका विशद विवेचन, वर्गीकरण एवं स्पष्ट व्याख्यान किया है, जिनसे प्रेक्षक का मनोरंजन सहजता से हो सके। नाट्य के साथ–साथ उसकी आनुषंगिक कलाओं और रंजक पक्षों को सम्मिलित करके भरतमुनि ने एक विश्वकोश की रचना की है। नाट्यशास्त्र के प्रारंभ में संक्षिप्त रूप में उन–उन विषयों का नामोल्लेख भो किया गया है।

9.4.1 नाट्यशास्त्र का 'संग्रह'

ग्रन्थारंभ में संक्षिप्त रूप से ग्रन्थ के अन्तर्गत विवेच्य विषयों का नामोल्लेख 'संग्रह' कहलाता है जिसे 'विषय सूची' भो कह सकते है। नाट्यशास्त्र में 11 विषयों का विवेचन विशदीकरण है जो इस प्रकार श्लोक–निबद्ध है :–

रसा भावा ह्यभिनया धर्मी–वृत्ति–प्रवृत्तयः।
सिद्धिः स्वरास्तथाऽऽतोद्यं गानं रंगश्च संग्रहः।।

अर्थात् नाट्यशास्त्र में वर्णित विषय हैं– रस, भाव, अभिनय, धर्मी, वृत्ति, प्रवृत्ति, सिद्धि, स्वर, आतोद्य, गान तथा रंग।

नाट्य शास्त्र के अनुसार रस आठ ही माने गये हैं – अष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः। ये हैं– श्रृंगार, वीर, हास्य, अद्भुत, बीभत्स, भयानक, रौद्र और करुण। शान्त रस भरत ने नहीं माना किन्तु अभिनवगुप्त ने 'अभिनव भारती' में उसे मुख्य रस कहा जो निवृत्ति प्रधान हैं तथा जिसमें सभो रस समाहित हो जाते हैं। भाव तीन प्रकार के होते हैं– स्थायी भाव, व्यभिचारी भाव तथा अनुभाव। स्थायी भाव रसानुसार क्रमशः आठ हैं– रति, उत्साह, हास,

विस्मय, जुगुप्सा, भय, क्रोध और करुणा। शान्तरस का स्थायी भाव शम या निर्वेद होता है। मुख्य व्यभिचार भाव अस्थायी होते है। उनकी संख्या तैतीस कही गई है। अनुभाव आठ प्रकार के हैः स्तम्भ, प्रलय, रोमांच, अश्रु, स्वेद, वेपथु, वैस्वर्य तथा वैवर्ण्य। ये ही सत्त्वजन्य होने पर सात्त्विक भाव भो कहलाते हैं जिन्हें धनंजय ने अनुभावों से पृथक माना है। अभिनय चतुर्विध है– आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्त्विक। धर्मी दो प्रकार के हैं – लोकधर्मी एवं नाट्यधर्मी।

वृत्तियां चार होती हैं – कैशिकी, सात्त्वती, आरभटी और भारती। रसानुसारी होने से इन्हें नाट्य का प्राणतत्त्व कहा गया है जिनमें नाट्य प्रतिष्ठित होता है– तासु नाट्यं प्रतिष्ठितम्। प्रवृत्तियां देशकालानुसार अनन्त हैं जिनके लिए लोक ही प्रमाण और प्रेरणा स्रोत है। सिद्धि के दो भद है : दैवी और मानुषी। स्वर संगीत के आधार हैं। इनकी संख्या सात है :– षड्ज, ऋषभ, गांधार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद। षड्ज और पंचम के भद नहीं होते, मध्यम का तीव्र भद भो है। शेष रे, ग, ध, नि कोमल भो होते है। आतोद्य वाद्यवृन्द का नाम है। ये चार प्रकार के होते हैं – तत, अवनद्ध, सुषिर और घन। तत तंत्रीवाद्य, अवनद्ध चर्ममंडित, सुषिर छिद्रवाद्य और घन धातुनिर्मित वाद्य होते हैं। गान गीतात्मक कंठ संगीत है, जिसे ध्रुवागान भो कहा जाता है। रंग नाट्यमंच या प्रेक्षामण्डप का नाम है जिसमें नटों द्वारा नाट्यप्रस्तुति की जाती है। इन ग्यारह विषयों का नाम 'संग्रह' है जिसका विस्तारपूर्वक वर्णन नाट्यशास्त्र में किया गया है।

9.4.2 नाट्यशास्त्र का अध्याय–विभाजन

नाट्यशास्त्र में कुल छत्तीस अध्याय है। अन्तिम अध्याय के दो भाग करने से सैंतीस अध्याय हो जाते है। प्रथम अध्याय में प्रश्नोत्तर शैली से प्रारंभ करके देवों की प्रार्थना पर ब्रह्मा द्वारा सार्ववर्णिक पंचम नाट्यवेद की रचना, भरत द्वारा उसकी प्रथम प्रस्तुति एवं प्रयोजन की कथा है। द्वितीय अध्याय में त्रिविध प्रेक्षागृहों का वर्णन है। तृतीय में रंगपूजा–विधि, चतुर्थ में ताण्डव नृत्य–लक्षण तथा पंचम में पूर्वरंग–विधान का वर्णन है। छठा अध्याय रस–निष्पत्ति और सातवां भाव विवेचन को समर्पित है। अष्टम अध्याय से अभिनव–वर्णन प्रारंभ होता है। नवम से त्रयोदश अध्याय तक आंगिक अभिनय की हस्त मुद्राओं, कटि परिचालन, चारी एवं मण्डल तथा गति प्रचार का वर्णन है। चतुर्दश में आहार्य अभिनय के अंतर्गत वेशभ्षा एवं प्रवृत्तियों का तथा 15 वें से 19 वें अध्याय तक वाचिक अभिनय का विस्तार है। 20वें अध्याय में रूपकों के दस विभदों एवं अन्य संघटक अंगो की चर्चा है।

इक्कीसवें अध्याय में कथावस्तु, संधि, अवस्था, अर्थप्रकृति एवं अर्थोपक्षेपक वर्णित है। 22वें अध्याय में चतुर्विध वृत्तियों के भद–प्रभद का विवरण है। 23वें अध्याय में आहार्य अभिनय के अंतर्गत नेपथ्य (वेशभ्षा) के चार प्रकार बतलाकर आभ्षण एवं रूपसज्जा को जातीय विविधताओं का वर्णन है। 24वें अध्याय में सामान्य अभिनय, 25वें में वैशिक पुरुष तथा 26वें में चित्राभिनय तथा 27वें में सिद्धि के दो प्रकारों का वर्णन है। 28 से 34 अध्याय तक संगीत शास्त्र का विषय प्रतिपादित किया गया है जिसमें चतुर्विध वाद्य (आतोद्य) सप्त स्वर, ताल, लय, ध्रुवागान आदि का सविस्तार वर्णन है। पैंतीसवां अध्याय 'भ्मिका–पात्रविकल्पाध्याय' ह तथा अंतिम छत्तीसवें अध्याय में भरतमुनि द्वारा नहुष की प्रार्थना पर स्वर्गस्थ नाट्य की भ्मि पर अवतारणा होने का आख्यान है।

9.4.3 भरत का रस सूत्र एवं उसके व्याख्याकार

भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र के षष्ठ अध्याय में एक सूत्र लिखा– 'विभावानुभावव्याभिचारीसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः।' यह भरत रससूत्र है जो कलाजन्य आत्मानंद की प्रक्रिया का भारतीय चिन्तन है। भरत ने रसना (जिह्वा) द्वारा ग्राह्य छः रसों के दृष्टान्त से बड़ी सरलता के साथ भावक प्रेक्षकों द्वारा नाट्य–प्रयोग के माध्यम से अनुभ्त किये जाने वाले 'रसास्वाद' को स्पष्ट कर दिया था–

जैसे गुड आदि पदार्थों, हल्दी आदि औषधियों एवं अन्य द्रव्यों से युक्त व्यंजनों के सेवन से षड्रसों का लौकिक आस्वाद खाने वाले को मिलता है उसी प्रकार नाना विभाव, अनुभाव,

व्याभिचारी आदि भावों के संयोग से प्रेक्षक के स्थायी भाव अलौकिक रसत्व को प्राप्त हो जाते हैं।

भरत मुनि ने कारण, कार्य, सहकारी साधनों के संयोग से आनंदानुभ्ति के सिद्धान्त के लिए क्रमशः विभाव, अनुभाव और व्याभिचारी के संयोग से रस की निष्पत्ति जैसे पारिभाषिक शब्द गढ जो सर्वमान्य हुए किन्तु उनके लौकिक आस्वाद के दृष्टान्त के मूल में कलाजन्य आत्मानंद का जो गूढ दर्शन छिपा था, उसने दार्शनिक आचार्यों को व्याख्या हेतु आकर्षित किया और रस सूत्र की चार प्रमुख शास्त्राचार्यों ने व्याख्या की जिनके नाम है – भट्ट लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक और अभिनवगुप्त। ये चारों दार्शनिक थे अतः इनकी व्याख्याएं भो दर्शनप्रेरित हैं।

भट्ट लोल्लट मीमांसक थे अतः उन्होंने विभावादि को कारण और रस को कार्य मानकर 'निष्पत्ति' का अर्थ 'उत्पत्ति' निकाला। उनका कथन था कि रस की स्थिति अनुकार्य में होती है। विभावादि का संयोग स्थायी भाव के साथ होता है जिससे वह उपचित होकर रस बन जाता है। श्री शंकुक नैयायिक थे, अतः उन्होंने विभावादि को हेतु मानकर रस को प्रमेय बताया जिसकी 'अनुमिति' प्रेक्षक को 'चित्रतुरगन्याय' से होती है। भट्ट नायक सांख्यमतानुयायी थे, उन्होंने अभिधा, भावकत्व और भोजकत्व (त्रिविध) व्यापारों से भावित सत्त्वोद्रेकप्रकाश्य मुक्तिविलक्षण ब्रह्मास्वाद सहोदर आनंद को रस कहा। अभिनवगुप्त अद्वैतवादी थे, उन्होंने इन तीनों मतों को अस्वीकार करते हुए सहृदय–हृदयसंवेद्य विलक्षण रूप में अभिव्यक्त होने वाली अनुभ्ति को आस्वादरूप माना। संक्षेप में रससूत्र के व्याख्याकारों के मतो का यही निष्कर्ष है।

9.5 नाट्यशास्त्र (द्वितीय अध्याय) में वर्णित नाट्यवेश्म

ब्रह्मा ने जब नाट्यवेद की रचना की और भरतमुनि को इन्द्रध्वज महोत्सव के अवसर पर नाट्य के प्रयोग का निर्देश दिया तो इन्द्रविजय को नाट्य रूप में ढालकर भरतमुनि ने अपने पुत्रों से दैत्यदानव नाशन का खुले मंच पर अभिनय कराया। अपनी पराजय की प्रत्यक्ष अनुकृति देखकर दानव भड़क उठे और उन्होंने विघ्न उत्पन्न करके नाट्य प्रस्तुति को तहस–नहस कर डाला। उस समय इन्द्र ने वज्र से विघ्नों को जर्जर तो कर डाला किन्तु उन्हें नाट्य की निर्विघ्न प्रस्तुति हेतु बंद प्रेक्षागृह के निर्माण का विचार आया। उन्होंने ब्रह्मा से निवेदन किया। ब्रह्मा ने विश्वकर्मा को आदेश दिया। विश्वकर्मा ने नटों के अभिनय और प्रेक्षकों के उपवेशन पर गहन विचार करके प्रेक्षागृह बनाया जिसका अवलोकन करके ब्रह्मा और देवगण प्रसन्न हुए। विश्वकर्मा ने नाट्यवेश्म के जो त्रिविध प्रकार और प्रमाण बनाकर प्रेक्षागृह निर्मित किये, उनका वर्णन नाट्यशास्त्र के द्वितीय अध्याय में हुआ है।

9.5.1 त्रिविध संनिवेशः प्रकार एवं प्रमाण

वास्तुशास्त्र के अनुसार विश्वकर्मा ने नाट्यवेश्म के 'त्रिविध संविनेश' की परिकल्पना की। आयताकार, वर्गाकार तथा समत्रिभजाकार तीन नाट्यवेश्मों को जो मानचित्र बने, उनके नाम हैं – विकृष्ट, चतुरस्र तथा त्र्यस्। विकृष्ट की व्युत्पत्ति है – विभागेन कृष्टः दीर्घः इति विकृष्टः अर्थात् जिसकी एक भजा लम्बी हो ऐसा आयताकार भवन 'विकृष्ट' कहलाता है। चतुरस्र की व्युत्पत्ति है– चतसृषु दिक्षु साम्येन इति चतुरस्रः अर्थात् जिसकी लम्बाई चौडाइ और दिशाओं में समान हो। 'त्र्यस्' की व्युत्पत्ति है – 'तिस्रो अस्रयः त्र्यस्री तदस्मिन्निति त्र्यस्रः –

अर्थात् जिमसें तीन कोण हों वह त्रिकोणमंडप त्र्यस्र कहलाते है। इनके दो प्रमाण है – हस्त और दण्ड। एक हस्त डेढ़ फीट का होता है। एक दण्ड चार हस्त के बराबर अर्थात् 6 फीट होता है। प्रमाण के हिसाब से ये तीनों मण्डप पुनः तीन प्रकार के होते है – ज्येष्ठ (सबसे बड़ा), मध्यम तथा अवर (छोटा) इस प्रकार 3 X 3 X 2 = 18 प्रकार के प्रेक्षागृह होते हैं। इनमें राजाओं के लिए निर्मित मध्यम प्रकार के नाट्यवेश्म आकार–प्रकार और बाह्य प्रस्तुति की सुस्वरता की दृष्टि से श्रेष्ठ माने गये हैं। द्वितीय अध्याय में विस्तार से केवल मध्यम विकृष्ट नाट्यगृह का वर्णन किया गया है। चतुरस्र मण्डप के वर्णन में जहां–जहां

भिन्नता है, उसका निर्देश तथा 24 स्तंभों के विधान का वर्णन हुआ है। त्र्यस् मंडप का तो उल्लेख मात्र है।

9.5.2 मध्यम विकृष्ट नाट्यवेश्म

जिस नाट्यवेश्म की लम्बाई 64 हस्त और चौडाई 32 हस्त हो, उसे मध्यम विकृष्ट प्रेक्षागृह कहा जाता है। इसके दो भाग किये जाते है। जिसमे पूर्व का आधा भाग दर्शको के बैठने के लिए 32 X 32 हस्त और पश्चिम दिशा का आधा भाग रंगकम के लिए निर्धारित होता है। इस भाग के पुनः दो भाग 16 X 32 हस्त प्रमाण से किये जाते है। जिनमें पीछे के 16 X 32 वाले भाग में नेपथ्य बनाया जाता है और आगे के भाग 8 X 32 हस्त प्रमाण से पुनः दो भाग करके रंगशीर्ष और रंगपीठ का निर्माण किया जाता है। 8 X 32 के माप के रंगशीर्ष में पात्रों के प्रवेश हेतु उत्तर और दक्षिण की ओर नेपथ्य गृह में दो द्वार होते है। रंगपीठ के दोनो ओर 8 X 8 हस्त की मत्तवारणियां बनती है तथा मुख्य रंगाभिनय के लिए दर्शकों के समक्ष 16 X 32 हाल प्रमाण का रंगपीठ रहता है। इसका सामान्य मानचित्र इस प्रकार है :–

9.5.3 नाट्यवेश्म के प्रमुख भाग

उपर्युक्त मानचित्र के अनुसार नाट्यवेश्म का सबसे महत्त्वपूर्ण भाग है– रंगपीठ। यह प्रेक्षागार के धरातल से डेढ हस्त (सवा दो फीट) ऊपर उठा हुआ चबूतरा (प्लेटफार्म) है जिस पर अभिनेता रंगकम प्रस्तुत करते हैं, इसके दोनों और मत्तवारणियां बनाई जाती है। रंगपीठ के पीछे समतल या एकस्तर ऊंचा रंगशीर्ष होता है, जहां संगीत कक्ष और नट के रंगावतरण का स्थल बनाया जाता है। रंगशीर्ष में उत्तर–दक्षिण भित्तियों से आठ हस्त की दूरी पर दो द्वार नेपथ्यगृह में प्रवेश हेतु बनाये जाते हैं। नेपथ्य गृह (ग्रीन रूम) में कलाकारों की रूप सज्जा (मेकअप) और पात्रानुरूप वेश धारण करने का कक्ष होता है। रंगपीठ के सामने आधे भवन में दर्शकों के लिए बैठने की पीठिकाएं स्टेडियम की तरह सोपान (सीढियों) की आकृति में पूर्व दिशा की भित्ति तक क्रमशः ऊपर उठी हुई बनाई जाती हैं। यह प्रेक्षामण्डल पर्वत की गुफा की तरह होता है। दर्शकों की संख्या अधिक रखने के लिए इसे दुमंजिला (द्वि–भ्मि) भो बनाया जा सकता है। विभिन्न बिन्दुओं पर इसमें छत को धारण करने वाले रस स्तम्भ लगाने का निर्देश है। यही नाट्यवेश्म के प्रमुख भाग है।

बोध प्रश्न

3. निम्नलिखित कथन में से जो सही हो उसके आगे (✓) और जो गलत हो उसके आगे (X) का चिह्न लगाइये।

क) इन्द्रध्वज महोत्सव के अवसर पर भरत मुनि ने 'दैत्यदानव–नाशन' का अभिनय कराया। ( )

ख) ब्रह्मा ने नटों के अभिनय और प्रेक्षकों के उपवेशन पर विचार करके प्रेक्षागृह बनाया। ( )

4. नाट्यशास्त्र में वर्णित तीन नाट्यवेश्म कौन से है ? उनका संक्षिप्त परिचय दीजिये।

अभ्यास

2. नाट्यवेश्म के प्रमुख भागों को लगभग 100 शब्दों में लिखिये।

9.6 नाट्यशास्त्र का द्वितीय अध्याय

नाट्य शास्त्र के छत्तीस अध्यायों में से द्वितीय अध्याय में भरतमुनि ने नाट्यगृह के तीन प्रकारों का वर्णन किया है। हमारे पास प्राचीन भारतीय नाट्यगृहों के बारे में स्थापत्य कला और वास्तुशास्त्र की दृष्टि से प्रामाणिक जानकारी का यही एक मात्र साक्ष्य है। मध्यप्रदेश के सरगुजा जिले में सीताबेंगा और जोगीमारा की गुफाएं, कालिदास द्वारा वर्णित दरीगृह और शिलावेश्म, दण्डी द्वारा उल्लिखित 'कृत्रिम शैलगुहाकार प्रेक्षागृह' आदि कलात्मक मनोविनोद के प्राकृतिक स्थल अवश्य हो सकते हैं। किन्तु जितने सुव्यवस्थित रंगमंडप निर्माण का

वर्णन प्रस्तुत अध्याय में है, उसका प्राचीन भारत में मूर्त रूप से भले न मिलता हो, किन्तु प्रेक्षागृह का ऐसा आदर्श वैज्ञानिक स्वरूप दूसरा नहीं हो सकता है।

9.6.1 अध्याय का सार संक्षेप

नाट्य शास्त्र का द्वितीय अध्याय नाट्यवेश्म के लक्षण के सम्बन्ध में मुनियों की जिज्ञासा से प्रारंभ होता है (श्लोक 1–3) भरतमुनि नाट्यमंडप के तीन प्रकार एवं प्रमाण बताते हुए (4–24) मध्य विकृष्ट नाट्यगृह को श्रेष्ठ बताकर उसका वर्णन करते है। (25–27) पहले भ्मिशोधन, सूत्र–ग्रहण, फिर 64 द 32 हस्त के मध्य विकृष्ट–भवन के निर्माण में प्रेक्षक मंडप, नेपथ्य गृह, रंगशीर्ष, रंगपीठ, मत्तवारणी आदि स्थलों की रचना एवं काष्ठ विधि, भित्ति कम, स्तम्भ विधान, शैलागुहाकार एवं द्विभ्मिक प्रेक्षा मंडप, निर्माण, भित्तिलेप, सुधाकम, चित्रकम आदि का क्रमशः वर्णन किया गया है। (28–90) इसके बाद चतुरस्र प्रेक्षागृह के अंतर्गत 24 स्तम्भों के स्थापन का विवरण (91–105) तथा अन्त में त्र्यस्र् नाट्य गृह–निर्माण का संकेत (106–109) यही इस अध्याय का सार ह।

9.6.2 अध्याय का नाट्य शास्त्रीय महत्त्व

प्रस्तुत अध्याय का महत्त्व प्राचीन भारत में 'शास्त्रतः परिकल्पित' प्रेक्षागृह के तीन आकार, त्रिप्रकारों के नाम, त्रिविध प्रमाणों के अभिधान तथा उनमें से प्रशस्यतम मध्यम विकृष्ट नाट्यगृह के विशेष प्रामाणिक विवरण के कारण है। महाकवि कालिदास ने कहा था – 'प्रयोग प्रधानं हि नाट्यशास्त्रम्' (मालविकाग्निमित्रम्)। यह प्रयोग एक सुव्यवस्थित ढंग से निर्मित प्रेक्षाभवन में सुन्दर रंगमंच पर ही संभव है। ऐसे ही रंगमंच और प्रेक्षागृह का वर्णन करते हुए भरतमुनि ने नाट्य जगत् को जो पारिभाषिक शब्दावली जैसे नेपथ्यगह, रंगशीर्ष, पार्श्व, रंगपीठ, मत्तवारणी, प्रेक्षक–उपवेशन आदि प्रदान की है, वह महत्त्वपूर्ण है। नाट्य विषयक सारा ज्ञान तब तक व्यर्थ है जब तक उसे नाटक में ढालकर रंगमंच पर प्रस्तुत करके दर्शकों का मनोरंजन न किया जाय। प्रयोग के लिए उपयुक्त शास्त्रीय भारतीय रंगमंच के ज्ञान के लिये नाट्य शास्त्र का यह अध्याय विशेष महत्वपूर्ण है।

9.6.3 नाट्य शास्त्र (द्वितीय अध्याय)

प्रमुख अंशों की व्याख्या

1. **देवानां मानसीसृष्टिर्गृहेषूपवनेषु च।**
   यथाभावाभिनिर्वर्त्याः सर्वे भावास्तु मानुषाः।
   नराणां यत्नतः कार्या लक्षणाभिहिताः क्रियाः।।5।।

अर्थ – देवताओं को गृहों तथा उपवनों के निर्माण में मानसी शक्ति प्राप्त है (अर्थात् देवगण अपनी इच्छा से ही गृह–उपवन आदि का निर्माण कर लेते हैं, अतः उनके लिए 'इतिकतव्यता' की रचना–शैली का वर्णन आवश्यक नहीं है) किन्तु मनुष्यों के सभो भाव तो यत्नपूर्वक निष्पन्न किये जाने क योग्य होते हैं। अतः मनुष्यों को नाट्य–निर्माण विषयक समस्त क्रिया–विधान शास्त्रोक्त लक्षणो में बताये गये नियमों के अनुसार ही यत्नपूर्वक करना चाहिए।

व्याख्या – इस श्लोक से सूचित होता है कि नाट्यगृहों की अधिक आवश्यकता मनुष्यों के लिए ही है, देवगण के लिए नहीं क्योंकि देवों को क्रिया की अपेक्षा नही होती है। वे तो अपनी मानस शक्ति से सभो (अपेक्षित मंच आदि) वस्तुओं की सृष्टि में इच्छा–मात्र से निर्माण कर देने की क्षमता रखते हैं।

2. **इह प्रेक्षागृहं दृष्ट्वाा धीमता विश्वकमणा।**
   त्रिविधः संनिवेशश्च शास्त्रतः परिकल्पितः।।7।।

अर्थ – यहां अथात् नाट्य–मण्डप के विषय में प्रेक्षागृह की रचना आदि को देखकर (अच्छी तरह विचार करके) बुद्धिमान् (निर्माण–विशेषज्ञ) विश्वकर्मा ने तीन प्रकार के परिमाण (माप) की शास्त्र के अनुसार परिकल्पना की।

व्याख्या – संनिवेश का अर्थ है – आकार एवं परिमाण। विश्वकर्मा देवताओं के वास्त–शास्त्र विशेषज्ञ माने जाते हैं। अतः उनके लिए 'धीमता' विशेषण प्रयुक्त किया गया है। उन्होंने प्रेक्षागृह के निर्माण हेतु जो 'त्रिविध संनिवेश' की परिकल्पना की है, उसके अंतर्गत तीन प्रकार के आकार, उनके परिमाण (प्रमाण) तथा शास्त्रीय नाम आ जाते हैं। ये हैं – आयताकार, वर्गाकार तथा त्रिभजाकार। परिमाण हैं– बड़ा (ज्येष्ठ), मँझला (मध्य) तथा छोटा (अवर)।

3. **विकृष्टश्चतुरश्रश्च त्र्यश्रश्चैव तु मण्डपः।**
तेषां त्रीणि प्रमाणानि ज्येष्ठं मध्यं तथाऽवरम्।।8।।

अर्थ – जिस मण्डप (प्रेक्षागृह) में नाट्य की प्रस्तुति दी जाती है, उसके प्रकार की दृष्टि से तीन नाम है (क) विकृष्ट, (ख) चतुरस्र तथा (ग) त्र्यस्र्। विकृष्ट आयताकार होता है। चतुरस्र वर्गाकार तथा त्र्यस्र् त्रिभजाकार मण्डप को कहते हैं। इनके प्रमाण (माप) की दृष्टि से तीन आकार होते हैं – ज्येष्ठ (बड़ा), मध्य (मँझला) और अवर (छोटा)।

व्याख्या – प्रेक्षागृह कुल तीन प्रकार के ही नाट्यशास्त्र में उल्लिखित है जिनके लिए 'त्रिविध संनिवेश' कहा गया। एक अन्य श्लोक में इनके लिए 'त्रिप्रकारो विधिः' कहकर भरतमुनि ने अपने कथन को पुनः पुष्ट किया है –

प्रेक्षागृहाणां सर्वेषां त्रिप्रकारो विधिः स्मृतः।
विकृष्टश्चतुरस्रश्च त्र्यस्र्श्चैव प्रयोक्तृभिः।।13।।

4. **प्रमाणमेषां निर्दिष्टं हस्तदण्डसमाश्रयम्।**
शतं चाष्टौ चतुःषष्टिर्हस्ता द्वात्रिंशदेव च।।
अष्टाधिक शतं ज्येष्ठं चतुःषष्टिस्तु मध्यमम्।
कन्नीयस्तु तथा वेश्म हस्ता द्वात्रिंशदिष्यते।।10।।

अर्थ – भरतमुनि द्वारा निर्दिष्ट त्रिविध नाट्यगृहों का प्रमाण या माप हस्त और दण्ड के आधार पर निश्चित किया जाता है। ये माप हैं – एक सौ आठ हस्त, चौंसठ हस्त तथा बत्तीस हस्त। एक सौ आठ हस्त वाला वेश्म (प्रेक्षागृह) ज्येष्ठ चौंसठ हस्त वाला मध्य तथा बत्तीस हस्त वाला कनीय (अवर) होता है।

व्याख्या – नापने के लिए हस्त और दण्ड के प्रमाण ही प्राचीन काल में प्रायः प्रचलित थे। डॉ.वासुदेवशरण अग्रवाल ने 'पाणिनिकालीन भारतवर्ष' नामक ग्रन्थ में लिखा है कि अष्टाध्यायी (5/4/86) तथा कौटिल्य के अर्थशास्त्र (2/10) में इसी प्रकार के माप–तौल का प्रमाण बतलाया गया है। मानव के कराग्र से कोहनी तक का भाग 'हस्त' माना जाता है, जो लगभग डेढ़ फुट के बराबर होता है। 'चतुर्हस्तो भवेद्दण्डः' के अनुसार एक दण्ड चार हस्त के बराबर (लगभग 6 फीट) होता है।

इस प्रकार जिस नाट्यमण्डप की लम्बाई 108 हस्त होती है, वह ज्येष्ठ कहलाता है, 64 हस्त लम्बाई वाला मध्य तथा 32 हस्त लम्बाई वाला प्रेक्षागृह कनीय (अवर) होता है। ज्येष्ठ प्रेक्षागृह देवों के लिए मध्य नाट्यवेश्म राजाओं के लिए तथा अवर नाट्यगृह सामान्य प्रजाजनों के लिए निर्मित किया जाता है।

कुछ लोगों का अभिमत है कि विकृष्ट, चतुरस्र तथा त्र्यस्र् ही ज्येष्ठ, मध्यम तथा अवर कहलाते हैं। अन्य विद्वान् कहते हैं कि प्रत्येक प्रकार के प्रमाणानुसार तीन–तीन भद होने से प्रेक्षागृहों के नौ भद हो जाते हैं। 'अभिनवभारती' के रचयिता अभिनवगुप्त ने भो इसी व्यवस्था को उचित माना है– 'एतान्येव त्रीणि ज्येष्ठादीनि, इति केचित्। अन्ये तु प्रत्येकं त्रित्वमिति नवैते भदा इत्याहुः, एतदेव युक्तम्।' हस्त और दण्ड प्रमाण के अनुसार भदों की कल्पना करने पर कुल 18 भद हो जाते हैं।

यथा –

प्रेक्षागृह

↓

विकृष्ट			चतुरस्र			त्र्यस्र		
ज्येष्ठ 1	मध्य 2	अवर 3	ज्येष्ठ 4	मध्य 5	अवर 6	ज्येष्ठ 7	मध्य 8	अवर 9

हस्त और दण्ड प्रमाण से निर्मित होने पर 18 प्रकारों के इन प्रेक्षागृहों में भो हस्तप्रमाण को अधिक मान्यता दी गई है तथा राजाओं के लिए निर्मित होने वाले मध्यम प्रेक्षागृहों को ही नाट्य–प्रयोग की दृष्टि से श्रेष्ठ माना गया है। यही कारण है कि नाट्य शास्त्र के द्वितीय अध्याय में मध्य विकृष्ट प्रेक्षागृह का ही विशिष्ट एवं विशद वर्णन किया गया है। मध्यम आकार–प्रकार के प्रेक्षागृह में अभिनय की स्वाभाविकता बनी रहती है और अभिनेता के भाव, संवाद तथा गान–संगीत आदि दर्शकों तक अनायास सम्प्रेषित हो सकते हैं। अभिनवगुप्त न देवता, नृप और प्रजाजन का जो वर्णन किया है, वे पात्र रूप में है, प्रेक्षक रूप में नहीं किन्तु भरतमुनि ने उन्हें प्रेक्षक मानकर उनके मनोरंजन एवं सम्प्रेषण सुविधा को ध्यान में रखकर ही तीन प्रकार के प्रेक्षागृहों का विधान किया है। अतः 'देव–नृप–प्रकृतिजन' को प्रेक्षक मानना उचित है।

यहां यह उल्लेखनीय है कि भरतमुनि ने हस्त प्रमाण से पूर्व अपने समय में प्रचलित छः सूक्ष्म प्रमाणों का भो श्लोक संख्या 16 में उल्लेख किया है जो इस प्रकार है– अणु, रज, लिक्षा, यूका, यव तथा अंगुल।

5. **प्रेक्षागृहाणां सर्वेषां प्रशस्तं मध्यमं स्मृतम्।**
तत्र पाठ्यञ्च गेयञ्च सुखश्राव्यतरं भवेत्।।12।।

अर्थ – सभो प्रकार के प्रेक्षागृहों में मध्यम परिमाण (चौंसठ हस्त) वाला प्रेक्षागृह, जो राजाओं के लिए विहित है, सबसे अधिक प्रशस्त (श्रेष्ठ) माना गया है क्योंकि उसमें किये गये नाट्य–प्रयोग का पाठ्य (संवाद) तथा गीत सुखपूर्वक सुना जा सकता है।

व्याख्या – मध्यम आकार का प्रेक्षागृह न अधिक बड़ा, न अधिक छोटा होने से पात्रों के सहज भावाभिनय तथा प्रेक्षकों द्वारा उनकी ग्रहणीयता के सर्वथा अनुकूल होता है, इसलिए इसे नाट्य–प्रयोग हेतु प्रशस्त कहा गया है। पाठ–भद के कारण यह श्लोक कुछ परिवर्तन के साथ संख्या 24 पर पुनः आया है।

6. **अणूरजश्च बालश्च लिक्षा यूका यवस्तथा।**
अंगुलञ्च तथा हस्तो दण्डश्चैव प्रकीर्तितः।।16।।

अर्थ – नाट्यगृह के हस्तप्रमाण एवं दण्डप्रमाण के सन्दभ में यहां माप की समस्त इकाईयों का उल्लेख किया गया है। ये इकाईयां हैं – अणु, रज (रजःकण), बाल (केश), लिक्षा (लीख), यूका (जूं), यव (जौ), अंगुल (उंगली), हस्त (हाथ) और दण्ड।

व्याख्या – प्राचीन काल सर्वाधिक छोटी इकाई अणु से माप की प्रक्रिया शुरू की जाती थी। भवन–निर्माण में हस्त और दण्ड परिमाण का प्रयोग किया जाता है। प्रस्तुत श्लोक में जिन इकाइयों का नामोल्लेख है, उनका क्रमशः सम्बन्ध आगामी श्लोकों में स्पष्ट किया गया है। तदनुसार –

8 अणु	=	1 रजः कण
8 रजः	=	1 बाल (केश)
8 बाल	=	1 लिक्षा (लीख)
8 लिक्षा	=	1 यूका (जूं)
8 यूका	=	1 यव (जौ का दाना)
8 यव	=	1 अंगुल
24 अंगुल	=	1 हस्त
4 हस्त	=	1 दण्ड

परिमाण की इकाइयों का यह क्रम है जिनमें से अन्तिम दो के आधार पर ही प्रेक्षा भवन के निर्माण का निर्देश है।

7. **चतुःषष्टिकरान् कुर्याद्दीर्धत्वेन तु मण्डपम्।**
द्वात्रिंशेन तु विस्तारं मर्त्यानां यो भवेदिह।।20।।
अत ऊर्ध्वं न कतव्यः कर्तृभिर्नाट्यमण्डपः।
यस्माद व्यक्तभावं हि तत्र नाट्यं व्रजेदिति।।21।।

अर्थ – इस पृथ्वी पर मनुष्यों विशेषतः राजाओं के लिए जिस प्रेक्षागृह (मध्यम विकृष्ट) को प्रशस्त कहा गया है, उसके मण्डप की लम्बाई (दीर्घता) चौसठ हस्त तथा चौडाई (विस्तार) बत्तीस हाथ रखनी चाहिए। मण्डप निर्माताओं को इससे अधिक बड़ा नाट्यगृह नहीं बनाना चाहिए क्योंकि अधिक विस्तीर्ण होने पर नाट्याभिनय के भावादि अच्छी तरह सम्प्रेषित न होने के कारण अस्पष्ट (अव्यक्त) होने लगेंगे।

व्याख्या – श्लोक संख्या 90 में उल्लेख है कि 'एवं विकृष्ट कतव्यं नाट्यवेश्म प्रयोक्तृभिः।' तदनुसार यहाँ जो 64 X 32 हस्त का माप निर्धारित किया गया है वह आयताकार मध्यम विकृष्ट नाट्यगृह का ही है। 'विकृष्ट' शब्द की व्याख्या है– विभागेन कृष्टः दीर्घ इति विकृष्टः अर्थात् लम्बाई–चौड़ाई की दोनों दिशाओं में जो अलग–अलग (विभागेन) खींचा गया (कृष्टः) हो। इसका अभिप्रायः यह है कि चौड़ाई की अपेक्षा जिसकी लम्बाई अधिक रहे।

8. **मण्डपे विप्रकृष्टे तु पाठ्यमुच्चारितस्वरम्।**
अनिस्सरणधर्मत्वाद विस्वरत्वं भृशं व्रजेत्।।22।।
यश्चाप्यास्यगतो भावो नानादृष्टि समन्वितः।
स वेश्मनः प्रकृष्टत्वाद् व्रजेदव्यक्ततां पराम्।।23।।

अर्थ – नाट्यमण्डप (थियेटर हॉल) के विप्रकृष्ट अर्थात् अत्यन्त बड होने पर वाचिक कथोपकथन (संवाद या पाठ्य) तथा गेय में उच्चारित स्तर स्फुट रूप में प्रेक्षकों तक न पहुंच पाने से विस्वरता (बेसुरेपन) को प्राप्त हो जायेगा। साथ ही अभिनेता के सात्विक अभिनय अथवा नृत्यमुद्रा के समय मुखमण्डल (चेहरे) पर अभिव्यक्त नाना प्रकार की दृष्टियों से समन्वित भाव भो प्रेक्षागृह के अधिक प्रकृष्ट (बड़ा) होने पर अव्यक्त होकर रह जायेगा।

व्याख्या – विप्रकृष्ट और प्रकृष्ट दोनों शब्द नाट्यगृह के अधिक लम्बा–चौड़ा होने के द्योतक विशेषण है। 'अनिस्सरण धर्मत्व' का आशय है– अत्यन्त दूर पहुंचने पर शब्द या स्वर का सुचारु तथा प्रसारित न हो पाना या विघटित हो जाना। इसी कारण पाठ्य या गेय विस्वरता को प्राप्त करता है। साथ ही अभिनेताओं के चेहरे पर विद्यमान ;आस्यगतद्ध अश्रु, वैवर्ण्य आदि अनुभाव, दृष्टि–संचालन से अभिव्यक्त सुख–दुःखादि भाव प्रेक्षागह के अतिविस्तीर्ण होने से अस्पष्ट रह जाते हैं और प्रेक्षक की तन्मय रसानुभ्ति में बाधा उत्पन्न करते हैं। इसके अतिरिक्त अतिशय छोटे प्रेक्षागृह में उच्च स्वर में बोला गया पाठ्य अस्वाभाविक और माधुर्यहीन हो जाता है। अनिस्सरण धर्म अर्थात् अनुरणनहीनता के कारण

स्वर में विस्वरता आ जाती है। इसलिए पाठ्य और गान की रसानुकूल संप्रेषणीयता के लिए भरतमुनि ने मध्यम आकार के प्रेक्षा–भवन की ही संस्तुति की है।

9. **समा स्थिरा तु कठिना कृष्णा गौरी च या भवेत्।**
भूमिस्तत्रैव कतव्यः कर्तुभिर्नाट्य–मण्डपः।।28।।

अर्थ – नाट्यगृह के निर्माण के लिए जो भ्मि चुनी जाय, वह समतल, स्थिर और कड़ी होनी चाहिए एवं जिसकी मिट्टी काली और गौरवर्ण मिश्रित हो– ऐसी भ्मि पर वास्तुविशेषज्ञ निर्माताओं को नाट्यमण्डप का निर्माण करवाना चाहिए।

व्याख्या – भोज–रचित 'समरांगण–सूत्रधार' में भ्मि की श्रेष्ठता के परीक्षण का नियम उल्लिखित है। भवन–निर्माण से पूर्व भ्मि का परीक्षण नितान्त आवश्यक होता है। प्राचीन वास्तुशास्त्र के अनुसार श्रेष्ठ भ्मि के वही गुण बताये गये हैं जो इस श्लोक में वर्णित है। विश्वकर्मा वास्तु विज्ञान के आद्य प्रवर्तक माने गये है। अतः उनके द्वारा निर्दिष्ट गुणों से युक्त भ्मि ही प्रेक्षागृह के लिए श्रेष्ठ होती है।

10. **कार्पासं वाल्वजं वाऽपि मौञ्जं वाल्कलमेव च।**
सूत्रं बुधैस्तु कतव्यं यस्यच्छेदो न विद्यते।।32।।

अर्थ – (भ्मि–परीक्षण, हल द्वारा भ्मि–शोधन, शुभ नक्षत्र–विचार करने के बाद, निर्माण कार्य से पूर्व वास्तु–मानचित्र के अनुरूप प्रेक्षागृह के विभिन्न भागों के माप के लिए भ्मि पर रेखांकन किया जाता है। इस कार्य के लिए सुदृढ़ रज्जु होनी चाहिए।)

माप के लिए विशेषज्ञ निर्माण–कर्ताओं को ऐसा सूत्र ;(रज्जु) बनवाना चाहिए, जो नापते समय टूटे नहीं। यह सूत्र कपास (सूत), राण (जूट/सन), मूंज अथवा पेड़ की छाल के रेशों से निर्मित सुदृढ़ होना चाहिए क्योंकि मान–सूत्र का नापते समय टूटना अशुभ माना जाता है।

व्याख्या – मान–सूत्र (नापने की रस्सी) बनाने का जो विधान यहां दिया गया है, 'मानसार' ग्रन्थ में भो प्रायः यही मिलता है। इसे चूने में डुबोकर धरती पर खुदाई के लिए निशान बनाये जाते थे। यह विधि आज भो प्रचलित है। रस्सी (सूत्र) खींचते समय उसका टूटना अशुभ और कारीगर के अनाड़ीपन का द्योतक होता है। नाट्य शास्त्र (2/33–37) में कहा गया है कि रस्सी बीच से टूटे तो स्वामी ;प्रेक्षागृह के स्वामी या निर्माताद्ध की निश्चित मृत्यु होती है, तिहाई भाग से टूटे तो राष्ट्रकोष ;उपद्रवद्ध, चौथे भाग से टूटे तो नाट्य के प्रयोक्ता ;प्रस्तुतकर्ताद्ध का नाश हो जाता है। रस्सी हाथ से छूट जाए तो भो कुछ–न–कुछ हानि अवश्य होती है। अतः रज्जु–निर्माण और रज्जुग्रहण सदैव प्रयत्नपूर्वक सावधानी से करना चाहिए। अनुकूल मुहूर्त, तिथि तथा करण में भ्–मापन करते समय, ब्राह्मणों को तृप्त करके, स्वस्तिवाचन करने के बाद शान्ति–जल छिड़क कर सूत्र–ग्रहण करना चाहिए।

11. **चतुःषष्टि करान् कृत्वा द्विधा कुर्यात्पुनश्च तान्**
पृष्ठतो यो भवेद् भागो द्विधा भूतस्य तस्य तु।।37।।
सममर्ध–विभागेन रंगशीर्षं प्रकल्पयेत्
पश्चिमे तु पुनर्भाग नेपश्यगृहमादिशेत्।।38।।

अर्थ – विकृष्ट (आयताकार) के मध्य परिमाण वाले नाट्यमण्डप की रचना हेतु हस्त–प्रमाण से भ्मि विभाजन का वर्णन करते हुए भरतमुनि कहते हैं कि चौंसठ हाथ लम्बाई वाले प्रेक्षागृह को पुनः दो भागों में विभक्त करना चाहिए अर्थात् 32 X 32 हस्त के दो भाग करना चाहिए। आगे का 32 X 32 भाग छोड़कर पीछे वाले भाग को फिर दो भागों में विभक्त किया जाय अर्थात् उसके 16 X 32 हस्त के दो भाग करके आगे वाले आधे भाग में रंगशीर्ष का प्रकल्पन (निर्माण) तथा पश्चिम (दिशा वाले) आधे भाग (16 X 32 हस्त) में नेपथ्य गृह का निर्माण करना चाहिए।

व्याख्या– मध्यम विकृष्ट प्रेक्षागृह आयताकार होता है तथा उसकी लम्बाई 64 हस्त और चौडाई 32 हस्त होती है। हस्त डेढ़ फुट के बराबर होता है। अतः 64 X 32 हस्त को हम

आज की भाषा में 96 X 48 फीट भो कह सकते हैं। प्रस्तुत श्लोक के अनुसार प्रेक्षागृह के भ्खण्ड का निम्नलिखित मानचित्र बनता है :–

इसमें पूर्व दिशा की ओर का आधा भाग (32 X 32 हस्त) प्रेक्षकों के लिए निर्धारित है तथा पश्चिम की ओर का आधा भाग नाट्याभिनय के लिए है। नाट्याभिनय वाले भाग का पिछला 16 X 32 हस्त भाग नेपथ्यगृह के लिए सुरक्षित है, जहां अभिनेताओं की रूप सज्जा की जाती है, जिसे अंग्रेजी में 'ग्रीनरूम' कहते है। आगे का 16 X 32 हस्त भाग रंगशीर्ष तथा रंगपीठ के लिए होता है जहां नाट्य–प्रस्तुति की जाती है।

12. एवं तु स्थापनं कृत्वा भित्तिकम प्रयोजयेत्।
भित्तिकमणि निवृत्ते स्तम्भानां स्थापनं ततः।। 47–48।।

अर्थ – इस प्रकार नाट्यवेश्म की स्थापना अर्थात् भ्–गभ में आधारशिला से ऊपर भ्मितल तक नींव रखने का कार्य सम्पन्न करके भित्ति कम (दीवार उठाने का कार्य) प्रारंभ करना चाहिए। भवन के चारों ओर दीवारें उठ जाने के बाद स्तम्भ–स्थापन (खम्भ उठाने का कार्य) करना चाहिए।

व्याख्या– भवन निर्माण में तीन कार्य प्राथमिक रूप से मुख्य होते हैं–शिलान्यास (नींव भरने का कार्य), जिसे स्थापन–विधि या 'निवेशन' कहते हैं, भित्तिकम और स्तम्भ स्थापन। श्लोक में 'एवं' शब्द पूर्व प्रसंग से जुडता है जिसका तात्पर्य है कि शुभ नक्षत्र अनुकूल मूहर्त, तिथि, करण आदि के योग में, शंख, दुन्दुभि, मृदंग ढोल आदि वाद्यों की ध्वनियों के साथ रंगमण्डप की स्थापना करनी चाहिए। स्थापन–उत्सव के समय अपशकुनों का, पाखंडियो और सन्यासी साधुओं का निवारण करना आवश्यक है। रात्रि में नाना–व्यंजन, गन्धपुष्प, फलादि सामग्रो दसों दिशाओं के अधिष्ठाता देवताओं को मंत्रोच्चार सहित अर्पित करनी चाहिए। पूर्व दिशा में शुक्ल, अन्न, दक्षिण में लाल अन्न, पश्चिम में पीले अन्न तथा उत्तर में नील अन्न की देवबलि प्रदान करनी चाहिए। ब्राह्मणों को घृत–मिश्रित खीर, राजा को मधुपर्क और कार्यकर्ताओं को गुड़धानी देना चाहिए। 'एवं' शब्द की यही पृष्ठभ्मि है।

स्थापन के पश्चात् भित्तिकम करने का निर्देश है। यह कार्य भो स्थापन की तरह उत्सव मनाते हुए शुभ वेला में करना उचित होता है। भित्ति प्रेक्षागृह के चारों और पक्की ईंटों से करना चाहिए। भरतमुनि ने प्रेक्षकों के बैठने (उपवेशन) की विधि में (2/95) 'इष्टकादारुभिः' तथा चतुरस्र नाट्यगृह निर्माण प्रसंग में श्लिष्टेष्ट का दृढा भित्तिः (2/94) का उल्लेख किया है। इससे स्पष्ट है कि इष्टका (ईंटों) का प्रयोग भित्तिकम में किया जाता था। दक्षिण भारत के प्राचीन स्थापत्य भवनों के स्तम्भों की ऊंचाइ सामान्यतः 18 से 22 फीट तक होती है। अतः अनुमान लगाया जा सकता है कि दीवारों की ऊंचाई भो प्रेक्षागृह के चारों कोनों पर स्थित स्तम्भों की ऊंचाई के बराबर होनी चाहिए।

भित्तिकम के पूर्ण होने पर स्तम्भों का स्थापन किया जाता था। भवन के आच्छादन (छत) का भार वहन करने के लिए तो सुदृढ़ स्तम्भों का निर्माण अनिवार्य है ही, भवन के आभ्यन्तर भाग में उपवेशन–विधि में भो वर्ण–व्यवस्था के अनुसार चतुर्विध रंगो के खम्भ खड़े करना तत्कालीन समाज की व्यवस्था थी जो नाट्यकला की सार्ववर्णिकता का प्रमाण था और स्तम्भों के निर्धारित रंग दर्शकों के वर्णों के परिचायक होते थे। स्तम्भ–स्थापन का कार्य भो उत्सव की तरह शुभ नक्षत्र योग में करना उत्तम माना जाता था। प्रस्तुत श्लोक में उपर्युक्त तीनों निर्माण कार्यों का नामोल्लेख–मात्र है जिसका विशदीकरण अन्य पद्यों में किया गया है।

13. सर्वमेवं विधिं कृत्वा सर्वातोद्यैः प्रवादितैः
अभिमन्त्रय यथान्यायं स्तम्भानुत्थापयेच्छुचिः।। 64–65।।

अर्थ – इस प्रकार (पूर्वोक्त) सभो विधि–विधानों को सम्पन्न करके तथा सभी मंगलवाद्यों की ध्वनि करते हुए, पवित्र होकर, शास्त्रविधि से मन्त्रोच्चार पूर्वक अभिमन्त्रित करके स्तम्भों की उत्थापना करनी चाहिए।

व्याख्या – 'सर्वमेवं विधिं कृत्वा' वाक्यांश में स्तम्भ–स्थापन के समय की जाने वाली समस्त पूर्वोक्तविधियों का अधिग्रहण होता है। तदनुसार स्तम्भों का स्थापन तीन रात उपवास करने वाले एकाग्रचित आचार्य द्वारा सूर्योदय –काल के शुभ मुहूर्त में करवाना चाहिए। सर्वप्रथम भवन के ईशान कोण में शुक्ल माल्य एवं शुक्ल अनुलेपनयुक्त ब्राह्मण स्तम्भ, फिर आग्नेय कोण में क्षत्रिय स्तम्भ, नैऋत्य कोण में वैश्यस्तम्भ तथा वायव्य कोण में शूद्र स्तम्भ का स्थापन किया जाता है। ब्राह्मण स्तम्भ स्थापन में घृत और सरसों से संस्कृत सर्वशुक्ल विधि के साथ खीर बननी चाहिए। क्षत्रियस्तम्भ पर वस्त्र, माल्य, अनुलेपन आदि के साथ लाल रंग की विधि करके द्विजों को गुड–ओदन देना चाहिए। वैश्यस्तम्भ–स्थापन में पीत पदार्थो से युक्त विधि और द्विजों को घृत–ओदन–दान करना चाहिए। शूद्र स्तम्भ में नील पदार्थों की विधि करके द्विजों को कृसर अर्थात् खिचड़ी का भोजन करना चाहिए। ब्राह्मण स्तम्भ के मूल में कनक, क्षत्रिय स्तम्भ के मूल में ताम्र, वैश्यस्तम्भ के मूल में चाँदी और शूद्रस्तम्भ के मूल में लोहे के साथ सभो स्तम्भों के मूल में सोना अवश्यडालना चाहिए।

इन स्तम्भों के लिए की गई रंगो की व्यवस्था चारो वर्णों की सूचक है। ब्राह्मण स्तम्भ का श्वेत वर्ण सात्त्विकता और ज्ञान का, क्षत्रिय स्तम्भ का लाल वर्ण शौर्य और राजस वृत्ति का, वैश्य का पीतवर्ण धन–लक्ष्मी का तथा शूद्रों का नील वर्ण तामसवृत्ति का बोधक है। इन स्तम्भों की स्थापना स्वस्तिवाचन मंत्र, वाद्यवादन एवं जय–जयकार के घोष तथा पुष्पमाला की सजावट करते हुए भरपूर रत्न, वस्त्र, गौ आदि के दान के साथ करनी चाहिए। यह ध्यान रखना चाहिए कि स्तम्भ अचल, अकम्प और अवलित (सीधा) खड़ा रहे क्योंकि स्तम्भ का कम्पित, टेढामेढा और चलायमान होना अशुभ और विनाशकारी माना गया है। भरतमुनि का कथन है कि खम्भा अचल न रहे तो दुर्भिक्ष और इधर उधर झुक जाय तो मृत्यु का प्रकोप होता है। स्तम्भ कम्पित हो जाय शत्रु–सेना के आक्रमण का दारुण भय उत्पन्न हो जाता है। अतः स्तम्भ सुदृढ़ और विचल रहना चाहिए क्योंकि उसी की दृढ़ता पर भवन टिका रहता है। ये चारों प्रमुख वर्ण–स्तम्भ नाट्यकला की सार्ववर्णिकता के प्रमाण और प्रतीक होते हैं इसलिए सर्वप्रथम प्रेक्षागृह के चारों कोणों पर इन्हें स्थापित करने का निर्देश है।

14. **यथा चलो गिरिर्मेरुर्हिमवांश्च महाबलः ।**
जयावहो नरेन्द्रस्य तथा त्वमचलो भव ।।65–66।।

अर्थ – 'जैसे सुमेरु पर्वत अचल (स्थिर) है और हिमालय पर्वत महाबलवान् है, है स्तम्भ! तुम भो उसी प्रकार राजा (प्रेक्षागृह–निर्माता) की विजय के वाहक (विजयदाता) बनकर सदा अविचल बने रहो।'

व्याख्या – स्तम्भ को अभिमंत्रित करने का यह प्रार्थना–मंत्र है। स्तम्भों का धार्मिक विधि से स्थापन जहाँ भो होता है, प्रायः सर्वत्र उसकी उपमा सुमेरु पर्वत से देने की परिपाटी रही है। मानसार नामक वास्तुग्रन्थ (15/213) में इसका स्पष्ट उल्लेख है। भरतोक्त प्रेक्षागृह में लगभग 24 स्तम्भों के स्थापन का निर्देश मिलता है। (ना.शा. 2/94–99) इनमें भवन के चारों कोणों पर स्थापित स्तम्भों को जोड़ने पर कुल स्तम्भों की संख्या 28 हो जाती हैं भवन के भोतर स्तम्भों के स्थान के बारे में विद्वानों में मतभिन्नता है तथापि दो स्तम्भ नेपथ्यगृह में, आठ स्तम्भ मत्तवारणियों के लिए रंगपीठ पर, रंगमंडप की भित्तियों के साथ दोनों ओर कुल छः स्तम्भ तथा आठ अन्य स्तम्भ रंगमंडप को छत को धारण करने के लिए यथेष्ट रूप से स्थापित करके उन्हें काष्ठपुत्तलिकाओं और शालभजिकाओं से सज्जित करना चाहिए। ये सभो स्तम्भ आठ हस्त की दूरी पर स्थित, परस्पर गुँथी हुई ;विद्धास्यद्ध धारणियों से युक्त, अलंकृत तथा सुदृढ़ एवं अचल रहें– अतः उन्हें अभिमन्त्रित करने का विधान है।

15. **रंगपीठस्य पार्श्वे तु कतव्या मत्तवारणी ।**
चतुःस्तम्भसमायुक्ता रंगपीठ–प्रमाणतः ।।67।।
अध्यर्ध हस्तोत्सेधेन कतव्या मत्तवारणी।
उत्सेधेन तयोस्तुल्यं कतव्यं रंगपीठकम् ।।68–69।।

अर्थ – पूर्वोक्त रंगशीर्ष (16 X 32 हस्त) के दो भाग होते हैं जिनमें आगे का 8 X 32 हस्त भाग, जहाँ रंगाभिनय प्रस्तुत किया जाता है, रंगपीठ के दोनों पार्श्वों में रंगपीठ के परिमाण के अनुरूप चार–चार स्तम्भों से युक्त मत्तवारणी बनाना चाहिएं ये मत्तवारणियाँ प्रेक्षामण्डप के धरातल से डेढ़ हस्त की ऊँचाई ;उत्सेधद्ध पर (लगभग सवा दो फुट) बनाई जानी चाहिए। इनकी ऊँचाई के बराबर ही रंगपीठ की ऊँचाई रहनी चाहिए।

व्याख्या – मत्तवारणी रंगपीठ के दोनों ओर 8 X 8 हस्त के प्रमाण से बनाये जाने वाले दो बरामदों के रूप में होती थी जिसके चारों कोनों पर चार खम्भ होते थे। 'मत्तवारणयोर्वरण्डः' के अनुसार बरामदे (वरण्डक) को 'मत्तवारण' कहते हैं। पात्रों के प्रवेश, निर्गम अथवा मुख्य दृश्य के समानान्तर प्रतीक्षा या विश्राम के दृश्य के लिए मत्तवारणी का उपयोग किया जाता था। 'मत्तान् वारयतीति'– इस व्युत्पत्ति से उत्मत्त दर्शकों को रंगमंच पर चढ़ने से रोकने के लिए अवरोध–स्वरूप भो मत्तवारणी का निर्माण आवश्यक होता था। मत्तवारणी के विषय में विद्वानों के अनेक मत हैं जिनमें गोदावरी के तकर, डॉ. मनोमोहन घोष, प्रो. डी. आर. मनकड़, प्रो. भानु, जयशंकर प्रसाद एवं प्रो. सुब्बाराव तथा अभिनवभरत पं. सीताराम चतुर्वेदी के मत उल्लेखनीय हैं। प्रो. सुब्बाराव मत्तवारणी को बरामदा न मानकर रंगपीठ के अलंकरण की वस्तु मानते हैं तथा 'मत्तवारणी' की व्युत्पत्ति करते हैं– 'मत्तानां वारणानां श्रेणिः'। उन्होंने श्लोक में प्रयुक्त 'स्तम्भ' के स्थान पर 'स्तम्ब' शब्द की कल्पना करते हुए 'चतुस्तम्ब–समायुक्ता' पाठ स्वीकार किया है। 'स्तम्बेरमः' हाथी का पर्याय है और 'स्तम्ब' उस 'आलान–स्तम्भ' को कहते हैं जिससे हाथी को बाँधा जाता है। अतः प्रो. सुब्बाराव के मतानुसार 'मत्तवारणी' रंगपीठ के उठे हुए भाग पर आगे की ओर दर्शकों की ओर उन्मुख करके कलात्मक ढंग से उकेरी गई चार स्तम्बों के बीच में सूंड उठाये हुए मस्त हाथियों की श्रेणी का नाम है जो रंगपीठ के अधिष्ठाता देवराज इन्द्र के वाहन ऐरावत हाथियों की सूचक है। नाट्यशास्त्र के प्रथम अध्याय (90) में मत्तवारणी की रक्षा के लिए 'विद्युत दैत्यनिषूदिनी' को स्थापित करना भो इस तथ्य को पुष्ट करता है। यह मत मौलिक और चमत्कारपूर्ण अवश्य है किन्तु नाट्यशास्त्र और अभिनवभारती में उल्लिखित 'मत्तवारणी' के स्वरूप से मेल नहीं खाता। मत्तवारणी रंगपीठ का अत्यन्त उपयोगी भाग है। अतः इसके निर्माण के समय भो माल्य, धूप, गन्ध, विविध रंग के वस्त्र तथा स्वादिष्ट पदार्थों के दान का विधान किया गया है।

16. रंगपीठं ततः कार्यं विधिदृष्टेन कमणा
रंगशीर्षन्तु कतव्यं षड्दारुकसमन्वितम् ।।73।।

अर्थ– मत्तवारणी के निर्माण के बाद वास्तुशास्त्र के विधानानुसार रंग पीठ का निर्माण करना चाहिए। रंगपीठ का धरातल (शीर्ष) ऊँचा रखने के लिए काली मिट्टी से उस भाग को भरना चाहिए। (काली मिट्टी भरने से रंगमंच सुदृढ़ होता है क्योंकि ऐसी मिट्टी धसकती नहीं है। इस मिट्टी को ढोने वाले श्रमिक हृष्ट–पुष्ट, स्वस्थ और अंगविकार रहित हो तथा ढोने वाली गाड़ी में जुते हुए बैल श्वेत रंग के हों।) इसी उठे हुए मंच–भाग पर रंगशीर्ष का निर्माण करके उसे ''षददारुकसमन्वित' (छः काष्ठखण्डों से युक्त) बनाना चाहिए।

व्याख्या – रंगपीठ और रंगशीर्ष भारतीय रंगमंच के दो विशिष्ट भाग हैं जो रंगकम की प्रस्तुति के लिए आवश्यक होते हैं। रंगपीठ रंगमंच का अग्रभाग है और रंगशीर्ष पृष्ठ भाग जहाँ से नेपथ्यगृह में प्रवेश किया जाता है। इसी कारण रंगशीर्ष पर दायें–बायें दो द्वार नेपथ्यगृह में जाने के लिए बनाये जाने का निर्देश है। (ना.शा.2/74) रंगपीठ पर नाट्याभिनय किया जाता है। रंगशीर्ष पात्रों के लिए विश्राम अथवा प्रवेशपूर्व प्रतीक्षा का स्थान होता है। नेपथ्यस्वर और नेपथ्यसंगीत हेतु वाद्य–वादन का स्थान भो रगशीर्ष होता है। कभो–कभो रंगशीर्ष और रंगपीठ के बीच रंगपट (जवनिका) भो रखा जाता था। यद्यपि डॉ. मनोमोहन घोष और प्रो. सुब्बाराव रंगशीर्ष और रंगपीठ को पृथक् नहीं मानते किन्तु प्रो. डी.आर. मनकड, डॉ. वे0राघवन् एवं आचार्य विश्वेश्वर ने सप्रमाण सिद्ध किया है कि ये दोनों रंगमंच के पृथक् भाग हैं। इसी अध्याय के श्लोक (संख्या 104) में विकृष्ट नाट्यगृह में

रंगपीठ से उन्नत और चतुरस्र में समतल रंगशीर्ष का उल्लेख दोनों के अलग–अलग होने का स्पष्ट प्रमाण है।

'षड्दारुकम्' – रंगशीर्ष पर बना हुआ काष्ठनिर्मित 'त्रिद्वारक' ;तिबारीद्ध है जिसे अलंकरण के उद्देश्य से बनाया जाता है। इसकी व्युत्पत्ति है– 'षण्णां दारूणां समाहारः इति षड्दारुकम् ।' काष्ठ के चार खड़े और ऊपर नीचे दो आड़े खण्ड जोड़कर बनाने से बीच में तिबारी बन जाती है। 'षड्दारुक' का उल्लेख अथर्ववेद में भो आया है। तदनुसार इसमें दो–दो उपमित, परिमित तथा प्रतिमित काष्ठों का उपयोग किया जाता है। सीधे दो काष्ठस्तम्भों को 'उपमित', इस पर आधारित ऊपर नीचे के स्तम्भों को 'परिमित' तथा दो स्तम्भों के गुणा के आकार (X) को 'प्रतिमित' कहा गया है। प्रेक्षागृह में यह षड्दारुक रंगशीर्ष के अधोभाग पर लगाया जाता है, यह पात्रों के भार को वहन करता है क्योंकि इस प्रकार के ढाँचे के केन्द्र बिन्दु पर मंच का गुरुत्व टिका रहता है तथा इस पर से उच्चरित स्वर प्रतिध्वनित नहीं होता।

कुछ विद्वान् काष्ठ विधि में उल्लिखित ऊह, प्रत्यूह आदि (श्लोक 80–84) काष्ठ सज्जाओं को 'षड्दारुक' कहते हैं जो प्रामाणिक प्रतीत नहीं होता। वह काष्ठविधि तो प्रेक्षागृह की शोभा हेतु की गई काष्ठ–कला है। अन्य विद्वान् 'रंगावतरण' शब्द के आधार पर कल्पना करते हैं 'रंगशीर्ष' रंगपीठ के पिछले आधे भाग में उठा हुआ अन्य मंच होता है, जिस पर पात्र और वाद्यवादक बैठते हैं। वाद्यवादक ;कुतपद्ध वाद्य–वादन करते या गाते थे और यथासमय पात्र वहाँ से उतरकर रंगपीठ पर खेले जा रहे दृश्य में प्रवेश कर लेते थे। ये सब शब्दों की स्वच्छन्द व्युत्पत्तियों के आधार पर किये गये अनुमान हैं। आजकल भो नाटकों में रंगपीठ पर प्रायः दो धरातल बनाये जाते हैं। पीछे के ऊँचे धरातल को ''अपस्टेज' और आगे के दर्शकों के समीप के रंगपीठ के धरातल को 'डाउनस्टेज' कहा जाता है। इस प्रकार रंगशीर्ष और रंगपीठ का संयुक्त नाम ही 'रंगमंच' है।

17. कूर्मपुष्ठं न कतव्यं मत्स्यपृष्ठं तथैव च ।
शुद्धादर्शतलाकारं रंगशीर्ष प्रशस्यते ।।77–78।।

अर्थ – यह रंगशार्ष न तो कछुए की पीठ के समान (बीच से अधिक उभरा हुआ) बनाना चाहिए, न ही इसका धरातल (फश) मछली की पीठ के समान लंबा और दूर तक उभरा हुआ ही होना चाहिए। शुद्ध दर्पण के तल के समान समतल धरातल वाला रंगशीर्ष ही श्रेष्ठ समझा जाता है।

व्याख्या – रंगशीर्ष (स्टेजटॉप) पर नाट्य, नृत्य आदि कलाओं की प्रस्तुति होती है, अतः उसका फश ऊबड़–खाबड़ न होकर दर्पण–तल की तरह समतल और चिकना होना चाहिए ताकि गतिप्रचार में बाधा उत्पन्न न हो। रंगपीठ पर ब्रह्मा, इन्द्र, मित्र, अग्नि, आदित्य, रुद्र आदि देवगण स्थित रहकर अंशभाग से इसकी रक्षा करते हैं, अतः इसके निर्माण के समय फश के नीचे चारों दिशाओं में रत्न जड़ना चाहिए। यथा–पूर्व में हीरा (वज्र), पश्चिम में स्फटिक मणि, उत्तर में मूंगा (प्रवाल) तथा दक्षिण में वैदूर्य (लहसुनिया) लगाना चाहिए।

18. कार्यः शैलगुहाकारो द्विभूमिर्नाट्यमण्डपः ।
मन्दवातायनोपेतो निर्वातः धीर शब्दवान् ।।85–86।।

अर्थ – यह नाट्यमण्डप (प्रेक्षागृह) पर्वत की गुफा के समान आकार वाला तथा द्विभ्मि (निम्न से ऊपर उठते हुए धरातल वाला अथवा दुमंजिला) बनाया जाना चाहिए जिसमें मन्द–मन्द वायु–प्रवाह वाले वातायन (गवाक्ष) हो, तेज हवा से सुरक्षित (निर्वात) और गम्भोर शब्दों को प्रतिध्वनित करने वाला गोलाकार आच्छादन (छत) हो।

व्याख्या – आचार्य दण्डी ने 'दशकुमारचरितम्' में प्रेक्षागृह के कृत्रिम शैलगुहा जैसा होने का संकेत दिया है– 'महति भ्मिगृहे कृत्रिम–शैलगर्भोत्कीर्णे नानामण्डप–प्रेक्षागृहे....। महाकवि कालिदास ने 'मेघदूतम्' में उज्जयिनी के समीप नीच पर्वत पर 'शिलावेश्म' का उल्लेख किया हे। भरतमुनि ने यहाँ प्रेक्षामण्डप के 'शैलगुहाकार और द्विभ्मिक' होने का निर्देश पहले ही दे दिया था। प्रेक्षागृह में ध्वनि के समुचित विस्तरण के लिए उसके धरातल और छत को

निम्नोन्नत बनाना, जो पर्वत गुफा के विषम–स्तरोय स्वरूप के समान हो वास्तु दृष्टि से उचित होता है। जिस प्रकार गुफा का आकार प्रायः प्रवेश–स्थल के बाद क्रमशः विस्तृत, फिर संकीर्ण हो जाता है, उसी प्रकार विनियोजित प्रेक्षागृह के अंदर प्रेक्षक–स्थल विस्तृत, ऊपर से नीचे की ओर जाते हुए अनेक धरातल–स्तर वाला होता जाता है, आगे रंगमंच स्थल संकीर्ण हो जाता है। आज भो प्रेक्षा–भवन प्रायः ऐसी गुफा की आकृति के समान ही बनाये जाते हैं।

द्विभ्मिक नाट्यमण्डप बनाने का भरतमुनि ने निर्देश तो किया किन्तु उसे स्पष्ट नहीं किया। इस कारण यह निष्कष निकालना कठिन है कि प्रेक्षक–स्थल द्विभ्मिक ;दो मंजिल वालाद्ध हो या रंगमंच दुमंजिला बनाया जाय। आजकल प्रेक्षागार (ऑडिटोरियम) को बाल्कनी बनाकर दुमंजिला बनाया जाता है किन्तु भारत में उड़ीसा के कोणार्क नट–मंदिर में दुमंजिला (द्विभ्मिक) रंगमंडप और रामेश्वरम् के मंदिर में बना दुमंजिला मण्डप इस बात के प्रमाण हैं कि रंगमंच भो द्विभ्मिक बनाया जाता था, यद्यपि दूसरी मंजिल काष्ठ निर्मित होती थी।

द्विभ्मिक को कुछ विद्वान मुख्य नाट्यमण्डप के चारों ओर लगभग आठ हस्त की चौड़ाई की मंदिर परिक्रमा की भाँति घूमने वाली गैलरी मानते हैं, तथा इसी में रंगपीठ के दोनों पाश्र्वों में बरामदों जैसी

8 X 8 हस्त की चार स्तंभों वाली मत्तवारणियाँ बनाने का निर्देश देते हैं जिससे उन्मत्त लोगों (दर्शकों) का रंगभाग में निर्बाध प्रवेश न हो सके। यह मत विचारणीय ळें

9.7 पारिभाषिक शब्दावली

द्वितीय अध्याय से सम्बन्धित प्रेक्षागृह विषयक प्रमुख शब्दावली इस प्रकार है–

नेपथ्यगृह – रूपसज्जा–कक्ष (ग्रीन रूम)

रंगशीर्ष – रंगपीठ और नेपथ्यगृह के मध्य का स्थान (अपस्टेज)

रंगपीठ – अभिनय का मुख्य कार्य–स्थल (रंगमंच का अग्रभाग)

मत्तवारणी – रंगपीठ के दोनों ओर 8 ͜ 8 हस्त के चौकोर बरामदे

प्रेक्षामण्डप – दर्शकों के बैठने का स्थान (ऑडिटोरियम)

द्विभूमि – दूसरी मंजिल या रंगमंडप के चारों ओर परिक्रमा जैसी गैलरी

षड्दारुक – छः लट्ठों से रंगशीर्ष में बनी तिबारी

दारुकम – काष्ठ विधि (लकड़ी से सजावट)

स्तम्भ–विधान – प्रेक्षागृह की छत को आधार देने वाले खम्भों का निर्माण

भित्तिलेप – शंख, चूना, चिकनाई से बना दीवारों का लेप (प्लास्टर)

सुधाकम – सफेद चूने से दीवारों की पुताई

कुतप (भाण्ड) – वाद्यवृन्द

सोपानाकृति – सीढीनुमा

नेपथ्यकम – वेशभूषा, वस्त्रसज्जा

धारणी – दो खम्भों के ऊपर रखे सरदल (लिण्टर)

शाला – कक्ष

सूत्र – नापने की रस्सी (फीता)

ऊह – स्तम्भ के ऊपरी सिरे से निकली काष्ठ सज्जा

प्रत्यूह – तुला या ऊह के ऊपर का दूसरा काष्ठ खण्ड

निर्यूह – तुला से बाहर दो खंभों के मध्य लगी चौखट या तख्तों की दीवार

सञ्जवन	–	दीवार के सहारे उठे हुए तख्तों की दीवार अथवा काष्ठ की दूसरी छत (डबल रूफिंग)
अनुबन्ध	–	उभरी हुई काष्ठखंड की खुदाई की सजावट
कुहर	–	काष्ठ खंड पर गहरी कुरेद कर की गई कोराई (कार्पिंग) (ऊह से कुहर तक की काष्ठविधि को षड्दारुक' भी कह सकते हैं)
विकृष्ट	–	आयताकार
चतुरस्र	–	चौकोर (वर्गाकार)
त्र्यस्र	–	त्रिकोण (त्रिभुजाकार)

9.8 अभ्यासार्थ प्रश्न

बोधप्रश्न एवं अभ्यास उत्तर

बोध प्रश्न

1. क) x ख) x ग) ✓ घ) ✓
2. देखिये उपभाग 9.3.1
3. क) ✓ ख) x ग) x घ) ✓
4. देखिये उपभाग 9.5.1

अभ्यास

1. देखिये उपभाग 9.3.3
2. देखिये उपभाग 9.5.3

9.9 सारांश

इस प्रकार इस इकाई में हमने भरतमुनि द्वारा प्रेक्षागृह–मण्डप के निर्माण, उसके आकार, प्रकार, प्रमाण तथा प्रेक्षागृह के भीतर अभिनेताओं एवं प्रेक्षकों के लिए निर्धारित स्थलों का शास्त्रीय नाम–सहित ज्ञान प्राप्त किया । इस इकाई में हमने नाट्य–प्रयोग रंगमण्डप के विभिन्न भागों का विस्तृत विवरण प्राप्त किया ।

9.10 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. संस्कृत साहित्य का इतिहास – बलदेव उपाध्याय – शारदा संस्थान, वाराणसी,1985.
2. नाट्य समीक्षा – दशरथ ओझा, पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली, 1984.
3. नाट्यशास्त्र की भारतीय परम्परा एवं दशरूपक (छठा संस्करण), हजारी प्रसाद द्विवेदी एवं पृथ्वीनाथ द्विवेदी,राजकमल प्रकाशन,2013.
4. संस्कृत नाटक–उद्‌भव एवं विकास – उदयभानु सिंह – मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली,2012.
5. नाट्यशास्त्रम् (हिन्दी व्याख्या सहित) – प्रो. ब्रजमोहन चतुर्वेदी, विद्यानिधि प्रकाशन, दिल्ली 2001.
6. नाट्यशास्त्रम् (अभिनवभारती संस्कृत टीका एवं 'तात्पर्यदीपिका' हिन्दी व्याख्या सहित) – पं. जयनाथशास्त्री तैलंग, भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली, वाराणसी 1992.
7. नाट्यशास्त्रम् (प्रदीप हिन्दी व्याख्या) – श्री बाबूलाल शुक्ल, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी 1959.

इकाई—10

साहित्य शास्त्र के प्रमुख सम्प्रदाय अलंकार सम्प्रदाय—प्रमुख ग्रन्थ एवं चिन्तक

इकाई की रूपरेखा

10.0 उद्देश्य

10.1 प्रस्तावना

10.2 साहित्यशास्त्र का संक्षिप्त परिचय

10.2.1 'साहित्य' का अर्थ एवं काव्य—लक्षण

10.2.2 साहित्य शास्त्र : पृष्ठभ्मि

10.2.3 साहित्य के प्रमुख घटक

10.3 साहित्यशास्त्र में सम्प्रदाय—प्रवर्तन

10.3.1 काव्यात्मा का प्रश्न

10.3.2 काव्यात्म—दृष्टि से प्रचलित विभिन्न सम्प्रदाय

10.3.3 सबसे प्राचीन एवं प्रमुख अलंकार सम्प्रदाय

10.4 अलंकार—सम्प्रदाय : एक विहंगम—दृष्टि

10.4.1 अलंकार — लक्षण — विभिन्न मत

10.4.2 अलंकारवादी चिन्तन में ध्वनि तथा रस

10.4.3 अलंकार—सम्प्रदाय का सोपान — विकास

10.5 अलंकार सम्प्रदाय में अलंकार—विवेचन

10.5.1 अलंकार—वैशिष्ट्य का मूलतत्त्व

10.5.2 शब्द—अर्थ—उभय के आधार पर वर्गीकरण

10.5.3 अलंकारों की संख्या

10.6 अलंकार का काव्यात्मत्व—समीक्षण

10.6.1 अन्य सम्प्रदायों की दृष्टि में अलंकार का महत्त्व

10.6.2 अलंकार—सम्प्रदाय के प्रमुख चिन्तक

10.6.3. अलंकार—सम्प्रदाय के प्रमुख ग्रन्थ

10.7 पारिभाषिक शब्दावली

10.8 अभ्यासार्थ प्रश्न

10.9 सारांश

10.10 संदर्भ ग्रंथ सूची

10.0 उद्देश्य

एम.ए.पूर्वार्द्ध संस्कृत के चतुर्थ प्रश्नपत्र के बिन्दु संख्या 3 से सम्बन्धित इस इकाई में साहित्य—शास्त्र के प्रमुख सम्प्रदायों के अन्तर्गत ''अलंकार—सम्प्रदाय'' के प्रमुख ग्रन्थ एवं उनके चिन्तक विद्वान लेखकों का परिचय प्रस्तुत किया गया है। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप जान सकेंगे :—

- अलंकार—सम्प्रदाय की पृष्ठभ्मि एवं परम्परा
- अलंकार—सम्प्रदाय के प्रमुख विचारक तथा उनके ग्रन्थों का परिचय एवं महत्त्व

- काव्यात्मत्व के विषय में अन्य सम्प्रदायों के साथ अलंकार–सम्प्रदाय की तुलनात्मक स्थिति, तथा
- काव्य में 'अलंकार' के महत्त्व का इतिहास एवं निष्कष।

10.1 प्रस्तावना

'अलंकार' शब्द सामान्यतः 'आभ्षण' का वाचक है, जिसे धारण करने से वनिता की सहज सुन्दरता में वृद्धि होती है। काव्य में भो अलंकार उस शोभावर्धक तत्त्व का नाम है जो शब्दार्थमय काव्य की सौन्दर्यवृद्धि करता है। आचार्य भामह का कथन है कि –

न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम्।

कान्त होकर भो वनिता का मुख बिना भ्षण के शोभायमान नहीं होता। हिन्दी के महाकवि केशवदास भो कहते हैं –

भूषण बिन न बिरजई कविता वनिता मित्त।।

कविता में अलंकार का महत्त्वपूर्ण स्थान है। रीतिवादी होकर भो आचार्य वामन ने 'अलंकार' शब्द को व्यापक अर्थ विस्तार देते हुए 'सौंदर्य' को ही अलंकार माना है – ''सौन्दर्यमलङ्कारः''। उनके मतानुसार यद्यपि काव्य की शोभावृद्धि गुणों से होती है किन्तु उस शोभा को अतिशय (अलम्) सीमा तक बढ़ाने के हेतु 'अलंकार' कहलाते हैं :–

काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः। तददतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः।।

(काव्यालंकार सूत्र – 3/1/1,2)

अतः वे पुनः पुनः कहते हैं – 'अलङ्कतिरलंकारः'। अलम् अर्थात् सौंदर्य को चरम सीमा तक पहुंचाना ही अलंकार है। 'काव्य ग्राह्यमलंकारात्'–अलंकार होने पर ही काव्य ग्रहण (आस्वादन) करने के योग्य बनता है। इसलिए लगता है प्रारंभ में काव्य और अलंकार को अभिन्न मानकर समालोचना की विद्या के लिए 'काव्यालंकार' पद का प्रयोग किया जाता रहा होगा। भामह, उद्भट, वामन, रुद्रट आदि ने अपने ग्रन्थों के नाम काव्यालंकार या अलंकार शब्द पर रखे। इसी कारण काव्य–समालोचना के शास्त्र का नाम अलंकार–शास्त्र प्रसिद्ध हुआ। फिर यह विचार उभरा कि काव्य में अलंकार यदि सौन्दर्य का आधान नहीं करेंगे तो वे भ्षण न होकर दूषण हो जाएँगे। आचार्य अभिनवगुप्त का कथन है कि अलंकार वही है जो चारुत्व में अतिशयता लाये– 'चारुत्वातिशयवतामित्यर्थः। वामन ने भो 'सौन्दर्यमलंकारः' कहकर यही तथ्य स्थापित किया था। अतः इस विद्या को 'सौन्दर्यशास्त्र' नाम दिया गया जो अंग्रेजी के 'एस्थेटिक्स' का पर्याय है।

अलंकारशास्त्र और सौन्दर्यशास्त्र दोनां नाम काव्य की समालोचना के परिचायक है। अतः समालोचना (क्रिटिसिज्म) को सीधे काव्य से जोड़ने पर 'काव्यशास्त्र' अभिधान प्रचलित और लोकप्रिय हुआ किन्तु काव्यशास्त्रियों ने काव्य का लक्षण प्रस्तुत करते हुए शब्द और अर्थ के 'साहित्य' (सहितभाव) को काव्य की संज्ञा दी। भामह ने लिखा– 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्'। सारा वाड्.मय शब्दार्थ के 'साहित्य' पर आधारित है। अतः शब्दार्थ की समालोचना के शास्त्र हेतु 'साहित्यशास्त्र' शब्द स्वीकृत हुआ। यह शब्द अधिक व्यापक अर्थ से गर्भित है। इसमें काव्य और काव्येतर वाड्.मय – दोनों का समाहार हो जाता है।

साहित्य शास्त्र में काव्यतत्त्व और उसके अंगभ्त शब्द–शक्ति, अर्थ–शक्ति, गुण, रीति, अलंकार, ध्वनि, रस आदि का समग्र विवेचन किया जाता है। काव्य–रचना के प्रयोजन क्या हैं, कारण क्या हैं, लक्षण क्या है–इनकी मीमांसा की जाती है। प्रायः सभो विचारक 'रस' को काव्य की आत्मा मानते हैं किन्तु काव्य में चमत्कार उत्पन्न करके साहित्य–पाथोनिधि के विलोडन–मंथन से काव्यामृत पान कराने वाले आत्मतत्त्व के विषय में अनेक मत बने, उन मतों पर आधारित सम्प्रदाय और सिद्धान्तों का उद्भव हुआ। संस्कृत साहित्य–शास्त्र में ऐसे छः सम्प्रदाय प्रचलित हैं :–

1. रस सम्प्रदाय

2. अलंकार सम्प्रदाय

3. रीति सम्प्रदाय

4. ध्वनि सम्प्रदाय

5. वक्रोक्तिसम्प्रदाय

6. औचित्य सम्प्रदाय

इनके चिन्तक एवं प्रवर्तक मनीषियों के क्रमशः नाम हैं – सर्वाचार्य 1. भरतमुनि 2. भामह 3. वामन 4. आनन्द वर्धन 5. कुन्तक तथा 6. क्षेमेन्द्र। इनमें आचार्य कुन्तक के वक्रोक्तिसिद्धान्त और आचार्य क्षेमेन्द्र के औचित्य–सिद्धान्त अनुयायियों के अभाव में सिद्धान्त रूप में तो प्रतिष्ठित हुए किन्तु सम्प्रदाय नहीं बन पाये।

इन सम्प्रदायों में अलंकार–सम्प्रदाय का प्रमुख स्थान है। वेदों और उपनिषदों के अनेक मंत्रों मं अलंकारों का प्रयोग हुआ था। किन्तु उनका विवेचन तब नहीं हुआ। केवल उपमा अलंकार का उल्लेख यास्क रचित निरुक्त में तथा पाणिनीय व्याकरण–ग्रंथ 'अष्टाध्यायी' में हुआ। भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में केवल चार अलंकारों का नामोल्लेख किया– उपमा, रूपक, दीपक और यमक। आचार्य भामह ने जब काव्यशास्त्र के पाठ्यरूप के समालोचन का पृथक् मार्ग प्रशस्त किया तब अलंकार को काव्य के अनिवार्य अंग के रूप में साहित्यशास्त्र में स्थान मिला। उसकी गहन मीमांसा की गई और काव्य के प्रमुख सौन्दर्याधायक तत्त्व के रूप में उसे काव्य का आत्मा मानकर अलंकार सम्प्रदाय का प्रवर्तन हुआ। पाँचवी शताब्दी से सत्रहवीं शताब्दी तक अन्य सम्प्रदायों के समानान्तर अलंकारों का काव्यशास्त्रीय दृष्टि से अनवरत मनन–चिन्तन होता रहा, नये–नये अलंकार आविभ्त हुए, उनकी संख्या सवा सौ के लगभग बढ़ती गई, अलंकार विरोधी आचार्य उत्तम काव्य में उनके महत्त्व को कम करके भो उनकी अवस्थिति को नकार नहीं सके।

प्रस्तुत इकाई अलंकार–सम्प्रदाय के प्रवर्तन, इतिहास, उसके चिन्तन आचार्यों तथा उनकी रचनाओं के विवरण–विवेचन से सम्बद्ध है। इसी सन्दभ में अन्य काव्य–सम्प्रदायों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया जायेगा।

10.2 'साहित्यशास्त्र' का संक्षिप्त परिचय

जैसा कि पूर्व इकाई में कहा जा चुका है, साहित्यशास्त्र संस्कृत आलोचना–शास्त्र का पर्यायवाची है। काव्य का लक्षण करते हुए आचार्य भामह ने जब 'शब्दार्थौ सहितौ' कहा, तब उन्होंने शब्द और अर्थ के सहित भाव द्वारा भविष्य में प्रचलित होने वाले साहित्यशास्त्र अभिधान का संकेत कर दिया था। शास्त्रीय रूप से राजशेखर ने 'पश्चमी साहित्य विद्येति' कहकर इस नाम की प्रतिष्ठा की। रुय्यक और विश्वनाथ ने क्रमशः अपने ग्रन्थों के नाम रखे– साहित्य की मीमांसा तथा साहित्य–दर्पण। महाकवि कालिदास ने 'शब्दार्थौ' के स्थान पर 'वागर्थौ' शब्द 'पार्वती परमेश्वरौ' की सटीक उपमा के लिए प्रयुक्त किया, उसमें भो सम्पृक्तता का भाव साहित्य का ही बोधक था। महाकवि माघ ने 'शब्दार्थौ' के द्वन्द्व को ही सत्कवि के लिए अपेक्षित बताया – 'शब्दार्थौ सत्कविरिव द्वयं विद्वानपेक्षते।'

'विक्रमाङ्कदेवचरितम्' महाकाव्य के प्रथम सर्ग महाकवि बिल्हण ने अत्यन्त ललित शैली में स्पष्ट कर दिया कि 'साहित्य' समुद्र की तरह व्यापक शब्द है और काव्य उसी के मन्थन से उद्भत 'अमृत' रूप पदार्थ है। क्षीर सागर–मन्थन के पौराणिक आख्यान के सन्दभ में कवि ने दोनों का रहस्य कितने रोचक व्यंग्य से व्यक्त किया है –

साहित्य–पाथोनिधिमन्थनोत्थं काव्यामृतं रक्षत हे कवीन्द्राः।
यदस्य दैत्या इव लुण्ठनाय काव्यार्थ – चौराः प्रगुणी भवन्ति।।

कई अन्य समालोचक विद्वानों ने अपने ग्रन्थों के नामकरण में 'साहित्य' शब्द अपनाया है। आचार्य कुन्तक भो 'साहित्य' शब्द के पक्षधर हैं आधुनिक युग में संस्कृत वाङ्मय के मूर्धन्य पंडित आचार्य बलदेव उपाध्याय ने 'भारतीय साहित्य शास्त्र' शीर्षक से सुरभारती के

काव्यशास्त्रीय इतिहास पर अपना गन्थ दो खण्डों में लिखा है। यही 'साहित्यशास्त्र' शब्द की प्रामाणिकता एवं संक्षिप्त परिचय है।

10.2.1 'साहित्य' का अर्थ और काव्य–लक्षण

काव्य का प्रथम लक्षण आचार्य भामह ने किया– **'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्'** – अर्थात् शब्द और अर्थ के सहित भाव का नाम है काव्य। यह सहित भाव ही 'साहित्य' है। शब्द और अर्थ पृथक् नहीं हैं फिर भो उनका नामतः पृथक् अस्तित्व प्रतीत होता है अर्थ शब्द में निहित है, उसी का अभिव्यक्त रूप शब्द है। 'शब्दार्थौ' में द्वन्द्व समास और द्विवचन रूप है – दोनों के पृथक् अस्तित्व का बोधक। फिर भो दोनों अभिन्न है। तुलसीदास के शब्दों में यह सम्बन्ध है – गिरा–अरथ जल वीचि सम कहियत भिन्न, न भिन्न। महाकवि कालिदास शब्दार्थौ' में 'पार्वती परमेश्वरौ' को 'अर्धनारीश्वर' के रूप में पृथक् होकर 'सम्पृक्त' देखते हैं। शब्द और अर्थ की यह संपृक्ति, यह सहित–भाव ही काव्य है। साहित्यशास्त्र की सम्पूर्ण परम्परा काव्य का यही लक्षण मान्य रहा है। भले ही दण्डी इसे 'इष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली' कहे या विश्वनाथ 'वाक्यं रसात्मकं' कहें अथवा 'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः कहकर लक्षण करें, काव्य– लक्षण में शब्द और अर्थ के 'साहित्य को नकार नही सकते। अतः मम्मट के शब्दों मे 'शब्दार्थौ' ही 'तत्' है।

सहितौ का एक अर्थ और भो है – हितेन युक्तौ। हित काव्य का प्रयोजन है जिसे मम्मट ने 'शिवेतरक्षति' कहा है। अतः 'स+हितौ' शब्दार्थौ से सभो का हित करते हैं – कवि को यश और अर्थ दिलाकर, जनता को व्यवहार सिखाकर अमंगल दूर करके तथा प्रिय उपदश देकर तथा काव्य–रसिक को परमानंद की अनुभ्ति द्वारा। यह साहित्य का अर्थ है यही काव्य का लक्षण है।

10.2.2 साहित्य शास्त्र : पृष्ठभूमि

संस्कृति के विकास की यही परिपाटी रही है कि रचना पहले होती है, फिर उसकी व्याख्या की जाती है। लक्ष्य–ग्रन्थ पहले लिखे जाते हैं फिर उन पर लक्षण–ग्रन्थों का लेखन होता है। जीवन के यथार्थ स्वतः घटित होते रहते हैं, उन्हें नियमशासित एवं आदर्श बनाने के लिए 'शस्त्र' का प्रणयन किया जाता है। साहित्य–शास्त्र के लेखन की भो यह पृष्ठभ्मि है।

मंत्रदृष्टा ऋषियों ने वैदिक मंत्रों का साक्षात्कार किया उन्हें शब्दाथ रूप में ढाला जिन्हें सुनकर जनमानस पवित्र और मुग्ध हुआ किन्तु उनकी काव्यमयी शब्दार्थ–सम्पदा का आनंद 'गूंगे के गुड़' की तरह ले पाया। धीरे–धीरे उसने उनकी व्याख्या, प्रशस्ति और समालोचन के लिए शब्दावली गढ़ी, उदाहरणों से कुछ मानक बनाये, लक्षणों की परिकल्पना की आर शास्त्र का निर्माण किया। यह सूक्ति प्रसिद्ध है– 'कविः करोति काव्यानि रसं जानन्ति पण्डिताः।' इन रसज्ञ पंडितो ने पहले 'कवि स्वयंभः' के काव्य को पढ़ा–देखा जो अमर–अजर है – ''पश्य देवस्य काव्यं, न ममार न जीर्यति।'' फिर अपनी कल्पना शक्ति से भाव जगत् की रचना करने वाले 'कविरेकः प्रजापति' की रचना का आस्वाद लिया और उस काव्य की समीक्षा के, समालोचना के नियम बनाये और उन्हें नाम दिया – 'साहित्यशास्त्र'। यही साहित्यशास्त्र के प्रणयन की पृष्ठभ्मि है। यह शास्त्र काव्य–रचना की अनुवर्ती होता है। प्रत्येक युग में जब 'निरंकुशाः कवयः' नई–नई उद्भावनाएं करते है, नया शिल्प गढते हैं, तो इस शास्त्र के मानक भो बदलते जाते हैं।

10.2.3 साहित्य के प्रमुख घटक

साहित्यशास्त्र का फलक बहुत व्यापक है। कहा गया है– 'अनन्तपारं किल शब्दशास्त्रम्'। शब्द ब्रह्म है, 'बृंह्' धातु का अर्थ है – विस्तार करना। भर्तृहरि कहते हैं कि परब्रह्म की तरह शब्दब्रह्म में निष्णात व्यक्ति भो परब्रह्म स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। शायद इसी भाव से भट्टनायक ने काव्य की चरम रसानुभ्ति को 'ब्रह्मास्वाद–सहोदर' कहा था। यह काव्य शब्दार्थ–युगल के साहित्य का नाम है। इसका शास्त्र लिखने वाले साहित्य–मनीषियों ने काव्य–रसिकों के ज्ञान के लिए कछ घटक निश्चित किये, तथा अपने ग्रंथों में उनकी सोदाहरण मीमांसा की है। ऐसे कतिपय घटकों का नामतः परिचय निम्नलिखित है :–

काव्य–लक्षण, काव्य–हेतु, काव्य–प्रयोजन, काव्य के प्रकार (विधाएँ), श्रेष्ठता के आधार पर काव्य–भद, काव्यगुण, काव्य दोष, काव्य के शब्दार्थ–गत अलंकार, शब्द शक्ति–अभिधा, लक्षणा तात्पर्याख्या तथा व्यंजना की परिभाषा एवं भदोपभद, काव्यात्मा विवेचन, विभिन्न सम्प्रदाय, रसनिष्पत्ति तथा उसके विभावानुभाव व्यभिचारी एवं स्थायी भाव का विवेचन, कवि एवं काव्य–रसिक तथा काव्येतिहास का अध्ययन–समीक्षण आदि।

10.3 साहित्य शास्त्र सम्प्रदाय–प्रवर्तन

इस इकाई का प्रतिपाद्य विषय है संस्कृत साहित्यशास्त्र के प्रमुख सम्प्रदायों के अंतर्गत अलंकार–सम्प्रदाय की चिन्तन एवं ग्रन्थ–परम्परा का परिचय। सम्प्रदाय–प्रवर्तन का क्रम भरतमुनि के नाट्यशास्त्र से ईसा–पूर्व युग में आरम्भ हो चुका था जब काव्य के आत्मतत्त्व के रूप में रस की प्रतिष्ठा हुई। भरतमुनि ने लिखा– 'न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते। भरत ने 'नाट्य' में रसनिष्पत्ति का सूत्र रचा और रस–सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया। छठी शताब्दी में जब आचार्य भामह से शब्दार्थमय श्रव्य काव्य के पृथक विवेचन का युग शुरू हुआ तब सर्वप्रथम शब्द और अर्थ के अलंकरण के लिए 'अलंकार तत्त्व' को काव्य का प्राण मानकर रसानुभ्ति के प्रमुख साधन के रूप में अलंकार को प्रधानता मिली। इस प्रकार काव्यशास्त्र में सम्प्रदाय प्रवर्तन आगे बढा। कुछ और गहराई में जाने पर गुण और रीति को अंगीभ्त रस के आन्तरिक धर्म होने से अलंकार से अधिक प्रधानता मिली। 8वीं शताब्दी में शब्द शक्तियों के विवेचन में जब व्यञ्जना–शक्ति का आविष्कार हुआ तो ध्वनितत्त्व को शब्दार्थमय काव्य के प्राणतत्त्व होने का सम्मान मिला। ध्वनि की प्रस्थापना के बाद इसके विरोधियों के वक्रोक्ति और औचित्य के सिद्धान्त 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' में विलीन हो गये तथा काव्यात्मा की खोज के आधार पर शुरू होने वाली सम्प्रदाय–प्रवर्तन की परम्परा को विराम लग गया।

10.3.1 काव्यात्मा का प्रश्न

शब्द और अर्थ मिलकर काव्य का दृश्यमान एवं नामरूपात्मक शरीर रचते हैं, चाहे वह दण्डी के अनुसार 'पदावली के रूप में हो या मीमांसको के 'एकक्रिय वाक्य' रूप में किन्तु आत्मा के बिना शरीर निष्क्रिय शव ही होता है। शब्द पढ़े जाते हैं, अर्थ समझे जाते हैं किन्तु उनमें पाठक के अन्तर्मन को झंकृत करने वाला कोई तत्त्व न हो, चेतना को अलौकिक आनंद में मग्न करने वाला सामर्थ्य न हो तो वह 'वागर्थ' निरुद्देश्य और निर्जीव होता है। इसके विपरीत रमणीय व्यंग्यार्थों से सम्पन्न काव्य कालजयी होता है। इसलिए काव्यशास्त्रियों के सम्मुख 'काव्यात्मा' का प्रश्न उपस्थित हुआ। उस पर गहन चिन्तन और अनुसंधान करके विद्वानों ने जो निष्कष निकाले वे 'सम्प्रदाय' बनकर प्रतिष्ठित हुए। वस्तुतः 'काव्यात्मा' क्या है ? शब्दार्थ–युगल में विद्यमान वैशिष्ट्य। रुय्यक रचित 'अलंकारसर्वस्व' के टीकाकार समुद्रबंध का निष्कष इस संदभ में विचाराणीय है। वह कहता है – 'विशिष्ट शब्दार्थ ही काव्य है। इन दोनों का वैशिष्ट्य मुख्यतः तीन की प्रमुखता से काव्यशास्त्रियों ने माना है – धर्म द्वारा, व्यापार द्वारा और व्यंग्य द्वारा।

धर्म के दो पक्ष हैं – अलंकार और गुण । व्यापार के दो रूप हैं – उक्तिवैचित्र्य और भक्तिव्यापार। इन पाँच पक्षों में वैशिष्ट्य को मानने वालों के क्रमशः नाम हैं – उद्भट, वामन, कुन्तक, भट्टनायक और आनन्दवर्धन जो क्रमशः अलंकार, गुण, वक्रोक्ति, रस और ध्वनि को वैशिष्ट्य का मूल तत्त्व मानते हैं। इन्हीं से काव्यशास्त्र के पांच सम्प्रदाय विकसित हुए हैं। क्षेमेन्द्र का औचित्य सिद्धान्त तो सर्वसम्मत विचार है।

10.3.2 काव्यात्म–दृष्टि से प्रचलित विभिन्न सम्प्रदाय

समुद्रबंध ने सम्प्रदायों के प्रवर्तन की ऐतिहासिक परम्परा का आधार शब्द और अर्थ के वैशिष्ट्य को माना और उसकी अपनी–अपनी दृष्टि से मानने वाले आचार्यों का नामोल्लेख किया। रस–निष्पत्ति तो काव्य का ध्येय है और औचित्य रस का पोषक तत्त्व, जिसके न होने से रसभग हो जाता है। अतः इनका उल्लेख समुद्रबंध ने 'वैशिष्ट्य' कारक तत्त्वों में नहीं किया किन्तु अलंकार–शास्त्र में सामान्यतः छः सम्प्रदाय माने जाते हैं। ये हैं – (1) रस

सम्प्रदाय (2) अलंकार–सम्प्रदाय (3) रीति सम्प्रदाय (4) ध्वनि–सम्प्रदाय (5) वक्रोक्ति–सिद्धान्त तथा (6) औचित्य सिद्धान्त। अलंकार–सम्प्रदाय का विवेचन आगामी बिन्दु में किया जायेगा। यहां शेष सम्प्रदायों एवं सिद्धान्तों का संक्षिप्त परिचय प्रसंगतः प्रस्तुत है –

(1) **रस सम्प्रदाय** : भरतमुनि रस–सम्प्रदाय के प्रथम तथा सर्वश्रेष्ठ प्रवर्तक आचार्य है। 'नाट्यशास्त्र' में भरत का यह रससूत्र रससिद्धान्त का मेरुदण्ड है – विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः। विभाव, अनुभाव, व्यभिचार भाव, स्थायी भाव आदि पारिभाषिक शब्द सभो सम्प्रदायों में स्वीकृत हैं। रस की व्युत्पत्ति है – रस्यते आस्वाद्यते इति रसः अथवा रसनं रसः आस्वादः। काव्य का नाट्य से जनित अलौकिक आस्वाद ही रस है जो विभावादि के संयोग से निष्पन्न होता है। रससूत्र की व्याख्या चार आचार्यों न की – भट्ट लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक तथा अभिनवगुप्त। अभिनव भारती में अभिनवगुप्त ने प्रथम तीन विद्वानों के मतों को प्रस्तुत करते हुए अपना रसाभिव्यक्ति – मत व्यक्त किया।

रस सम्प्रदाय में रस, उनके स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव, व्याभिचारी भाव, भावाभास आदि विषयों पर गहन विचार हुआ है। भरत ने आठ नाट्यरस निर्धारित किये थे – श्रृंगार, हास्य, वीर, अद्भत, भयानक्, बीभत्स, रौद्र और करुण जिनके क्रमशः स्थायी भाव हैं – रति, हास, उत्साह, विस्मय, भय, जुगुप्सा, क्रोध और करुणा। शान्तरस नवम रस है जो विवाद का विषय रहा है। 'नवरसरुचिरा' कविभारती में रूद्रट ने 'प्रेयान्' रस जोड़ा, विश्वनाथ ने 'वात्सल्य' और रूपगोस्वामी ने 'भक्ति' (मधुर) रस। रस–सम्प्रदाय की परम्परा को नाट्यशास्त्र के अनुरूप आगे बढाने वाले आचार्य थे– धनंजय (दशरूपक) रामचंद्र–गुणचन्द्र (नाट्य दर्पण), शारदातनय (भाव प्रकाशन) सिंहभ्पाल (रसार्णवसुधाकर) भानुदत्त (रस तरंगिणी) आदि किन्तु काव्य में रस के वर्चस्व को सभो सम्प्रदायों ने स्वीकार किया है।

(2) **अलंकार–सम्प्रदाय** : रस–सम्प्रदाय के बाद काव्यशास्त्र में अलंकार को काव्यात्मा का स्थान मिला। इसके सम्प्रदाय का वर्णन आगामी बिन्दु (10.4) के अंतर्गत किया जायेगा।

(3) **रीति–सम्प्रदाय** : शब्दार्थ के सौन्दर्य को अलंकार मानने वाले आचार्य वामन ने जब गुणतत्त्व पर विचार किया तो उन्हें लगा कि काव्य के शोभाविधायक धर्म तो गुण हैं, उसके अतिशय के हेतु हैं अलंकार। गुणों के गमन (अभिव्यक्ति) का मार्ग है – रीति (रीङ्.गतौ) जिसका लक्षण उन्होंने किया– 'विशिष्टा पदसंघटना रीतिः'। भामह ने काव्य के तीन गुण माने थे– माधुर्य, ओज तथा प्रसाद। माधुर्य पर आधारित वैदभ मार्ग और ओजः पर अवलम्बित गौड मार्ग का भद दण्डी ने स्पष्ट किया। इन्हीं दोनों मार्गों का नाम वैदर्भा और भरत प्रतिपादित दस गुणों की संख्या शब्द गुण (10) तथा अर्थगुण (10) मिलाकर बीस कर दी। इस प्रकार वामन ने रीति–सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया जिसका मुख्य वाक्य है – रीतिरात्मा काव्यस्य।

आगे चलकर रुद्रट ने वामन प्रतिपादित रीतियो में चौथी वृत्ति 'लाटी' जोड़ दी और उनके लक्षण समास की स्थिति के आधार पर किया। राजशेखर और शारदातय ने वचन विन्यासक्रम को रीति का आधार बताया।

भोज और शारदातनय रीतियों की संख्या छः मानते हैं। अंग्रेजी में साहित्य समालोचना में एक तत्त्व होता है – 'स्टाइल' जिसको हिन्दी में शैली कहते हैं। शैली व्यक्ति–गुण का अभिव्यक्त रूप है – "Style is the man himself" व्यक्ति ही शैली है। इसे रीति का पर्याय भो कहा जा सकता है। व्यक्ति परक होने के कारण इसके अगणित भद हो सकते हैं। दण्डी का कथन है – तद्भदास्तु न शक्यन्ते वक्तुं प्रतिकविस्थिताः। 'रीति रसादीनामुपकर्त्री' '(विश्वनाथ) है किन्तु उसे काव्य के बहिरंग साधन का अधिक महत्त्व ध्वनिवादियों ने नहीं दिया।

(4) **ध्वनि–सम्प्रदाय** : ध्वनि– सम्प्रदाय के प्रवर्तक थे आचार्य आनंदवर्धन जिन्होंने ध्वनि–विरोधियों के मतों का खण्डन करके 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' का उद्घोष किया। उन्होंने काव्य में अर्थ के दो भद किये – वाच्य और प्रतीयमान। ध्वनि का मूल है प्रतीयमान अर्थ जो व्यञ्जना वृत्ति द्वारा व्यक्त होता है और अंगना (सुंदरी) के अंगों में झलकने वाले लावण्य की तरह काव्य में अलंकार, रीति आदि अंगों से अलग प्रतीत होता है। यही ध्वनि काव्यात्मा है। इसके मुख्य तीन भद है – वस्तु, अलंकार और रस। यही सहृदयों के हृदयों को आनंदित करने वाला तत्त्व है। इसकी व्याख्या ध्वन्यालोककार ने आदिकवि वाल्मीकि के शाप–प्रसंगों से जोड़कर की है जिसमें क्रौञ्च–युगल के वियोग से उत्पन्न उनका शोक श्लोक बन कर व्यक्त हुआ था– शोकः श्लोकत्वमागतः।

ध्वनि–सिद्धान्त वैयाकरणों के स्फोटवाद से प्रेरित है। इसकी व्युत्पति है – ध्वनति, ध्वन्यते वा इति ध्वनिः। जहां वाचक शब्द या वाच्यार्थ स्वयं को विसर्जित करके प्रतीयमान अर्थ को व्यक्त करते है, वह काव्यविशेष 'ध्वनि' कहलाता है। यही काव्य उत्तम होता है। इस मत का विरोध आनंदवर्धन से पूर्व भो हो चुका था, उनके बाद भो भट्टनायक, महिमभट्ट, कुन्तक आदि ने किया किन्तु आनंदवर्धन एवं अभिनवगुप्त ने उनका खंडन किया और मम्मट ने ध्वनि की पुनः स्थापना की। इसलिये उन्हें 'ध्वनि–प्रस्थापन परमाचार्य' कहा जाता है। ध्वनि–सम्प्रदाय रस–सिद्धान्त का ही अभिवृद्ध रूप है।

(5) **वक्रोक्ति–सिद्धान्त** : आचार्य कुन्तक ने भामह के ''सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिः' कथन के आधार पर वक्रोतिवैदग्ध्यभगीभणितिरुच्यते। उनका मत था कि शब्दार्थ से जो काव्य शरीर निष्पन्न होता है, उसमें दो विशेषताएं होनी चाहिए– एक तो उस उक्ति में प्रसिद्ध वचन–व्यापार से भिन्न वक्र ;विचित्रद्ध अभिधा हो, दूसरे वह लोकोत्तर उक्ति सहृदय को आह्लादित करने में समर्थ हो। ऐसी वक्रोक्ति को उन्होंने काव्य का जीवन तत्त्व माना – 'वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्' तथा 'वक्रोक्तिजीवित' नामक ग्रन्थ लिखकर अपना सिद्धान्त स्थापित किया। उन्होंने वक्रोक्ति को मात्र शब्दांलकार मानने वालों के विरुद्ध वक्रोक्ति का विस्तृत वैज्ञानिक विवेचन करते हुए उसके मुख्य छः भद किये – (1) वर्ण विन्यास वक्रता, (2) पदपूर्वार्धवक्रता (3) प्रत्यय–वक्रता (4) वाक्यवक्रता (5) प्रकरण वक्रता तथा (6) प्रबन्धवक्रता।

कुन्तक अभिधावादी थे। उन्होंने ध्वनि के प्रभदों को वक्रोक्ति में समाविष्ट करके वक्रोक्ति को काव्यात्मा सिद्ध करने में सारा पण्डित्य लगा दिया किन्तु उनका सिद्धान्त अनुयायियों के अभाव में सम्प्रदाय का स्वरूप नहीं ले पाया।

(6) **औचित्य सिद्धान्त** : ध्वनिवादी अभिनवगुप्त के शिष्य क्षेमेन्द्र ने न रस का विरोध किया, न ध्वनि का, केवल सर्वत्र 'औचित्य' रखने का समर्थन किया। काव्य–सौन्दर्य के आधायक सभो तत्त्वों – गुण, अलंकार, रीति, ध्वनि, रसादि का समावेश 'औचित्य' में कर लिया। औचित्य को क्षेमेन्द्र ने काव्य का जीवित सर्वस्व कहा –

औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्।

नायक या रस में कहीं भो कुछ अनुचित हो तो उसका परिहार करने का निर्देश धनंजय दशरूपक (3/24) में कर चुके थे। स्वयं ध्वन्यालोककार पहले ही अनौचित्य को रसभग का कारण और औचित्यबन्ध को रस का परम रहस्य कह चुके थे। क्षेमेन्द्र ने अपना सिद्धान्त स्थापित करने के लिए औचित्य के 27 भदों का विवेचन भो किया किन्तु समर्थकों के अभाव में औचित्य का सम्प्रदाय नहीं बन सका और उनकी 'औचित्य–विचार–चर्चा' चर्चा ही बनकर रह गई।

10.3.3 सबसे प्राचीन एवं प्रमुख अलंकार–सम्प्रदाय

उपर्युक्त सम्प्रदायों तथा सिद्धान्तों में अलंकार–सम्प्रदाय काव्य–शास्त्र का सबसे प्राचीन और प्रमुख सम्प्रदाय कहा जा सकता है। निरुक्त (10.1.2) में 'सोमा अरङ्.कृता अलङ्.कृताः' कहा

गया है जिससे सिद्ध होता है कि वैदिक ग्रन्थों में 'अलंकार' शब्द का प्रयोग सौंदर्याधायक तत्त्व के रूप में हो चुका था। भरत–नाट्यशास्त्र में चार अलंकारों को काव्यशास्त्रीय स्वीकृति मिली। भामह ने काव्य का लक्षण जब नाट्य से पृथक् किया तो 'अलंकार' शब्दार्थ–युगल के आत्मतत्त्व माने गये और अलंकार–सम्प्रदाय का बीजारोपण हुआ। यह काव्यशास्त्र के इतिहास का प्राचीनतम मोड़ था। जब काव्य के रसास्वाद के लिए अन्य घटकों के महत्त्व पर नये सिरे से विचार–मंथन आरम्भ हुआ और अलंकार को सर्वप्रथम प्रमुखता मिली।

10.4 अलंकार–सम्प्रदाय : एक विहंगम–दृष्टि

रस–सम्प्रदाय के पश्चात् दूसरा स्थान अलंकार–सम्प्रदाय का है। नाट्य एवं काव्य में रस की अनिवार्यता के प्रतिपादक 'नाट्यशास्त्र' के लगभग एक सहस्राब्दी बाद आचार्य भामह ने 'काव्यालङ्.कार' नामक ग्रन्थ लिखकर दृश्य–काव्य से शब्दार्थमय श्रव्य काव्य की पृथक् परिभाषा की। शब्द और अर्थ में लोकोत्तर वक्रकथन द्वारा सौंदर्यवर्धक तत्त्व के रूप में अलंकार को प्रधानता मिली। इस सिद्धान्त को गुणवादी दण्डी, रीतिवादी वामन और रुद्रट आदि विद्वान् उस युग तक स्वीकारते रहे जब तक आनंदवर्धन ने ध्वनि को काव्य का आत्मा सिद्ध नहीं कर दिया। आनन्दवर्धन के बाद भो अलंकारों को भले ही 'कट्कादिवत्' बहिरंग तथा अंगाश्रित शोभाधायक तत्त्व कहा गया ध्वनिवादियों ने उन्हें रस का उपकारक अवश्य माना। 'अनलङ्.कृती पुनः क्वापि' कहने वाले मम्मट को भो चन्द्रालोककार जयदेव का कोपभाजन बनना पड़ा। अलंकार–सम्प्रदाय के लगभग एक सहस्राब्दी के इतिहास में काव्य में अलंकारों की प्रधानता में कमी अवश्य आई किन्तु कोई भो सम्प्रदाय अलंकारहीन काव्य की कल्पना नहीं कर सकता था। भरत के चार अलंकारों से चलकर अलंकारों की संख्या अप्पय दीक्षित तक 125 तक जा पहुंची। यह इस सम्प्रदाय की महत्ता और लोकप्रियता का प्रबल प्रमाण है।

10.4.1 अलंकार–लक्षण : विभिन्न मत

नाट्यशास्त्र (अध्याय–17) में नाट्य में प्रयुक्त काव्य के 36 लक्षणों की गणना की गई है। उनमें प्रथम है ''भ्षण'' (विभ्षण)। भरत के अनुसार इसकी परिभाषा है – अलङ्कारैर्गुणैश्चैव बहुभिः समलङ्.कृतम्। भ्षणैरिव चित्रार्थैस्तद् भ्षणमिति स्मृतम्।। इससे स्पष्ट होता है कि भ्षण नामक लक्षण में विचित्रार्थक अलंकारों और गुणों का समावेत बहुशः होता है। ये लक्षण शनैः शनैः नष्ट होते चले गये। जो शेष रहे, उनमें से कतिपय (हेतु, लेश) को अलंकारों में सम्मिलित कर लिया गया। भामह ने 'भ्षण' का प्रयोग अलंकार – अर्थ में ही किया –

'न कान्तमपि निर्भूषं' विभाति वनितामुखम्।

दण्डी ने लक्षण किया– 'काव्यशोभाकरान् धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते। रीतिवादी वामन ने गुणों को शोभाकर कहकर उनके अतिशय के हेतु रूप में अलंकारों का लक्षण किया– 'काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः। तदतिशयहेतवरुवलङ्काराः।' आचार्य कुन्तक ने सालंकार शब्दार्थ में ही काव्यत्व माना– 'सालङ्कारस्य काव्यता।' ध्वनिवादी मम्मट ने अलंकारों को काव्य के अंगी रस के उपकारक अंग कहा –

उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः।।

विश्वनाथ ने अलंकारो को शब्दार्थ–युग्म के अस्थिर धर्मों की संज्ञा दी जो 'शोभातिशयशाली' होते है। चन्द्रालोककार ने भो यही माना– 'हारादिवदलंकार – संनिवेशो मनोहरः।' इस प्रकार अलंकारों के लक्षण विभिन्न मतानुसार किये जाते रहे जिनमें अलंकार के शोभाकरत्व और चमत्कारत्व धर्म को प्रायः सभो काव्यशास्त्रियों ने मान्यता दी।

10.4.2 अलंकारवादी चिन्तन में ध्वनि तथा रस

अलंकारवादी चिन्तन के प्रमुख एवं प्रतिनिधि चिन्तक थे भामह और दण्डी। उन्होंने अलंकार का प्रयोग व्यापक अर्थ में किया जिसमें रस भो समाविष्ट होकर 'रसवत्' अलंकार बन गया। इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि वे रस सिद्धान्त से अपरिचित थे। उन्हें काव्य में अलंकार ही शब्दार्थ–युग्म में प्रत्यक्ष शोभाकारक और चमत्कारजनक लगते थे, इसलिए उन्होंने रसों को अलकारों से गौण माना और उनका रसवद् आदि अलंकारों के रूप में उल्लेख किया। इसी प्रकार प्रतीयमान अर्थ (ध्वनि) को भो वे जानते थे, यद्यपि ध्वनि–सम्प्रदाय की पारिभाषिक शब्दावली जब तक प्रचलित नहीं हो पाई थो, अतः उन्होंने ध्वनि या गुणीभत्व्यंग्य शब्दों का प्रयोग नहीं किया। उन्होंने अप्रस्तुत प्रशंसा, समासोक्ति, आक्षेप आदि की परिभाषाओं में प्रतीयमान अर्थ का पर्याप्त अन्तर्भाव कर लिया।

उदाहरणार्थ –

'यत्रोक्ते गम्यतेऽन्योर्थस्तत्समानविशेषणः। सा समासोक्तिः।' इस तथ्य को पंडितराज जगन्नाथ ने 'रसगंगाधर' में स्पष्ट किया है। अतः अलंकारवादी ध्वनि और रसतत्त्व से भलीभांति परिचित थे किन्तु उनका अलंकार–चिन्तन इतना विस्तृत और व्यापक था कि उन्होंने वक्रोक्ति या अतिशय–कथन–मंडित अलंकारों में ध्वनि और रस को भो समाहित कर दिया। सारा व्यंग्य–प्रपंच पर्यायोक्त अलंकार की कुक्षि में निक्षिप्त कर दिया। रस को रसवद् अलंकार में परिणत कर डाला।

10.4.3 अलंकार–सम्प्रदाय का सोपान–विकास

अलंकार–चिन्तन का विकास कई सोपानों से होता हुआ आगे बढ़ा। पांचवी–छठी शताब्दी में उसे शब्दार्थमय काव्य का प्रधान जीवनतत्त्व माना गया। काव्य के जितने शोभाकर धर्म है, उन्हें दण्डी ने 'अलंकार' कहा। वामन ने काव्य को ललित–कला मानकर अलंकार को सौंदर्य का पर्याय कहा। कला की तरह काव्य भो अलंकरण द्वारा स्वीकार्य बनता है – काव्यं ग्राह्यमलंकारात।' वामन का मत था कि काव्य के शोभाकारक धर्म तो गुण हैं किन्तु उनमें अतिशय (वैशिष्ट्य) अलंकारों से ही उत्पन्न होता है। उद्भट ने अलंकार को काव्य का प्रधानतत्त्व मानते हुए रस को रसवत् प्रेयस्वत्, ऊर्जस्वि और समाहित में समाविष्ट कर लिया। वक्रोक्तिवादी कुन्तक ने 'सालंकारस्य काव्यता' कहकर अलंकार–रहित उक्ति को काव्य ही मानने से इनकार किया। ध्वनि–वादियों ने कंगन, हार आदि की तरह काव्य–शरीर के बाह्य आभ्षण के रूप में अलंकार का महत्त्व स्वीकार किया। जयदेव ने कहा कि अलंकार तो काव्य का ऐसा प्राणतत्त्व है, जैसे उष्णता अग्नि का। साहित्यदर्पणकार ने अलंकारों को काव्य के अस्थिर धर्मों के रूप में स्वीकृति दी। 'रसगंगाधर' में व्यंग्यार्थ को काव्यात्मा मानकर अलंकार को उसकी रमणीयता का प्रयोजक कहा। इस प्रकार पाँचवी से 17वीं शताब्दी तक अलंकारों ने महत्त्व और विकास के अनेक सोपन तय किये।

10.5 अलंकार–सम्प्रदाय में अलंकार–विवेचन

साहित्यशास्त्र में सम्प्रदाय–प्रवर्तन की आधार–शिला है – काव्यात्मा का अन्वेषण और साहित्यशास्त्र के किसी घटक की काव्यात्मा के रूप में प्रतिष्ठा। भामह ने जब प्रथम बार 'अलंकार' को यह महत्त्व प्रदान किया कि 'न कान्तमपि निभ्षं विभाति वनितामुखम्' और वक्रोक्तियुक्त अलंकार को ही सर्वप्रधान तत्त्व कहा तब अलंकार का सूक्ष्म विवेचन करना आवश्यक था। भामह ने शब्द और अर्थ के 'साहित्य' को काव्य की संज्ञा दी। दोनों को विभ्षित (अलंकृत) करने के लिए शब्दालंकार तथा अर्थालंकार का द्विविध विभाजन किया, जो सम्प्रदाय के अलंकार विवेचन की पद्धति बन गया। पहली बार भामह ने नाट्यशास्त्र में उल्लिखित चार अलंकारों की संख्या बढ़ाकर 38 अलंकारों के विवेचन से अपने सम्प्रदाय का श्रीगणेश किया जो 17वीं शताब्दी ई. तक अनवरत चलती रही। ध्वनिवादियों ने 'हारादिवद्' या 'कटककुण्डलादिवत्' काव्य–शरीर को विभ्षित करते हुए रस तत्त्व को बाहर से उपकार करने वाले अंग के रूप में ही अलंकार को मान्यता दी। किन्तु अलंकार का महत्त्व स्वीकार करने में संकोच नहीं किया।

10.5.1 अलंकार–वैशिष्ट्य का मूल तत्त्व

अलंकार को काव्यगत चारुत्व का हेतु और शोभा के अतिशय का आधायक कहा गया है किन्तु उसके इस वैशिष्ट्य का मूल क्या है ? भामह ने 'वक्रोक्ति' को मूल बताया जो कवि की प्रतिभा से उठकर चमत्कार उत्पन्न करती है – सैषा सर्वत्र वक्रोक्ति... कोऽलङ्कारोऽनयाविना। आचार्य दण्डी ने अतिशयोक्ति को 'अलंकारत्व' का आधार बनाया – 'उक्तिमिमामतिशयाह्वायाम्' ।
ध्वन्यालोककार आनंदवर्धन ने भो अतिशयोक्ति को 'सर्वालङ्काररूपा' कहकर दण्डी का समर्थन किया। मम्मट ने भो 'अतिशयोक्ति' को अलंकार का प्राणतत्त्व माना – 'सर्वत्रातिशयोक्तिरेव प्राणत्वेनावतिष्ठते। तां विना प्रायेणाऽलङ्कारत्वागोयात्। अलंकारवादी अप्पयदीक्षित ने उपमा सब अलंकारों का एकमात्र मूल कारण माना था। उनका काव्यात्मक कथन है –

उपमैका शैलूषी सम्प्राप्ता चित्रभूमिकाभेदात्।
रञ्जयति काव्यरङ्गे नृत्यन्ती तद्विदां चेतः।।

रुद्रट ने अलंकारो के चार मूलाधार माने और उन्हें चार वर्गों में विभक्त किया – (1) वास्तव, (2) औपम्य (3) अतिशय तथा (4) श्लेष। इस प्रकार अलंकारो के मूल तत्त्व का अन्वेषण हुआ जो अलंकार में वैशिष्ट्य या चमत्कार उत्पन्न करता है।

10.5.2 शब्द–अर्थ–उभय के आधार पर वर्गीकरण

कुछ अलंकार शब्दगत होते हैं, कुछ अर्थगत तथा कुछ शब्दार्थोभयगत। इस प्रकार इनके तीन भद किये गये हैं– शब्दालंकार, अर्थालंकार तथा उभयालंकार। शब्दालंकारों में प्रायः पांच या छः अलंकार ही मान्य रहे हैं। जैसे–अनुप्रास, यमक, श्लेष, वक्रोक्ति, पनरुक्तवदाभास एवं चित्र। भोज ने शब्दालंकारो के 24 भद माने हैं। अर्थालंकारो की सीमा नहीं है। दण्डी का कथन सटीक है।

ते चाद्यापि विकल्प्यन्ते कस्तान् कात्स्न्येंन वक्ष्यति।।

अर्थात् उनके विकल्प आज भो खुले हैं, उनका समग्र रूप से वर्णन कौन करेगा ? केवल भोज ने अपने ढंग से शब्द, अर्थ और उभय वर्गों में प्रत्येक में 24 अलंकारों की गणना करके 72 अलंकारों का वर्णन किया तथा रुय्यक ने अलंकारों का वर्गीकरण शुद्ध और मिश्र खंड में करके शुद्ध के अन्तर्गत पांच शब्दालंकार और 71 अर्थालंकार एवं मिश्र के अन्तर्गत दो अलंकार–संसृष्टि और संकर गिनाकर कल 78 अलंकारों का वर्गीकरण किया। शेष आलंकारिकों में वर्गीकरण का लगभग यही आधार रहा है, संख्या चाहे कितनी भो हो।

10.5.3 अलंकारों की संख्या

पहले कहा जा चुका है कि चाहे अलंकारवादी आचार्य हों या रीति, रस, ध्वनि आदि सम्प्रदायों के समर्थक, अलंकार–विमर्श में सबकी प्रतियोगिता निरन्तर चलती रही। चार नाट्यरसों के स्थापक भरतमुनि के मत से पृथक् होकर काव्यशास्त्रियों की जो परम्परा चली, उसमें सर्वप्रथम भामह ने शब्दार्थ–युगल की सौंदर्य–वृद्धि करने वाले अलंकारों की संख्या–वृद्धि 38 अलंकारों का विवेचन किया। दण्डी ने इनमें से छः को अस्वीकार करके 5 नये अलंकारों की उद्भावना करके 37 अलंकार के लक्षण उदाहरण प्रस्तुत किये। उद्भट ने इस क्रम में चार अलंकार और जोड़े। वामन गुण एवं रीति के समर्थक थे, फिर भो 31 अलंकारों का विवेचन किये बिना नही रह सके। रुद्रट ने इसे 71 तक बढ़ाया जिनमें 5 शब्दालंकार और चार वर्गों में विभाजित 66 अर्थालंकार हैं। भोज ने इनसे एक अलंकार अधिक रखा। मम्मट ने छः शब्दालंकार और 62 अर्थालंकार समेत 68 अलंकारों का सोदाहरण लक्षण प्रस्तुत किया। रुय्यक ने 78, जयदेव पीयूषवर्ष ने 100, पंडितराज जगन्नाथ ने भो लगभग 100 तथा अप्पयदीक्षित ने कुवलयानंद में लगभग 125 अलंकारों का विवेचन प्रस्तुत किया है। यह उत्तरोत्तर वर्धमान संख्या अलंकार–चिन्तकों के गहन चिन्तन का प्रमाण है।

10.6 अलंकार का काव्यात्मत्व – समीक्षण

जिस प्रकार शरीर में आत्मतत्त्व प्रमुख है, उसी प्रकार काव्य में भो कोई आत्मस्थानीय तत्त्व होना चाहिये। काव्यशास्त्र के आरम्भिक युग से ही आचार्य उस आत्मतत्त्व का अन्वेषण करते रहे हैं। जब भामह ने 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्'' कहकर शब्द और अर्थ के 'सहित भाव' को काव्य माना तब उसके आत्मा के पद पर 'अलंकार' को प्रतिष्ठित किया। इससे पूर्व नाट्य में भरतमुनि 'रस को प्रतिष्ठित कर चुके थे – 'न रसेन विना कश्चिदर्थः प्रवर्तते।' आगे चलकर वामन ने रीति को तथा आनंदवर्धन ने ध्वनि को काव्यात्मा कहकर अपने सम्प्रदायों का प्रवर्तन किया तब अलंकार शब्दार्थ के बाह्य विभ्षण 'कटककुण्डलादिवत् होकर रह गया।

जब भामह ने अलंकार को काव्य का जीवातु कहा ओर उसे शब्द और अर्थ का वैशिष्ट्य प्रतिपादक प्रमुख तत्त्व बताया तब उनका अभिप्राय था– शब्दार्थ के सौन्दर्य को अलम् (चरम सीमा) तक पहुंचाने वाला तत्त्व (अलङ्करण)। अलं क्रियते अनेन' इति अलङ्कारः। साथ ही भामह ने अलंकार में यह शक्ति उत्पन्न करने के लिए सामान्य के स्थान पर वक्र–उक्ति का महत्त्व स्वीकार किया और कहा –

सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयाऽर्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना।।

दण्डी ने 'अलंकार' के अन्तर्गत सभो शोभाकर धर्मो को समेटा तो रीतिवादी वामन ने स्वयं सौन्दर्य को अलंकार का पर्यायवाची कह दिया। भामह के वक्रोक्ति संकेत को कुन्तक ने ग्रहण करके वक्रोक्ति–सिद्धान्त का विस्तार किया। शब्द शक्तियों का विवेचन जब तुरीया वृत्ति व्यंजना तक जा पहुंचा तो ध्वनितत्त्व ने आत्मा का स्थान छीनकर 'अलंकार' का अर्थ सीमित कर दिया फिर भो अलंकार–मीमांसा का क्रम आगे बढ़ता ही रहा। काव्य के शोभाकर धर्म और सौंदर्य–रूप अलंकार में भामह के आशय को समझा जाय तो अलंकार की काव्यात्मा में कोई बाधा नहीं आती।

10.6.1 अन्य सम्प्रदायों की दृष्टि में अलंकारों का महत्त्व

'रीतिरात्मा काव्यस्य' कहकर रीति–सम्प्रदाय का प्रवर्तन करने वाले आचार्य वामन ने शब्दार्थ युगल की अलंकृति को ही 'अलंकार' माना तथा 'काव्यालंकार संग्रह' में काव्य की उपादेयता सौंदर्य रूप अलंकार से ही प्रतिपादित करते हुए 31 अलंकारों का विवेचन भो किया। आचार्य कुन्तक का 'वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्' सिद्धान्त भामह के 'सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिः' कथन का ऋणी है तथा वे अलंकारों के महत्त्व को स्वीकार करते हैं। शब्दार्थ का 'अनलड्.कृति पुनः क्वापि' लक्षण करने वाले ध्वनि–प्रस्थापन परमाचार्य मम्मट तत्काल 'वृत्ति' में सर्वत्र सालंकारौ कहकर काव्य में अलंकार के महत्त्व को स्वीकार करते हैं। रसवादी विश्वनाथ ने 82 और रसगंगाधरकार जगन्नाथ ने 100 अलंकारों का विवेचन करके अलंकारों का महत्त्व प्रतिपादित किया। अग्निपुराण ने यहां तक कहा है कि 'अर्थालङ्कार–रहिता विधवेव सरस्वती' 'वासवदत्ता' गद्यकाव्य के रचयिता सुबन्धु ने नायिका के सौन्दर्य को साकार करते हुए यह उपमा दी है –

''सत्कवि–काव्य रचना मिवालङ्कारभूषिताम्।''

इन उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि अन्य सम्प्रदाय के आचार्यो ने भो काव्य में अलंकारों का महत्त्व स्वीकार किया है।

10.6.2 अलंकार–सम्प्रदाय के प्रमुख चिन्तक

पांचवी–छठी शताब्दी ई. में साहित्यशास्त्र ने एक नई करवट ली। भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र के वाचिक अभिनय–प्रकरण में चार काव्यालंकारों का उल्लेख किया था। उनमें से यमक शब्दालंकार तथा उपमा, रूपक एवं दीपक अर्थालंकार थे। आचार्य भामह ने पहली बार नाट्य जैसे दृश्यकाव्य से काव्य के श्रव्य रूप को पृथक् करते हुए 'काव्यालंकार' शीर्षक ग्रन्थ लिखा और 'काव्य' का लक्षण 'शब्दाथौ सहितौ काव्यम्'' किया। यह साहित्य शास्त्र का

युगान्तर था। भामह ने 'अलंकार' को काव्यात्मा के पद पर प्रतिष्ठित करते हुए अलंकारा सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया। भरतमुनि ने 'नहि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते' कहकर नाट्य में रस की अनिवार्यता प्रतिपादित की थी किन्तु भामह एवं उनके उत्तरवर्ती दण्डी आदि आचार्यों ने रस को नाट्य का ही मुख्य विषय मानकर काव्य में अलंकार को अंगी के रूप में प्रधानता दी तथा रस, भाव आदि को अलंकारों में ही समाविष्ट करके एक नई चिन्तन–प्रक्रिया का श्री गणेश किया। आचार्य भामह इस चिन्तन के प्रथम पुरोधा थे। उनके बाद भो इस सम्प्रदाय के अनेक चिन्तक हुए जिनमे मुख्य थे : **भामह, दण्डी, उद्भट, रुद्रट, रुय्यक, जयदेव तथा अप्पय दीक्षित।**

1. **भामह (550–600 ई.)** : आचार्य भामह को अलंकार–सम्प्रदाय का प्राचीनतम एवं आद्य आचार्य माना जाता है। इनके पिता का नाम रक्रिलगोमिन् था। इससे यह मिथ्या धारणा चल पड़ी कि भामह बौद्ध थे जबकि उन्होंने बौद्धों के अपोहवाद की कटु आलोचना की है। डॉ.पी.वी. काणे दंडी को भामह का पूर्ववर्ती सिद्ध करते हैं किन्तु भामह ने अपनी ग्रन्थ–रचना दण्डी से पहले कर ली थी। अतः उनका समय षष्ठ शती ई. का मध्य भाग मानना उचित होगा। वे कश्मीर निवासी थे।

2. **दण्डी (650–700 ई.)** : महान् गद्यकार तथा दशकुमारचरितम् और अवन्तिसुंदरी कथा के रचयिता दण्डी महाकवि भारवि के पौत्र थे। बचपन में ही अनाथ होकर वे काञ्ची नगरी के पास जंगलों में भटका करते थे। युवावस्था में ये काञ्ची के पल्लव–नरेश नरसिंह वर्मा के सभा–कवि बने। राजशेखर ने इनके विषय में लिखा है :–

   'त्रयो दण्डिप्रबन्धाश्च त्रिषु लोकेषु विश्रुताः।'

   इनका साहित्यशास्त्र–विषयक ग्रन्थ हैं– 'काव्यादर्श', जिसे दण्डी ने पल्लवराजा के पुत्र को शिक्षा देने के लिए लिखा था। पल्लव राजा नरसिंह वर्मा का शासन काल 690 से 715 ई. पर्यन्त था। अतः वही दण्डी का भो स्थितिकाल था।

   दण्डी ने भामह के मतों का स्थान–स्थान पर खण्डन किया। इनका काव्य–लक्षण भो भामह से भिन्न है। काव्यशरीर में शब्दार्थ के सहित भाव को मानते हुए इन्होंने इष्टार्थक पदावली को काव्य शरीर कहा है – 'शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्नापदावली।'

   गुण और रीतियों का वर्णन करते हुए भो इन्होंने भामह के अलंकार–विवेचन को आगे बढ़ाया और उन्हें 'काव्य के शोभाकर धर्म' कहकर उनका अर्थ विस्तार किया। अतः अलंकारवादी के रूप में वे भामह के बाद अलंकार–सम्प्रदाय के दूसरे महान् आचार्य हैं।

3. **उद्भट (800 ई.)** : कश्मीर के राजा जयापीड़ (779–813 ई.) की राजसभा के सभापति और प्रतिदिन एक लाख दीनार का वेतन पाने वाले प्रकांड प्रतिभा के धनी आचार्य उद्भट भामह की परम्परा के विद्वान् थे। उन्होंने 'काव्यालंकार' पर भामह–विवरण नाम की टीका लिखी जो अब उपलब्ध नहीं है। अलंकार–सम्प्रदाय के प्रसार हेतु उन्होंने 'अलंकार सार–संग्रह' नामक लघुकाय ग्रंथ की रचना की। आनंदवर्धन ने 'ध्वन्यालोक' में उद्भट का उल्लेख किया है। आनंदवर्धन अवन्तिवर्मा के राज्यकाल (855–888 ई.) में हुए । अतः उद्भट का स्थितिकाल 800 ई. के लगभग निर्धारित किया जा सकता है। उद्भट पर भामह के चिन्तन का प्रभाव होते हुए भो उन्होंने भामह का अनुकरण मात्र नहीं किया। उनका स्वतंत्र और मौलिक चिन्तन उनकी रचना में स्पष्ट परिलक्षित होता है।

4. **रुद्रट (850 ई.)** : आचार्य रूद्रट पहले अलंकार शास्त्री थे जिन्होंने काव्यालंकारो का वैज्ञानिक दृष्टि से वर्गीकरण किया, उन्हें कुछ निश्चित श्रेणियों में विभाजित किया तथा अनेक नवीन अलंकारों की उद्भावना भो की। मुख्य रूप से अलंकार वादी होकर भो उन्होंने अलंकार सम्प्रदाय और ध्वनि–सम्प्रदाय के मध्य एक महत्त्वपूर्ण कड़ी

का कार्य किया। वे कश्मीर वासी और शैवमनावलम्बी थे। राजशेखर (920 ई.) ने अपने ग्रन्थ में वक्रोक्ति पर रूद्रट के मत को उदृत किया है। अतः उनका स्थितिकाल 850 ई. के आसपास रहा है। इस तरह वे ध्वनिकार आनंदवर्धन के समकालीन सिद्ध होते हैं। भामह के समान उनकी कृति का नाम भो 'काव्यालंकार' है।

5. **रुय्यक (1150 ई.)** : अलंकारों के निरूपण मे मेरुदण्ड के समान, राजानक उपाधि से विभ्षित, श्रीकण्ठचरित' महाकाव्य के रचयिता मंखक के गुरु रूय्यक कश्मीर–निवासी थे तथा राजा जयसिंह ;1128–1148 ई.द्ध के शासनकाल में विद्यमान रहे। इनका दूसरा नाम रुचक था तथा ये अलंकारशास्त्री तिलक के द्वितीय पुत्र थे, जिन्होंने उद्भट के 'अलंकार–संग्रह' पर 'विवरण' नामक टीका लिखी थी।

   'अलंकारसर्वस्व' रुय्यक की सबसे प्राचीन रचना है। इन्होंने लगभग 11 ग्रंथों की रचना की थी जिसमें से उपलब्ध ग्रन्थों में 'साहित्य मीमांसा' काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ है तथा 'सहृदयलीला' रूपसौन्दर्यविषयक लघु पुस्तिका है।

6. **जयदेव** : जयदेव अलंकार–सम्प्रदाय के लोकप्रिय विद्वान् थे। अत्यन्त सरल शैली के द्वारा इन्होंने काव्यशास्त्र के सभो विषयों को विद्यार्थियों के लिए सुगम बना दिया। अपनी रचनाओं में इन्होंने स्वयं को महादेव और सुमित्रा का पुत्र बताया है। गागाभट्ट के अनुसार इनकी उपाधि और उपनाम पीयूषवर्ष था जिसका उल्लेख इन्होंने अपनी काव्यशास्त्रीय रचना 'चन्द्रालोक' के प्रारंभ में किया है – 'चन्द्रालोकममुं स्वयं वितनुते पीयूषवर्षः कृती।' ये 'गीत–गोविन्द' महाकाव्य के प्रणेता जयदेव से भिन्न थे। इनकी दूसरी रचना सुप्रसिद्ध नाटक 'प्रसन्नराघव' है जिसके श्लोक विश्वनाथ के 'साहित्य दर्पण' तथा शाङ्र्गधर पद्धति (1361–63) में उद्धृत किये गये हैं। अतः जयदेव का स्थितिकाल 1250 ई. के आसपास माना जा सकता है। स्वयं को 'कौण्डिन्य कवीन्द्र' कहकर जयदेव ने कुण्डिनपुरवासी होने का प्रमाण दिया है जो विदभ में स्थित है।

7. **अप्पय दीक्षित (1600–1650 ई.)** : साहित्यशास्त्र – लेखन के उत्तरवर्ती युग के पण्डितों में अलंकार–सम्प्रदाय के समर्थक अप्पय दीक्षित का स्थान महत्त्वपूर्ण है। वे वेदान्त, मीमांसा, व्याकरण आदि विविध शास्त्रों के विद्वान् और प्रतिभासम्पन्न कवि थे। कहा जाता है कि इन्होंने 104 ग्रंथों की रचना की थी। जिनमें से अनक ग्रंथ अभो उपलब्ध नहीं हैं। अलंकार–निरूपण विषयक ग्रंथों में इनकी तीन कृतियां विख्यात हैं – (1) वृत्तिवार्तिक (2) चित्रमीमांसा तथा (3) कुवलयानन्द।

   भारद्वाज कुल की याज्ञिक परम्परा में उत्पन्न अप्पय दीक्षित के पिता का नाम रंगराज था और पितामह आचार्य दीक्षित के नाम से प्रसिद्ध थे। उस समय दिल्ली में मुगल बादशाह शाहजहाँ का शासन था। उसकी राजनर्तकी के साथ सम्बन्ध होने के कारण पंडितराज जगन्नाथ को अप्पय दीक्षित ने वाराणसी में जाति–बहिष्कृत कर दिया था, ऐसी किंवदन्ती है। इस कारण से जगन्नाथ अप्पय दीक्षित के कट्टर विरोधी बन गये थे और उनके ग्रंथ 'चित्रमीमांसा' के खण्डन में 'चित्रमीमांसा–खंडन' लिखा था। अतः सिद्ध है कि अप्पय दीक्षित का स्थिति काल 1600 से 1650 ई. के मध्य में रहा होगा।

   मुख्यतः यही सात आचार्य अलंकार–सम्प्रदाय के प्रतिबद्ध चिन्तक और विवेचक विद्वान् थे जिन्होंने काव्य की सौन्दर्य–वृद्धि का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण घटक अलंकार को माना तथा छठी से सत्रहवीं शताब्दी तक ग्रन्थ लिखकर अपने विचार की ध्वजा फहराते रहे। इस समयावधि में रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति और औचित्य को काव्यात्मा मानने वाले सम्प्रदायों का उद्भव हुआ जिनमें अलंकार की वरीयता कम होती गई किन्तु उन सम्प्रदायों के चिन्तकों ने भो अलंकारों के लक्षण, वर्गीकरण, विस्तार तथा तात्त्विक विवेचन में भागीदारी की। इनमें रीति सम्प्रदाय के वामन, रसवादी भोज, ध्वनिवादी मम्मट, रसात्मक वाक्य की काव्यता के समर्थक विश्वनाथ और पंडितराज जगन्नाथ के नाम उल्लेखनीय है।

10.6.3 अलंकार–सम्प्रदाय के प्रमुख ग्रन्थ

अलंकार सम्प्रदाय के प्रमुख सात चिन्तक आचार्यों के परिचय के बाद उनके प्रमुख ग्रन्थों का विवरण प्रस्तुत हैः–

1. **भामहकृत 'काव्यालंकार'** : भामह ने नाट्यशास्त्र से काव्य शास्त्र की धारा को पृथक करते हुए 'काव्यालंकार' ग्रन्थ लिखा तथा काव्य का लक्षण प्रस्तुत किया – 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्।' उन्होंने अलंकार को काव्य का आत्मा कहते हुए अलंकार सम्प्रदाय का सूत्रपात किया तथा वक्रोक्ति को अलंकार का मूल बताया –

   'सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिः कोऽलङ्कारोऽनयां विना। (काव्यलंकार 2/85) इनसे पूर्व भरतमुनि ने दस गुण प्रतिपादित किये थे। भामह ने माधुर्य, ओज तथा प्रसंगाद की गुणत्रयी में उनका समावेश कर लिया। साथ 'दशविध काव्यदोषों' का विवेचन करते हुए 'काव्यालंकार' लिखा।

   काव्यालंकार में छः परिच्छेद तथा 398 श्लोक हैं – 'उक्तं षड्भिः परिच्छेदैर्भामहेन क्रमेण वा।' प्रथम परिच्छेद में काव्य के साधन, लक्षण एवं भदों का वर्णन है। द्वितीय परिच्छेद में गुणत्रय, तृतीय में 38 अलंकार तथा चतुर्थ में दस दोषों का वर्णन है। पंचम परिच्छेद में 'न्याय विरोधी दोष' की चर्चा तथा षष्ठ में सौशब्द्य (व्याकरण शुद्ध पद) का विवेचन किया गया है। 'काव्यालंकार' पर कोई टीका सम्प्रति उपलब्ध नहीं है, किन्तु उत्तरवर्ती अनेक ग्रन्थकारों ने भामह को सम्मानपूर्वक अपने ग्रन्थों में उद्धृत किया है।

2. **दण्डीकृत काव्यादर्श** : दण्डी के विख्यात तीन प्रबन्धों में 'काव्यादर्श' उनकी सुप्रसिद्ध साहित्यशास्त्रीय कृति है। गद्य कवि के रूप में 'दण्डिनः पदलालित्यम्' विख्यात रहा है। किन्तु 'काव्यादर्श' दण्डी के आचार्यत्व का प्रमाण है। डॉ. पी.वी. काणे इसे अंशतः अलंकार–सम्प्रदाय और अंशतः रीति सम्प्रदाय का समर्थक ग्रंथ मानते हैं किन्तु दण्डी ने न तो 'रीति' पद का प्रयोग ही किया और न ही वामन की तरह रीतियों का विवेचन। अतः निस्सन्देह वे अलंकार–सम्प्रदाय के ही विचारक थे। रस के माधुर्य से परिचित होते हुए भो उन्होंने काव्य के शोभाकर धर्मों को 'अलंकार' कहा –

   'काव्यशोभाकरान् धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते।'

   तथा सरस कथन को भो 'रसवद् अलंकार' की कोटि में माना –

   'रसवद् रसपेशलम्'।

   'काव्यादर्श' चार परिच्छेदो में विभक्त है। प्रथम परिच्छेद में काव्य लक्षण, काव्य के भद, भाषाओं के प्रकार वैदभ और गौड़ मार्ग, दशविध गुण, तथा तीन काव्य हेतुओं का वर्णन है। द्वितीय परिच्छेद में अलंकार–लक्षण के बाद 35 अलंकारों का सोदाहरण विवेचन किया गया है। तृतीय परिच्छेद में यमक अलंकार का विस्तृत वर्णन है। चतुर्थ परिच्छेद में 16 प्रकार की प्रहेलिकाओं तथा 63 श्लोको में दशविध दोषों का वर्णन है। काव्यादर्श श्लोकबद्ध रचना है जिनकी संख्या 660 है। दण्डी की शैली सरल और सारगर्भित है। भामह द्वारा वर्णित 32 अलंकारों को यथावत् मानकर दण्डी ने पांच नवीन अलंकारों की कल्पना की है। 'काव्यादर्श' की साहित्यचार्यों में लोकप्रियता का प्रमाण यही है कि इस पर नौ टीकाएं लिखी गई।

3. **उद्भट प्रणीत 'अलंकार–सार संग्रह** – आचार्य उद्भट के इस ग्रन्थ को डॉ. व्हूलर ने कश्मीर से खोज निकाला था और इसका प्रथम प्रकाशन 1897 ई. में कनल जैकब के अंग्रेजी अनुवाद के साथ रॉयल एशियाटिक सोसायटी के जर्नल में हुआ। इस पर लिखी प्रतिहारेन्दुराज की लघुवृत्ति के साथ पण्डित मंगेश रामकृष्ण तैलंग के सम्पादन म यह ग्रंथ 1915 ई. में निर्णयसागर प्रेस से प्रकाशित किया गया। भामह से प्रभावित होकर उद्भट ने 'भामह–विवरण' नाम से 'काव्यालंकार' पर टीका लिखी तथा अलंकार सम्प्रदाय को आगे बढ़ाने में महत्त्वपूर्ण योगदान किया।

अलंकार–सार सड्.ग्रह ग्रन्थ छः वर्गों में विभक्त है। इसमें 69 कारिकाएं, 41 अलंकारों का 90 उदाहरणों के साथ विवेचन है। टीकाकर प्रतिहारेन्दुराज के अनुसार उद्भट ने ये उदाहरण अपनी काव्यकृति 'कुमारसम्भव' से लिये हैं। सम्पूर्ण ग्रन्थ में अलंकारों का ही विवेचन है जिनका क्रम भामह के अनुसार दिया गया है किन्तु अनेक स्थानों पर भामह से मतभद रखते हुए अपने मौलिक विचार भो प्रस्तुत किये हैं। अलंकार–सारसंग्रह पर दो टीकाएं लिखी गई है – (1) प्रतिहारेन्दु राज की 'अलंकार–सार–लघुविवृत्ति (950 ई.) तथा (2) राजानक तिलक रचित 'उद्भट–विवेक (1100 ई.)। उद्भट श्लेष अलंकार को सर्वप्रधान मानते हैं। उपमा के भदों का व्याकरण के आधार पर विस्तृत निरूपण उद्भट ने प्रारंभ किया था। उत्तरवर्ती आचार्यों ने उनका स्मरण सम्मानपूर्वक किया है।

4. **रुद्रट रचित काव्यालंकार** – अलंकार–सम्प्रदाय के प्रतिनिधि आचार्य रुद्रट ने भामह के समान ही अपने ग्रन्थ का नामकरण किया किन्तु उन्होंने अर्थालंकारो के लक्षण से पूर्व उनके चार मूल तत्त्व खोज निकाले – वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष। इस वैज्ञानिक आधार पर उन्होंने 57 अलंकारों की व्यवस्था करते हुए आर्या छंद में 'काव्यालंकार' ग्रन्थ की रचना की। यह ग्रन्थ 16 अध्यायों में विभक्त है जिनमें कुल 734 पद्य है। रुद्रट ने काव्य के प्रायः सभो अंगों का वर्णन करते हुए भो गुणों पर कुछ नहीं लिखा, यह आश्चर्य है। उनका नायिका भद–विवेचन परवर्ती शास्त्रकारों में विशेष लोकप्रिय हुआ। अलंकारों की संख्या–वृद्धि में रुद्रट ने 31 मौलिक अलंकार जोड़े हैं तथा श्लेष के दस भद गिनाये है। नौ प्रसिद्ध रसों के अतिरिक्त रुद्रट ने 'प्रेयस्' नामक दशम रस का प्रतिपादन किया है।

   काव्यालंकार पर तीन टीकाएं लिखी गई – (1) वल्लभदेव की 'रुद्रटालंकार टीका (2) नमिसाधु 1068–69) की टीका तथा (3) आशाधर कृत टीका। इनमें नमिसाधु की टीका संक्षिप्त, विषयानुकूल तथा विशेष प्रसिद्ध है।

5. **रुय्यक–प्रणीत 'अलंकार–सर्वस्व'** – 'अलंकार–सर्वस्व' राजानक रुय्यक (रुचक) की प्रौढ़ कृति है। इससे पूर्व उन्होंने काव्यशास्त्र पर अनेक ग्रंथ लिखे थे जिनमें 600 श्लोक और 8 प्रकरणों में विभक्त 'साहित्यमीमांसा' का स्वयं उन्होंने उल्लेख किया है। यद्यपि रुय्यक को ध्वनिवादी माना जाता है क्योंकि इन्होंने अपने ग्रन्थ के प्रारंभ के 18 सूत्रों में भामह, उद्भट, रुद्रट, वामन, कुन्तक, महिमभट्ट तथा आनंदवर्धन के मतों का सारांश देते हुए ध्वनिकार के मत की पुष्टि की है। किन्तु उनके 'अलंकार–सर्वस्व' में 5 शब्दालंकारो तथा 70 अर्थालंकारो का, विशिष्ट प्रकार के वर्गीकरण के अंतर्गत वर्णन किया गया है तथा सात मौलिक अलंकारों की उद्भावना की गई है। सूत्र, वृत्ति और उदाहरण की प्राचीन शैली में रचित यह नाम से ही नहीं, विषय–प्रतिपादन की दृष्टि से भो अलंकार–सम्प्रदाय का पांडित्यपूर्ण ग्रन्थ है।

   इस ग्रन्थ पर जयरथ ने विमर्शिनी टीका तथा समुद्रबंध की 'विवरण' टीका लिखी जिनमें से जयरथ की टीका विद्वतापूर्ण मानी जाती है।

6. **जयदेव कृत चन्द्रालोक** – पीयूषवर्ष जयदेव द्वारा लिखित 'चन्द्रालोक 350 अनुष्टुप् छंदों में निबद्ध तथा दस मयूखो में विभक्त काव्यशास्त्र के सिद्धान्त–निरूपण से संबंधित लोकप्रिय ग्रन्थ है। इसकी शैली सुगम और स्पष्ट, भाषा प्रवाहमयी एवं मधुर है जो नवशिक्षितों के लिए भो यह सहज ग्राह्य है। इसके प्रथम मयूख में काव्य लक्षण, काव्यहेतु एवं त्रिविध शब्द प्रकार, द्वितीय मयूख में शब्द, अर्थ वाक्य के दोष, तृतीय में काव्य–सौंदर्य के उपाय, चतुर्थ में दस गुणों का वर्णन है। पांचवे मयूख में चार शब्दालंकारों तथा एक सौ अर्थालंकारों का मंगलाचरण निरूपण है। छठे मयूख में रस, भाव, रीति वृत्ति की समीक्षा, सातवे में व्यंजना और ध्वनि के भद, आठवें में गुणीभ्तव्यंग्य के भद, नवम में लक्षणा तथा दशम मे अभिधा का विवेचन हुआ है। अलंकारों के निरूपण में जयदेव ने रुय्यक का अनुकरण किया है –

ध्वनि–विरोधी जयदेव ने मम्मट के काव्य–लक्षण ;तददोषौशब्दार्थौद्ध पर जो कटाक्ष किया है, वह काफी चर्चित रहा है –

अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलङ्कृती
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृति।।

चन्द्रालोक पर छः टीकाएं उपलब्ध होती हैं – (1) प्रद्योतन भट्ट की शारदागम टीका (1583 ई.) (2) वैद्यनाथ पायगुण्ड की रमां टीका (1800 ई.) तथा (3) गागाभट्ट की सुधा टीका (1700 ई.) ये तीनों प्रकाशित हैं, शेष तीन अभो पांडुलिपि रूप मे ही है।

7. **अप्पय दीक्षित रचित ग्रन्थत्रयी** – अप्पय दीक्षित ने अलंकार शास्त्र विषयक तीन ग्रन्थ लिखे – (1) वृत्तिवार्तिक (अभिधा एवं लक्षणा वृत्ति–विवेचन पर) (2) चित्रमीमांसा (केवल अर्थालंकार निरूपण पर अपूर्ण कृति) तथा (3) कुवलयानन्द (123 अलंकारों का विवेचन), जिसे इन्होंने राजा वेंकटपति के अनुरोध पर लिखा था –

नियोगाद् वेंकटपतेर्निरूपाधिकृपानिधेः
अमुं कुवलयानन्दमकरोदप्पयदीक्षितः।।

'कुवलयानंद' अलंकारों का छात्रोपयोगी संग्रह–ग्रन्थ मात्र है। चित्रमीमांसा में अप्पय दीक्षित ने उपमा को 22 अलंकारो का आधार बताते हुए उसे 'शैलूषी' को काव्यमयी उपमा दी है।

उपमैका शैलूषी सम्प्राप्ता चित्रभूमिकाभेदान्।
रञ्जयति काव्यरंगे नृत्यन्ती तद्विदां चेतः।।

इस प्रकार अलंकार सम्प्रदाय अप्पय दीक्षित की रचनाओं पर आकर विराम लेता है।

10.7 पारिभाषिक शब्दावली

'अलंकार' – शब्द सामान्यतः 'आभूषण' का वाचक है, जिसे धारण करने से वनिता की सहज सुन्दरता में वृद्धि होती है। काव्य में भी अलंकार उस शोभावर्धक तत्त्व का नाम है जो शब्दार्थमय काव्य की सौन्दर्यवृद्धि करता है।

'काव्यशास्त्र' – समालोचना के परिचायक है। अतः समालोचना (क्रिटिसिज्म) को सीधे काव्य से जोड़ने पर 'काव्यशास्त्र' अभिधान प्रचलित और लोकप्रिय हुआ किन्तु काव्यशास्त्रियों ने काव्य का लक्षण प्रस्तुत करते हुए शब्द और अर्थ के 'साहित्य' (सहितभाव) को काव्य की संज्ञा दी।

'ब्रह्मास्वाद – शब्द ब्रह्म है, 'बृंह्' धातु का अर्थ है – विस्तार करना। भर्तृहरि कहते हैं कि परब्रह्म की तरह शब्दब्रह्म में निष्णात व्यक्ति भी परब्रह्म स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। शायद इसी भाव से भट्टनायक ने काव्य की चरम रसानुभूति को 'ब्रह्मास्वाद–सहोदर' कहा था।

व्यापार के दो रूप हैं – उक्तिवैचित्र्य और भुक्तिव्यापार।

नाट्यरस – भरत ने आठ नाट्यरस निर्धारित किये थे – श्रृंगार, हास्य, वीर, अद्भुत, भयानक्, बीभत्स, रौद्र और करुण जिनके क्रमशः स्थायी भाव हैं – रति, हास, उत्साह, विस्मय, भय, जुगुप्सा, क्रोध और करुणा। शान्तरस नवम रस है जो विवाद का विषय रहा है।

रीति (रीङ्.गतौ) – गुणों के गमन (अभिव्यक्ति) का मार्ग है – रीति (रीङ्.गतौ) जिसका लक्षण उन्होंने किया– 'विशिष्टा पदसंघटना रीतिः'।

ध्वनि काव्यात्मा – है। इसके मुख्य तीन भेद है – वस्तु, अलंकार और रस।

वक्रोक्ति–सिद्धान्त – आचार्य कुन्तक ने भामह के ''सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिः' कथन के आधार पर वक्रोतिवैदग्ध्यभंगीभणितिरुच्यते। उनका मत था कि शब्दार्थ से जो काव्य शरीर निष्पन्न होता है, उसमें दो विशेषताएं होनी चाहिए– एक तो उस उक्ति में प्रसिद्ध वचन–व्यापार से भिन्न वक्र ;विचित्रद्ध अभिधा हो, दूसरे वह लोकोत्तर उक्ति सहृदय को आह्लादित करने में समर्थ हो।

10.8 अभ्यासार्थ प्रश्न

बोध प्रश्न

1. 'अलंकार' का लक्षण क्या ह ?
2. 'साहित्यशास्त्र' नाम का आधार बताइए।
3. अलंकार सम्प्रदाय का इतिहास लिखिए।
4. 'रसो वै सः' इसकी व्याख्या कीजिए।
5. काव्य शास्त्र – परम्परा में भामह के अवदान का विश्लेषण कीजिए।
6. अलंकारो के वर्गीकरण के मूल तत्त्वों पर टिप्पणी लिखिए।
7. 'काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात्' इस उक्तिका विवेचन कीजिए।
8. अलंकार–सम्प्रदाय के प्रमुख ग्रन्थों का परिचय दीजिए।
9. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए –
   (1) सौन्दर्यमलङ्कारः
   (2) हारादिवदलङ्काराः
   (3) उपमैका शैलूषी
   (4) शोकः श्लोकत्वमागतः

10.9 सारांश

इस प्रकार इस इकाई में हमने संस्कृत वांड्मय में साहित्य शास्त्र का ज्ञान प्राप्त किया। साहित्य शास्त्र की समीक्षा के प्रमुख में इस अलंकार, रीती, ध्वनि, वक्रोक्ति एवं औचित्य नामक छ: संप्रदायों को जाना। भारतीय काव्य शास्त्रियों के काव्य की आत्मा के संदर्भ में भिन्न-भिन्न रिवाजों का भी ज्ञान प्राप्त किया।

10.10 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. काव्यालंकारः (भामह), व्या. डॉ. रमणकुमार शर्मा, विद्यानिधि. प्रकाशन, दिल्ली, 1994.
2. काव्यादर्श, कृष्णमोहन शास्त्री, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, 1986.
3. काव्यालंकार सूत्र, रेवाप्रसाद द्विवेदी,चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, 1977.
4. काव्यालंकार,हरगोविन्द शास्त्री, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, 2002.
5. जयदेव–कृत 'चन्द्रालोकः'कृष्णमूर्ति त्रिपाठी, चौखम्भा सुरभारती, वाराणसी, तृ.सं. 1984.
6. अप्पयदीक्षित–प्रणीत कुवलयानन्दः, भोलाशंकर व्यास, चौखम्भा सुरभारती, वाराणसी, 2013.
7. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, डॉ.पी.वी.काणे,मोतीलाल बनारसी दास, नई दिल्ली,1966.

इकाई 11

रस सम्प्रदाय; प्रमुख ग्रन्थ एवं चिन्तक
औचित्य सम्प्रदाय; प्रमुख ग्रन्थ एवं चिन्तक

इकाई की रूपरेखा

11.0 उद्देश्य
11.1 प्रस्तावना
11.2 पण्डितराज जगन्नाथ की रसमीमांसा ;रसगङ्गाधर
    11.2.1 रसनिष्पत्ति
        11.2.1.1 भट्टलोल्लट का मत ;उत्पत्तिवाद
        11.2.1.2 श्री शङ्कुक का मत ;अनुमितिवाद
        11.2.1.3 भट्टनायक का मत ;भुक्तिवाद
        11.2.1.4 अभिनवगुप्त का मत ;अभिव्यक्तिवाद
        11.2.1.5 नव्यमत ;अद्वैतवेदान्तीद्ध ;अनिर्वचनीय ख्याति
        11.2.1.6 नैयायिकों का मत ;अन्यथाख्याति
        11.2.1.7 रस निष्पत्ति के अन्य मत
11.3 रसगङ्गाधरकार पण्डितराज जगन्नाथ के अनुसार रस का स्वरूप
    11.3.1 अभिनवगुप्त के मत का उत्कष
    11.3.2 रसबोध न्यायसम्मत बोध नहीं है
    11.3.3 रस सहृदयनिष्ठ है
    11.3.4 आनन्द साक्षात् आत्मा है
    11.3.5 रति भो साधारण रति है
    11.3.6 रति संस्कार है
    11.3.7 व्यञ्जना की स्थापना
    11.3.8 निजी आत्मा का आस्वाद ही रस है
11.4 रसगङ्गाधर में स्थायीभाव
    11.4.1 स्वरूप
    11.4.2 स्थायिभावों की संख्या
    11.4.3 स्थायिभावों के लक्षण
        11.4.3.1 रति
        11.4.3.2 शोक
        11.4.3.3 निर्वेद
        11.4.3.4 क्रोध
        11.4.3.5 उत्साह
        11.4.3.6 विस्मय
        11.4.3.7 हास
        11.4.3.8 भय
        11.4.3.9 जुगुप्सा
    11.4.4 भावों का स्वरूप
        11.4.4.1 विभाव
        11.4.4.2 अनुभाव
        11.4.4.3 व्यभिचारिभाव
11.5 रसों की संख्या
    11.5.1 रसों की संख्या का निर्धारण
        11.5.1.1 शान्त रस की स्थापना

11.5.1.2 भक्ति रस का खण्डन
11.5.1.3 वात्सल्य रस का खण्डन
11.5.2 रसों के भद–उपभद
11.5.2.1 शृङ्गार रस के भद
11.5.2.2 वीर रस के भद
11.5.3 आनन्दवर्धनाचार्य द्वारा प्रतिपादित रसादि की सलंक्ष्यक्रमता का पण्डितराज द्वारा खण्डन
11.5.4 रस विरोध
11.5.4.1 विरोध–परिहार के उपाय
11.5.4.2 ज्ञान विरोध परिहार
11.5.4.3 रस के व्यञ्जक (सामान्य मत)
11.5.4.4 रस के व्यञ्जक (प्राचीन मत)
11.5.4.5 रस के व्यञ्जक (नवीन मत)
11.5.4.6 पण्डितराज जगन्नाथ का मत
11.5.5 भाव–ध्वनि
11.5.5.1 रसाभास
11.5.5.2 भावाभास
11.5.5.3 भावशान्ति
11.5.5.4 भावशबलता
11.6 रस – स्वरूप निरूपण (विभिन्न आचार्यो के अनुसार)
11.6.1 आचार्य भरत (नाट्यशास्त्र)
11.6.2 भामह (काव्यालङ्कार)
11.6.3 दण्डी (काव्यादर्श)
11.6.4 उद्भट
11.6.5 वामन
11.6.6 रुद्रट (काव्यालङ्कार)
11.6.7 भट्टलोल्लट
11.6.8 श्रीशङ्कक
11.6.9 आनन्दवर्धन (ध्वन्यालोक)
11.6.10 भट्टतौत, काव्यकौतुक)
11.6.11 महिम्मभट्ट (व्यक्ति विवेक)
11.6.12 मम्मट (काव्यप्रकाश)
11.7 औचित्य सम्प्रदाय – प्रमुख गन्थ एवं चिन्तक
11.7.1 महाकवि क्षेमेन्द्र का परिचय
11.7.2 महाकवि क्षेमेन्द्र के प्रमुख ग्रन्थ
11.8 औचित्य सिद्धान्त
11.8.1 ओचित्य क्या है
11.8.2 औचित्य की परिभाषा
11.8.3 औचित्य के प्रमुख क्षेत्र
11.8.4 औचित्य काव्य के प्राण के रूप में
11.8.5 काव्य में औचित्यपूर्णता और औचित्यहीनता
11.9 औचित्य स्थापना से पूर्ववर्ती आचार्य एवं उनके मत
11.9.1 आनन्दवर्धन
11.9.2 भरतमुनि
11.9.3 पूर्व आलङ्कारिक
11.9.4 भामह और दण्डी
11.10 औचित्य का विभिन्न समप्रदाओं एवं काव्यशास्त्रीय विधाओं से सम्बन्ध

11.10.1 औचित्य ध्वनि एवं रस सम्प्रदाय
11.10.2 औचित्य और गुण
11.10.3 औचित्य और अलंकार
11.10.4 औचित्य और काव्यरस
11.10.5 औचित्य और रीति सम्प्रदाय
11.11 पारिभाषिक शब्दावली
11.12 अभ्यासार्थ प्रश्न
11.13 सारांश
11.14 संदर्भ ग्रंथ सूची

11.0 उद्देश्य

आप एम.ए. (पूर्वार्द्ध) के (संस्कृत) चतुर्थ प्रश्न–पत्र की ग्यारहवीं इकाई का अध्ययन करने जा रहे हैं। इस इकाई में रस सम्प्रदाय के प्रमुख ग्रन्थ एवं चिन्तकों को आधार बनाकर रस की निष्पत्ति की गई है । इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप :

- रस की उत्पत्ति कैसे होती है, उसके कितने भद होते है ? यह जान सकेंगे ।
- रस के प्रवर्तक आचार्य कौन हैं और उनका दिया रस–सूत्र और रस–स्वरूप जान सकेंगे ।
- प्रमुख नौ रसों एवं उनके स्थायी भावों के बारे म जान सकेंगे ।
- रस स्वरूप निरूपण के विषय में विभिन्न आचार्यो के मत जान सकेंगे ।
- औचित्यसिद्धान्त क्या है ? उसके प्रमुख भद एवं क्षेत्रों को जान सकेंगे ।
- औचित्य के विषय में विभिन्नाचार्यों के मत एवं अन्य सम्प्रदायों से औचित्य के सम्बन्ध के बारे में जान सकेंगे ।

11.1 प्रस्तावना

साहित्य शास्त्र के पाठकगण साहित्य शास्त्र के प्रमुख छः सम्प्रदायों से सामान्यरूप से तो परिचित होंगे ही । वे छः सम्प्रदाय है

1. रस सम्प्रदाय
2. रीति सम्प्रदाय
3. ध्वनि सम्प्रदाय
4. वक्रोक्ति सम्प्रदाय
5. औचित्य सम्प्रदाय
6. अलङ्कार सम्प्रदाय

प्रस्तुत इकाई में हम रस सम्प्रदाय एवं औचित्य सम्प्रदाय के बारे में विस्तार से चर्चा करेंगे ।

11.2 पण्डितराज जगन्नाथ की रस–मीमांसा

11.2.1 रस निष्पत्ति –

नाटक में सहृदयों को रस कैसे मिलता है इस प्रश्न का उत्तर आचार्य भरत द्वारा प्रतिपादित रस सूत्र ''विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः'' से मिलता है। इस सूत्र के प्रमुख व्याख्याता चार हुए :–

1) भट्टलोल्लट
2) शङ्कुक
3) भट्टनायक

4) अभिनवगुप्त

इन चार व्याख्याताओं में से अभिनवगुप्त में ही पण्डितराज की सर्वाधिक आस्था है।

11.2.1.1 भट्टलोल्लट का मत –उत्पत्तिवाद

रस – वास्तविक दुष्यन्त में रहने वाली रति

निष्पत्ति – तादृश रति का अलौकिक प्रत्यक्ष

भरत के रस सूत्र के व्याख्याकारों में भट्टलोल्लट 'उत्पत्तिवाद' के मानने वाले हैं। इस वाद के अनुसार भरत के रस सूत्र का अर्थ होगा– विभावानुभावादि का नट के साथ सम्बन्ध (संयोग) होने से रति इत्यादि का नट पर आरोप ;निष्पत्तिद्ध। इनके मत में विभाव, अनुभाव आदि के संयोग से अनुकार्य नटादि में रस की उत्पत्ति होती है, उनमें भो विभाव नायिका आदि मुख्य रूप से रस के उत्पादक होते हैं। भट्टलोल्लट के मत में रस वही रति है जो वास्तविक दुष्यन्त के हृदय में शकुन्तला को देखते हुए उत्पन्न हुई थी। किन्तु प्रश्न ये उठता है कि दुष्यन्त के हृदय में उत्पन्न होने वाली रति से सामाजिकों को आनन्द कैसे होगा? इस प्रश्न के उत्तर में लोल्लट कहते है कि उस रति का सामाजिकों को अलौकिक प्रत्यक्ष होता है। यही अलौकिक प्रत्यक्ष से ज्ञात हुई रति सहृदयों के लिए रस बन जाती है।

इस दृष्टि से रस की निष्पत्ति के दो अर्थ प्रकट होते हैं :–

(1) अलौकिक प्रत्यक्ष

(2) उत्पत्ति

यदि सामाजिकों के पक्ष से देखेगें तो रस की निष्पत्ति अलौकिक प्रत्यक्ष से होगी और अगर दुष्यन्त (नायक) के पक्ष से देखेगें तो रस निष्पत्ति का अर्थ 'उत्पत्ति' से होगा। यहाँ दुष्यन्तपक्षीय (नायक पक्षीय) रति की उत्पत्ति को अपनाते हुए ही इनके मत को उत्पत्तिवाद कहा है।

इस स्थल में भो सामाजिक चक्षु से केवल दुष्यन्त को ही (दुष्यन्त रूपी नट को ही) देखता है रति को नहीं, परन्तु फिर भो उसे रति का ज्ञान हो जाता है – उसी अलौकिक प्रत्यक्ष के द्वारा। अतः ''अयं दुष्यन्तः शकुन्तलाविषयकरतिमान् ।'' इस तरह से उसे रस का बोध होता है। यह प्रत्यक्ष ज्ञान है यर्थाथ ज्ञान है। अर्थात नट में शकुन्तलाविषयक रति की वास्तविक स्थिति सिद्ध हो जाएगी क्योंकि सामाजिकों के सम्मुख तो नट ही रहता है दुष्यन्त नहीं । इसका अर्थ यह है कि यद्यपि सामाजिक नट को ही देखता है किन्तु कुशल अभिनय, विभावादिभावों के कारण वह उसमें ''यह दुष्यन्त है'' इस प्रकार भम करता है नट को ही वह दुष्यन्त समझता है और इसी से वह शकुन्तला विषयक रति नटगत्वेन अर्थात् नट से ही अवभासित होती है। यहाँ रतिबोध प्रत्यक्षात्मक है किन्तु अलौकिक प्रत्यक्षात्मक है। क्योंकि अलौकिक प्रत्यक्ष में विषय का होना आवश्यक नहीं है। वह तो स्मृतिरूप होता है ओर स्मृति अविद्यमान पदार्थ की ही हो सकती है अतः रति के न रहते हुए भो उसका प्रत्यक्ष बोध होता है ।

11.2.1.2 श्री शङ्कुक का मत – (अनुमितिवाद)

भट्टलोल्लट की उपर्युक्त व्याख्या में सबसे बड़ी कमी यह थी कि इसमें मुख्य रूप से अनुकार्य तथा गौण रूप से नट में तो रस की उत्पत्ति, अभिव्यक्ति और पुष्टि आदि मानी है परन्तु सामाजिकों को रसानुभ्ति क्यों नहीं होती इस विषय पर कोई ध्यान नहीं दिया गया है।

दूसरी बात अनुकार्य दुष्यन्त शकुन्तला आदि अब तो इस जगत में नहीं है । अतः इस समय किए जाने वाले अभिनय से उनमें रस की उत्पत्ति नहीं बन सकती है । इसलिए उनके अनुकर्त्ता नट में भो रस की उत्पत्ति नहीं हो सकती है ।

इन्हीं दोषों को ध्यान में रखकर ही न्यायसिद्वान्त के अनुयायी श्री शङ्कुक ने भरत के रस सूत्र की दूसरे प्रकार से व्याख्या की । इसमें उन्होंने सामाजिकों के साथ सम्बन्ध दिखलाने का प्रयत्न किया। श्री शङ्कुक के अनुसार रस का बोध अनुमान द्वारा

होता है इसलिए इनके द्वारा प्रतिपादित रस सूत्र की व्याख्या को अनुमितिवाद कहा गया है। शङ्कुक के मत में रस – वास्तविक दुष्यन्त में रहने वाली रति,

निष्पत्ति – उस प्रकार की रति की अनुमिति

इनके अनुसार वास्तविक दुष्यन्त में रहने वाली रति ही रस है परन्तु उसका बोध अलौकिक प्रत्यक्ष से न होकर अनुमान के द्वारा होता है।

लोक जीवन में जिस प्रकार 'पर्वतोवह्निमान्' यह बोध अनुमान द्वारा होता है उसी प्रकार नाट्य में भो 'शकुन्तला विषयक रतिमान् यह दुष्यन्त हैं (दुष्यन्तोऽयं शकुन्तलाविषयक रतिमान्) यह ज्ञात होता है। सामाजिकों की दृष्टि से निष्पत्ति का यहाँ पर अर्थ 'अनुमिति' है अर्थात् अनुमान से रस का बोध। इसी कारण यह वाद 'अनुमितिवाद' कहा जाता है।

यदि पक्ष, साध्य और हेतु की दृष्टि से देखें जिससे की अनुमान सिद्ध होता है – तो यहाँ

पक्ष है	–	नट अर्थात् अयं दुष्यन्तः
साध्य है	–	शकुन्तला विषयक रति और
हेतु है	–	विभाव–अनुभाव आदि भाव

यहाँ नट में शकुन्तलाविषयक रति नहीं रहती है किन्तु उस रति के न रहने पर भो अनुमान होता है क्योंकि अनुमान होने के लिए विषय का सम्मुख रहना आवश्यक नहीं होता अविद्यमान वस्तु का प्रत्यक्ष तो नहीं हो सकता किन्तु अनुमान तो हो ही सकता है।

शङ्कुक के अनुसार भरत के रस सूत्र का अर्थ होगा – '''कृत्रिम होते हुए भो अकृत्रिम रूप में ग्रहण किये गये विभावादि से अनुमान करके (संयोगात्) रत्यादि की अनुमिति ही रस की निष्पत्ति है।''

भट्टनायक द्वारा भट्टलोल्लट व श्रीशङ्कुक द्वारा प्रतिपादित रस सूत्र की व्याख्या का खण्डन

भट्टलोल्लट ने रसनिष्पत्ति की व्याख्या रस उत्पत्ति व शङ्कुक ने 'रस की प्रतीति अथवा अनुमिति' के रूप में की है । भट्टनायक ने इन दोनों मतों को अस्वीकार किया तथा कहा कि रस न तो उत्पन्न होता है और न ही उसकी अनुमिति होती है ।

रस–उत्पत्ति का खण्डन (भट्टलोल्लट के मत का खण्डन)

भट्टनायक कहते हैं कि 'रस–निष्पत्तिः' इसका अर्थ यदि रस–उत्पत्ति से लें तो रस की उत्पत्ति किसमें होगी ? इस प्रश्न का उत्तर है – रस उत्पत्ति वास्तविक रामादि में, अथवा उसका अभिनय करने वाले नट में अथवा सामाजिक या सहृदय में होगी ।

भट्टलोल्लट मानते है कि रस की उत्पत्ति रामादि में होगी ऐसा मानने पर तो यह सहृदय के लिए आस्वाद्य नहीं हो सकती क्योंकि यह रामादि के लिए आस्वाद्य है । क्योंकि जो रति सहृदय (सामाजिक) में विद्यमान रहे, उसी का आस्वाद बोध उसे होगा, अन्य व्यक्ति में स्थित रति का नहीं ।

और यदि रसोत्पत्ति नट में मानी जाये तो पूर्व के समान वह रस सहृदयों (सामाजिकों) के लिए अनास्वाद्य होगी । और रस उत्पत्ति का तीसरा पक्ष–सहृदय (सामाजिक स्वयं) सहृदय में भो रस की उत्पत्ति नहीं हो सकती क्योंकि उनके प्रति सीता–शकुन्तला सदृश्य विभावादि कारण नहीं है ।

शकुन्तलादि में रमणीयत्व होन से वह सामाजिक मात्र के प्रति विभाव हो सकती है और उससे सहृदय (सामाजिक) में रति भो उत्पन्न हो सकती है – किन्तु नारीत्व मात्र विभाव से रति उत्पन्न होना व्यवहारतः असिद्ध है । शकुन्तला आदि के प्रति सहृदय का यह ज्ञान होता है कि वह अगम्या है अतः उसके प्रति उत्पत्ति असम्भव है ।

सहृदय का अपने को दुष्यन्त से अभिन्न मान लेना यदि प्रतिबन्धक माना जाये तो वह भो ठीक नहीं क्योंकि सहृदय व दुष्यन्त में इतना अधिक अन्तर है कि उन दोनों को एक मानना असम्भव है ।

अतः रस की उत्पत्ति किसी भो प्रकार से सम्भव नहीं है ।

श्री शङ्कुक के अनुमितिवाद का भट्टनायक द्वारा खण्डन –

रस–प्रतीति या रस–अनुमिति –

रस की प्रतीति होती है इस प्रकार मानने पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि किस प्रकार इसे किस प्रकार की प्रतीति माना जाये? शब्द–जन्य होने के कारण इसे यदि शाब्दी प्रतीति माना जाये तो इसमें कोई चमत्कारिता नहीं होगी।

यदि इसे अलौकिक प्रत्यक्षात्मक प्रतीति माने तो सुरभि की स्मृति के समान रति आदि की स्मृति (अलौकिक प्रत्यक्ष) में भो कोई आनन्द उत्पन्न नहीं होगा।

और यदि शुद्धस्मृत्यात्मक प्रतीति भो मानी जाये तो यह भो संभव नहीं है क्योंकि शुद्धस्मृति में तो विषय पूर्वानुभ्त होता है । किन्तु रति आदि का सहृदय को पूर्वानुभव नहीं होता है।

अतएव भट्टनायक के मत में रसनिष्पत्ति न तो रसोत्पत्ति है और न ही रस की प्रतीति है। अतः फिर रसास्वाद कैसे होता है? इसके लिए हम भट्टनायक का मत जानेंगे ।

11.2.1.3 भट्टनायक का मत – (भुक्तिवाद)

भट्टनायक को सांख्यानुयायी माना जाता है। इनके द्वारा प्रतिपादित रससूत्र की व्याख्या को 'भक्तिवाद' माना गया है। इन्होंने रामादि के स्थान पर सामाजिक में रहने वाली रति को रस माना है और इन्होंने भावकत्व और भोजकत्व व्यापारों की स्थापना की है। काव्य में रहने वाले अभिद्या व्यापार के अतिरिक्त भावकत्व और भोजकत्व नामक दो अन्य व्यापारों को भो स्वीकार किया है।

भावकत्व – साधारणीकरण रूप व्यापार। इनके द्वारा अभिधा से प्रतिपादित सम्पूर्ण काव्यार्थ अर्थात् विभावानुभावादि भावों को शकुन्तलात्व, सीतात्व आदि विशेष परिचयों द्वारा आवृत्त कर दिया जाता है।

भोजकत्व – इसके द्वारा सहृदय चिद्रूप और आनन्द रूप अनावृत्त हो जाता है ।

भट्टनायक के मत में रस निष्पत्ति – सर्वप्रथम काव्यात्मक शब्द से शकुन्तलादि अर्थों का अभिधावृत्ति द्वारा उपस्थापन होता है, तत्पश्चात् अभिधा द्वारा ही शकुन्तलादि अर्थों का साधारणीकरण कर दिया जाता है । यह साधारणीकरण भावकत्व व्यापार द्वारा किया जाता है । साधारणीकरण से तात्पर्य है कि–शकुन्तला में रहने वाले शकुन्तलात्व को छिपाकर सामान्य रूप से रमणीयत्वेन प्रस्तुत करना। विभावानुभावादि भावों का यह सामान्य रूप ही वास्तव में रस के अनुकूल है। रसानुकूल धर्मों के पश्चात् ही 'भोजकत्व' नामक तृतीय व्यापार प्रवृत्त होता है, इसके फलस्वरूप ही सहृदय का आनन्दात्मक स्वरूप प्रकाशित होता है, इस चिद्रूप के प्रकाशित होने पर ही उसके निकट विद्यमान रति भो प्रकाशित हो जाती है। रति का यह प्रकाश ही रति–भोग है।

इस प्रकार भट्टनायक ने यह सिद्ध किया कि सामाजिक के चैतन्य का उद्घाटित हो जाना तथा उससे उसकी अपनी रति का प्रकाशित होना ही वास्तव में रस है।

इस दृष्टिकोण के आधार पर भट्टनायक के अनुसार रस सूत्र के अर्थ हैं – विभाव–अनुभाव आदि भावों के रत्यादि से उपहित साधारणीकरण जो कि साधारणीकरण रुप भावकत्व व्यापार के द्वारा प्रकाशित है उसका सत्वोद्रेक से प्रकाशित आनन्दरूप भोजकत्व का विषय हो जाना अर्थात् साक्षात्कार हो जाना ही रस निष्पत्ति है।

अन्य शब्दों में भट्टनायक के अनुसार रस की निष्पत्ति न अनुकार्य रामादि में और न अनुकर्ता नटादि में होती है। अनुकार्य और अनुकर्त्ता दोनों उदासीन रहते हैं। उनको रसानुभ्ति नहीं होती है। वास्तविक रसानुभ्ति तो सामाजिक को होती है। भट्टनायक ने अपने 'भक्तिवाद' की स्थापना के लिए शब्द में पूर्व से स्वीकृत अभिधा व लक्षणा शक्ति के अतिरिक्त 'भावकत्व' व 'भोजकत्व' के मत में अभिधा व लक्षणा शक्ति के द्वारा जो काव्य का अर्थ उपस्थित होता है उसे भावकत्व' व्यापार परिष्कृत कर सहृदय के उपयोग हेतु बना दिया है। भावकत्व का अर्थ है साधारणीकरण अर्थात् अभिधा के द्वारा तो विषयवस्तु केवल व्यक्तिविशेष के लिए

होती है किन्तु भावकत्व के द्वारा कथा का परिष्कार कर उसमें व्यक्ति विशेष के सम्बन्ध को हटाकर उसका 'साधारणीकरण' कर दिया जाता है जिससे सामाजिक उसके साथ अपना सम्बन्ध स्थापित कर लेता है और वह सामाजिक अपनी रूचि व कथा के अनुरूप स्वयं को कथा का एक पात्र समझ लेता है। यह प्रभाव शब्द के अभिधा, लक्षणा से अतिरिक्त व्यापार 'भावकत्व' के कारण होता है।

जब दूसरे व्यापार भावकत्व के द्वारा साधारणीकरण हो जाते हैं तब शब्द का तीसरा व्यापार 'भोजकत्व' कार्य करता है वह सामाजिक को रस का साक्षात्कारात्मक भोग कराता है । यह भट्टनायक का 'भक्तिवाद' है ।

11.2.1.4अभिनवगुप्त का मत – (अभिव्यक्तिवाद)

अभिनवगुप्त द्वारा अभिव्यक्तिवाद की स्थापना की गयी है । वस्ततः इनका मत भट्टनायक के मत के समान ही है किन्तु फिर भो कुछ वैलक्षण्य है । इनके मत में

रस – 1. चिद्विशिष्ट रति (सामाजिक की रति)

2. रति विशिष्ट चित् (सामाजिक का चित्)

निष्पत्ति – 1. चैतन्य के द्वारा उस रति का प्रकाश

2. चैतन्य के द्वारा उस प्रकार के रति विशिष्ट चैतन्य का प्रकाश

अभिनवगुप्त का यह मत पूर्ववर्ती ध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्धन के आधार पर प्रतिपादित है इसलिए उनका मत आलङ्कारिक मत कहा गया है । इन्होंने स्पष्ट रूप से सामाजिकात रसानुभ्ति के उपपादन के लिए दूसरे मार्ग का अवलम्बन किया है । इनके अनुसार मूलसंवेग या रति आदि स्थायी भाव सामाजिक की आत्मा में स्थित रहता है । वह साधारणीकृत रूप से उपस्थित विभावादि सामग्री से अभिव्यक्त हो जाता है और तन्मयीभाव के कारण वेद्यान्तर के सम्पर्क से शून्य ब्रह्मस्वाद के सदृश परमानन्द में अनुभ्त होता हैं।

अभिनवगुप्त का यह मत अद्वैत वेदान्तदर्शन पर आधारित है इन्होने शब्द में अभिद्या – लक्षणा तथा तृतीय व्यञ्जना व्यापार को भो माना है ।

चिद्विशिष्ट रति – वास्तविक अर्थों में रस पद का तात्पर्य सहृदय की रति में ही है। वेदान्तदर्शन के अनुसार अन्तःकरण से विशिष्ट चैतन्य ही सहृदय है। चैतन्य अन्तःकरण के साथ अध्यस्त रहता है इसलिए अन्तःकरण में रहने वाली रति चैतन्य की प्रतीत होती है। अतः यहाँ अन्तः करण पर चैतन्य का अभ्यास हो जाता है। अतः जब अन्तः करण के द्वारा रति का प्रकाश होता है तो वह चैतन्य से विशिष्ट रूप में ही होता है। इस तादाम्य के कारण ही चित् रति का विशेषण बन जाता हैं।

रति विशिष्ट चित् – ''रसो वै सः'' इत्यादि श्रृतियों के आधार पर आत्मा अर्थात् चित्त् ही वस्तुतः रस रूप है । इनमें भिन्नता दर्शाने के लिए कहा जाता है शुद्व आत्मा है आत्मानन्द और रतिविशिष्ट आत्मा है काव्यानन्द।

निष्पत्ति – प्रकाशक तत्त्व एकमात्र चैतन्य ही है वह चैतन्य दीपवत् स्वपरभासी होने के कारण स्वयं का भो प्रकाशक है और रति का भो प्रकाशक है। चैतन्य का प्रकाश तभो हो सकता है जब उसका आवरण भङ्ग हो जाये। काव्य–क्षेत्र में यह कार्य व्यञ्जना व्यापार द्वारा होता है।

सहृदय सर्वप्रथम काव्यात्मक शब्द को सुनता है। उसको सुनने से अभिधा द्वारा काव्यार्थ का बोध होता है। काव्यार्थ बोध से सामाजिक की सहृदयता जग जाती है तब काव्यगत व्यञ्जना (भावना) भो क्रियाशील हो जाती है सहृदयता तथा काव्यशक्ति की महिमा से सम्पूर्ण काव्यार्थ साधारणीकृत हो जाता है। अर्थात् शकुन्तला आदि के विशेष रूप छिपकर उनके साधारण रूप में प्रस्तुत होते हैं। साधारणीकरण के साथ विभावानुभावादि भो सहृदय के हृदय में प्रविष्ट होकर भावमय बन जाते हैं जिससे विभावादि अर्थात् अर्थ में रहने वाली व्यञ्जना शक्ति का प्रादुर्भाव हो जाता है जिसके द्वारा सहृदय के आत्मा का आवरण नष्ट

हो जाता और चिद्रूप व आनन्दरूप प्रकट हो जाते हैं। चैतन्य के आवरण भग होने से जिस प्रकार आनन्दरूप व चिद्रूप प्रकाशित होता है उसी प्रकार रति आदि का भो प्रकाश होता है।

इनके मत में भरत मुनि के रस सूत्र का अर्थ है – विभावानुभावादि द्वारा व्यञ्जना शक्ति के संयोग से चिदानन्दविशिष्ट रस का अथवा रतिविशिष्ट चिदानन्द का चैतन्य में प्रकाश ही रसनिष्पत्ति है। भरत के रस सूत्र की ये चार व्याख्याएं अतिप्रसिद्ध है इनके अतिरिक्त नव्यमत नैयायिकों द्वारा भो इसकी व्याख्या की गयी हैं जिनको भो हम यहाँ संक्षेप में पढेगें।

11.2.1.5 नव्यमत (अद्वैतवेदान्ती) – (अनिर्वचनीयख्याति)

यह मत अनिर्वचनीय ख्याती पर आधारित है । इनके मत में :–

रस – अनिर्वचनीय प्रातिभासिक रति

निष्पत्ति – सहृदयगत्वेन उस रति का भम

जिस प्रकार इस लोक में 'इदं रजतम्' इस प्रकार कहने पर अद्वैतवेदान्तियों के मत के आधार पर एक अनिर्वचनीय प्रातिभासिक रजत की उत्पत्ति होती है। उसी प्रकार काव्य में 'अहं दुष्यन्तः शकुन्तलाविषयकरतिमान'' इस रस बोध में सहृदय में एक नवीन प्रातिभासिक रति की उत्पत्ति होती है और इसी रजत स्थानीय रति का बोध सहृदय को होता है।

इस रति को अनिर्वचनीय इसलिए कहा है क्योंकि यह रति अनुभवगम्य होती है इसलिए असत् नहीं कही जा सकती और वास्तविक नहीं होती है इसलिए सत् नहीं कही जा सकती है चूंकि सत् व असत् दोनों के रूप में ही कहा जा सकना कठिन है अतः यह रति अनिर्वचनीय है– सत्य बोध होने पर नष्ट हो जाने के कारण प्रातिभासिक कहलाती है और प्रातिभासिक होने के कारण साक्षिभास्य।

रति, भावना रूप दोष से उत्पन्न होने के कारण भावना का कार्य है और भावना के नष्ट होने पर नाश के कारण उसी भावना का नाश्य भो है। अतः भावना के उत्पन्न व नष्ट होने के साथ ही रस की उत्पत्ति व नाश भो कहे जाते हैं। इनके मत में अतिरिक्त व्यञ्जना को न भावकत्व व न भोजकत्व, इन व्यापारों की स्वीकृति अपेक्षित नहीं है। रस की निष्पत्ति के लिए सबके बिना भावना मात्र ही अपेक्षित है। अतः यही लाघव है। इस प्रकार इनके अनुसार मुख्य रूप से भावना ही रतिबोध का कारण है –

इनके अनुसार भरत के रससूत्र का तात्पर्य यह है कि विभावानुभावादि के भावनाविशेष रूप दोष से ;संयोग सेद्ध अनिर्वचनीय दुष्यन्तरतिरूप रस की उत्पत्ति ।

11.2.1.6 नैयायिकों का मत – (अन्यथाख्याति)

नैयायिकों का मत अन्यथाख्याति पर आधारित है।

रस – रामादि में रहने वाली रति

निष्पत्ति – उस प्रकार की रति का भम

इस मत में भो प्रथम दो मतों के समान ही रामादि में रहने वाली सत्य रति ही रस है और उसकी निष्पत्ति है अपने में उस रति का भम।

किन्तु यहाँ नैयायिकों के भम का विषय सत्य है अर्थात् शुक्ति आदि को देखते हुए अलौकिक प्रत्यक्ष द्वारा हृदयस्थ रजत की स्मृति होना ही रजत की भान्ति है। शुक्ति को शुक्ति न जानना ही भम है। 'इदं रजतम्' की ही भाति सहृदय को 'अहं दुष्यन्तः शकुन्तलाविषयकरतिमान्' यह बोध होता है। वह अपने आपको सहृदय न मानकर दुष्यन्त समझता है और फिर अलौकिक प्रत्यक्ष के रूप में अपने में दुष्यन्तनिष्ठ रति का भम करता है। यह अलौकिक प्रत्यक्ष भम है।

व्यञ्जना का निरसन– नैयायिकों को अभिधा और लक्षणा ही मान्य है, व्यञ्जना मान्य नहीं है क्योंकि उसमें कोई प्रबल प्रमाण नहीं है ।

रतिज्ञान के तीन प्रकार

इनके मत में रतिज्ञान तीन प्रकार से हो सकता है :–

1. अहं दुष्यन्तः शकुन्तलाविषयक रतिमान् ।

2. अहं शकुन्तलाविषयकरतिमान् दुष्यन्तः ।

3. अहं दुष्यन्तः शकुन्तलाविषयकरतिमान् ।

इनके मत में रस सूत्र का अर्थ है – विभावादि के संयोग से अर्थात् ज्ञान से मानस प्रत्यक्ष रूप ज्ञान विशेष की अर्थात् रस की निष्पत्ति होती है।

11.2.1.7 रसनिष्पत्ति के अन्य मत

पण्डितराज जगन्नाथ ने अपने ग्रन्थ रसगङ्गाधर में रसनिष्पत्ति के इन 6 मतों के अतिरिक्त अन्य मत भो दिए है – वे हैं –

1. विभावादि ;विभाव–अनुभाव–व्यभिचारिभावद्ध ये तीनों भाव मिलकर रस होते हैं। इस दृ ष्टि से भरतसूत्र में प्रयुक्त संयोग पद का तात्पर्य है समुदाय में और निष्पत्ति का अर्थ है रसपदव्यवहार में। इस अर्थ से रससूत्र का तात्पर्य है – विभावादि तीनों का समुदाय रस पद से व्यपदिष्ट होता है।
2. विभावानुभावादि में से रस वही है जो चमत्कारपूर्ण है यदि चमत्कारी नहीं है तो वह रस भो नहीं है। इस दृष्टि से सूत्रगत संयोग शब्द का अर्थ है – सम्यक् योग।
3. परिपुष्ट हुआ विभाव ही रस है।
4. परिपुष्ट हुआ अनुभाव ही रस है।
5. परिपुष्ट व्यभिचारि भाव ही रस रूप में परिणत होता है।

''विभावादित्रयः समुदिता रसाः।'' इस प्रकार की उक्ति से स्पष्टतः प्रतीत है कि रस की निष्पत्ति विभाव–अनुभाव–व्यभिचारि भावों के संयोग से होती है जब तक इन तीनों का संयोग नहीं होगा तब तक रस निष्पत्ति नहीं हो सकती है। अतः अन्तिम तीन मतों की रस सूत्र के साथ समस्वरता नहीं है।

11.3 रसगङ्गाधरकार पण्डितराज जगन्नाथ के अनुसार रसस्वरूप

11.3.1 अभिनवगुप्त के मत का उत्कर्ष –

रस–व्याख्याओं में अभिनवगुप्त का ही मत सबसे अधिक प्रभावपूर्ण है । पण्ड़ितराज जगन्नाथ की दृष्टि में भो वही श्रद्धेयतम है। रसगङ्गाधरकार ने इस मत को निम्न कारणों से श्रेष्ठ माना है :–

11.3.2 रस–बोध न्यायसम्मत बोध नहीं है –

भट्टलोल्लट श्रीशङ्कुक आदि ने रस का आस्वाद जिस रीति से स्वीकार किया है वह तार्किक रीति है किन्तु वस्तुतः तो रस तर्क का विषय नहीं है । रस प्राप्ति के समय तो बुद्धि शान्त रहती है और ह्रदय में स्वतः ही रस का स्फुरण होता है। जबकि अलौकिक प्रत्यक्ष या अनुमिति दोनों ही बुद्धि के मार्ग है।

11.3.3 रस सह्रदयनिष्ठ है –

रति आस्वाद का विषय पूर्व में परनिष्ठ माना जाता रहा है। यदि राम अथवा नट में रति हो और सह्रदय उससे आनन्द ले परन्तु ये भो अनुचित है। क्योंकि मिष्ठान्न खाने वाले और उसके आनन्द की प्राप्ति करने वाला मनुष्य भिन्न–भिन्न नहीं हो सकता। भट्टलोल्लट आदि ने परनिष्ठ संतोष में विश्वास किया। भट्टनायक ने इस मत का खण्डन कर सह्रदय की अपनी रति की आस्वाद्यता सिद्ध की और साथ ही उस रति को भो अपनी आत्मा के आनन्दात्मक अंश से विशिष्ट होने पर ही रस की कोटि में माना। किन्तु अभिनवगुप्त ने आनन्द विशिष्ट रति के स्थान पर रति विशिष्ट आनन्द को रस माना है।

11.3.4 आनन्द साक्षात् आत्मा है –

आनन्द कोई लौकिक पदार्थ नहीं है और न ही कोई साधारण चित्तवृत्ति अपितु साक्षात् आनन्दस्वरूप सहृदय की आत्मा ही रस है। अभिनव भारती में अभिनवगुप्त ने अपने मत का स्पष्टतः प्रतिपादन करते हुए कहा है कि –

अस्मन्मते तु संवेदनमेवानन्दधनमास्वद्यते। तत्र का दुःखशङ्का केवलं तस्यैव चित्रताकरणे रतिशोकादिवासना–व्यापारस्दुद्बोधने चाभिनयादि व्यापारः ।''

रति आदि संस्कार केवल उस रस के वैचिय में ही कारण होते है, स्वयं रस नहीं होते हैं। स्वात्मभ्त आनन्द के ही रसव्याप्य होने से काव्यरस कभो भो दुःखरूप नहीं होता सुखरूप ही प्रतीत होता है।

11.3.5 रति भी साधारण रति है –

आनन्द रूप के साथ जिस रति का आस्वाद सहृदय करता है उसके प्रति उसकी ममता नहीं होती अपितु रतित्वेन ही उसका आस्वाद करता हैं । एक ही रति का सभो सहृदय आस्वाद करते है। लौकिक रति में साधारण रमणी कारण होती है न कि विभावादि। जबकि साहित्यिक रति में रमणी रमणीत्वेन सबके प्रति कारण होती है ओर विभावरूप बन जाती है।

11.3.6 रति संस्कार है –

अभिनव ने अब तक चित्तवृत्ति के रूप में मानी जाने वाली रति को 'संस्कार' के रूप में कहा । संस्कार होने से वह सहृदय के धर्म के रूप में स्वीकार की गई और सहृदय के अन्तःकरण में सदा विद्यमान सिद्ध हो गयी। अतः सहृदय की अपनी बुद्धि उद्बुध होती है और आत्मानन्द से संयुक्त होकर रस बन जाती है। अभिनवगुप्त ने लौकिक रति व साहित्यिक रति में पृथ्वी आकाश के समान अन्तर बताया है।

11.3.7 व्यञ्जना की स्थापना –

भट्टनायक ने भावकत्व व भोजकत्व अतिरिक्त व्यापार को माना जबकि अभिनव ने इन दो वृत्तियों के स्थान पर एक ही वृत्ति 'व्यञ्जना' को स्वीकार किया। भट्टनायक की ये दो वृत्तियाँ पण्डितराज जगन्नाथ के अनुसार शाब्दी व्यञ्जना और आर्थी व्यञ्जना है।

निष्कर्षतः रसगङ्गाधरकार के मत में अभिनवगुप्त का मत ही सर्वोत्कृष्ट मत है और उसमें कारण है –

1. साक्षात् आत्मस्वरूप आनन्द को ही रस मानना ।
2. व्यञ्जना की स्थापना।
3. संस्कार सामान्य के रूप में रति को सम्मुख करना ।

रस का आत्मस्वरूप अन्य सभो स्वरूपों में श्रेष्ठ है ।

पण्डितराज जगन्नाथ द्वारा भावना का रूपान्तर – भक्तिवाद का प्रतिपादन करते हुए पण्डितराज की अपनी ही मान्यताओं का प्रभाव वहाँ दृष्टिगोचर होता है । जैसे – भावना नामक व्यापार अभिनव के मत में शाब्दी व्यापार था अर्थात् भट्टनायक ने जिसे भावना कहा है अभिनवगुप्त ने उसे शाब्दी व्यञ्जना कहा है । अर्थात् शब्द की विशेषता विभावादि का साधारणीकरण करना है । परन्तु पण्डितराज ने भावना के स्वरूप में आमूल परिवर्तन करते हुए कहा कि – 'पुनः पुनरनुसन्धानात्मा' अर्थात् काव्य का पुनः पुनः आलोडन । यह 'पुनः पुनः आलोडन' सहृदय की विशेषता है न कि शब्द की । यह सहृदय के हृदय में रहने वाला एक व्यापार है। अतः जो व्यापार शब्दगत व्यापार था वह पण्डितराज जगन्नाथ की दृष्टि में सहृदयहृदयनिष्ठ व्यापार हो गया । अतः जो भावना प्राचीन मत में काव्यनिष्ठ थी वह अब रसगङ्गाधरकार के मत में सामाजिकनिष्ठ बन गयी।

प्राचीन मत में काव्य तथा रस के मध्य अभिव्यञ्जक अभिव्यङ्ग्य अर्थात व्यङ्ग्य व्यञ्जक भाव था किन्तु पण्डितराज ने मम्मट के मत की व्याख्या करते समय उसके स्वरुप में भो परिवर्तन कर दिया। मम्मट ने अपने मत का स्पष्ट प्रतिपादन करते हुए कहा कि – ''व्यक्तः

स तैर्विभावाद्यैः स्थायीभावो रसः स्मृतः।'' वास्तव में यहाँ व्यक्त का अर्थ है – व्यञ्जना का विषय बना हुआ अर्थात् काव्यनिष्ठ व्यञ्जनावृत्ति का अवगत हुआ (व्यङ्ग्य हुआ) जो रत्यादि स्थायीभाव है वह किन्तु जगन्नाथ जी ने अपने दृष्टि से उसका अर्थ बतलाते हुए कहा – ''व्यक्तो व्यक्ति विषयीकृतः व्यक्तिश्च भग्नावरणचित्'' अनावृत्त चैतन्य का विषय बने हुए व्यक्ति को व्यञ्जना न मानकर साक्षात् आत्मस्वरूप मान लिया।

इस प्रकार अभिनवगुप्त के द्वारा मानी गयी शाब्दी व्यञ्जना और आर्थी व्यञ्जना दोनों पण्डितराज के द्वारा सहृदय का ही धर्म बना दी गयी, उन्हें काव्य का धर्म नहीं कहा गया ।

11.3.8 निजी आत्मा का आस्वाद ही रस है –

सहृदय की अपनी आत्मा का आस्वाद है रस, ब्रह्म का आस्वाद नहीं। इस प्रकार कहकर पण्डितराज जगन्नाथ ने सर्वाधिक आकषक रसोत्कष बताया है। चाहे आस्वाद के समय सहृदय को निजात्मत्वेन उस आत्मा का बोध न होकर आत्मत्वेन ही बोध होता है किन्तु वह बोध सहृदय की अपनी ही आत्मा का है।

इस प्रकार रसगङ्गाधर में पण्डितराज जगन्नाथ ने रस को सर्वथा 'सहृदयनिष्ठ' सिद्ध कर दिया है।

11.4 रसगङ्गाधर में स्थायीभाव

11.4.1 स्वरूप

स्थायीभाव एक चित्तवृत्ति है। चित्तवृत्ति का अर्थ है अन्तःकरण की एक अवस्था विशेष। रसास्वादन काल में सहृदय के अन्तःकरण में एक भाव प्रारम्भ से अन्त तक बना रहता है। आद्योपान्त स्थिर रहने के कारण ही इन भावों को स्थायिभाव कहा जाता है।

प्रत्येक रस का स्थायिभाव भिन्न–भिन्न होता है । चित्तवृत्तियाँ तो क्षणिक होती हैं और स्थायिभाव जब चित्तवृत्ति रूप में है तो वे स्थायी कैसे हो सकते हैं? तो इस आपत्ति के निराकरण में रसगङ्गाधरकार ने कहा है कि ये स्थायिभाव संस्कारात्मक हैं, अतः स्थायी हैं। संस्कार रूप होते हुए ही इनकी पुनः पुनः अभिव्यक्ति होती रहती हैं अतः इन्हें स्थायिभाव कहा जाता हैं । एक व्यभिचारि भाव एक बार नष्ट होने के बाद पुनः उदय नहीं होता किन्तु स्थायिभाव पुनः अभिव्यक्त होता है ।

11.4.2 स्थायीभावों की संख्या :–

जिस प्रकार रस नौ कहे गये हैं तथा प्रत्येक रस का एक स्थायिभाव होता है उसी प्रकार स्थायिभाव भो है ।

'रतिः शोकश्च निर्वेदक्रोधोत्साहाश्च विस्मयः
हासो भयं जुगुप्सा च स्थायिभावाः क्रमादमी ।''

क्र.सं.	रस	स्थायिभाव
1	श्रृङ्गार	रति
2	करूण	शोक
3	शान्त	निर्वेद
4	रौद्र	क्रोध
5	वीर	उत्साह
6	अद्भत	विस्मय
7	हास्य	हास
8	भयानक	भय
9	वीभत्स	जुगुप्सा

11.4.3 स्थायीभावों के लक्षण –

11.4.3.1 रति–'स्त्रीपुंसयोरन्योन्यालम्बनः प्रेमाख्यचित्तवृत्ति विशेषो रतिःस्थायिभावः।''

अर्थात् स्त्री व पुरूष को आलम्बन ;रसगङ्गाधरद्ध बनाने वाली प्रेम नामक चित्तवृत्ति विशेष रति कही जाती है। अर्थात् स्त्री के हृदय में पुरुष को आधार बनाकर, पुरुष के हृदय में स्त्री को आधार बनाकर जो प्रेम नामक भाव उत्पन्न होता है वही 'रति' नामक स्थायिभाव है ।

11.4.3.2 शोक–''पुत्रादिवियोगमरणादिजन्मा वैकलव्याख्याचित्तवृत्ति विशेषः शोकः''

अर्थात् पुत्रादि किसी प्रियजन के मृत्यु को प्राप्त हो जाने से उत्पन्न जो विकलता होती है वही विकलता शोक है। वियोग केवल तभो शोकात्मक होगा जब इसम चिरकाल के लिए वियुक्त होने की भावना हो और स्त्री–पुरूष ;नायक–नायिकाद्ध का आलम्बन लिये हुये न हो । रसों के द्वारा शोक का विप्रलम्भ श्रृङ्गार से भद किया जाता है ।

11.4.3.3 निर्वेद –''नित्यानित्यवस्तुविचारजन्मविषयविरागाख्यो निर्वेदः।''

अर्थात् नित्य और अनित्य वस्तु के विचार से उत्पन्न सांसारिक भोग–विषयों के प्रति अनासक्ति को ही निर्वेद स्थायिभाव कहा जाता है ।

11.4.3.4 क्रोध – ''गुरूबन्धुवधादिपरमापराधजन्मा प्रज्वलनाख्यःक्रोधः।''

अर्थात अपने गुरू, बन्धु आदि के वधरूपी अपराध से जब चित्त की प्रज्ज्वलनात्मक अवस्था होती है वह अवस्था क्रोध कहलाती है यह प्रज्वलन क्रोध रूप स्थायिभाव तब ही होगा जब इसके मूल में अत्यन्त महान् अपराध अवश्य हो । छोटे अपराध से चित्त का प्रज्वलन तो कटुवचन व असम्भाषण का ही कारण होगा क्रोध का नहीं ।

11.4.3.5 उत्साह –''परमपराक्रमदानादिस्मृतिजन्मा औन्नत्याख्य उत्साहः।''

अर्थात दूसरे के पराक्रम, दानादि की स्मृति से उत्पन्न औन्नत्यनामक चितवृत्ति विशेष ही उत्साह स्थायिभाव है । उपर्युक्त कारणों से उत्पन्न चित्त की उन्नति ही उत्साह है ।

11.4.3.6 विस्मय –''अलौकिक वस्तुदर्शनादिजन्मा विकासाख्यो विस्मयः''

अर्थात् अलौकिक वस्तु के दर्शन से उत्पन्न विकास नामक चित्तवृत्ति विशेष विस्मय है ।

11.4.3.7 हास – ''वागङ्गादविकारदर्शनजन्मा विकासाख्यो हासः।''

वाणी अथवा किसी शारीरिक औचित्यङ्ग के विकास से उत्पन्न विकसित हुई चित्तवृत्ति का नाम हास स्थायिभाव है ।

11.4.3.8 भय –''व्याघ्रदर्शनादिजन्मापरमानर्थ विषयको वैकलव्याख्यः सत्यम् ।''

व्याघ्र आदि को देखने से उत्पन्न होने वाली ऐसी विकलता जिसमें यह भान हो कि परम अनर्थ हो जायेगा, वह ऐसी चित्तवृत्ति भय नामक स्थायिभाव है ।

11.4.3.9 जुगुप्सा –कदर्य वस्तु विलोकनजन्मा विचिकित्साख्यश्चित्तवृत्ति विशेषो जुगुप्सा

अर्थात् किसी घृणित वस्तु को देखने से उत्पन्न होने वाली विचिकित्सा नामक चित्तवृत्ति विशेष जुगुप्सा स्थायिभाव कहलाता है।

11.4.4 भावों का स्वरूप

11.4.4.1 विभाव –

विभिन्न चित्तवृत्तियों (स्थायिभावों) को उद्दीप्त करने वाले कारण विभाव कहलाते हैं तथा इनके परिणामस्वरूप जो क्रियाएँ होती हैं वे अनुभाव तथा उस अवस्था में क्षणिक रूप से उठने वाले भाव व्यभिचारिभाव कहलाते हैं। ''एवमेषां स्थायिभावानां लोके तत्तन्नायकगतानां यान्यालम्बनतयो–द्दीपनतया वा कारणत्वेन प्रसिद्धानि तान्येषु काव्यनाट्ययोर्व्यज्यमानेषु विभाव शब्देन व्यपदिश्यन्ते।'' – (रसगङ्गाधर)

11.4.4.2 अनुभाव –

जिन भावों का वर्णन स्थायिभावों रूपी चित्तवृत्तियों के कार्य रूप में हो वे अनुभाव कहलाते हैं। ''यानि च कार्यतया तान्यनुभावशब्देन।'' – (रसगङ्गाधर)

11.4.4.3 व्यभिचारिभाव –

''यानि सहचरन्ति तानि व्यभिचारिशब्देन।'' जो भाव इन सभो चित्तवृत्तियों अर्थात् स्थायिभावों के साथ–साथ आवागमनशील रहते हैं, वे व्यभिचारभाव कहलाते हैं।

11.5 रसों की संख्या –

11.5.1 पण्डितराज जगन्नाथ ने नौ रसों की सत्ता स्वीकार की है –

शृङ्गारः करूणः शान्तो रौद्रो वीरोऽद्भुतस्तथा।
हास्यो भयानकश्चव बीभत्सश्चेति ते नव।।

अर्थात् शृङ्गार, करूण, शान्त, रौद्र, वीर, अद्भुत, हास्य (रसगङ्गाधर) भयानक और बीभत्स ये नौ रस हैं। नौ रसों को मानने में प्रमाण है मुनि का यह वचन –

शृङ्गारहास्यवैकरूणरौद्रवीरभयानकाः ।
वीभत्साद्भुतशान्ताश्च काव्ये नवरसाः स्मृताः।।

शान्त रस में शम स्थायिभाव है। इसे भो पण्डितराज ने स्वीकार किया है।

11.5.1.1 पण्डितराज जगन्नाथ द्वारा शान्तरस की स्थापना –

शान्त रस के सम्बन्ध में कुछ विद्वानों की असहमति है । उनके अनुसार नट में शान्ति का अभाव होने से उसमें शान्त रस की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती और यदि सहृदय में शम हो जाये तो भो रसोद्बोध में बाधा होगी अतः नट पक्ष व सहृदय पक्ष दोनों में शान्तरस की स्थिति नहीं बन सकती और यह भो कहा गया है कि नाट्य गीतादि से युक्त है और शम है विषयों से पराङ्मुखता। अतः दोनों में अत्यधिक विरोध होने से शान्तरस की उत्पत्ति मानना सम्भव नहीं है ।

पण्डितराज ने शान्तरस के पक्ष में तर्क देते हुए कहा कि जो लोग शान्तरस को स्वीकार करते हैं उनके मत में कार्य के अनुसार कारण की कल्पना की जाती हैं इस सिद्वान्त के आधार पर यह मानना चाहिए कि गीत–वाद्य आदि शान्तरस के उद्बोधन में विरोधी नहीं हैं। विषय–चिन्ता सामान्य का ही शान्त रस के साथ विरोध स्वीकार करने पर उसके आलम्बन विभाव–संसार की अनित्यता, उद्दीपन विभाव–पुराण श्रवण, सत्सङ्ग, पुण्यवन तीर्थावलोकनादिरूप विषयों का भो विरोधीभाव मानना होगा अर्थात् यह नहीं कहा जा सकता कि विषयमात्र की चिन्ता शान्तरस की विरोधी है। विषय विशेष की चिन्ता को विरोधी मानना युक्तिसगत है। महाभारत में भो शान्त रस की प्रधानता है। महाभारतादि तो आदर्श ग्रन्थ स्वरूप है। सम्पूर्ण लोक का अनुभव इसमें प्रमाण हैं। अतः शान्त रस की सत्ता तो स्वीकार करनी ही होगी।

इसी आशय को मम्मट ने 'अष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः' कहकर 'शान्तोऽपि नवमो रसः' कहा है अर्थात नवें रस के रूप में शान्त रस की भो गणना की है।

11.5.1.2 भक्तिरस का खण्डन –

पण्डितराज जगन्नाथ ने भक्ति रस का खण्डन करते हुए कहा है कि रति नामक भाव में भक्ति रस का अन्तर्भाव हो जाता है। भक्त की देवादिविषयक रति ही भक्ति है।

''अथ कथमेतत् एव रसाः ......उच्यत ....
भक्तिर्देवादिविषयरतित्वेन भावान्तर्गततया रसत्वानुपपतेः ।'' – भरसगङ्गाधरद्ध

11.5.1.3 वात्सल्य रस का खण्डन –

''रसानां नवत्वगणना च मुनिवचन नियन्त्रिता भज्यत इति यथा शास्त्रमेव ज्यायः ।''

कौन रस है कौन भाव है इसके व्यवस्थापक आचार्य भरत ही हैं। शास्त्रों के अनुसार ही रसों की गणना उचित है। रति नामक भाव में ही वात्सल्य रस का भो अन्तर्गणन हो जाता है। पुत्रादिविषयक रति ही वात्सल्य रस है। वात्सल्य रस का भो भक्तिरस के समान स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है।

11.5.2 रसों के भेद–उपभेद –

रसगङ्गाधरकार पण्डितराज जगन्नाथ ने श्रृङ्गार और वीर इन दो ही रसों के भदों का निरूपण किया है।

11.5.2.1 श्रृङ्गार रस के भेद –

1. सम्भोग श्रृङ्गार
2 विप्रलम्भ श्रृङ्गार

(1) **सम्भोग श्रृङ्गार** –नायक नायिका के संयोग के समय जो रति हो वह सम्भोग श्रृङ्गार कहलाती है। संयोग का अर्थ 'संयुक्तोऽस्मि' इस प्रकार के ज्ञान से युक्त होना है न कि दम्पति का एक स्थान पर रहना। सम्भोग एक अन्तःकरण की प्रवृत्ति है। दम्पति के एकाधिकरणक होने को ही सम्भोग नहीं माना जाता क्योंकि कभो–कभो एक ही पर्यङ्ग पर शयन करते हुए भो वे ईर्ष्यादिग्रस्त रहते है तो वहाँ विप्रलम्भ श्रृङ्गार का ही वर्णन होगा । इसका उदाहरण है –

''शयिता सविधेप्यनीश्वरा सफलीकर्तुमहो मनोरथान्

दयिता दयिताननाम्बुजं दरमीलन्नयना निरीक्षते ।।''

(2) **विप्रलम्भ श्रृङ्गार** – वियोग काल में जिस रति का प्रादुर्भाव होता है वह विप्रलम्भ श्रृङ्गार है । वियोग का तात्पर्य है – 'वियुक्तोऽस्मि' यह अन्तःकरण की प्रवृत्ति है । वियोग का तात्पर्य केवल एकाधिकरण में न रहना ही नहीं हैं।

यथा –**नयनाञ्चलावमर्शं या न कदाचित्पुरा सेहे ।**

आलिङ्गितापि जोषं तस्थौ सा गन्तुकेन दयितेन ।।

11.5.2.2 वीर रस के भेद –

''वीरश्चतुर्धा । दानदयायुद्धधर्मैस्तदुपाधेरूत्साहस्य चतुर्विधत्वात् ।''

वीर चार प्रकार के होते है – (1) दानवीर (2) दयावीर (3) युद्धवीर (4) धर्मवीर ।

वीर रस का स्थायिभाव 'उत्साह' कहा गया है । जब उत्साह दानविषयक होता है तो दानवीर, जब उत्साह दया विषयक हो तो दयावीर, युद्धविषयक होने पर युद्धवीर और जब धर्मविषयक हो तो तो धर्मवीर होता है ।

11.5.3 आनन्दवर्धनाचार्य द्वारा प्रतिपादित रसादि की संलक्ष्यक्रमता का पण्डितराज द्वारा खण्डन –

आनन्दवर्धनाचार्य का मत – विभावादि के बोध के पश्चात् रत्यादि के बोध के होने में इतना कम समय होता है कि दोनों का कार्यकारण भाव प्रतीत नहीं हो पाता । इसी से रस को असंलक्ष्यक्रम कहा गया है। व्यङ्ग्य और व्यञ्जक के पूर्वापरभाव को जहाँ लक्षित न किया जा सके वहाँ असंलक्ष्यक्रमता होती है।

जहाँ प्रकरण विचार–वेद्य हो अथवा विभावादि का उन्नयन करना पड़े वहाँ सामग्री ;विभावादि का संयोगद्ध के जुटने में विलम्ब हो जाने के कारण चमत्कार में समय लगता है । अतः वहाँ संलक्ष्यक्रम रस होता है ।

यथा – **तल्पगतापि च सुतनुः श्वासासङ्ग न या सेहे ।**
सम्प्रति सा हृदयगतं प्रियपाणिं मन्दमाक्षिपति ।।''

इस पद्य में भो 'सम्प्रति' शब्द का अर्थ समझने में समय अधिक लगता है। रस और भाव सदा ध्वन्यमान (व्यङ्ग्य) ही होते है परन्तु फिर भो हमेशा अलक्ष्यक्रम नहीं होते, लक्ष्यक्रम भो होते हैं ।

पण्डितराजकृत खण्डन – पण्डितराज के अनुसार रसादि को संलक्ष्यक्रम मानना उचित नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर अभिनवगुप्त और मम्मट एवं भट्ट द्वारा माने गये अर्थशक्ति मूल ध्वनि के बारह भदों के स्थान पर अठारह भद मानने पडेंगे । पण्डितराज के मत में स्पष्ट रूप से प्रतीत होने वाले विभाव–अनुभाव–व्यभिचारि भाव से अलक्ष्यक्रम रूप से ही जब रत्यादि की व्यञ्जना हो तभो वे स्थायिभाव रस होते हैं । संलक्ष्यक्रमरूप से अभिव्यक्त होने पर नहीं क्योंकि वस्तुतः रस का अर्थ यह है कि स्थायिभाव का तुरन्त उत्पन्न होने वाले चमत्कार का विषयभ्त होना । आनन्दवर्धनाचार्य की उक्ति का अर्थ यदि इस प्रकार समझा जाये कि 'संलक्ष्यक्रमत्वेन जिस रत्यादि की अभिव्यक्ति होगी वह रसध्वनि नहीं अपितु वस्तुध्वनि ही होगी और रसाभावादि अर्थों में रस का अर्थ रति आदि स्थायिभाव लिया जाये तो उनकी उक्तियों में विरोध नहीं होगा।'

निष्कषतः पण्डितराज ने असंलक्ष्यक्रम ही माना है । इन्होंने आनन्दवर्धन के मत का दूसरे प्रकार से अर्थ किया है।

11.5.4 रस–विरोध –

किसी एक रस के वर्णन के साथ अन्य रस के वर्णन से प्रधान रस के आस्वादन में बाधा उत्पन्न होना ही रस विरोध है।

वीर– श्रृङ्गार, श्रृङ्गार–हास्य, वीर–अद्भत, वीर–रौद्र, श्रृङ्गार व अद्भत का परस्पर अविरोध है।

श्रृङ्गार – वीभत्स, श्रृङ्गार –करण, वीर–भयानक, शान्त रौद्र, शान्त– श्रृङ्गार का परस्पर विरोध है । रस विरोध का अर्थ है – एक रस के परिपाक के समय दूसरे रस के उदय के कारण पूर्व रसभङ्ग हो जाता है । दोनों रसों का मिश्रण रूचिकर नहीं लगता है।

यह विरोध दो प्रकार का होता है

(1) **स्थिति विरोध** – एक के अधिकरण में दूसरे का न रहना ही स्थिति विरोध है ।

(2) **ज्ञान विरोध** – तज्ज्ञानप्रतिबध्यज्ञानकत्व अर्थात् एक विषय के ज्ञान के द्वारा दूसरे विषय के ज्ञान का प्रतिबद्ध हो जाना ज्ञान विरोध है। नायिका के विषय में कहा जाये 'यह अगम्या' है तो उसी के विषय में यह ज्ञान 'यह गम्या है' बाधित होता है।

11.5.4.1 विरोध–परिहार के उपाय–

स्थिति विरोध का परिहार – स्थिति विरोध का परिहार अधिकरणों को पृथक कर देने से हो जाता है अर्थात् विरोधी रस का अधिकरण बदल दिया जाये तो यह विरोध समाप्त हो जायेगा ।

11.5.4.2 ज्ञानविरोध का परिहार –

जिन दो रसों के ज्ञान के बीच में विरोध है उन दोनों के अतिरिक्त एक तीसरा रस, जो उन दोनों ही रसों का अविरोधी हो, विरुद्धरसों के मध्य में इस सन्धिकर्त्ता के समान वर्णित किया जाएं। जैसे शान्त और श्रृङ्गार के मध्य अद्भत रस का वर्णन ।

11.5.4.3 रस के व्यञ्जक (सामान्य मत)

जहाँ एक वाक्य में सभो पदों के अपने–अपने अर्थों का उपस्थापन करने के द्वारा ही वाक्यार्थ बोध होता है अर्थात् जहाँ पदव्यङ्ग्यता होती है वहाँ यद्यपि सभो पद अपने अर्थों की उपस्थिति के द्वारा व्यञ्जक के प्रति कारण होते है तथापि सबके चमत्कारी न होने के कारण, जो पद चमत्कारी होता है वही व्यञ्जक होता है।

11.5.4.4 रस के व्यञ्जक (प्राचीन मत)

वर्ण व रचना के विषय में यह कहा जा सकता है कि ये दोनों पद व वाक्य में ही समाविष्ट होते हैं। अतः ये व्यञ्जक के विशेषण मात्र हैं। रचना, वर्ण, पद और वाक्य में भो विशेषण–विशेष्य असिद्ध होने के कारण इन चारों को व्यञ्जक मान लिया।

11.5.4.5 रस के व्यञ्जक (नवीन मत)

वर्ग विशेष और रचना विशेष (वैदर्भो आदि) माधुर्यादि गुणों के ही व्यञ्जक होते हैं न कि रसों के।

11.5.4.6 पण्डितराज जगन्नाथ का मत

उपर्युक्त सभो व्यञ्जकों को पण्डितराज ने स्वीकार करते हुए वाक्य की व्यञ्जकता का उदाहरण प्रस्तुत किया –

आविर्भ्ता यदवधि मधुस्यन्दिनी नन्दसूरोः ।
कान्तिः काचिन्निखिलनयनाकषणे कार्मणज्ञा ।।
श्वासो दीर्घस्त्तदवधि मुखे पाण्डिमा गण्डयुग्मे ।
शून्यावृत्तिः कुलमृगदृशां चेतसि प्रादुरासीत् ।।

वशिष्ठ रामायण में प्रबन्ध की व्यञ्जकता है। वह करूण रस व शान्त रस का व्यञ्जक है। शृङ्गार रस के व्यञ्जकों में रत्नावली नाटिका है ।

जिस काव्य में रत्यादि भावों की अभिव्यञ्जना प्रधान होती है, रस की प्रतीति वहीं होती है अन्यत्र यह केवल वस्तुमात्र ही होती है ।

11.5.5 भावध्वनि

भाव का स्वरूप लक्षण – ''विभावादि व्यञ्ज्यमान हर्षाद्यन्यतमत्त्वं भावत्वम्'' अर्थात विभावादि के द्वारा व्यङ्ग्य होने वाले हर्षादि (34 भाव) व्यभिचारिभावों में से किसी का होना ही भाव है। व्यभिचारिभावों से जब स्थायीभावों की अभिव्यक्ति होती है तब वह रस का स्थल होता है किन्तु जब विभावादि के द्वारा व्यभिचारिभावों की ही प्रधान रूप से अभिव्यक्ति होती है, स्थायिभावों की उपस्थिति के स्थान पर तो वह भावध्वनि है अर्थात् मुख्य रूप से व्यभिचारि भावों की अभिव्यक्ति ही भावध्वनि है । ये भावध्वनि 34 है –

''हर्षस्मृतिव्रीडामोहघृतिशङ्काग्लानिदैन्यचिन्तामदश्रमगर्वनिद्रामतिव्याधित्रास–सुप्तविबोधा मर्षवहित्थो–ग्रतोन्मादमरणवितर्कविषादौत्सुक्या वेगजड़तालस्यासूयापस्मार चपलताः । प्रतिपक्षकृत धिक्कारादिजन्मा निर्वेदश्चेतित्रयस्त्रिंशद्व्यभिचारिणः । ग़रू–देवनृपपुत्रादिविषया–रतिश्चेति चतुस्त्रिंशत्।''

(1) **हर्ष** – 'इष्ट प्राप्त्यादिजन्मा सुखविशेषो हर्षः ।'' अर्थात् अभिष्टवस्तु की प्राप्ति होने पर जो विशेष प्रसन्नता होती है वही हर्ष है।

(2) **स्मृति** – 'संस्कारजन्यं ज्ञानं स्मृतिः।'' नाना वस्तुओं को देखने और सुनने से हृदय में जो एक संस्कार बन जाता है, वही संस्कारजन्य ज्ञान ही स्मृति है।

(3) **व्रीडा** – स्त्रियों का पुरुष मुख देखने से तथा पुरूषों की प्रतिज्ञा भङ्ग होने से तथा पराजयादि से उत्पन्न जो विवर्णता, मुख का नमन आदि है, उसकी कारणभ्ता चितवृत्ति विशेष ही व्रीडा है।

(4) **मोह** – 'भयवियोगादि प्रयोज्या वस्तुतत्त्वानवधारिणी चित्तवृत्तिर्मोहः।'' अर्थात् भय और वियोग के कारण होने वाली ऐसी चित्त की दशा जिसमें वस्तुओं का सम्यक् ज्ञान हो मोह कहलाती है।

(5) **धृति** – लोभ, शोक, भय आदि से उत्पन्न उत्पात के निवारण की कारणस्वरूप चित्तवृत्ति को धृति कहते हैं।

(6) **शङ्का** 'किमनिष्टं मम भविष्यतीत्याकारश्चित्तवृत्ति विशेषः, शङ्का ।'' अर्थात् 'मेरा क्या अनिष्ट होगा? इस प्रकार की बुद्धि जब होती है तो शङ्का कहलाती है।

(7) **ग्लानि** – आधि–व्याधि से उत्पन्न बल की हानि, रङ्ग उतर जाना, अङ्गों का शिथिल हो जाना, दृष्टिभम आदि–आदि का होना, इन सबका कारण एक प्रकार का विशेष दुःख ही ग्लानि है।

(8) **दैन्य** – दुःख, दरिद्रता और अपराधादि से उत्पन्न अपने अपकष के कथन की कारणरूपा चित्तवृत्ति विशेष ही दैन्यभाव है।

(9) **चिन्ता** – इष्ट की अप्राप्ति और अनिष्ट का लाभ होने से जो उत्पन्न होती है वह चित्तवृत्ति चिन्ता कहलाती है।

(10) **मद** – ''मद्याद्युपयोगजन्मोल्लासारव्यः शयनहसितादिहेतुश्चित्तवृत्तिविशेषो मदः ।''

(11) **श्रम** – अत्यधिक शारीरिक कार्य करने से उत्पन्न होने वाला एक प्रकार का खेद विशेष श्रम है ।

(12) **गर्व** – रूप, धन, विद्या आदि के कारण अपने सम्बन्ध में उच्चता की भावना हो जाये तो उस आत्मोत्कष के कारण दूसरों की अवहेलना करना ही गर्व है –

'रूपधनविद्यादि प्रयुक्तात्मोत्कषज्ञानाधीन परावहेलनं गर्वः।''

(13) **निद्रा** – 'श्रमादि प्रयोज्यं चेतः सम्मीलनं निद्रा ।''

(14) **मति** – शास्त्रादिविचारजन्यमर्थनिर्धारणं मतिः ।''

(15) **व्याधि** – ''रोगविरहादिप्रभवो मनस्तापो व्याधिः।''

(16) **त्रास** – कातर व्यक्ति की भयानक प्राणी को देखने से अथवा विद्युत ध्वनि सुनने से उत्पन्न चित्तवृत्ति विशेष ही त्रास कहलाती है ।

(17) **सुप्त** – निद्राविभवोत्थज्ञानं सुप्तम् ।''

(18) **विबोध** – ''निद्रानाशोत्तरो जायमानो बोधो विबोधः।''

(19) **अमर्ष** – दूसरे के द्वारा की गयी अवज्ञा से उत्पन्न एवं अपराध से अनुत्पन्न, मौन, कठोर वचन आदि की कारणभ्त चित्तवृत्ति विशेष ही अमर्ष कहलाती है ।

(20) **अवहित्थ** – व्रीडा आदि निमित्तों के द्वारा होने वाले हर्षादि अनुभावों को छिपाने के लिए उत्पन्न भावविशेष ही अवहित्थ है ।

(21) **उग्रता** – अधिक्षेप (तिरस्कार) और अपमान से उत्पन्न होने वाली ''मैं इसका क्या कर डालूं'' इस प्रकार की भावना विशेष ही उग्रता है ।

(22) **उन्माद** – विप्रलम्भ, महान् आपत्ति, परमसुख आदि से उत्पन्न अन्य वस्तु में अन्य वस्तु का ज्ञान या भम ही उन्माद है ।

(23) **मरण** – 'रोगादिजन्या मूर्च्छारूपा मरणप्रागवस्था मरणम् ।''

(24) **वितर्क** – 'सन्देहाद्यन्तरं जायमान ऊहो वितर्कः।''

(25) **विषाद** – ''इष्टासिद्धराजगुर्वाद्यपराधदिजन्योऽनुतापो विषादः।''

(26) **औत्सुक्य** – ''अधुनैवास्य लाभो ममास्वितीच्छा औत्सुक्यम् ।'' अर्थात् मुझे इसी समय इसका लाभ हो जाय, इस प्रकार की इच्छा औत्सुक्य है ।

(27) **आवेग** – ''अनर्थातिशयजनिता चित्तस्य सम्भमाख्या वृत्तिरावेगः ।''

(28) **जड़ता** – चिन्ता, उत्कण्ठा, भय, विरह, इष्ट या अनिष्ट का दर्शन या श्रवण से उत्पन्न अवश्य कत्तव्य के निश्चय से रहित चित्तवृत्तिविशेष जड़ता कहलाती है ।

(29) **आलस्य** – ''अतितृप्ति गभव्याधिश्रमादिजन्या चेतसः क्रियानुन्मुखताऽलस्यम् ।''अतितृप्ति, गभ, शारीरिक श्रम आदि से उत्पन्न होने वाली चित्त की निष्क्रियता ही आलस्य है ।

(30) **असूया** – ''परोत्कषदर्शनादिजन्यः परनिन्दादि कारणीभ्ताश्चित्तवृत्तिविशेषोऽसूया ।'' दूसरे के उत्कष को देखकर उत्पन्न होने वाली चित्तवृत्ति असूया है ।

(31) अपस्मार – 'वियोगशोकभयजुगुप्सादीनामतिशयाद्ग्रहावेशादेश्चोत्पन्नो व्याधिविशेषऽपस्मारः।'' वियोग, शोक, भय, जुगुप्सा आदि के अतिशय से तथा ग्रहावेश से उत्पन्न व्याधि (शारीरिक कष्ट) विशेष ही अपस्मार है ।

(32) चपलता – ''अमर्षादिजन्यवाक्पारूष्यादिकारणीभ्ता चित्तवृत्तिश्चपलता ।'' अमर्ष आदि से उत्पन्न कठोरवचनादि की कारणभ्ता चपलता है ।

(33) निर्वेद – नीच पुरुषों में क्रोध, तिरस्कार, व्याधि, ताडन (मारपीट) दारिद्रय, इष्टाप्राप्ति, दूसरों की सम्पत्ति से उत्पन्न, उत्तम पुरुषों में अवज्ञादि से उत्पन्न, विषय–विद्वेष नामक, रोदन, दीन–मुख होना, दीर्घनिश्वास आदि को उत्पन्न करने वाली चित्तवृत्ति निर्वेद है ।

(34) देवादिविषयक रति – गुरु, पुत्र आदि को आलम्बन करके स्नेह का उद्भव होता है तो वह रति भाव कहलाती है रस नहीं।

11.5.5.1 रसाभास –

भरतमुनि के वचन को प्रमाण मानकर 33 भावों को ही स्वीकार करना उचित है । किन्तु कुछ रसवद् भासित् होते हैं उन्हें रसाभास कहते हैं ।

''अनुचित विभावालम्बनत्वं रसाभासत्वम्।''

अर्थात् अनुचित विभाव का आलम्बन होना ही रसाभास है ।

भुजपञ्जरे गृहीता नवपरिणीता वरेणवधूः ।
तत्कालजालपतिता बालकुरङ्गीव वेपते नितराम् ।।''

इसमें नववधू होने से नायिका में रति नहीं है । अतः अनुभयनिष्ठा रति का वर्णन होने के कारण यहाँ रस नहीं है, रसाभास है ।

11.5.5.2 भावाभास –

रसाभास के समान ही अनुचित विषय को आलम्बन बना लेने पर भावाभास हो जाता है ।

सर्वेऽपि विस्मृति विषयाः प्रयाताः विद्यापि खेदकलिता विमुखी बभूवम् ।
सा केवलं हरिणशावकलोचना मे नैवापयाति हृदयादधिदेवतेव ।।

11.5.5.3 भावशान्ति –

''भावस्य प्रागुक्तस्वरूपस्य शान्तिर्नाशः।''

हर्षादि भावों का नाश होना ही भाव शान्ति है ।

भावोदय – ''भावोदय भवस्योत्पत्तिः।'' किसी भाव का उत्पन्न होना ही भावोदय है ।

उदा. – **वीक्ष्य वक्षसि विपक्षकामिनीहारलक्ष्म दयितस्य भामिनी ।**
असंदेशवलयीकृतां क्षणादाचकष निजबाहुवल्लरीम् ।।''

इसमें पति के हृदय पर कामिनी के हार का चिह्न देखना है विभाव और प्रिया के द्वारा कण्ठ में लिपटे हुए हाथों को खीच लेना है अनुभाव। जिससे व्यङ्ग्य हो रहा है क्रोध का उदय। अतः यहाँ व्यङ्गय भाव की उत्पत्ति है।

11.5.5.4 भावशबलता –

''भावशवलत्वं भावानां बाध्यबाधकभावमापन्नानामुदासीनानां वा व्यामिश्रणम् ।'' अर्थात् भावों का बाध्य बाधक भाव से अथवा उदासीन भाव से व्यामिश्रण ही भावशबलता है। भावों की शबलता का तात्पर्य है – एक ही चमत्कारी के जनक ज्ञान का विषय होना। जहाँ सभो भाव एक ही चमत्कार को उत्पन्न करें वहाँ भावशबलता होती है।

पापं हन्त मया हतेन विहितं सीतापि यद्यापिता ।
स मामिन्दुमुखी बिना बत वने किं जीविंत धास्यति ।।
आटालोकेय कथं मुखानि कृतिनां किं ते वदिष्यन्ति म् ।
राज्यं यातु रसातलं पुनरिदं न प्राणितुं कामये ।।

इस पद्य में असूया, विषाद, स्मृति, वितर्क, क्रीडा, शङ्का और निर्वेद आदि भावों का जो अपने–अपने विभावों से उत्पन्न हुए है उन सभो का मिश्रण है।

सिद्ध कर दिया है।

11.6 रस स्वरूप निरूपण (विभिन्नाचार्यों के अनुसार)

विभिन्न आचार्यों के मतानुसार रस सिद्धान्त का विवेचन इस प्रकार है :

अब तक रस विषयक जितने भो ग्रन्थ उपलब्ध है उनके आधार पर रस निरूपण में आचार्य भरत का प्रमुख स्थान है। अतः सर्वप्रथम यहाँ उन्हीं के रससिद्धान्त का निरूपण किया जा रहा है ।

11.6.1 आचार्य भरत – यद्यपि आचार्य भरत से पूर्व रस के विषय में भरतवृद्ध, वासुकि, नारद, कोहल, महात्मा दुहिण इत्यादि का उल्लेख मिलता है किन्तु इन आचार्यों का कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। रस के विषय में सर्वप्रथम ग्रन्थ भरत का 'नाट्यशास्त्र ' ही उपलब्ध है । इसी के आधार पर विभिन्न आचार्यों के द्वारा रस का विवेचन किया गया है । आचार्य भरत के द्वारा प्रतिपादित रसविषयक सूत्र है।

''विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः ।''

अर्थात् विभाव, अनुभाव, व्यभिचारि भावों के संयोग से रस निष्पत्ति होती है ।

आचार्य भरत ने 36 अध्याय 6000 श्लोक वाले अपने इस 'नाट्यशास्त्र' के छठें अध्याय में रस का वर्णन किया है। रस के प्रकारों का विवेचन करते हुए वे कहते है –

शृङ्गारहास्यकरूण रौद्रवीरभयानकाः
बीभत्सादभुतसंज्ञौ चेत्याष्टौ नाट्येरसाः स्मृताः ।। (नाट्य शास्त्र 6/14)

अर्थात् शृङ्गार–हास्य–करूण–रौद्र–वीर–भयानक– बीभत्स–अद्भत ये आठ प्रकार के नाटक में रस कहे गये हैं। इन रसों के स्थायी भाव इस प्रकार है –

रतिर्हासश्च् शोकश्च क्रोधत्साहो भयस्तथा ।
जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थायिभावाः प्रकीर्तिताः ।।

अर्थात् रति–हास–शोक–क्रोध–उत्साह–भय–जुगुप्सा–विस्मय ये क्रमशः रसों के स्थायी भाव कहे गये हैं।

अतः रसभावापत्ति किस तत्त्व को प्राप्त होती है तो भरतमुनि ने **'नानाव्यञ्जनौष धिद्रव्यसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः'** इस दृष्टान्त के द्वारा बताया है कि रसत्वप्राप्ति विभावादि भावों के संयोग से स्थायिभावों को होती है अर्थात् स्थायिभावों का ही रस रूप में परिगणन होता है। रसों के आस्वादन के विषय में कहा है कि सहृदयों द्वारा क्रियमाण स्थायिभावास्वादन ही रस है। भरतमुनि ने कहा कि –

भावाभिनयसम्बद्धान् स्थायिभावाँस्तथा बुधाः ।
आस्वादयन्ति मनसा तस्मान्नाट्यरसाः स्मृताः ।।

लौकिक मधुरादि रसों के साथ अलौकिक शृङ्गारादि रसों का साम्य बतलाने के लिए भरत ने लौकिक दृष्टान्त का आश्रय लिया है। वे कहते हैं कि जिस प्रकार लोक में नाना व्यञ्जनों से संस्कृत अन्न को खाने वाले एकाग्रचित्त पुरूष मधुरादि रसों का आस्वादन करके हर्ष, पुष्टि, तृप्ति, जीवन, बल, आरोग्य की प्राप्ति करते हैं, उसी प्रकार काव्य व नाट्य में भो जब समाहित तथा निर्मल चित्त वाले रसिक प्रेषक विभाव–अनुभाव तथा व्यभिचारिभावों से अभिव्यक्त, वाचिक, आङ्गिगक, सात्विक, आहार्य अभिनय–प्रक्रिया पर आरूढ़ स्थायीभावरूप रसों का आस्वादन करते हैं और उससे उनको लोकोत्तर हर्ष व धर्मादि में वैदग्ध्यादि फल की प्राप्ति होती है । इस प्रकार काव्य व नाट्य में विभावादि से अभिव्यक्त स्थायिभाव आस्वाद्य है।

आगे हम भामह, दण्डी, उद्भट इत्यादि के द्वारा प्रतिपादित रस विषयक सामान्य सिद्धान्त प्रस्तुत करेंगे । इन तीनों आचार्यों ने रसवदलङ्कार अथवा रसालङ्ार कहकर रस की गणना अलंकारों में की है वस्तुतः ये तीनों आचार्य अलंकारवादी माने जाते हैं अतः इन्होंने रस को भो अलंकार माना है ।

11.6.2 भामह – भामह ने काव्य को 'रसवदलंकारयुक्त' माना है। रसवद् का लक्षण करते हुए कहा है कि –

रसवद्दर्शितस्पष्ट श‍ृङ्गारादिरसोदयम् ।
देवी समागमच्छद्‌मस्करिण्यतिरोहिते ।।

जहाँ श‍ृङ्गार आदि रसों की स्पष्ट प्रतीति होती है उसे वे रसवदलङ्कार मानते हैं। जैसे – छद्मवेशधारी शिव के तिरोहित न होने पर पार्वती का उनसे मिलन हो गया। यहाँ शिव–पार्वती संगम द्वारा श‍ृङ्गार रस की स्पष्ट प्रतीति है । अतः यहाँ रसवदलङ्कार है। भामह ने यहाँ इसे 'दर्शितस्पष्टश‍ृङ्गार' पद के द्वारा व्यक्त किया है।

11.6.3 दण्डी – दण्डी अलंकारवादी आचार्य है। इन्होंने काव्य में श्लेषादि दश शब्दगुणों के साथ वैदर्श्यादि मार्गों की सत्ता भो अंगीकृत की है। इन्होंने काव्यत्वाधायक तत्त्व गुणों के स्थान पर अलंकार को माना है। दण्डी ने रस व भाव को रसवत् व प्रेयोऽलङ्काररूप मानते हुए रसों की सत्ता स्वीकार की है।

यद्यपि इन्होंने अलंकारों को काव्य का आवश्यक तत्त्व माना है किन्तु रस की अपेक्षा इनकी स्थिति को गौण ही माना है। दण्डी भो लोल्लट की तरह विभावादि से परिपुष्ट स्थायीभाव को रस मानते हैं।

निगृह्य केशेष्वाकृष्टा कृष्णा येनाग्रतो मम ।
सोऽयं दुःशासनः पापो लब्धः किं जीवति रक्षणम् ।।

इस उदाहरण से भो स्पष्ट है कि दण्डी परिपुष्ट स्थायिभावों को ही रस मानते है। दण्डी भो अनुकार्य में ही रस की स्थिति मानते हैं। दण्डी ने काव्य की रसवत्ता रसों के कारण ही मानी है। ''इह त्वष्टरसायत्त रसवत्ता स्मृता गिराम्।''

11.6.4 उद्भट – उद्भट् ने रसवत् काव्य, प्रेयस्वत् काव्य, ऊर्जस्वीकाव्य, समाहित काव्य, इस प्रकार काव्य के भद बताऐं हैं। इन्होंने प्रेयस्वत् काव्य का निरूपण निम्न रूप में किया है –

'रत्यादिकानां भावानामनुभावादिसृजनैः
यत्काव्यं बध्यते सद्भिस्तत्प्रेयस्वद् उदाहतम् ।।''

उद्भट् ने भामह व दण्डी की तरह केवल प्रियतर आख्यान को ही प्रेयस्वत् काव्य नहीं माना अपितु अनुभावों, विभावों द्वारा जिन रत्यादि भावों की सूचना मिलती है उन्हें प्रेयस्वत् काव्य माना है। इसी प्रकार स्वशब्द, स्थायी, सच्चारी, विभाव तथा अनुभाव द्वारा रस का जहाँ स्पष्ट प्रदर्शन है उसे रसवद् अलंकार कह कर स्थायी आदि भावों द्वारा रस का प्रदर्शन किया है।

11.6.5 वामन – वामन ने कहा है कि 'रीतिरात्मा काव्यस्य' अर्थात् काव्य की आत्मा रीति है । रीति को उन्होंने गुणलङ्कृत पद रचना कहा है । यह कहकर उन्होंने काव्यतत्वाधायक अलंकारों की अपेक्षा गुणों को कहा है । इन्होंने गुणों का रस के साथ अव्यभिचारी सम्बन्ध माना है।

''ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः ।
उत्कष हेतवस्ते स्युः, अचलस्थितयो गुणाः ।।

श्लोषादि दस शब्द गुणों की तरह उन्होंने काव्य में 10 प्रकार के अर्थगुणों की भो सत्ता मानी है । कान्ति नामक अर्थगुण का लक्षण कहकर काव्य में रस का पूर्ण प्रकाश माना है ।

11.6.6 रूद्रट – काव्यलङ्कार' के रचनाकार रूद्रट ने केवल श‍ृङ्गारादि रसों के अतिरिक्त शान्त और प्रेयस्वान् को भो रस माना तथा रस को काव्य में सर्वाधिक

आनन्ददायी व आवश्यक तत्त्व स्वीकार किया है। इन्होने औचित्य के आधार पर रस को केन्द्र बिन्दु मानकर अलंकार–गुण रीति इत्यादि के विवेचन का भो संकेत किया है।

11.6.7 भट्टलोल्लट – भरत के रस सूत्र की व्याख्या के सम्बन्ध में इन्होंने ''उत्पत्तिवाद'' का प्रतिपादन किया है। इनके अनुसार विभावादि के साथ स्थायीभाव का सम्बन्ध होने से रस की निष्पत्ति होती है। इनमें विभाव स्थायीरूप चित्तवृत्ति की उत्पत्ति में कारण है।

स्थायीभावों का विभावों के साथ उत्पाद्यउत्पादकभावसम्बध, अनुभावों के साथ प्रत्याय्याप्रत्त्यायकभावसम्बन्ध व व्यभिचारिभावों के साथ पोष्यपोषकभाव सम्बन्ध है। भट्टलोललट ने विभावादि के साथ स्थायीभाव के सम्बन्ध से रस की निष्पत्ति मानी है। वहाँ विभाव का स्थायिभाव के साथ उत्त्पाद्य–उत्पादकभाव सम्बन्ध माना है।

''तत्र विभावाश्चित्तवृत्तेः स्थाय्यात्मिकाया उत्पत्तौ कारणम्।''

11.6.8 श्री शङ्कुक – ये अनुमित स्थायीभाव को रस मानते हैं। सह्रदयों द्वारा नट में अनुमीयमान रत्यादि स्थायिभाव ही आस्वाद्यमान होने से 'रस्यते इति रसः' इस व्युत्त्पत्ति के द्वारा रस संज्ञा से व्यवहृत होते हैं। नट में सामाजिकों द्वारा जिस रति का अनुमान किया जाता है वह वस्तुतः रामादि में रहने वाली रति नहीं है वह तो उसका अनुकरणमात्र है। अतः नट द्वारा अनुक्रियमाण व सह्रदयों द्वारा नट में अनुमीयमान रामादि की रति ही रस है।

11.6.9 आनन्दवर्धन – इन्होंने भरत के रस सूत्र की व्याख्या के रूप में रस का निरूपण नहीं किया फिर भो रस को अभिधा, लक्षणा, तात्पर्याख्या वृत्ति तथा अनुमिति से भिन्न व्यञ्जनावृत्ति का विषय बतलाकर रस के क्षेत्र में नूतन अन्वेषण किया है। आनन्दवर्धन ने प्रधानरूप से ध्वनि की स्थापना की है तथापि ध्वनि वस्तु, अलंकार व रसभावादि भद से तीन प्रकार की है । वस्तुध्वनि व अलंकार ध्वनि की अपेक्षा रसादिरूप ध्वनि प्रधान है अतः वही काव्य की आत्मा या जीवन है, इसको निम्न कारिका द्वारा बताया है –

काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा ।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः ।।

11.6.10 भट्टतौत – भट्टतौत रस के विषय में 'अनुव्यवसायवाद' को अंङ्गीकृत करते हैं। इन्होंने श्री शङ्कुक के 'भावानुकरण रसः' इस अनुकृतिवाद का खण्डन किया है। भट्टतौत द्वारा 'काव्यकौतुक'' ग्रन्थ लिखा गया है । इसके अनुसार नाट्य में देवादिप्राणियों के व्यक्तिगत भावों का भाव नहीं होता है अपितु त्रैलोक्य के भावों का अनुकीर्तनात्मक अनुव्यवस्था होती है।

नैकान्तितोऽस्ति देवानामसुराणां च भावनम् ।
त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तनम् ।।

11.6.11सांख्यदर्शन की विचारधारा से सम्बन्धित रस विषयक मत का भो प्रतिपादन किया है । इस मत को 'बाह्यार्थवादी'' मत कहा जाता है ।

जैसे लोक में तीन पदार्थ द्रव्य, व्यञ्जन और औषधि बाह्य हैं उसी प्रकार बाह्यवादियों के मत में भो नाट्यरस के विभाव–अनुभाव–व्यभिचारी भाव ये तीनों घटक भो बाह्य हैं। जलरूप, व्यञ्जनों, गुडादि द्रव्यों आदि औषधियों के संयोग से षाडवादि रसों की निष्पत्ति होती है उसी प्रकार विभाव–अनुभाव–व्यभिचारि भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती हैं।

11.6.12महिमभट्ट – ''व्यक्ति विवेक'' ग्रन्थ के रचनाकार महिमभट्ट ने रस का विवेचन न्यायमत के अनुसार किया है। इन्होंने अनुमान द्वारा रसादि व्यङ्ग्य की प्रतीति मानकर तदर्थ स्वीक्रियमाण व्यञ्जना (ध्वनि) का निराकरण किया है।

अनुमानेऽन्तर्भवं सर्वस्यैव ध्वनेः प्रकाशयितुम् । इन्होंने रसादि की प्रतीति के लिए व्यञ्जनावृत्ति मानने का प्रत्याख्यान किया और अनुमिति के द्वारा रसादि वस्तु तथा अलंकाररूप प्रतीयमान अर्थों की प्रतीति मानी । महिमभट्ट के अनुसार कवि निरूपित कृत्रिम विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभाव नामक कारणों, कार्यो तथा सहकारिकारणों के द्वारा जो रति आदि स्थायिभाव है उनका ज्ञान सामाजिकों (सह्रदयों) को हो जाता है तत्पश्चात्

हृदयसंवाद के कारण वे उनका आस्वादन करते हैं। ये रत्यादि स्थायिभाव ही रस कहलाते हैं । श्रव्य व दृश्य दोनों प्रकार के काव्यों में विभावादि चर्वणा द्वारा ही रस की प्रतीति होती है।

11.6.13मम्मट – काव्यप्रकाशकार मम्मट का रस के विषय में कोई अभिनव योगदान नहीं है । आचार्य भरत के रससूत्र की भट्टलोल्लट, श्री शङ्कुक, भट्टनायक व अभिनवगुप्त द्वारा प्रस्तुत व्याख्या का इन्होने निर्भान्त प्रतिपादन किया है तथा ये अभिनवगुप्त के 'अभिव्यक्तिवाद' के मत को स्वीकार करते हैं ।

11.7 औचित्य सम्प्रदाय; प्रमुख ग्रन्थ एवं चिन्तक

11.7.1 महाकवि क्षेमेन्द्र का परिचय – जिस प्रकार आनन्दवर्धन ध्वनिसम्प्रदाय के, वामन रीतिसम्प्रदाय के और कुन्तक वक्रोक्ति सम्प्रदाय के संस्थापक के रूप में साहित्यशास्त्र के इतिहास में प्रसिद्ध हैं उसी प्रकार क्षेमेन्द्र अपने औचित्य सम्प्रदाय के संस्थापक के रूप में प्रसिद्ध हैं । उन्होंने अपने 'कविकण्ठाभरण' ग्रन्थ में लिखा है– **'तस्य श्रीमदनन्तराजनृपतेः काले किलायं कृतः।'** इसी प्रकार 'औचित्यविचारचर्चा' में भो–**'राज्ये श्रीमदनन्तराजनृपतेः काव्योदयोऽयं कृतः'** लिखकर 'अनन्तराज' के नामका उल्लेख किया है। अनन्तराज नाम के राजा ने कश्मीर में 1028 से 1063 तक राज्य किया। इसलिए यही काल क्षेमेन्द्र का सिद्ध होता है । क्षेमेन्द्र के पिता का नाम 'प्रकाशेन्द्र' और बाबा का नाम 'सिन्धु' था। अपने 'बृहत्कथामञ्जरी' ग्रन्थ में इन्होंने 'श्रुत्वाभिनवगुप्ताख्यात् साहित्यं बोधवारिधेः' लिखकर अभिनवगुप्त को अपना साहित्यशास्त्र का गुरू माना है। कश्मीर के अनन्तराज के बाद उनके पुत्र 'कलश' राजसिंहासन पर आसीन हुए। अनन्तराज ने अपने जीवनकाल में ही कलश को राज्यभार सौंप दिया था। अनन्तराज का शरीरान्त यद्यपि 1081 ईसा में हुआ था किन्तु उन्होंने 1063 में ही राज्यभार कलश को सौंप दिया था। क्षेमेन्द्र ने अपने समयमातृका ग्रन्थ की रचना 1050 में अनन्तराज के काल में की थी। किन्तु 'दशावतार' ग्रन्थ की रचना उसके 16 वर्ष बाद 1966 में कलश के राज्यकाल में की थी।

11.7.2 महाकवि क्षेमेन्द्र के प्रमुख ग्रन्थ

इनके ग्रन्थों की सूची बहुत लम्बी है। लगभग 40 ग्रन्थों की रचना इन्होंने की है। पर वे सब उपलबध नहीं हैं।

1. भारतमञ्जरी, 2. बृहत्कथामञ्जरो, 3. औचित्यविचारचर्चा, 4. कविकण्ठाभरण, 5. सुवृत्ततिलक, 6. समयमातृका आदि कुछ ही ग्रन्थ उपलब्ध हैं । इन ग्रन्थों में उन्होंने अपने अनेक ग्रन्थों के नामों का उल्लेख किया है । 1. अवसरसार, 2. अमृततरङ्गकाव्य, 3. कनकजानकी,
4. कविकर्णिका, 5. चतुर्वर्गसंग्रह, 6. चित्रभरतनाटक, 7. देशोपदेश, 8. नीतिलता, 9. पद्यकादम्बरी, 10. बौद्धावदानकल्पलता, 11. मुक्तावलीकाव्य, 12. मुनिमतमीमांसा, 13. ललितरत्नमाला,
14. लावण्यवतीकाव्य, 15. वात्स्यायनसूत्रसार, 16. विनयवती, 17. शशिवंश इन सत्रह ग्रन्थों के नाम मिलते हैं । क्षेमेन्द्र के उपलब्ध ग्रन्थों में से 'आचित्यविचारचर्चा' का ही अलंकारशास्त्र के साथ विशेषरूप से सम्बन्ध माना जा सकता है। इसी के कारण उनकी गणना आलङ्कारिक आचार्यों में की जाती है। इसमें उन्होंने औचित्य को रस का भो प्राण कहा है –

'औचित्यस्य चमत्कारकारिणश्चारूचर्वणे
रसजीवितभूतस्य विचारं कुरूतेऽधुना ।।'

क्षेमेन्द्र की आलोचना

डॉ. बच्चन सिंह ने अपनी पुस्तक आलोचक और आलोचना में औचित्य विचार चर्चा की निन्दा करते हुए कहा है क्षेमेन्द्र की सबसे बड़ी त्रुटि है विश्लेषण– क्षमता का अभाव। किसी भो औचित्य का न तो वह सैद्धांतिक विवेचन कर पाता है और न उदाहरणों की युक्तियुक्तता

का, असमीचीनता का विश्लेषण। प्रत्येक औचित्य को स्पष्ट करने के लिए वह किसी–न–किसी सादृश्यमूलक अलंकार का सहारा लेता है। पर अलंकारों का उपयोग काव्य के लिए जितना संगत है किसी सिद्धांत के प्रतिपादन के लिए उतना ही असंगत। एक उदाहरण लीजिये :–

प्रबंधार्थ का औचित्य दिखान के लिए कहा है –

उचितार्थ विशेषण प्रबंधार्थः प्रकाश्यते ।
गुण प्रभाव भव्येन विभवे नेव स जनः ।।

विशेष प्रकार के उचित अर्थ से प्रबंधार्थ भो चमकने लगता है – 'ठीक वैसे ही जैसे गुण के प्रभाव से भव्य लगने वाले वैभव से सज्जन।' इससे प्रबंधार्थ के औचित्य पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। उदाहरणों पर क्षेमेन्द्र ने जो टिप्पणियाँ जड़ी हैं वे तर्क–सम्मत न होकर भावुकतापूर्ण हैं।

अब विचारणीय यह है कि संस्कृत काव्यशास्त्र की आचार्य–परंपरा में क्षेमेन्द्र का क्या स्थान है? क्या उसे भामह, उद्भट, रूद्रट, वामन, आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, भट्टनायक, कुंतक, महिमभट्ट की परंपरा का आचार्य कहा जा सकता है? इसका स्पष्ट उत्तर है–नहीं। तो क्या उसे दंडी और विश्वनाथ (इनका दर्जा उपरि उल्लिखित आचार्यों से नीचे है) के समकक्ष रखा जाना चाहिए? न तो उसमें दंडी की मौलिकता है और न विश्वनाथ की व्यवस्था क्षेमेन्द्र ने स्थान–स्थान पर चर्चित औचित्य को व्यवस्थित करने की चेष्टा की किंतु उनमें आचार्य की मेधा नहीं थी। इसलिए इसका संपूर्ण विवेचन अन्य आचार्यों के विवेचन के सम्मुख रखने से दरिद्र लगता है।

11.8 औचित्य सिद्धान्त

11.8.1 औचित्य क्या है ?

'औचित्य' की भावना रस–ध्वनि आदि समस्त काव्यतत्त्वों की मूल भावना है। समस्त प्राचीन आलंकारिकों ने 'औचित्य' की रक्षा करने की ओर अपने ग्रन्थों में संकेत किया है। क्षेमेन्द्र ने 'औचित्यविचारचर्चा' लिख कर इस काव्यतत्त्व का व्यापक रूप स्पष्ट दिखलाया है। उनका यह कथन ठीक है कि 'औचित्य' ही रस का जीवन भ्त है, प्राण है।

औचित्यस्य चमत्कारकारिणश्चारूचर्वणे ।
रसजीवितभूतस्य विचारं कुरूतेऽधुना ।।

औचित्य की व्युत्पत्ति – उचितस्य भावः औचित्यः तंऔचित्यं जो जिसके सदृश हो, जिससे मेल मिले उसे 'उचित' कहते है और उचित का ही भाव औचित्य। क्षेमेन्द्र ने 'औचित्य' को पद वाक्य, अर्थ, रस, कारक, लिंग, वचन आदि अनेक स्थलों पर दिखलाया है तथा इसके अभाव को अन्यत्र दिखला कर क्षेमेन्द्र ने साहित्य–रसिकों पर महान् उपकार किया है।

11.8.2 औचित्य की परिभाषा

उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत् ।
उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते ।।

11.8.3 औचित्य के प्रमुख क्षेत्र –

महाकवि क्षेमेन्द्र ने औचित्य के प्रमुख 27 क्षेत्रों की गणना औचित्य विचार चर्चा में की है :–

पदे वाक्ये प्रबन्धर्थे गुणेऽलङ्करणे रसे ।
क्रियायां कारके लिङ्गे वचने च विशेषणे ।।
उपसर्गे निपाते च काले देशे कुले व्रते ।
तत्त्वे सत्त्वेऽष्वभिप्राये स्वभावे सारसंग्रहे ।।
प्रतिभायामवस्थयां विचारे नान्यथाशिषि ।
काव्यस्याङ्गेशु च प्राहुरौचित्यं व्यापि जीवितम् ।।

(1) पद (2) वाक्य (3) काव्यार्थ (4) गुण (5)अलंकार (6) रस (7) क्रिया (8) कर्तादिकारक (9) पुंसत्वादि लिङ्ग (10) एकवचनादि वचन (11) विशेषण (12) प्रादि उपसर्ग (13) चकारादि निपात (14) काल (15) देश (16) कुल (17) नियमव्रत (18) वस्तु का यर्थाथ वर्णन (19) वस्तु का अन्तर्बल वर्णन (20) अभिप्राय (21) स्वभाव (22) तात्पर्य सङ्कलन (23) प्रतिभा (24) वयस् (25) विचार (26) नामकरण (27) इष्टाशंसनामात्मक आशीर्वाद ।

काव्यतत्वज्ञ सहृदय काव्य के इन सत्ताइस अङ्गों में जीवनाधायक औचित्य की सत्ता बतायी है ।

इन समस्त 27 तत्त्वों के उदाहरण औचित्य पूर्णता एवं औचित्य हीनता के परिप्रेक्ष्य में क्षेमेन्द्र ने अपनी 'औचित्यविचार चर्चा, 8 में प्रस्तुत किये है । उनका कथन है कि औचित्य के गुणों की सम्भावना पाठकों द्वारा स्वयं खोजी जानी चाहिये ।

''अन्येषु काव्यक्षेत्रषु अनयैव दिशा स्वयंमौचित्यम्प्रेक्षणीयम् ।''

क्षेमेन्द्र काव्य–साहित्य के मूल्यांकन के लिए बहुत व्यापक तथा उदार दृष्टिकोण अपनाने के पक्षपाती थे। एकांगी दृष्टिकोण अपना कर स्वस्थ काव्य–समीक्षा नहीं हो सकती। इसलिए उन्होंने औचित्य के स्वरूप को व्यापकता प्रदान करने के लिए काव्य–रचना के संपूर्ण अंगो–भाव, रस, भाषा, देश, काल, परिस्थिति, चरित्र–चित्रण, प्रकृति–वर्णन, अलंकार–चित्रण, कवि का अभिप्राय, उसकी विचाराभिव्यक्ति आदि को अपनी सैद्धातिक चिंतन की परिधि में समाहित कर लिया है। संक्षेप में कहें तो क्षेमेन्द्र काव्य–रचना के प्रत्येक अंश में चाहे व आंतरिक हो चाहे बाह्य औचित्य के परिपालन पर बहुत अधिक बल देते रहे ।

औचित्य का सामाजिक मर्यादा से सम्बन्ध

आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र औचित्य का संबंध सामाजिक मर्यादा से जोड़ते हैं। वे सामाजिकता को औचित्य और असामाजिकता को अनौचित्य की संज्ञा देते हैं। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी का कहना है कि क्षेमेन्द्र रसाभास और भावाभास का उल्लेख नहीं करते, जब कि आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त काव्य को समाज–सापेक्ष मानते हैं । कुन्तक ने भो सामाजिकता–असामाजिकता का प्रश्न नहीं उठाया है । यह काव्य में अंग–सगति पर ही जोर देता है । औचित्य–विचार–चर्चा में भो सामाजिक औचित्य का उल्लेख नहीं हुआ है । इसलिए क्षेमेन्द्र को सामाजिक औचित्य के साथ जोड़ना उस पर अपनी धारणाओं को आरोपित करना है ।

11.8.4 औचित्य काव्य के प्राण के रूप में –

काव्य के शरीर के विषय में क्षेमेन्द्र आचार्य ने पृथक् विवेचन नहीं किया है किन्तु क्षेमेन्द्र द्वारा निरूपित जो प्रमुख 27 औचित्य क्षेत्र है उनसे स्पष्ट सङ्केत प्राप्त होता है कि ये भो शब्दार्थयुगल को ही काव्य का शरीर मानते है इसलिये इन्होंने एक कारिका की वृत्ति में स्वयं कहा है :– परस्परोपकारकरूचिर शब्दार्थरूपस्य काव्यस्योपमोत्प्रेक्षादयो ये प्रचुरालङ्कारास्ते कटककुण्डलकेयूरहारादिवदलङ्कारा एवं, बाह्यशोभा हेतुत्वात् ।

अलंकारात्वलङ्कारा गुणा एव गुणाः सदा ।
औचित्यं रस–सिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम् ।।

औचित्यं त्वग्रे वक्ष्यमाणलक्षणं स्थिरमविनश्वरयुक्तस्यापि निर्जीवत्वात् । रसेन श्रृङ्गारादिना सिद्धस्य प्रसिद्धस्य काव्यस्य धातुवादरससिद्धस्येव तज्जीवितं स्थिरमित्यर्थः ।

अर्थात् अलंकार जिसे सुशोभित करते है एवं गुण जिसमें उत्कर्षाधान करते हैं उस काव्य का स्थिर, अनश्वर, प्राणभ्त् तत्त्व तो औचित्य ही है । क्योंकि औचित्यस्वरूप जीवनधायक तत्त्व के बिना निर्जीव काव्य के लिये अलंकार एवं गुण व्यर्थ है। पद्य के उत्तरार्द्ध से तात्पर्य है कि कफपित्तवातस्वरूप जो त्रिधातु शब्द वाच्य 'रस' से सिद्ध शरीर में प्राण के समान, श्रृङ्गारादि रसों में प्रसिद्ध शब्दार्थ है युगलस्वरूप काव्य शरीर में उसका स्थिर अविनश्वर जीवनाधायक प्राणतत्त्व तो औचित्य ही है।

11.8.5 काव्य में औचित्यपूर्णता एवं औचित्यहीनता

क्षेमेन्द्र ने जो पद, वाक्यादि औचित्य के 27 प्रकार बताए हैं उनका उचितानुचित विवेचन भो प्रस्तुत किया है अपनी औचित्यविचारचर्चा में उदाहरणस्वरूप क्षेमेन्द्र रस तत्त्व के मूल में औचित्य की नितान्त अनिवार्य स्थिति स्वीकार करते हैं । सम्पूण काव्य पर औचित्य की नितान्त अनिवार्य स्थिति स्वीकार करते हैं। सम्पूर्ण काव्य पर औचित्य तत्त्व किस प्रकार छा जाता है इसका स्पष्टीकरण करने के लिए क्षेमेन्द्र ने औचित्य के पद, वाक्य, प्रबन्धार्थ, गुण, अलंकार, रस, क्रिया, कारक, लिंग वचन आदि 27 प्रकारों का सोदाहरण व्याख्यान किया है। इसके उपरान्त उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया है कि इसी पद्धति से अन्य काव्यांगों में भो औचित्य की मूलभ्त स्थिति पर विचार करना चाहिए।

वामनषण्डकिरातम्लेच्छाभीराः शकारकुब्जाद्याः।। इति ।।

अत्र च प्रक्रमभङ्गायेत्थं पठनीयम् –

नष्टो वषवरो मनुष्यगणनाभावादकृत्वा त्रया –
मन्तः क्ञ्चुकिकञ्चुकस्य विशति त्रासादयं वामनः।

पर्यन्ताश्रयणात् स्वनामसदृशं कार्यञ्किरातो व्यधा –
दात्मावेक्षणसाध्वसाच्च शनकैः कुब्जोपि नीचैर्गतः ।।इति।।

भयानकर सौचित्य का उदाहरण श्रीहर्ष की रत्नावली के निम्नोद्धृत पद्य है –

''बन्धन टूट जाने या काट दिए जाने के कारण पशुशाला क द्वारों का उल्लंघन कर बाहर निकला हुआ वह वानर अपने गले में लटकती टूट हुई रस्सी को नीचे की ओर खींचता हुआ राजभवन की ओर भागे जा रहा था । उस समय उसके उछलते पैरों में बन्धे घुंघरू झनझना रहे थे । पशुपालक उसका पीछा कर रहा था पर वह पकड़ में नहीं आया । अन्ततः वह राजभवन में घुस ही गया जिससे वहाँ की अङ्गनाएँ भयभोत हो उठीं ।।''और,

''उस समय अन्तःपुर में रहने वाले हिजड़े कहीं छिप रहे थे । इसमें उन्हें लज्जा तो होती नहीं थी, क्योंकि यह तो मनुष्य––स्त्री या पुरूष–– को ही होती है जब कि हिजड़े इनसे परे होते। वहाँ जो बौने थे वे भो डर से कञ्चुकियों के कञ्चुक में घुसकर अपने को छिपा रहे थे । जो किरात थे वे भो एक किनारे भाग कर अपने नाम को सार्थक (किर प्रान्त भ्मि एक किनारे, अत जानेवाला घूमने वाला) सार्थक कर रहे थे ओर जो कुबड़े थे वे तो और अधिक दुबक कर चल रहे थे ताकि उन्हें वह वानर देख न ले ।''

इन पद्यों में अन्तःपुर की अङ्गनाओं के उस वानर के तीखे कटकटाते दाँत और नाखूनों से आतङ्कित होने एवं उसके ;वानर केद्ध आ जाने से अत्यधिक भयभोत एवं धैर्यहीन बौनों, किरातों एवं कुबड़ों की, जिनकी गणना मनुष्यकोटि में नहीं होती, भगदड़ के वर्णन से भयानक रसौचित्य स्पष्ट ही दिखाई देता है।

क्षेमेन्द्र के औचित्य–विवेचन की एक अन्य विशेषता यह है कि इन्होंने प्रायः प्रत्येक औचित्य–प्रकार के व्याख्यान करते समय औचित्यपूर्ण तथा औचित्यहीन दोनों प्रकार के उदाहरणों को प्रस्तुत करके अपने मन्तव्य का स्पष्टीकरण किया है।

यथा – न तु यथा राजपुत्रमुक्तापीडस्य–

नीवारप्रसराग्रमुष्टिकवलैर्यो वर्धितः शैशवे
पीतं येन सरोजपत्रपुटके होमावशेषं पयः।
तं द्वष्ट्वा मदमन्थरालिवलयव्यालोलगल्लं गजं
सानन्दं सभयञ्च पश्यति मुहुर्दूरे स्थितस्तापसः ।।

औचित्यत्र गजस्याघातकविकृतचेष्टानुवर्णनाविरहिततया स्थायिभावस्य भयानुभाववर्जितस्य केवलं नाममात्रोदीरणेन च भयानकरसोचितसंभ्रमाभावादुपचितमौचित्यं न किंचिदुपलभ्यते ।

किन्तु राजपुत्र मुक्तापीड़ के निम्नोद्धृत पद्य में भयानक रसौचित्य नहीं है – ''इस गज को इसी तपस्वी ने इसकी बाल्यावस्था में में मुट्ठी भर–भर तिन्नी की कोमल घास खिलाकर

पाला है तथा अपने होम से अवशिष्ट जल पुड़इन के पत्ते के दोने में भर कर पिलाया है। अब तो प्रौढ़ावस्था में इसके गण्डस्थल से मद चूने लगा है और इसके ऊपर बैठे भौंरे निश्चल होकर रस पी रहे हैं । अतः वही तपस्वी आज आनन्द एवं भय दोनों के साथ इस गज को दूर रह कर ही देख रहा है ।'

इस पद्य में भयानक रस के स्थायीभाव भय का तो उल्लेख है किन्तु इसमें कहीं भो अनुभाव रूप में आघातकारक विकार युक्त चेष्टा का वर्णन नहीं है । अतः ऐसी स्थिति में भयानक रस का कुछ भो औचित्य नहीं है औचित्य विचार चर्चा की प्रतिपादन शैली इतनी ऋजु और सामान्य है कि कदाचित् इसी कारण किसी अन्य आचार्य को इस ग्रन्थ के व्याख्यान–विवेचन या भाष्य करने की आवश्यकता महसूस न हुई होगी।

11.9 औचित्य स्थापना से पूर्ववर्ती आचार्य एवं उनके मत

औचित्य का उद्‌भव

11.9.1 आनन्दवर्धन –

औचित्य तत्त्व का उद्‌भव क्षेमेन्द्र से मानना एक ऐतिहासिक भ्‌ल होगी अतः हमें ये भली भाँति जान लेना चाहिये कि ये काव्य का प्राणभ्‌त तत्त्व औचित्य कहाँ से आया है ? औचित्य का मूल तत्त्व आनन्दवर्धन ने ही उद्‌घाटित किया है । उनका कहना था कि अनौचित्य को छोडकर रसभङ्‌ग का कोई दूसरा कारण नहीं है । इसका परम रहस्य यही है–औचित्य से उसका निबन्धन ।

अनौचित्याद् ऋते नान्यद् रसभङ्‌गस्य कारणम् ।
औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा ।।

11.9.2 भरतमुनि –

परन्तु आनन्दवर्धन द्वारा भो औचित्य की उद्‌भावना मानना त्रुटि होगी क्योंकि उनसे बहुत पहले यह काव्य का मूल तत्त्व माना गया था । भरतम्‌नि ने अपने नाट्‌यशास्त्र के पात्रों के लिये देश और व्यवस्था के अनुरूप वेश–विन्यास की व्यवस्था करके इसी तत्त्व पर जोर दिया था –

अदेशजो हि वेषस्तु न शोभां जनयिष्यति ।
मेखलोरसि बन्धे च हास्यायैवोपजायते ।। (नाट्‌यशास्त्र 23। 69)

11.9.3 पूर्व आलङ्‌कारिक –

क्षेमेन्द्र से पूर्व के आलङ्‌कारिकों ने भो औचित्य की महत्ता को स्वीकार किया है। क्षेमेन्द्र ने स्वयं इस बात की पुष्टि नाट्‌यशास्त्र की एक कारिका के भाष्य में की है।

कण्ठे मेखलया नितम्बफलके तारेण हारेण वा ।
पाणौ नूपुरबन्धनेन चरणे केयूरपाशेन वा ।।
शोर्येण प्रणते रिपौ करूणया नायान्ति क हास्यता ।
मौचित्येन बिना रूचिं प्रतनुते नालंकृतिर्नो गुणाः ।।

अलंकारशास्त्र ने आलोचना–शास्त्र को तीन महनीय काव्यतत्त्वों के रहस्य से परिचित कराया है। ये तीन तत्त्व हैं– औचित्य, रस और ध्वनि। परन्तु इन तीनों में ंव्यापकतम तत्त्व औचित्य ही है।

11.9.4 भामह और दण्डी –

डॉ. राघवन ने अपनी पुस्तक डोश लेपलशीी ेष अश्ररपझरी डरीीर में सिद्ध किया है कि भामह और दण्डी में भो परोक्षरूप से औचित्य पाया जाता है।

उक्त सम्पूर्ण को पढ़कर हमने ये निष्कष निकाला कि पूर्व चर्चित की ही चर्चा क्षेमेन्द्र ने की है ।

11.10 औचित्य का विभिन्न सम्प्रदायों एवं काव्यशास्त्रीय विधाओं से सम्बन्ध

11.10.1 औचित्य और ध्वनि एवं रस सम्प्रदाय

औचित्य प्रत्यक्षरूप से ध्वनि और रस सम्प्रदाय से अन्योन्याश्रित भाव से जुडा हुआ हैं क्योंकि औचित्य के भोतर रहकर ही रस तथा ध्वनि अपने गौरव और मर्यादा की रक्षा कर सकते हैं । औचित्य के मूलाधार पर ध्वनि और रस के तत्त्व अवलम्बित हैं । औचित्य के बिना 'रस' में न तो सरसता है और न ध्वनि में महत्ता । औचित्य के तथ्य पर ही साहित्य का समग्र सिद्धान्त आश्रित है ।

औचितीमनुधवन्ति सर्वे ध्वनिरसोन्नयाः ।
गुणालङ्कृतिरीतीनां नयाश्चान्ुवाङ्मयाः ।।

एक काव्यचित्र की कल्पना कीजिये, जिसमें बड़े वृत्त के भोतर एक छोटा वृत्त है । बड़े वृत्त तथा छोटे वृत्त दोनों के भोतर एक–एक त्रिकोण है । इसी का शाब्दिक वर्णन यहाँ किया जा रहा है ।

साहित्य शास्त्र के सिद्धान्तों का इतिहास औचित्य से आरम्भ कर 'अलंकृति' तक का विकास है। कल्पित काव्य–चित्र का बड़ा वृत्त पर काव्य के अन्तरंग अर्थात् प्राणभ्त तत्त्व की समीक्षा करता है । इस पूरे वृत्त की परिधि है 'औचित्य' जिसे भारतीय साहित्यकारों ने व्यापकतम काव्यतत्त्व अंगीकृत किया है । इस वृत्त के भोतर जो बड़ा त्रिकोण है उसका शीर्ष स्थान है रस और नीचे के कोण हैं ध्वनि और अनुमिति । रस का शीर्ष–स्थान सूचित करता है कि भारत के किसी भो साहित्य–सम्प्रदाय में रसतत्त्व की अवहेलना नहीं है। आनन्दवर्धन तो इस रस को काव्य की आत्मा मानते हैं और उनके विरोधी आलंकारिक कुन्तक तथा महिमभट्ट काव्य में इसकी सत्ता का निरसन नहीं करते। रस उन्हें भो मान्य है, परन्तु उसकी अभिव्यक्ति के प्रकार भिन्न–भिन्न हैं । रसाभिव्यक्ति दो प्रकार से सिद्ध की जाती हैं (1) ध्वनि के द्वारा (आनन्दवर्धन) तथा (2) अनुमिति ––अनुमान के द्वारा (महिमभट्ट) । यहाँ अनुमिति ध्वनिविरोधी समग्र मतों का उपलक्षण है । ध्वनिसम्प्रदाय व्यञ्जना के द्वारा रस की अभिव्यक्ति मानता है । इस काव्यचित्र की कल्पना को बलदेव उपाध्याय ने सरल रूप में प्रस्तुत किया है ।

11.10.2औचित्य और गुण –

उचित स्थान विन्यासादलङ्कृतिरलङ्कृतिः ।
औचित्यादच्युता नित्यं भवन्त्येव गुणा गुणाः ।।

उचित स्थान में विन्यस्त होने पर ही अलंकार शोभाधायक हो पाते है । इसी तरह औचित्यपूर्ण होने पर ही गुण भो उत्कर्षाधान में समर्थ हो पाते हैं । अर्थात् गुण में गुणत्व होने में औचित्य हेतु स्वरूप है । औचित्य से परिपूर्ण होने पर ही गुण गुणत्व अर्थात् उत्कार्षाधानहेतुत्व को प्राप्त कर पाते हैं अन्यथा वे दोष ही हो जाते ।

11.10.3औचित्य और अलङ्कार

कण्ठे मेखलया ...औचित्येन बिना रूचिं प्रतनुते नालङ्कतिर्नो गुणाः ।

अर्थात् औचित्य के बिना अलंकार आकषक नहीं हो पाते और गुण भो स्वस्वरूपाधायी नहीं बन पाते।

11.10.4 औचित्य और काव्य रस

आचार्य क्षेमेन्द्र ने अपने गुरू अभिनव गुप्त से काव्यशास्त्र के सिद्धातों का अध्ययन किया था । आचार्य अभिनव वस्तुध्वनि तथा अलंकार ध्वनि का रस–ध्वनि में पर्यवसान मानते थे तथा रस को ही वस्तुतः काव्य की आत्मा निर्धारित करते थे । वे काव्य की संरचना तथा उसके आस्वाद इन दोनों पक्षों में इस तत्त्व को ही एकांत महत्त्व देने का आग्रह करते रहे । किन्तु काव्य के आस्वादन के पक्ष से विचार करते समय अभिनव ने 'सहृदय की चर्व्यमाणता को ही

रस का प्राण निर्धारित किया था––'चर्व्यमाणतैक प्राणः'। क्षेमेंन्द्र ने अपने गुरू अभिनव की रस–चर्वणा विषयक विचारधारा का समर्थन तो किया किंतु अपने स्वतंत्र चिंतन को भो बहुत स्पष्ट कर दिया । इनकी मान्यता थी कि रस में जो चमत्कृति या चर्वणा होती है उसका मूल कारण है – 'औचित्य', अतः औचित्य को ही रस–सिद्ध काव्य की स्थिर जीवनदायिनी शक्ति मानना चाहिए। काव्य–सर्जन के लिए उपयोगी जो अन्य तत्त्व–गुण अलंकार आदि हैं वे भो औचित्य का परित्याग करके अपने अस्तित्व और स्वरूप की रक्षा ही नहीं कर सकते। अनुचित पद्धति से तथा अनुचित मात्रा में गुणलंकारों का काव्य में निरूपण उसे हास्यास्पद बना देता है । इस प्रकार रस के मूलभ्त अवयव चाहे स्थायी भाव हों, चाहे गुण या अलंकार बिना औचित्य तत्त्व का आधार ग्रहण किये संविस्तर निरूपण के अधिकारी ही नहीं बन सकते । 'औचित्यं बिना रति प्रतनुते नालङ्कृतिर्नो गुणाः।' इस प्रकार क्षेमेन्द्र ने औचित्य को ही प्रमुख बताते हुए अन्य समस्त काव्य शैली आदि को द्वितीय तृतीय स्थान पर रखा है।

11.10.5औचित्य और रीति सम्प्रदाय

लातीनी रीतिकार होरेस ने भो औचित्य पर बहुत बल दिया है । उसका कहना है–''यदि कोई चित्रकार अपने चित्र में घोड़े की गरदन और आदमी का सिर बनाये और शेष अंगों पर उनके रंग–बिरंगे पंख लगा दे, जिससे एक ऐसी स्त्री का चित्र बन जाय, जिसका ऊर्ध्व भाग सुन्दर हो और अधोभाग कुरूप मछली की भाँति विकृत । और यदि उसे देखने के लिए आपको आमंत्रित किया जाय तो मेरे मित्रों ! क्या आप अपनी हँसी रोक सकेंगे? ''यदि किसी ग्रंथ में इस प्रकार असंभव बिम्ब–विधान है तो वह ठीक उसी चित्र के समान विचित्र प्रतीत होगा। वह एक रुग्ण व्यक्ति के दुःस्वप्नों के समान होगा। परिणामतः कोई भो बिम्ब अपने–आप में न तो सावयव होगा, न सार्थक और उसका एकत्व नष्ट हो जायेगा।''

चित्र में घोड़े की गरदन और आदमी का सिर एक स्थान पर नहीं रखा जा सकता। इन दोनों में न परस्पर संगति है और न संपूर्ण चित्र के साथ ही उनकी संगति बैठ पाती है। इनमें उचित का भाव नहीं ह। इसे और स्पष्ट करते हुए वह कहता है ''इसका तात्पर्य यह नहीं है कि हम कोमल और कठोर को एकरूप कर दें। हम सर्प और पक्षी या मृग और सिंह को एकजुट नहीं कर सकते ।''

वह विषय, शब्द, अलंकार, परंपरा–नवीनता के समन्वय आदि के औचित्य का उल्लेख करता है। सत्य और शिव के समन्वय की बात उठाकर वह सामाजिक रीति–नीतियों के औचित्य की भो चर्चा करता है । पर क्षेमेन्द्र कहीं भो सामाजिक औचित्य का उल्लेख नहीं करता ।

11.11 पारिभाषिक शब्दावली

मीमांसा	–	पूर्ण रूप से खण्डन मण्डन द्वारा जानना
साध्य	–	लक्ष्य, जिसे प्राप्त करना है
साधन	–	जिसके द्वारा लक्ष्य को प्राप्त किया जाए
अनिर्वचनीयता	–	जिसे शब्दों में न कहा जा सके
परिपुष्ट	–	स्पष्ट, सवंर्धित
औचित्य	–	उचित का भाव, तात्पर्य

11.12 अभ्यासार्थ प्रश्न

प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न

1. रस की निष्पत्ति हेतु भट्टलोल्लट, शङ्कुक, भट्टनायक एवं अभिनवगुप्त के मतों को स्पष्ट कीजिये।
2. पण्डितराज जगन्नाथ के अनुसार रस के स्वरूप को समझाइये।

3. प्रमुख रस एवं उनके स्थायीभावों का वर्णन कीजिये।
4. रसों की संख्या निर्धारित कीजिये।
5. औचित्य सिद्धान्त को समझाइये।

बोध प्रश्न 1

1. सुमेलित कीजिये ।

अ		ब	
(क)	भट्टलोल्लट	(क)	अन्यथाख्याति
(ख)	श्रीशङ्कुक	(ख)	उत्पत्तिवाद
(ग)	अभिनवगुप्त	(ग)	अनुमितिवाद
(घ)	भट्टनायक	(घ)	भुक्तिवाद
(ङ)	अद्वैतवेदान्ती	(ङ)	अभिवक्तिवाद
(च)	नैयायिक	(च)	अनिर्वचनीयख्याति

बोध प्रश्न 2

1. औचित्यविचार चर्चा के रचयिता कौन हैं?
2. रसों के भावों के नाम बताइये (पण्डितराज जगन्नाथ के अनुसार)
3. रसों की संख्या कितनी है?
4. स्थायीभावों की संख्या कितनी है?
5. औचित्य की परिभाषा क्या है?
6. औचित्य के कितने क्षेत्रों की चर्चा महाकवि क्षेमेन्द्र ने की है?

बोध प्रश्न 3

रिक्तस्थानों की पूर्ति करो –

रस		स्थायीभाव
1.	श्रृङ्गार	– – – – –
2.	करूण	– – – – –
3.	शान्त	– – – – –
4.	रौद्र	– – – – –
5.	वीर	– – – – –
6.	अद्भुत	– – – – –
7.	हास्य	– – – – –
8.	भयानक	– – – – –
9.	विभत्स	– – – – –
10.	रसगङ्गाधरकार	– – – – –
11.	नाट्यशास्त्र	– – – – –
12.	भामह	– – – – –

प्रश्नों के उत्तर

निबन्धात्मक प्रश्नों के उत्तर

इकाई से स्वयं जाँच करें ।

बोध प्रश्न 1 के उत्तर

क	–	ख
ख	–	ग
ग	–	ङ
घ	–	घ
ङ	–	च
च	–	क

बोध प्रश्न 2 के उत्तर

1. क्षेमेन्द्र
2. विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी
3. नौ
4. नौ
5. **उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यसम्प्रदायय यत् ।**
   उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते ।।
6. 27

बोध प्रश्न 3 के उत्तर

1.	रति	2.	शोक
3.	निर्वेद	4.	क्रोध
5.	उत्साह	6.	विस्मय
7.	हास	8.	भय
9.	जुगुप्सा	10.	पण्डितराज जगन्नाथ
11.	भरतमुनि	12.	काव्यालङ्कार

11.13 सारांश

इस इकाई में हमने साहित्य शास्त्र के छः सम्प्रदायों में से दो प्रमुख सम्प्रदायों (रस सम्प्रदाय एवं औचित्य सम्प्रदाय) की चर्चा की। हमने ये जाना कि रस का उद्भव कहाँ से हुआ। उसकी निष्पत्ति पण्डित जगन्नाथ ने किस प्रकार की और अन्य 13 साहित्यशास्त्रियों ने रस के स्वरूप का निरूपण किस प्रकार किया। रस एवं उसके स्थायी भावों को भी हमने जाना।

औचित्य सम्प्रदाय की चर्चा से हमने जाना कि औचित्य क्या है एवं ये साहित्य के सम्प्रदायों और विधाओं से किस प्रकार जुडा हुआ है?

11.14 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. रसगङ्गाधर – भट्टमथुरानाथशास्त्री – मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1972.
2. रसगङ्गाधर – एक समीक्षात्मक अध्ययन, चिन्मय माहेश्वरी राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 1978.
3. काव्यप्रकाश – आचार्य विश्वेश्वर,ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी,सं० २०१३.
4. Highways and Byways of Literary Criticism in Sanskrit,Shastri Kuppuswami, Kuppaswasd Shastri Research Institute, Madras - 1945.
5. संस्कृत शास्त्रों का इतिहास, बलदेव उपाध्याय,चौखम्भा विद्या भवन, वाराणसी, 1969.
6. भारतीय काव्यशास्त्र के नए आयाम, मनोहर काले, नमन प्रकाशन नई दिल्ली,2000.
7. औचित्यविचारचर्चा (महाकवि क्षेमेन्द्र कृत) व्या. आचार्य श्रीब्रजमोहन झा, चौखम्बा विद्याभवन,. वाराणसी, 1964.

इकाई—12

रीति सिद्धान्त : प्रमुख ग्रन्थ एवं चिन्तक

इकाई की रूपरेखा

12.0 उद्देश्य
12.1 प्रस्तावना
12.2 रीति सिद्धान्त एवं चिन्तक –
 12.2.1 वामन का रीतिवाद सिद्धान्त है, रीति सम्प्रदाय नहीं
 12.2.2 रीति का अर्थ एवं परिभाषा
 12.2.3 रीति और गुण
 12.2.4 रीति के भद
 12.2.5 रीति के भदों के नामकरण का आधार
 12.2.6 वामन के रीति सिद्धान्त की काव्यशास्त्र को देन (काव्यालङ्कार सूत्र)
  12.2.6.1 गुण और अलंकार का भद
  12.2.6.2 सरल तथा स्पष्ट सूत्र शैली
12.3 वामन से पूर्ववर्ती रीति सिद्धान्त एवं चिन्तक
 12.3.1 भरत (नाट्यशास्त्र)
 12.3.2 बाणभट्ट (हर्षचरित)
 12.3.3 भामह (काव्यालंकार)
 12.3.4 दण्डी (काव्यादर्श)
12.4 वामन से परवर्ती रीति विवेचन एवं चिन्तक
 12.4.1 रुद्रट (काव्यालंकार)
 12.4.2 भोजदेव (श्रृंगारप्रकाश, सरस्वती कण्ठाभरण)
 12.4.3 कुन्तक (वक्रोक्तिजीवित)
 12.4.4 आनन्दवर्धन (ध्वन्यालोक)
 12.4.5 जयदेव (चन्द्रालोक)
 12.4.6 राजेश्वर (काव्यमीमांसा)
 12.4.7 मम्मट (काव्यप्रकाश)
 12.4.8 विश्वनाथ (साहित्य–दर्पण)
 12.4.9 विद्यानाथ (प्रताप रुद्रीय)
12.5 रीति सिद्धान्त तथा अन्य काव्य शास्त्रीय सम्प्रदाय
 12.5.1 रीति और अलंकार
 12.5.2 रीति और वक्रोक्ति
 12.5.3 रीति और ध्वनि
 12.5.4 रीति और औचित्य
 12.5.5 रीति और रस
12.6 पारिभाषिक शब्दावली
12.7 अभ्यासार्थ प्रश्न
12.8 सारांश
12.9 संदर्भ ग्रंथ सूची

12.0 उद्देश्य

एम.ए. (पूर्वार्द्ध) संस्कृत के चतुर्थ प्रश्नपत्र की 12वीं इकाई 'रीति सिद्धान्त एवं चिन्तक' के अध्ययन से विद्यार्थी निम्न उद्देश्यों की पूर्ति कर सकेंगे :–

- भारतीय काव्यशास्त्र में रीति का स्थान निर्धारित कर सकेंगे और रीति के प्रयोग ओर महत्त्व का ऐतिहासिक विवरण जान सकेंगे।

- काव्यालंकारसूत्र के प्रणेता वामन द्वारा प्रतिपादित रीति सिद्धान्त को समझ सकेंगे, जिससे रीति की परिभाषा, भद, गुण एवं रीति का सम्बन्ध तथा वामन के रीति सिद्धान्त की काव्य शास्त्र को देन आदि विषयों की जानकारी पा सकेंगे।
- वामन से पूर्ववर्ती तथा परवर्ती आचार्यों के रीति विषयक मतों एवं विचारों से अवगत हो सकेंगे।
- काव्य शास्त्र के अन्य सम्प्रदायों एवं सिद्धान्तों जैसे रस सम्प्रदाय, अलंकार सम्प्रदाय, ध्वनि सम्प्रदाय, वक्रोक्ति सिद्धान्त एवं औचित्य सिद्धान्त में परस्पर सम्बन्ध का परिचय प्राप्त कर सकेंगे।
- विभिन्न रीतियों में निबद्ध साहित्य का रसास्वाद एवं लेखन की प्रेरणा प्राप्त कर सकेंगे।

12.1 प्रस्तावना

संस्कृत काव्य शास्त्र के आचार्यो ने रसाभिव्यक्ति के अनेक तत्त्वों का प्रतिपादन किया है जिसमें रीति, रस, गुण, अलङ्कार, ध्वनि वक्रोक्ति आदि की प्रमुखतया चर्चा की गई है। इन उपायों में रीति, मार्ग या पन्थों की अपनी विशेषता है। रीति ही रचना में, गुणस्वरूप में, अलंकार रूप में, रस भ्मिका में सर्वत्र अनुस्यूत है। अतः इस इकाई में हम रीति सिद्धान्त की चर्चा करेंगे।

इस इकाई में प्रमुखतः वामन का रीति सिद्धान्त, रीति की परिभाषा, रीति के भद, नामकरण आधार, रीति और गुण, वामन ;नवम शताब्दीद्ध के रीति सिद्धान्त की काव्य शास्त्र को देन आदि विषयों पर विचार करने के अतिरिक्त वामन से पूर्ववर्ती एवं परवर्ती रीति विवेचन तथा चिन्तकों का भो निरूपण किया जाएगा।

12.2 रीति सिद्धान्त एवं चिन्तक–

रीति सिद्धान्त के प्रमुख आचार्य वामन हैं जिन्होंने अपने ग्रन्थ काव्यालंकार सूत्र तथा उसकी वृत्ति के द्वारा अपने मत की स्थापना का प्रयास किया है। अतः वामन से पूर्ववर्ती तथा परवर्ती रीतिवाद का विवेचन करने से पूर्व वामन के रीतिसिद्धान्त की समालोचना प्रासंगिक होगी।

12.2.1 वामन का रीतिवाद सिद्धान्त है, रीति सम्प्रदाय नहीं–

रस, अलंकार और ध्वनि की तरह रीति सिद्धान्त के पोषकों एवं समर्थकों की परम्परा नहीं चली अतः रस आदि की तरह रीति का सम्प्रदाय नहीं बन सका। वामन का रीतिवाद सिद्धान्त है वह सम्प्रदाय का स्वरूप नहीं ले सका। काव्यशास्त्र में रीति विवेचन की एक अखण्ड परम्परा तो मिलती है किन्तु रीति को काव्य की आत्मा वामन के अतिरिक्त किसी अन्य आचार्य ने नहीं माना। वामन के पश्चात् रीति को आत्मा मानने वाले या तो वामन के टीकाकार गोपेन्द्र त्रिपुर हरभ्पाल है या अमृतानन्द योगी। ये व्याख्याता और विवेचक होने से परम्परा में नहीं माने जा सकते। इस प्रकार वामन की परम्परा नहीं चलने तथा उनकी मान्यता को स्थापित तथा पुष्ट एवं विशद करने का कोई तर्कपूर्ण प्रयत्न नहीं चला तथा उनके मत के खण्डन–मण्डन की व्यवस्थित प्रवृत्ति के भो दर्शन नहीं होते। अतः एक विद्वान वामन द्वारा प्रतिपादित रीति सम्बन्धी मान्यता को सिद्धान्त माना जाता है सम्प्रदाय नहीं।

12.2.2 रीति का अर्थ एवं परिभाषा :–

रीति शब्द का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ दो प्रकार से किया जाता है–

रीति शब्द दिवादिगण की 'रीङ्' प्रस्रवणे तथा क्रयादिगण की 'रीङ्' गतिरेषणयाः इन दो धातुओं से करण तथा अधिकरण अर्थ में क्तिन् प्रत्यय लगाने पर बनता है। रीङ प्रस्रवणे धातु से 'रीयते क्षरति अनया अस्यां वा वाङ्–मधु–धारेति रीतिः' अर्थात् जिससे या जिसमें वाणी मधु की वर्षा करती है वह 'रीति' है।

रीङ् गतौ धातु से 'रीणन्ति गच्छन्ति अस्यां गुणा इति रीतिः' अर्थात् जिसमें गुण सन्निहित होते हैं उसे रीति कहते हैं। या 'रीणन्ति गच्छन्ति अस्यां कवयः' अर्थात् जिस माध्यम से कवि गण प्रस्थान करते हैं उसे रीति कहते हैं।

अमरकोष की उक्ति इसी अर्थ की अभिव्यक्ति करती है– 'प्रचारस्यन्दयोः रीतिः' (3/3/68)।

वामन ने रीति को काव्यरूपी शरीर की आत्मा माना– 'रीतिरात्मा काव्यस्य' (काव्यालंकार सूत्र, अधिकरण 1/अध्याय 2 सूत्र 6)। रीति को काव्य की आत्मा मानने का अर्थ है कि वामन काव्य में विशिष्ट प्रकार का बन्ध मानते हैं। यह बन्ध शब्दार्थों का होता है। काव्य बन्ध या एक विशेष प्रकार की आन्तरिक संगति अभोष्ट अर्थ को व्यक्त करती है। काव्य बन्ध के अतिरिक्त काव्य और क्या है? अतः वामन के अनुसार 'विशिष्टा पदरचना रीतिः' (काव्यालंकारशास्त्र 1/2/7) अर्थात् विशिष्ट (गुणयुक्त) पद रचना रीति है। काव्य शब्द और अर्थ के सौन्दर्य से युक्त हो तभो वह रीति सम्पन्न है। विशिष्ट का अर्थ दस शब्द गुण और दस अर्थ गुणों से युक्त होता है– 'विशेषो गुणात्मा' (काव्यालंकारशास्त्र 1/2/8)। विशिष्ट पदरचना को रीति की परिभाषा के रूप में प्रस्तुत करना वामन की रीति विवेचन की विशेषता रही। परवर्ती आचार्यों ने अन्यान्य शब्दों के भिन्न प्रयोगों के अतिरिक्त इस परिभाषा में विशेष अन्तर नहीं किया और अन्ततः वामन की परिभाषा ''विशिष्टा पदरचना रीतिः'' सर्वमान्य रही।

12.2.3 रीति और गुण –

वामन रीति और गुण को अभिन्न मानते हैं जो गुण है वही रीति है, जो रीति है वही गुण है। गुण के अभाव में रीति की कल्पना नहीं की जा सकती है। वामन गुण को रीति का धर्म मानते हैं। वे पदरचना की सफलता को काव्य की सफलता मानते हैं। वामन ने गुणों को भावरूप स्वीकार करके प्रत्येक गुण की अलग पहचान निरूपित कर दी।

वामन निरूपित शब्दगुणों तथा अर्थगुणों की पृथक्–पृथक् परिभाषाएँ निम्नलिखित हैं किन्तु दोनों की संज्ञाएँ अभिन्न हैं –

(1) **ओजगुण**– गाढ़बन्धत्व अर्थात् शब्दों की संश्लिष्टता को ओज शब्द गुण कहते हैं। अर्थ की 'प्रौढ़ता' को अर्थगुण ओज कहा जाना चाहिये। तात्पर्य यह है कि 'ओज' जब शब्दगुण होता तो उसका अर्थ होगा शब्दों की सामासिक संघटना और 'ओज' जब अर्थगुण होगा तो इसका तात्पर्य होगा अर्थ–गम्भोरता।

(2) **प्रसादगुण**– पद रचना के शेथिल्य अर्थात् शिथिल पदबन्ध को प्रसाद शब्दगुण कहते हैं और अर्थ की सरलता को अर्थ गुण प्रसाद मान लिया जाता है।

(3) **श्लेषगुण**– शब्दों की 'मसृणता' अर्थात् एकवत् आभासित हो रही कोमलता को श्लेष शब्द गुण कहते हैं तथा अनेक भावों के संघटन को अर्थगुण श्लेष कहा जाता है।

(4) **समता गुण**– काव्यबंध की अभिन्नता को समता शब्दगुण कहते हैं तथा वर्ण्यवस्तु के उचित क्रम की रक्षा अर्थगुण समता कहलाता है।

(5) **समाधि गुण**– शब्द रचना का क्रमिक आरोह–अवरोह समाधि गुण होता है। अर्थ की दृष्टि अर्थात् सारगर्भिता अर्थगुण समाधि होता है।

(6) **माधुर्य गुण**– शब्द गुण की दृष्टि से समास रहित शब्दों का प्रयोग माधुर्य गुण होता है तो अर्थगुण की दृष्टि से 'उक्ति–वैचित्र्य' माधुर्य गुण कहलाता है।

(7) **सौकुमार्य गुण**– कठोर शब्दों का प्रयोग नहीं होना सौकुमार्य गुण है तथा अपरुष का अकठोर अर्थ–कथन सौकुमार्य अथगुण है।

(8) **उदारता गुण**– काव्यबंध की लीलायमानता को उदारता शब्द गुण कहते हैं तथा ग्राम्य अर्थ का अभाव होने पर उदारता अर्थगुण माना जाता है।

(9) **अर्थव्यक्ति गुण**– जहाँ शब्दों के अर्थ स्फुट या स्वतः प्रकट हो वहाँ शब्द गुण अर्थव्यक्ति कहलाता है तथा जहाँ वस्तु स्वभाव का स्फुट कथन हो वहाँ अर्थ व्यक्ति अर्थगुण बन जाता है।

(10) **कांति**– पद रचना की उज्ज्वलता अथवा मनोहारिता को कांतिगुण कहते हैं, रस की दीप्ति को अर्थगुण कांति कहा जाता है।

इस प्रकार वामन ने रीति को पद रचना मानते हुए गुणों को ही मूल तत्त्व स्वीकार किया। गुणों के दो भद माने– (1) शब्द गुण, (2) अर्थगुण। अतः 10 शब्द गुण और अर्थ गुण माने। शब्द गुण का आधार काव्य में वर्ण–योजना, पद–बन्ध अथवा शब्द–गुम्फ का चमत्कार माना तथा अर्थगुण का आधार अर्थ सौन्दर्य है। दस गुणों में से उदारता, सुकुमारता, समाधि और ओज के अनक रूपों में लक्षणा–व्यंजना का चमत्कार है। अर्थ व्यक्ति में स्वाभाविकता का, कान्ति में रस का, माधुर्य में विदग्धता का, श्लेष में गोपन क्रिया चातुर्य का, प्रसाद में अर्थविमलता का तथा समता में क्रम के अभग का सौन्दर्य रहता है। वामन प्रतिपादित इन दस अर्थगुणों के मूल में रस, ध्वनि, अर्थालंकार तथा शब्द शक्ति के भावात्मक सौन्दर्य का और दोषाभाव के कारण अभावात्मक सौन्दर्य का समावेश हुआ है। इस प्रकार वामन के मतानुसार रीति की परिभाषा का व्यापक रूप होगा कि गुण, रस, ध्वनि, अलंकारयुक्त तथा दोषमुक्त शब्द गुम्फ का नाम रीति है।

12.2.4 रीति के भेद –

वामन ने रीति के तीन भद स्वीकार किये :–

1. वैदर्भी रीति, 2. गौड़ी रीति, 3. पांचाली रीति।

वैदर्भी रीति के संबंध में वामन ने कहा है कि सभो प्रकार के दोषों से रहित, सभो गुणों अर्थात् दस शब्दगुणों और दस अर्थगुणों सहित वीणा के स्वर के समान मधुर वैदर्भो रीति मानी जाती है :–

अस्पृष्टा दोषमात्राभिः समग्रगुणगुम्फिता।
विपञ्ची स्वरसौभाग्या वैदर्भी रीतिरिष्यते।। (काव्यालंकारसूत्र, 1/2/11 वृत्ति)

वामन के अनुसार अर्थ और शब्द पर विशेष अधिकार रहते हुए भो वैदर्भो रीति को अपनाये बिना वाणी का मधुर रस स्रवित नहीं होता है :–

सति वक्तरि सत्यर्थे सति शब्दानुशासने।
अस्ति तन्न विना येन परिस्रवति वाङ्मधु।। (काव्यालंकारसूत्र, 1/2/1/ वृत्ति)

वामन ने वैदर्भो रीति के लक्षण में समस्त दस गुणों का सौन्दर्य स्वीकार किया है। वैदर्भो के प्रति वामन का विशेष लगाव इस बात से पुष्ट होता है कि उन्होंने कवियों से वैदर्भो को ही अपनाने का अनुरोध किया है।

गौड़ी रीति की परिभाषा करते हुए वामन ने दस में से दो गुणों की मुक्तता को अभिव्यक्त किया। उनके शब्दों में:–

समस्तात्युद्भटपदाभोजः कान्तिगुणान्विताम्।
गौड़ीयमिति गायन्ति रीतिं रीतिविचक्षणाः।। (काव्यालंकारसूत्र, 1/2/12 वृत्ति)

अर्थात् ओज और कान्ति गुणों से युक्त और उत्कट पदावली वाली रीति को रीतिवेत्ता गौड़ी रीति कहते हैं।

वामन द्वारा पांचाली रीति की परिभाषा निम्नानुसार दी गई है:–

अश्लिष्ट–श्लथभावां तां पूरणच्छाययाश्रिताम्।
मधुरां सुकुमाराञ्च पांचालीं कवयो विदुः।। (काव्यालंकारसूत्र, 1/2/13 वृत्ति)

मधुर और सुकुमार गुणों से युक्त श्लेष रहित तथा शिथिल पदावली पांचाली रीति है।

वामन ने प्रत्येक रीति की विशिष्ट सीमा और सापेक्षिक महत्त्व निर्धारित किया।

वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली इन तीनों रीतियों के लक्षण तथा उदाहरण देने के उपरान्त वामन ने काव्य और रीतियों के सम्बन्ध को प्रस्तुत करते हुए कहा कि इन तीनों रीतियों के भोतर काव्य इस प्रकार समाविष्ट हो जाता है जिस प्रकार रेखाओं के भोतर चित्र प्रतिष्ठित हो जाता हैः–

'एतासु तिसृषु रीतिषु रेखास्विव चित्रं काव्यं
प्रतिष्ठितम् इति' (काव्यालंकारसूत्र, 1/2/13 वृत्ति)

इन तीन रीतियों में से वैदर्भी को वामन लोकोत्तर पदरचना मानते हैं, इसमें तुच्छ वस्तु भो चमत्कारमय जैसी प्रतीत होती है और सहृदयों के कणगोचर होकर उनके चित्त को इस प्रकार आह्लादित करती है मानो अमृत की वर्षा हो रही हो।

वामन से पूर्व दो रीतियाँ वैदर्भी और गौड़ी प्रचलित थीं। वामन ने पांचाली नाम से एक तीसरी रीति की उद्भावना की। तीसरी रीति के परिचय की सार्थकता और मनोवैज्ञानिकता के

सम्बन्ध में डॉ. नगेन्द्र ने भारतीय काव्यशास्त्र की भ्मिका में कहा कि ''यहाँ एक प्रश्न उठ सकता है, मेरे मन में भो उठा है। वैदर्भी और गौड़ी ही अलम् क्यों नहीं, क्या पांचाली की कल्पना अनावश्यक नहीं है? इसका उत्तर यह है कि वैदर्भी में यदि पांचाली का अन्तर्भाव मान लिया जाय तो फिर गौड़ी भो उस परिधि से बाहर नहीं पड़ती, क्योंकि समग्र गुण सम्पदा से अलंकृत वैदर्भी में जिस प्रकार माधुर्य और सौकुमार्य का समावेश रहता है, उसी प्रकार ओज और कान्ति का भो। अतः वैदर्भी गौड़ी की विपरीत रीति नहीं, गौड़ी की विपरीत रीति पांचाली ही है। मानव स्वभाव के दो छोर नारीत्व और पुरुषत्व की भाँति अभिव्यंजना के भो दो छोर है– स्त्रैण पांचाली और परुषा गौड़ी, इनके अतिरिक्त इन दोनों के समन्वय से समृद्ध व्यक्तित्व की माध्यम वैदर्भी है। इस प्रकार वामन ने पांचाली की उद्भावना द्वारा वास्तव में एक अभाव और असंगति का ही निराकरण किया है, अनावश्यक नवीनता का प्रदर्शन नहीं।'' (भारतीय काव्यशास्त्र को भ्मिका, पृ. 69)

''वामन के परवर्ती आचार्यों द्वारा रीति के नाम तथा संख्या में विभिन्नता का प्रतिपादन हुआ परन्तु अन्ततः वामन की धारणा ही मान्य हुई। इस प्रकार समग्रतः यह रीतिवाद को वामन की विशिष्ट देन साबित हुई। उसमें घुमाव और उलझन नहीं है, वे कभो भटकते नहीं हैं, अपने प्रतिपाद्य विषय पर सीधा आघात करते हैं।'' (भारतीय काव्य शास्त्र की भ्मिका, पृ. 22)

डॉ. बलदेव उपाध्याय ने वामन की विशेषताओं के कारण उन्हें ''अलंकार जगत् का जाज्वल्यमान नक्षत्र'' माना है। इस प्रकार मौलिक सिद्धान्त प्रवर्तक तथा समर्थ विवेचक के नाते आचार्य वामन का नाम भारतीय काव्यशास्त्र में भरत, भामह, आनन्दवर्धन तथा कुन्तक प्रभति सिद्धान्त–प्रवर्तक आचार्यों की पंक्ति में रखा जाता है।

12.2.5 रीति के भेदों के नामकरण का आधार–

वामन ने रीति के तीन भद स्वीकार किये– (1) वैदर्भी (2) गौड़ी (3) पांचाली। इनके नाम का पूर्व परम्परागत आधार प्रादेशिकता न मानकर वामन ने प्रदेश विशेष के कवियों द्वारा विशेष–विशेष रीति का प्रयोग करने के कारण उन कवियों के प्रदेशों के नाम पर रीति का नामकरण माना– ''विदभगौड़पांचालेषु तत्रत्यैः कविभिर्यथास्वरूपमुपलब्धत्वात् तत्समाख्या।'' (काव्यालंकार–सूत्र, 1/2/10 वृत्ति)

तीनों रीतियाँ विशिष्ट गुण समन्वित हैं। वैदर्भी रीति दसगुण सम्पन्न है, जिसका प्रयोग विदभ के कवियों में मुख्यतया मिलता है। अतः इसका नाम वैदर्भी रीति है।

गौड़ी रीति में ओज और कान्ति दो गुणों का समावेश है और गौड़ देश के कवियों में इसका अधिक प्रचार होने से इसका नाम गौड़ी रीति रख दिया।

माधुर्य और सुकुमारता गुणों की प्रधानता वाली पांचाली रीति है और पांचाल देश के कवियों में इसके प्रचार–प्रसार के कारण इसका पांचाली रीति नाम पड़ गया।

इस प्रकार रीति के प्रादेशिक आधार को समाप्त कर प्रयोग के आधार पर नामकरण की नई कल्पना की।

12.2.6 वामन के रीति सिद्धान्त की काव्यशास्त्र को देन

12.2.6.1 गुण और अलंकार का भेद–

वामन का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा कि उन्होंने अलंकार के स्थान पर समग्र रीति के महत्त्व की ओर काव्यशास्त्रियों का ध्यान आकृष्ट किया। इस प्रसङ्ग में उनका रीति के मूल तत्त्व गुण का विवेचन महत्त्वपूर्ण है। अतः वामन के रीतिसिद्धान्त की विशेषता गुण और अलंकार का भद निरूपण भो है। वामन ने रीति को काव्य की आत्मा माना और गुण को नित्य तथा स्वतन्त्र रूप से शोभाकारक माना। इस प्रकार काव्य के मूल तत्त्व के रूप में गुण की प्रतिष्ठा की एवं गौण तत्त्व के रूप में अलंकार को माना। इस प्रकार काव्य के मूल और गौण तत्त्वों, गुण और अलंकार, के भद का निरूपण सर्वप्रथम वामन ने किया। उनसे पूर्व दण्डी ने काव्य चमत्कार के सभो रूपों को अलंकार कहकर माधुर्य, ओज, प्रसाद आदि सभो गुणों को काव्य के शोभाकारक होने से अलंकार शब्द में ही समाविष्ट कर लिया था। वामन ने स्पष्ट शब्दों में कहा कि काव्य के शोभाकारक धर्म गुण कहलाते हैं और वे हैं ओज, प्रसाद आदि। यमक, उपमा आदि अलंकार अकेले काव्य–शोभा की सृष्टि नहीं कर सकते, इसके विपरीत ओज, प्रसाद आदि अकेले ही स्वतन्त्र रूप से काव्य की शोभा सम्पन्न कर सकते हैं। गुण नित्य हैं और उनके बिना काव्य में शोभा नहीं आ सकती। (काव्यालंकारसूत्र, 3/1/1–3)

वामन ने गुणों को नित्य तथा स्वतन्त्र रूप से काव्य की शोभा सृष्टि में समर्थ और अलंकारों को अनित्य तथा स्वतन्त्र रूप से काव्य–शोभा–सृष्टि में असमर्थ एवं प्रकारान्तर से गुणाश्रित बताया। इस प्रकार वामन ने रीति का गुणों से नित्य और अनिवार्य सम्बन्ध स्थापित कर रीति–विवेचन को एक व्यवस्थित रूप दिया।

12.2.6.2 सरल तथा स्पष्ट सूत्र–शैली

वामन के सूत्र अत्यन्त सरल और स्पष्ट हैं, जहाँ अस्पष्टता की सम्भावना भो आई है वहाँ उन्होंने वृत्ति में स्पष्ट विवेचन प्रस्तुत कर दिया है। इसके अतिरिक्त जहाँ कोई मौलिक बात नहीं वहाँ 'यह प्रसिद्ध ही है', 'अतएव इनके लक्षण नहीं करते', 'इनका ज्ञान दूसरे ग्रन्थों से प्राप्त कर लेना चाहिये' आदि कहकर छोड़ दिया है। वामन ने अनावश्यक कथन को बचाकर मौलिक तथा नवीन विवेचन प्रस्तुत किया है।

डॉ. नगेन्द्र ने भारतीय काव्य शास्त्र की भ्मिका में वामन की प्रतिपादन–शैली की समालोचना में लिखा है, ''इसमें सन्देह नहीं कि वामन की स्थापनाएँ तर्क–संगत सिद्ध नहीं हुई। उनके भद–प्रभद, वर्ग–विभाजन आदि भो अनेक स्थलों पर असंगत हैं। परन्तु वे असंगत ही हैं अस्पष्ट नहीं हैं। उनकी दृष्टि पैनी है और सूक्ष्मताओं को सफाई से पकड़ती है। ... वामन की शैली सीधी और स्वच्छ है।''

12.3 वामन से पूर्ववर्ती रीति सिद्धान्त एवं चिन्तक

रीति सिद्धान्त स्थापक वामन से पूर्व भो रीति का अस्तित्व था किन्तु उसे भिन्न–भिन्न संज्ञाओं से संबोधित किया जाता था। भरत, बाणभट्ट, भामह, दण्डी के समय में वामन से पूर्ववर्ती रीतिवाद के स्वरूप का दिग्दर्शन प्रस्तुत किया जा रहा है।

12.3.1 भरत –

भरत ने नाट्यशास्त्र में रीति से मिलते जुलते अर्थ में प्रवृत्ति और वृत्ति शब्द का प्रयोग किया है और वह रीति से अधिक व्यापक प्रतीत होता है तथा इसमें रीति के बीज सन्निहित है। भरत मुनि ने भिन्न–भिन्न प्रदेशों के आचार–व्यवहार, वेशभ्षा तथा भाषा–व्यवहार सम्बन्धी विशेषताओं को प्रवृत्ति कहा :– ''पृथिव्यां नानादेशवेश–भाषाचार–वार्ताः ख्यापयतीति प्रवृतिः'' नाट्यशास्त्र में भरतमुनि ने भारत की चार दिशाओं में प्रचलित चार प्रवृत्तियों, (1) अवन्ती, (2) दक्षिणात्या, (3) पांचाली, (4) उड्रमागधी, का उल्लेख किया है जो कहीं न कहीं रीति के

अस्तित्व को इंगित करती हैं। इसे पश्चिमी, दक्षिणी, उत्तरी (मध्यदेशीय) और पूर्वी भो कहा जा सकता है। प्रवृत्ति का अर्थ है नाटक के पात्रों की वेशभ्षा, आचार, वार्ता आदि। रीति का अर्थ है मात्र भाषा प्रयोग। प्रवृत्ति का सम्बन्ध नाट्य से है तो रीति का श्रव्य काव्य से। वृत्ति को भरत ने काव्य की माता कहा है। वृत्ति भो चार प्रकार की है– भारती, सात्वती, कैशिकी और आरभटी। ये विभिन्न वाग्व्यापारों से सम्बद्ध हैं। रीति से इनका कोई सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता, किन्तु रीति प्रवृत्तियों से प्रभावित प्रतीत होती है।

12.3.2 बाणभट्ट –

बाणभट्ट ने हर्षचरित में देश के भिन्न–भिन्न चार भागों में चार प्रकार की शैली प्रचलित होने का उल्लेख किया है तथा काव्योत्कष हेतु चारों के समन्वित प्रयोग को सौन्दर्याधायक बताया है।

भरत के नाट्यशास्त्र का उल्लेख करते हुए अर्थसौन्दर्य, शब्दसौन्दर्य, अलंकारसौन्दर्य तथा अक्षरबन्ध सौन्दर्य की एकत्र स्थिति को दुर्लभ बताया है–

नवोऽर्थो जातिरग्राम्या श्लेषोऽक्लिष्टो स्फुटो रसः।
विकटाक्षरबन्धश्च कृत्स्नमेकत्र दुर्लभम्।। (हर्षचारितम् 1/8)

बाणभट्ट के उक्त उल्लेख से स्पष्ट है कि विभिन्न प्रचलित शैलियों का आधार प्रादेशिक था तथा गुण और अलंकार का रीति से सम्बन्ध स्थापित हो चुका था।

12.3.3 भामह–

भामह ने रीति के लिए 'काव्य' शब्द का प्रयोग किया और रीति का सैद्धान्तिक विवेचन किया। काव्य के दो भद वैदर्भा ओर गौड़ी के प्रसंग में कहा कि उस समय एक वर्ग वैदभ, काव्य को महत्त्व देने वाला और दूसरा वर्ग था गौड़, काव्य को श्रेष्ठ कानने वाला। ऐसे विद्वानों के दो वर्ग थे किन्तु भामह ने ''वदर्भा ही गौडीय है''ऐसा मत प्रस्तुत करते हुए इन्हें पृथक् मानने में लोकरूढ़ि को ही कारण माना, वास्तविकता नहीं। भामह ने श्रेष्ठता का आधार गुण माना, नाम या संज्ञा नहीं। इसलिये वैदर्भा भो गुणों से रहित हो तो श्रेष्ठ नहीं है ऐसा माना– ''वैदभमिति नान्यथा''। काव्यालंकार में भामह के अनुसार गुणयुक्त होने पर वैदर्भा और गौड़ी दोनों ही श्रेष्ठ हैं यथा वैदर्भा वह है जो पुष्ट अर्थ और वक्रोक्ति रहित हो, प्रसन्न, सरल, कोमल होने पर भो गीत के समान केवल श्रुतिपेशल हो–

अपुष्टार्थमवक्रोक्ति प्रसन्नमृजु कोमलम्।
भिन्नं गेयमिवेदं तु केवलं श्रुतिपेशलम्।। – काव्यालंकार, 1/34

काव्यालंकार में भामह ने कहा है कि गौड़ी यदि अलंकारयुक्त, ग्राम्यदोषरहित, अर्थान्वित और अनाकुल अर्थात् जटिलता–रहित हो तो वह भो श्रेष्ठ है–

अलंकारवदग्राम्यमर्थ्यं न्याय्यमनाकुलम्।
गौडीयमपि साधीयः। – काव्यालंकार, 1/35

तत्कालीन विद्वानों का वैदर्भा के प्रति पक्षपात भामह की दृष्टि में उचित नहीं था। अतः उन्होंने काव्यालंकार में लिखा–

वैदर्भमन्यदस्तीति मन्यन्ते सुधियोऽपरे।
तदेव च किल ज्यायः सदर्थमपि नापरम्।। – काव्यालंकार, 1/31

12.3.4 दण्डी–

दण्डी ने रीति शब्द के लिये 'मार्ग' शब्द का प्रयोग किया। दण्डी के अनुसार वाणी के अनेक मार्ग हैं। और उनमें परस्पर अत्यन्त सूक्ष्म भद है। वैदर्भा और गौड़ी स्पष्ट भद के कारण पृथक् हैं। काव्यादर्श में लिखा है–

अस्त्यनेको गिरां मार्गः सूक्ष्मभेदः परस्परम्।
तत्र वैदर्भ–गौडीयो वर्ण्येते प्रस्फुटान्तरौ।। – काव्यादर्श, 1/40

दण्डी ने दस गुणों को वैदर्भो का प्राण माना। दण्डी के अनुसार (1) श्लेष, (2) प्रसाद, (3) समता, (4) माधुर्य, (5) सुकुमारता, (69 अर्थव्यक्ति, (7) उदारता, (8) ओज, (9) कान्ति और (10) समाधि ये दस गुण हैं। दण्डी गौड़ी में इन गुणों का विपर्यय मानते हैं। अतः दोनों में भद करते हैं तथापि दण्डी के अनुसार रूचिभद के कारण कवि की रचनाओं में अनेक अपरिमित भद हो सकते हैं जिनका वर्णन अशक्य है। एक कवि से दूसरे कवि के मार्ग में सूक्ष्म भद अवश्य होता है इसे काव्यादर्श में दर्शाया है–

इति मागद्वयं भिन्नं तत्स्वरूपनिरूपणात्।
तद् भेदास्तु न शक्यन्ते वक्तुं प्रतिकविस्थिताः।। – काव्यादर्श, 1/101

इस प्रकार दण्डी के अनुसार मार्गों (रीति) की संख्या कवि रूचिभद के आधार पर अनेक है। अतः मार्ग वस्तुनिष्ठ होने के साथ–साथ व्यक्तिनिष्ठ होते हैं।

इस प्रकार वामन द्वारा प्रतिपादित रीति सिद्धान्त के पूर्व रीति सम्बन्धी निम्न स्थिति स्पष्ट थी–

(1) रीति के लिए प्रवृत्ति, वृत्ति, रीति, 'शब्द' तथा 'मार्ग' संज्ञाओं का प्रयोग हुआ।

(2) वैदर्भो और गौड़ी दो प्रमुख काव्य रचना शैली या मार्ग थे। जिनके भद का एक प्रमुख आधार प्रादेशिक था।

(3) प्रादेशिक पक्षपात क कारण वैदर्भो को गौड़ी से श्रेष्ठ मानने का प्रचलन था।

(4) रीति और गुण में सम्बन्ध माना जाने लगा था।

(5) रीति भद में वस्तु तत्त्व के साथ व्यक्ति तत्त्व का महत्त्व माना जाने लगा था।

दण्डी के पश्चात् काव्यशास्त्र में रीति–सिद्धान्त के उद्भावक वामन का आगमन हुआ। वामन के रीति सिद्धान्त का निरूपण आप पूर्व इकाई 12.2 में विस्तार से पढ़ चुके हैं।

12.4 वामन से परवर्ती रीति विवेचन एवं चिन्तक

वामन के पश्चात् रीति को काव्य की आत्मा तो किसी ने घोषित नहीं किया, किन्तु रीति का विवेचन अनवच्छिन्न परम्परा के रूप में चलता रहा।

12.4.1 रुद्रट :–

वामन के पश्चात् रुद्रट ने रीति–विवेचन किया। संभवतः रुद्रट ने ही सर्वप्रथम रीतियों का सम्बन्ध रसों से स्थापित किया, उन्होंने रसानुकूल रीति–योजना को मान्यता दी। रुद्रट ने अपने काव्यालंकार में स्पष्ट कहा कि औचित्य का ध्यान रखते हुए वैदर्भो तथा पांचाली का प्रयोग प्रेयस, करुण, भयानक और अद्भत रस में तथा लाटी और गौड़ी का प्रयोग रौद्र रस में करना चाहिये। शेष रसों में रीति का कोई नियम निर्धारित नहीं किया जा सकता–

वैदर्भी–पांचाल्यौ प्रेयसि करुणे भयानकाद्भुतयोः।
लाटीयगौड़ीये रौद्रे कुर्याद् यथौचित्यम्।। – (काव्यालंकार, 15/20)

रसानुकूलता का सिद्धान्त मानते हुए भो रुद्रट ने केवल चार रीतियां मानी और समास के आधार पर आचार्य रुद्रट ने काव्यालंकार के द्वितीय अध्याय में 'शब्दार्थौ काव्यम्' काव्य का लक्षण किया है और नाम, आख्यान आदि रूप पंचधा शब्दोल्लेखपूर्वक नामों की दो वृत्तियाँ कही हैं, (1) समासवती (2) असमासवती। समासवती में तीन रीतियां हैं– पांचाली, लाटीया और गौडीया। इनमें क्रमशः लघु, मध्यम और लम्बे समास पाये जाते हैं अर्थात् पांचाली में दो–तीन पदों का समास, लाटीया में पाँच–सात पदों का समास और गौडीया में यथाशक्ति दीर्घ (लम्बे) समास होते हैं। एकमात्र वैदर्भो रीति, असमास में ;समास रहितद्ध होती हैः–

नाम्ना वृत्तिर्द्विधा भवति समासासमासभेदेन।
वृत्तेः समासवत्यास्तत्र स्युः रीतयस्तिस्रः।।
पांचाली लाटीया गौडीया चेति नामतोऽभिहिताः।
लघुमध्यायतविरचनसमासभेदादिमास्तत्र।। – (काव्यालंकार, 2/3–4)
"वृत्तेरसमासाया वैदर्भी रीतिरेकव।।" – (काव्यालंकार, 2/6/2)

काव्यालंकार के वृत्तिकार नेमिसाधु कहते हैं कि ये रीतियाँ अलंकार नहीं शब्दाश्रित गुण हैं– ''एताश्च रीतयो नालङ्काराः किं तर्हि, शब्दाश्रया गुणाः' इति। ऐसा प्रतीत होता है कि रुद्रट रीति की कल्पना पदरचना से आगे नहीं कर सके, रुद्रट ने ध्वनिवादियों क समान ही रीति को महत्त्व नहीं दिया।

12.4.2 भोजदेव–

सरस्वती कण्ठाभरण में भोजदेव ने मार्ग को रीति का बोधक माना हैः–

वैदर्भादिकृतः पन्थाः काव्ये मार्ग इति स्मृतः।
रीङ्गताविति धातोः सा व्युत्पत्या रीतिरिष्यते।। 2/27

भारतीय रीति विवेचन में भोजदेव ने दण्डी की तरह निर्भ्रान्त रूप से रीति को कविस्थिता अर्थात् कवि की विशिष्ट पद्धति या मार्ग कहा और रीतियों की संख्या 6 और गुणों (शब्दगुण एवं अर्थगुण दोनों) की संख्या 24 तक बढ़ाई। वैदर्भी तथा पांचाली की मध्यवर्तिनी 'अवन्तिका' नामक रीति उन्होंने मानी तथा 'मागधी' नाम की एक मिश्रित रोति मानी। सरस्वती कण्ठाभरण में भोजदेव ने कहा है कि शब्दालंकारों में एक अलंकार रीति भो है ''विदर्भादीनां वाक्यरचनावर्त्म रीतिः'' अर्थात् विदर्भादि देशों की वाक्यरचना का मार्ग ही रीति है। इसके छः भदों में असमस्तपदा वैदर्भी, पाँच–छः पदों के समास में पांचाली, यथाशक्ति समस्तपदा गौडीया, सभो की मध्यवर्तिनी रीति अवन्तिका, मिश्र रीति लाटीया और खण्डरीति मागधी कही जाती है– ''असमस्तपदा वैदर्भी। समस्तपंचषट्पदा पांचाली। यथाशक्तिसमस्तपदा गौडीया। वैदर्भादीनामन्तरालरीतिरावन्तिका। मिश्ररीतिर्लाटीया। खण्डरीतिर्मागधी'' । –श्रृंगारप्रकाश, पृ. 373

सरस्वतीकण्ठाभरण में षड्विध रीतियों का नाम निर्देश कर उनके लक्षण करते समय रीतियों को गुणों के साथ संयोजित किया है। जैसे– असमासा श्लेषादिनवगुणगुम्फिता विपंचीस्वरसौभाग्यवती वैदर्भी रीति है। पंचपदसमस्त, ओज–कान्त गुणविवर्जित पांचालीरीति होती है। समस्त, अत्युद्भटपदा, ओजः कान्ति गुणयुता गौडीया रीति जाननी चाहिये आदि आदि...।

यद्यपि भोज ने रीति को शब्दगुण और शब्दालङ्कारों में गिना है तथापि रीति के महत्त्व को स्वीकार किया है– 'रीतयो वाङ्मयप्राणाः ......'' अर्थात् रीतियाँ साहित्य का प्राण है। –सरस्वती कंठाभरण, पृ. 389

12.4.3 कुन्तक–

कुन्तक ने भो रीति को कवि स्वभाव मानकर रीति का नाम मार्ग रखते हुए उसकी संख्या अनन्त स्वीकार की।

यद्यपि कवि स्वभावभेदनिबन्धनत्वाद् अनन्तभेदभिन्नत्वमनिवार्यम्,
तथापि परिसंख्यातुमशक्यत्वात् सामान्येन त्रैविध्यमेवोपपद्यते।। –(वक्रोक्तिजीवित, प्रथम उन्मेष, 24, पृ. 87)

कुन्तक ने प्रादेशिक नामों की अपेक्षा कविप्रवृत्ति के विचार से तीन सामान्य रीतियों को बताया है। (1) सुकुमार मार्ग– सरल, सरस, मधुर एवं सहज स्वाभाविक अलंकारों से युक्त होता है। (2) विचित्र मार्ग– विशेष अलंकृत, वाग्वैदग्ध्यपूर्ण कलात्मक शैली वाला यत्नसाध्य मार्ग होता है। तथा (3) मध्यम मार्ग– इसमें उक्त दोनों की सन्तुलित विशेषताएं होती हैं।

सम्प्रति तत्र ये मार्गाः कवि प्रस्थान हेतवः।
सुकुमारो विचित्रश्च मध्यमश्चोभयात्मकः।। – वक्रोक्तिजीवित, 24 पृ. 82

कुन्तक का यह रीति–निरूपण परम्परामुक्त है तथा सप्रयत्न कला सज्जा और सहज स्वाभाविकता के दो बिन्दुओं तक सीमित है।

12.4.4 आनन्दवर्धन–

आचार्य आनन्दवर्धन ने रीति को 'संघटना' नाम दिया। सम्यक् घटना अर्थात् यथोचित पदरचना को रीति माना। आनन्दवर्धनाचार्य ने समास की दृष्टि से संघटना के तीन रूप

माने–
(1) असमासा, (2) मध्यमसमासा और (3) दीर्घसमासा। इस प्रकार रीति क स्वरूप का आधार तो समास को माना तथापि तीन प्रकार की संघटना रीति को माधुर्यादि गुणाश्रित तथा रसाभिव्यक्ति का माध्यम माना–

''असमासा समासेन मध्यमेन च भूषिता।
तथा दीर्घसमासेति त्रिधा संघटनोदिता।।'' ध्वन्यालोक, 3/5

''गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती माधुर्यादीन् व्यनक्ति सा।
रसान्......................।।'' ध्वन्यालोक, 3/6

ध्वनिवादी रीतियों को वृत्तिस्थानीय मानकर उसे काव्य के बहिरंग तत्त्व के रूप में व्यवस्थित कर देते हैं। रीति को शब्दालंकार से भो बाह्य अनुप्रासादि वर्णालंकार के समकक्ष मानते हैं:–

''शब्दालंकारेभ्योऽपि यो बाह्यो वर्णालंकारोऽनुप्रासः तत्समकक्षका एता रीतयः''।

ध्वनिवादी रीतियों को वर्णसंघटना का धर्म मानते हैं।

ध्वनिकार का मानना है कि अलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि संघटना में भो होता है। संघटना उक्त तीन प्रकार की है और कोई भो संघटना किसी भो रस में हो सकती हे, वह गुणाश्रित है। किन्तु दोनो एक नहीं है, **''अन्ये गुणा अन्या च संघटना''** ध्वन्यालोक, पृ. 375

संघटना के नियम में वक्ता, कवि, कविनिबद्ध वक्ता ही हेतु हैं। वे रसभाव समाहित भो हो सकते हैं, अन्यथा भो। किसी भो रस में किसी से भो किसी प्रकार की संघटना का सहारा लिया जा सकता है।

ध्वनिवादी मानते हैं कि रीतियों में ध्वनितत्त्व, भले ही अस्फुट था या वामन जैसे रीतिवादी आचार्य उसे ध्वनि नहीं कह पाये। अस्फुट स्फुरित ध्वनितत्त्व को रीति कहने का तात्पर्य यह मानना है कि रीतियाँ रससमर्पक हैं। रीतियों को वृत्तिकल्प मानना एक विरोधाभाव है क्योंकि ध्वनिवादी मत में भो रीति और गुण में कोई भद नहीं है। गुणों में ही आत्मा निखरती है और जब रीतिवादी रीति को काव्य की आत्मा मानता है तब लोकजीवन के जुड़ाव की दृष्टि से दोनों गुण और रीति में भद नहीं रह जाता।

12.4.5 जयदेव –

चन्द्रालोककार जयदेव ने अपने काव्यलक्षण में 'रीति' शब्द का समावेश किया है:–

निर्दोषा लक्षणवती सरीतिर्गुणभूषणा।
सालङ्काररसानेकवृत्तिर्वाक्काव्यनामभाक्।। चन्द्रालोक, 1/7

चन्द्रालोक के चतुर्थ मयूख में जयदेव ने दस गुणों की सुस्पष्ट व्याख्या की है।

12.4.6 राजेश्वर –

राजशेखर ने ''वचनविन्यासक्रमो रीतिः'' (काव्यमीमांसा अध्याय 3) अर्थात् वचन विन्यास का क्रम रीति है ऐसी परिभाषा दी। जो वामन कृत परिभाषा से भिन्न नहीं है, शब्दों का अन्तर अवश्य है।

राजशेखर ने समास के साथ अनुप्रास को भो रीति का मूल तत्त्व माना और तीन नये आधार तत्त्वों की सर्जना की– वैदर्भा योगवृत्ति, पांचाली उपचारवृत्ति और गौडीया योगवृत्ति परम्परा।

12.4.7 मम्मट –

आचार्य मम्मट ने तीन वृत्तियों– (1) उपनागरिका (2) परुषा तथा (3) कोमला को स्वीकार करते हुए स्पष्ट किया है कि पूर्ववर्ती आचार्यो ने इन्हें ही क्रमशः वैदर्भा, गौड़ीया तथा पांचाली रीति नाम दिया है–

एतास्तिस्रो वृत्तयो वामनादीनां मते वैदर्भी–गौड़ीया–
पांचालाख्या रीतयः उच्यन्ते। – (काव्यप्रकाश उल्लास 9, श्लोक 80)

और वृत्ति को 'नियम वर्णों का रसानुकूल व्यापार' कहकर परिभाषित किया है– ''वृत्तिर्नियतवर्णगतो रसविषयो व्यापारः'' (काव्यप्रकाश)। मम्मट ने वर्ण–गुम्फ और गुण दोनों को रीति का नियामक माना है और इस रीति की सार्थकता रसाभिव्यंजना में मानी है।

12.4.8 विश्वनाथ –

आचार्य विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में रीति की परिभाषा इस प्रकार दी है–

'पदसंघटनारीतिरंगसंस्थाविशेषवत्। उपकर्त्री रसादीनाम्'' (साहित्यदर्पण, 9/1)। अर्थात् पदसंघटना ही रीति है। मुख आदि अवयव (अङ्ग) संस्थान (शरीर गठन) विशेषवत् रीति काव्य का अंग संस्था विशेष है। यह रस आदि का उपकार करने वाली है। जिस प्रकार अंगसंस्थान बाह्य होने पर भो आत्मा का उत्कषवर्धक है उसी प्रकार पद संघटना रीति बाह्य अवयव होने पर भो काव्यात्मभ्त रस की उपकारक है।

आचार्य विश्वनाथ वैदर्भी, गौडी ओर पांचाली इन तीन रीतियों में लाटी को लेकर चार रीतियाँ मानते हैं–

माधुर्यव्यंजकैर्वर्णैः रचना ललितात्मिका।
अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा वैदर्भीरीतिरिष्यते।। साहित्यदर्पण, 9/1

ओजः प्रकाशकैर्वर्णैर्बन्ध आडम्बरः पुनः।
समासबहुला गौडी, वर्णैः शेषैः पुनर्द्वयोः।। 9/2

समस्तपंचषट्पदो बन्धः पांचालिका मता।
लाटी तु रीतिवैदर्भीपांचाल्योरन्तरे स्थिता।। 9/3

12.4.9 विद्यानाथ –

प्रतापरुद्रीय में रीति के विषय में कहते हैं–

''आत्मोत्कषवहास्तत्र स्वभावा इत रीतयः।''

प्रतापरुद्रीय, 1/3

उनके मत में रीतियाँ आहार्य शोभा हैं–

''शोभामाहार्यिकीं प्राप्त रतियो रीतयस्तथा''

– प्रतापरुद्रीय, 1/4

वे रीतियों का वृत्तियों में अन्तर्भाव नहीं मानते हैं–

''वैदर्भीप्रभृतयो रीतिविशेषाः न वृत्तिष्वन्तर्भूताः''

– वही, पृ. 35

12.5 रीतिसिद्धान्त एवं अन्य काव्यशास्त्रीय सम्प्रदाय

12.5.1 रीति और अलंकार–

अलंकार सिद्धान्त और रीति सिद्धान्त काव्य का सौन्दर्य शब्दार्थ में निहित है ऐसा मानते हैं तथा दोनों ही अलंकार को शब्दार्थ के सौन्दर्य का कारण मानते हैं किन्तु अलंकार सम्प्रदाय के भामह से रुद्रट तक के आचार्यो ने अलंकार का व्यापक अर्थ करते हुए अलंकार की परिभाषा में गुण, रीति, रस, अलंकार आदि सौन्दर्य विधायक समस्त तत्त्वों को सम्मिलित किया है। अतः इस परिप्रेक्ष्य में गुण भो अलंकार हो जाएंगे।

रीतिवादी वामन ने सौन्दर्य को अलंकारत्वेन स्वीकार करते उसके दो भद हुए किये हैं– गुण और अलंकार। इनमें माधुर्यादि गुणों को सौन्दर्य का मूल कारण और नित्य धर्म माना है तथा उपमादि जो अलंकार हैं उन्हें उस शोभा के उत्कर्षाधायक अनित्य धर्म स्वीकार किया है।

रीतिवाद में जहां गुण एवं गुण से भिन्न रीति की प्रधान स्थिति एवं महत्ता है वहीं उपमादि अलंकारों की स्थिति अपेक्षाकृत गौण एवं हीन है। रीति में रचना का सौन्दर्य व्यवस्थित रूप से होता है और अलंकार में स्फुट सौन्दर्य विधायक तत्त्व प्रधान होते हैं।

वामन ''सौन्दर्यमलङ्कारः'' अर्थात् अलंकार को सौन्दर्य का पर्याय मानते हैं। ''काव्यं ग्राह्यमलंकारात्'' की घोषणा करते हैं कि काव्य अलंकार सम्पन्न होकर ही काव्य हो सकता है। इस प्रकार अलंकार का व्यापक अर्थ स्वीकार करते हैं। किन्तु अलंकार का संकुचित अर्थ स्वीकार करके ही अलंकार को काव्य का अनित्य धर्म मानते हैं अनिवार्य धर्म नहीं। इस प्रकार की स्थिति के कारण ही वामन का रीति सिद्धान्त परवर्ती आलोचना का विषय भो बना।

12.5.2 रीति और वक्रोक्ति –

जिस प्रकार रोति और अलंकारवादी देहवादी हैं तथैव वक्रोक्ति सिद्धान्त भो देहवादी है। इस सिद्धान्त में भो शब्दार्थ के चमत्कार को ही स्वीकार किया गया है। वक्रोक्ति का अर्थ है वक्र रूप से कहना। काव्य की दृष्टि से देखें तो कवि की प्रतिभाजन्य उक्ति का चारुत्व ही वक्रोक्ति है।

वक्रोक्ति सिद्धान्त में इस चारुत्व को छः प्रकार का बताया गया है–

(1) वर्ण वक्रता

(2) पदपूर्वार्द्धवक्रता

(3) पदपरार्धवक्रता

(4) पर्यायविशेषवक्रता

(5) प्रत्यय वक्रता

(6) प्रबन्ध वक्रता

इस भद से स्पष्ट है कि वक्रोक्ति काव्य की वर्णन शैली और भाषाशैली दोनों को अपने अर्थ में समाविष्ट किये हुए हैं।

रीति सिद्धान्त का क्षत्र इससे किंचित् संकुचित है रीति काव्य की भाषा शैली तक ही सीमित है और वक्रोक्ति भाषा व वर्णन दोनों शैली तक पहुंचती है।

कुन्तक के अनुसार रीति कवि का मार्ग है और वक्रोक्ति कवि का कम है। इस प्रकार रीति वक्रोक्ति का अंगमात्र है क्योंकि वक्रोक्ति के एक भाग का पूर्णरूप से रीति में संग्रहण होता है।

इन समानताओं के होते हुए भो रीति ओर वक्रोक्ति में एक महान अन्तर है। रीति सिद्धान्त में व्यक्तित्त्व की उपेक्षा है किन्तु वक्रोक्ति में कवि प्रतिभा के रूप में व्यक्तित्त्व की स्वीकृति है। इसका कारण ये भो हो सकता है कि कुन्तक के समय में आनन्दवर्धन के ध्वनि सम्प्रदाय की स्थापना हुई थी। यद्यपि वक्रोक्ति रीति की अपेक्षा रस सिद्धान्त के अधिक निकट है तथापि दोनों ही सिद्धान्त काव्य के बाह्यतत्त्व अभिव्यंजना से सम्बन्धित हैं। अभिनवगुप्त ने रीति और वक्रोक्ति को एक दूसरे का पर्यायवाची ही माना है। सारांशतः रीति और वक्रोक्ति एक दूसरे से सम्बन्धित तो है ही।

12.5.3 रीति और ध्वनि–

ध्वनि सिद्धान्त काव्य–आत्मवादी है और रीति सिद्धान्त काव्य–देहवादी है। आनन्दवर्धनाचार्य जो ध्वनि सिद्धान्त के प्रवर्तक है उनका मत है कि रीति में ध्वनि के उन संकेतों का उल्लेख भो प्राप्त होता है जो कि प्रच्छन्न हैं।

वामन ने व्यंजना की स्वीकृति, वक्रोक्ति को अर्थालंकार मानते हुए उसकी परिभाषा देते हुए ''सादृश्यलक्षणा वक्रोक्ति'' दी है। शब्दगुणों में वर्णध्वनि का संकेत प्राप्त होता है। आनन्दवर्धनादि ध्वनिवादियों ने रीति को संघटनारूप मानते हुए उसे गुणाश्रित माना है। गुणों की काव्य में नित्य एवं अचल स्थिति को भो ध्वनिवादी स्वीकार करते हैं।

चूंकि ध्वनिवादी रीति को गुणाश्रित मानते हैं और शब्दगुणों में वर्ण ध्वनि का संकेत प्राप्त होता ही है। इस प्रकार रीति का ध्वनि के साथ गौण रूप से सम्बन्ध है।

12.5.4 रीति और औचित्य –

औचित्य अपने आप में काव्यशास्त्र की एक महत्त्वपूर्ण विधा है। रीति को जहां संघटना माना जाता है वहीं रसौचित्य एवं गुणौचित्य भो स्वतः ही स्पष्ट हो जाते हैं। सांघटनिक रूप की सिद्धि रस एवं गुण के औचित्य बिना असम्भव है। किसी भो विचार का जब तक औचित्य ना हो, उस पर चर्चा किया जाना व्यर्थ है। अतः औचित्य की महत्ता असन्दिग्ध है। आनन्दवर्धनाचार्य ने रसौचित्य को रीति का प्रधान नियामक माना है।

रीति में जब औचित्य का समावेश हो जाता है तो उसके सौन्दर्य एवं उसकी शक्ति में गुणात्मक रूप में वृद्धि हो जाती है।

रीति की उपयोगिता कदाचित् समासों में वृद्धि के औचित्य से भो बढती है यथा– वीर और रौद्र रस में समासों की अधिकता और श्रृंगार में विरलता आदि के औचित्य से ही रीति की उपयोगिता बढ़ती है। इस प्रकार रीति का औचित्य से कोई विरोध नहीं है अपितु ये दोनों साथ–साथ काव्य में रहते हुए उसके उत्कर्षाधायक हेतु बनते हैं।

12.5.5 रीति और रस –

रीति सिद्धान्त में रस की स्वीकृति भो अवश्य है। काव्यशास्त्र के सभो सम्प्रदाय किसी न किसी रूप से गूढतया एक दूसरे से सम्बन्धित होते हैं। रस की दीप्ति रीति के प्रसाधन में सहायक है। वस्तुतः रीति गुणाश्रित है और गुण चित्तवृत्ति की पूर्णावस्था है और रस चित्तवृत्ति की उत्तरावस्था है।

दूसरे शब्दों म गुण रस की पूर्वस्थिति है और रस गुण की उत्तरस्थिति। गुण रसानुभ्ति की भ्मि प्रस्तुत करने के कारण रस के नित्य धर्म हैं। वर्ण तथा शब्द मनःस्थितियों के प्रतीक हैं और इनकी सार्थकता गुणानुरूप होना और परोक्षतः रसोपकारिता है।

इस प्रकार रीति रस के आश्रित है और उसके स्वरूप का निर्णय रस द्वारा ही होता है। अतः कह सकते हैं कि रीति सुन्दर शरीर–गठन के समान काव्यात्मा की उत्कषवर्धिका है।

12.6 पारिभाषिक शब्दावली

रीति	–	विशिष्ट पद रचना
विशिष्ट	–	गुणयुक्त
व्यपदेश	–	नामकथन
गुण	–	शब्द और अर्थ के वे धर्म जो काव्य की शोभा बढ़ाते हैं
चतुर्वर्ग	–	धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष
अनुस्यूत	–	निहित
पूर्ववर्ती	–	पहले होने वाले
परवर्ती	–	बाद में होने वाले

12.7 अभ्यासार्थ प्रश्न

बोध प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न

1. वामन के रीति सिद्धान्त को समझाइये।
2. वामन से पूर्ववर्ती रीति सिद्धान्त एवं चिन्तकों का परिचय दीजिये।
3. रीति की परिभाषा, भेद एवं गुणों को लिखिये।

बोध प्रश्न 1

वस्तुनिष्ठ प्रश्न–

1. रीतिवाद के अनुसार गुणों की संख्या है–

   (अ) 10 (ब) 24

   (स) 12 (द) 8 ( )

2. नाट्यशास्त्र के प्रणेता है–

   (अ) विद्यानाथ (ब) भरतमुनि

   (स) विश्वनाथ (द) मम्मट ( )

3. 'रीतिरात्मा काव्यस्य' किस काव्यशास्त्री द्वारा प्रदत्त परिभाषा है–

   (अ) वामन (ब) उद्भट

   (स) रूद्रट (द) भारवी ( )

बोध प्रश्न 2

लघूत्तरात्मक प्रश्न –

1. वामन प्रदत्त रीति के तीन भेदों के नाम बताइये।
2. बाणभट्ट ने कौन–कौन से सौन्दर्य की एकत्र स्थिति दुर्लभ बताई है ?
3. रीति के लिये 'मार्ग' शब्द का प्रयोग करने वाले आचार्य कौन थे?
4. वामन से परवर्ती तीन आचार्यों के नाम लिखिये।

बोध प्रश्नों के उत्तर

निबन्धात्मक प्रश्नों के उत्तर

1. इकाई 12.2 से स्वयं जांच करें।
2. इकाई 12.3 में देखें
3. इकाई 12.2 में यथास्थान देखें।

बोध प्रश्न 1

वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर –

1. (अ)
2. (ब)
3. (अ)

बोध प्रश्न 2

लघुत्तरात्मक प्रश्नों के उत्तर –

1. वैदर्भी, गौडी, पांचाली
2. अर्थ सौन्दर्य, शब्द सौन्दर्य, अलंकार सौन्दर्य, अक्षरबन्ध सौन्दर्य
3. दण्डी
4. कुन्तक, आनन्दवर्धन, मम्मट

12.8 सारांश

रस, अलंकार और ध्वनि की तरह रीति सिद्धान्त के समर्थकों की तर्कसंगत परमपरा नहीं चलने से रीति सम्प्रदाय नहीं बन सका। रीति सिद्धान्त के प्रवर्तक वामन ने काव्यालंकारसूत्र एवं उसकी वृत्ति में रीति की परिभाषा, रीति के भेद, नामकरण, रीति और गुण के सम्बन्ध आदि की विस्तृत विवेचना की है। रीतियों तथा गुणों के स्वाभाविक सम्बन्ध के विचार ने

वामन के ''रीतिरात्मा काव्यस्य'' को महत्त्व प्रदान किया। वामन से पूर्ववर्ती काव्यशास्त्रियों में भरत ने नाट्यशास्त्र में आवन्ती, दाक्षिणात्या, पांचाली, औड्रमागधी आदि प्रवृत्तियों तथा कैशिकी, सात्वती, आरभटी, भारती आदि वृत्तियों तथा दस दोषों और दस गुणों का निरूपण किया है जिससे काव्य एवं नाट्यगत भाषा विशेषताओं की पूर्ण जानकारी के प्रमाण मिलते हैं।

भामह के समय तक गौड़–विदर्भ आदि रीतियाँ प्रादेशिक आधार पर प्रचलित रहीं।

दण्डी आदि ने अलंकार, गुण दोष, मार्ग, रीति का विवेचन किया। तदनन्तर रस का विवेचन होने से रीतियों और गुण का सहृदय की चित्तवृत्तियों के आधार पर विवेचन हुआ। कुन्तक ने वक्रोक्ति जीवित में रीति को कवि–स्वभाव माना।

इस इकाई में रीति सिद्धान्त की व्याख्या, वामन से पूर्ववर्ती एवं पश्चातवर्ती रीति विषयक वर्णन तथा अन्य काव्य शास्त्रीय सम्प्रदायों के साथ रीति सिद्धान्त के सम्बन्ध की चर्चा की गई है।

12.9 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. काव्यालङ्कारसूत्राणि, (वामनाचार्य), सम्पा. नारायणराम आचार्य, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1983.
2. भारतीय काव्यशास्त्र, रामचन्द्रवर्मा, अनिता प्रकाशन, चरखेवालान, दिल्ली, 1987.
3. काव्यप्रकाश, (मम्मट) सम्पा. विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणी, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, 2006.
4. काव्यशास्त्रीय निबन्ध, डॉ. कृष्णदेव झारी, शारदा प्रकाशन, नई दिल्ली
5. रसाभिव्यक्ति, डॉ. दशरथ द्विवेदी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 2001.
6. श्रृंगार प्रकाश – (भोजदेव), सम्पा. रेवा प्रसाद द्विवेदी, कालिदास संस्थानम्, वाराणसी, 2007.
7. सरस्वतीकण्ठाभरण – (भोजदेव), सम्पा. कमेश्वरनाथ मिश्र, चौखम्भा, ओरिएण्टालिया, वाराणसी, 2006.
8. साहित्य दर्पण – (विश्वनाथ), सम्पा. शेषराजशर्मा, चौखम्भा कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, 2007.
9. वक्रोक्तिजीवितम् – (कुन्तक), सम्पा. डॉ. दशरथ द्विवेदी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 1988.
10. नाट्यशास्त्र (भरत), सम्पा. पारसनाथ द्विवेदी, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, 2001.
11. हर्षचरित (बाणभट्ट) सम्पा. बालगोविन्द, चौखम्भा कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, 1994.
12. काव्यालंकार (भामह), सम्पा. बटुकनाथ एवं बलदेव उपाध्याय, चौखम्भा पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, 2002.
13. काव्यादर्श (दण्डी) सम्पा. शिवनारायण शास्त्री, परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 1990.
14. काव्यालंकार (रुद्रट), सम्पा. सत्यदेव चौधरी, परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 1990.
15. ध्वन्यालोक (आनन्दवर्धन), अभिनव विरचित लोचन टीका रहित, सम्पा. गंगासागर राय, चौखम्भा संस्कृत भवन, वाराणसी, 2004.

इकाई–13

वक्रोक्ति सिद्धान्त : प्रमुख ग्रन्थ एवं चिन्तक

इकाई की रूपरेखा

13.0 उद्देश्य
13.1 प्रस्तावना
13.2 वक्रोक्ति सिद्धान्त : प्रमुख ग्रन्थ एवं चिन्तक
13.2.1 वक्रोक्तिजीवितम् ग्रन्थ एवं ग्रन्थकार कुन्तक का परिचय
13.2.2 वक्रोक्ति का स्वरूप
13.2.3 कविप्रस्थान के तीन मार्ग
13.2.4 वक्रता के छः प्रकार
13.2.4.1 वर्णविन्यास वक्रता
13.2.4.2 पद–पूर्वार्द्ध वक्रता
13.2.4.3 पदपरार्द्धवक्रता
13.2.4.4 वाक्य वक्रता
13.2.4.5 प्रकरण वक्रता
13.2.4.6 प्रबंध वक्रता
13.2.5 कुन्तक के वक्रोक्ति सिद्धान्त की काव्य शास्त्र को देन
13.3 वक्रोक्ति को सर्वालङ्कार सामान्य मानने वाले आचार्य
13.3.1 भामह (काव्यालंकार)
13.3.2 आनन्दवर्धन (ध्वन्यालोक)
13.3.3 अभिनवगुप्त (लोचनटीका)
13.3.4 दण्डी (काव्यादर्श)
13.3.5 भोजराज (शृंगारप्रकाश)
13.4 वक्रोक्ति को एक अलङ्कारमात्र मानने वाले आचार्य
13.4.1 वामन (काव्यालंकार सूत्रवृत्ति)
13.4.2 रूद्रट (काव्यालंकार)
13.4.3 मम्मट (काव्यप्रकाश)
13.4.4 विश्वनाथ (साहित्य दर्पण)
13.5 अन्य आचार्यों के वक्रोक्ति उल्लेख
13.5.1 बाणभट्ट
13.5.2 रूय्यक
13.5.3 विद्यानाथ
13.5.4 अप्पय दीक्षित
13.6 वक्रोक्ति एवं अन्य सिद्धान्त
13.6.1 वक्रोक्ति और अलंकार
13.6.2 वक्रोक्ति और रीति
13.6.3 वक्रोक्ति और ध्वनि
13.6.4 वक्रोक्ति और रस
13.6.5 वक्रोक्ति ओर औचित्य
13.6.6 स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति
13.7 पारिभाषिक शब्दावली
13.8 अभ्यासार्थ प्रश्न
13.9 सारांश
13.10 संदर्भ ग्रंथ सूची

13.0 उद्देश्य

एम.ए. (पूर्वार्द्ध) संस्कृत के चतुर्थ प्रश्न–पत्र की 13वीं इकाई 'वक्रोक्ति सिद्धान्त : प्रमुख ग्रन्थ एवं चिन्तक' के अध्ययन से विद्यार्थी निम्न उद्देश्यों की पूर्ति कर सकेंगे :–

- आचार्य कुन्तक प्रतिपादित वक्रोक्ति सिद्धान्त का अर्थ एवं स्वरूप समझ सकेंगे।
- वक्रोक्ति को अलंकार सामान्य मानने वाले आचायो तथा वक्रोक्ति को एक अलंकार मात्र मानने वाले आचार्यों के मत जान सकेंगे।
- वक्रोक्ति सिद्धान्त में रस की स्थिति का आकलन कर सकेंगे।
- वक्रोक्ति और अलंकार : वक्रोक्ति और रीति : वक्रोक्ति और ध्वनि आदि की परस्पर तुलना को समझ सकेंगे।

13.1 प्रस्तावना

भारतीय काव्य शास्त्र की परम्परा लगभग ढाई हजार वर्ष पुरानी है। भरत का नाट्य शास्त्र ईसा की प्रथम या द्वितीय शताब्दी की रचना है। भरत मुनि का नाट्यशास्त्र भो अपने मूल रूप में 'सूत्र काल' (ईसा पूर्व 5वीं–6ठी शताब्दी) की रचना मानी जाती है। भरत मुनि ने अपने से पूर्ववर्ती काव्यशास्त्र परम्परा में ब्रह्मा, नन्दिकेश्वर, तुण्ड, वासुकि आदि आचार्यों का उल्लेख किया है, इससे स्पष्ट है कि भारतीय काव्य शास्त्र की परम्परा भरतमुनि से भो प्राचीन है।

प्राचीन काव्यशास्त्र के ऐतिहासिक विकास क्रम को प्रायः चार युगों में देखा जा सकता है :–

(1) प्रागैतिहासिक काल में भरतमुनि के नाट्यशास्त्र तक का काल भारतीय काव्यशास्त्र के उद्भव और रस सिद्धान्त तथा नाट्य सिद्धान्तों का निर्माण काल कहा जा सकता है।

(2) ईसा की चतुर्थ–पंचम शताब्दी से दशम शताब्दी तक का समय काव्यात्मा की गवेषणा और विभिन्न सिद्धान्तों के वाद–विवाद तथा व्याख्या और विवेचना का युग रहा। इसी समय अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि आदि काव्य सिद्धान्तों की स्थापना हुई।

(3) दसवीं–ग्यारहवीं शताब्दी से अठाहरवीं शताब्दी तक आचार्य मम्मट से पण्डितराज जगन्नाथ तक का समय एक समन्वय का युग रहा, तब तक अलंकार और अलंकार्य का भद स्पष्ट हो गया था और रस–ध्वनि में सभो सिद्धान्तों के समन्वय की प्रवृत्ति विकसित हुई थी।

(4) बीसवीं शताब्दी में भारतीय काव्यशास्त्र के नवनिर्माण और पुनरुत्थान के कई प्रयोग हुए जिनमें प्राचीन सिद्धान्तों की नई व्याख्याएँ विभिन्न भाषाओं में हुई।

भारतीय काव्य–शास्त्र में छः प्रमुख काव्य सिद्धान्तों का उदय हुआ–

1. **रस सिद्धान्त**– भरतमुनि द्वारा प्रवर्तित तथा रुय्यक, विश्वनाथ द्वारा समर्थित।
2. **अलंकार सिद्धान्त**– भामह द्वारा प्रवर्तित तथा दण्डी, रुद्रट आदि द्वारा समर्थित।
3. **रीति सिद्धान्त**– वामन द्वारा प्रवर्तित।
4. **ध्वनि सिद्धान्त**– आनन्दवर्धन द्वारा प्रवर्तित तथा अभिनवगुप्त, मम्मट आदि द्वारा समर्थित।
5. **वक्रोक्ति सिद्धान्त**– कुन्तक द्वारा प्रवर्तित।
6. **औचित्य सिद्धान्त**– क्षेमेन्द्र द्वारा प्रतिष्ठापित।

इनमें से रस, अलंकार तथा ध्वनि, सिद्धान्त प्रवर्तित तथा समर्थित होने से 'सम्प्रदाय' के रूप में जाने गये– रस सम्प्रदाय, अलंकार सम्प्रदाय, ध्वनि सम्प्रदाय। रीति तथा वक्रोक्ति सिद्धान्त प्रवर्तित मात्र होने किन्तु उत्तरवर्ती काल में अधिक समर्थन प्राप्त नहीं होने से सिद्धान्त कहलाए– रीति सिद्धान्त, वक्रोक्ति सिद्धान्त। औचित्य प्रतिष्ठापित वाद या विचार की सरणि में गिना जाने लगा।

प्रस्तुत इकाई में आप कुन्तक द्वारा प्रवर्तित वक्रोक्ति सिद्धान्त के बारे में जानकारी प्राप्त करेंगे।

13.2 वक्रोक्ति सिद्धान्त : प्रमुख ग्रन्थ एवं चिन्तक

इस इकाई में कुन्तक विरचित वक्रोक्तिजीवितम् ग्रन्थ के आधार पर वक्रोक्ति सिद्धान्त का विवेचन किया जाएगा। साथ ही भामह विरचित काव्यालंकार; आनन्दवर्धन रचित ध्वन्यालोकः, अभिनवगुप्त कृत लोचन टीका; दण्डी रचित काव्यादर्श, भोजराज कृत श्रृंगारप्रकाश; वामन कृत काव्यालंकारसूत्रवृत्ति; रुद्रट कृत काव्यालंकार; मम्मट कृत काव्यप्रकाश आदि प्रमुख ग्रन्थों में प्राप्त वक्रोक्ति सिद्धान्त के संकेतों को भो इस इकाई में प्रस्तुत किया गया है तथा वक्रोक्ति सिद्धान्त और अन्य सिद्धान्तों का परस्पर सम्बन्ध भो व्यक्त किया गया है। सर्वप्रथम वक्रोक्तिजीवितम् ग्रन्थ एवं ग्रन्थकार कुन्तक का परिचय प्रस्तत किया जा रहा है।

13.2.1 वक्रोक्तिजीवितम् ग्रन्थ एवं ग्रन्थकार कुन्तक का परिचय

वक्रोक्तिकार के कुन्तलक और कुन्तक दोनों नाम उपलब्ध हैं किन्तु वक्रोक्तिकार के रूप में कुन्तक नाम प्रसिद्ध हुआ। प्रकृत ग्रन्थ वक्रोक्तिजीवितम् आचार्य कुन्तक की कृति है, जिसे आचार्य ने कारिका और वृत्ति रूप में लिखा है। वर्तमान में जो वक्रोक्ति जीवित ग्रन्थ प्राप्त हैं उसमें चार उन्मेष है तथा तीन भाग प्राप्त हैं– (1) कारिका भाग, (2) वृत्ति भाग तथा (3) उदाहरण भाग। कारिका को समझने हेतु वृत्ति लिखी तथा सिद्धान्त को समझने के लिये अनेक उदाहरणों द्वारा स्वसिद्धान्त को पुष्ट किया है। कुन्तक ने कारिका के अतिरिक्त अपने वृत्ति भाग में बीच–बीच में स्वरचित श्लोक भो दिये हैं जिन्हें अन्तरश्लोक नाम दिया है।

ग्रन्थ के अभिधान का कथन करते हुए आचार्य कुन्तक कहते हैं कि यद्यपि अनेक काव्यालंकार ग्रन्थ हैं किन्तु लोकोत्तर चमत्कारी वैचित्र्य की सिद्धि के लिये, विशेष प्रकार के आह्लादकारी वैचित्र्यभाव की निष्पत्ति के लिये यह काव्यालंकार ग्रन्थ लिखा जा रहा है–

''लोकोत्तरचमत्कारवैचित्र्यसिद्धये।
काव्यस्यायमलङ्कारः कोऽप्यपूर्वो विधीयते।।2।।

उपमा आदि समस्त अलंकारों को एकमात्र वाक्यवक्रता में अन्तर्निहित कर उपमादि प्रमेय समूह को ग्रन्थ का अभिधेय कहा है– ''उपमादिप्रमेयजातमभिधेयम्''।

अलंकारों का अन्तर्भाव करने वाले वाक्यों का वक्रभाव हजारों प्रकार का हो सकता है।

वक्रोक्तिजीवितम् ग्रन्थ का प्रयोजन बताते हुए ग्रन्थकार कुन्तक ने नवीनता प्रदर्शित की है। कुन्तक ने अलंकार ग्रन्थ का प्रयोजन अलग बताया है और अलङ्कार्य काव्य का प्रयोजन अलग से बताया है। अलङ्कार ग्रन्थ का प्रयोजन है सामान्य आह्लाद को उत्पन्न करने वाले वैचित्र्य की सिद्धि। अलङ्कार्यभ्त काव्य का प्रयोजन बताते हुए कहा कि –

धर्मादिसाधनोपायः सुकुमारक्रमोदितः।
काव्यबन्धोभिजातानां हृदयाह्लादकारकः।।3।।

व्यवहारपरिस्पन्दसौन्दर्यं व्यवहारिभिः।
सत्काव्याधिगमादेव नूतनौचित्यमाप्यते।।4।।

चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम्।
काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते।।5।।

(1) काव्य का प्रथम प्रयोजन होता है कि वह धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप पुरुषार्थ चतुष्टयसिद्धि का उपाय होता है।

(2) काव्य का दूसरा प्रयोजन है उसका समुचित व्यवहार का बोध कराने में सहायक होना। यथा राजा, भत्यादि का अनुकरणीय व्यवहार।

(3) काव्य का सबसे महत्त्वपूर्ण प्रयोजन है उसके आस्वाद से सहृदयों को तत्काल आनन्द की अनुभ्ति कराना।

आचार्य कुन्तक चूंकि इस ग्रन्थ के प्रणेता हैं अतः हमें उनके कालनिर्धारण के बारे में भो विचार कर लेना चाहिये।

कुन्तक का काल

आचार्य कुन्तक का एकमात्र ग्रन्थ 'वक्रोक्तिजीवितम्' उपलब्ध होता है जो कि अपूर्ण एवं खण्डित है। अतः ग्रन्थ की समाप्ति पर काल इत्यादि का निर्देश कवि ने किया था या नहीं, यह पता नहीं चल पाया है। परवर्ती ग्रन्थों में उनके उल्लेख से उनकी काल गणना की जा सकती है–

(1) ध्वन्यालोक की कारिका का उल्लेख कुन्तक ने अपनी रचना में किया है एवं कई स्थलों पर वृत्तिभाग के उदाहरण भो दिये हैं। ध्वन्यालोक के कारिकांश एवं वृत्यंश दोनों से पूर्णतः परिचित होने से स्पष्ट है कि वे आनन्दवर्धन के परवर्ती थे।

(2) राजशेखर का एक विचित्रमार्गानुयायी कवि के रूप में आचार्य कुन्तक ने नामोल्लेख भो किया है। अन्य कई प्रमाणों से भो कुन्तक के काल की पूर्व सीमा राजशेखर के बाद निर्धारित होती है। राजशेखर ने अपने तीनों रूपों में अपने आपको महेन्द्रपाल का गुरू बताया है। महेन्द्रपाल का पुत्र था महिपाल जो आर्यावर्त का सम्राट था। महेन्द्रपाल का काल 903–907 ई. तथा महिपाल का काल 917 ई. है। अतः राजशेखर का काल 903 ई. स्वीकार किया जा सकता है। इस आधार पर कुन्तक के काल की पूर्व सीमा 920 या 25 ई. के बाद ही निश्चित होती है।

(3) कुन्तक का नाम से कथन महिमभट्ट विद्याधर व नरेन्द्रप्रभ सूरी ने भो किया है। इन सबमें सबसे प्राचीनतम महिमभट्ट है और इसमें भो विद्वानों में दो मत नहीं है कि कुन्तक महिमभट्ट के पूर्ववर्ती थे। अन्य भो कई मत इस काल गणना के विषय में द्रष्टव्य है किन्तु अन्त में कुन्तक को राजशेखर ओर अभिनवगुप्त के मध्य दशम शतक में रखा जा सकता है।

कुन्तक का परिचय – आचार्य कुन्तक कश्मीरी एवं आचार्य अभिनवगुप्त के समसामयिक थे। कुन्तक परमशैव प्रतीत होते हैं। शिव की वन्दना में शक्ति और वैचित्र्याधायक शिव को नमस्कार किया है। कुन्तक ने चिद् रूप शक्ति और उसका परिस्पन्द काव्य रचना में उपयोगी माना है।

अब कुन्तक प्रतिपादित काव्य का स्वरूप बताते हुए काव्य का लक्षण दिया जा रहा है –

काव्य लक्षण

काव्य लक्षण को प्रस्तुत करते हुए कुन्तक अलङ्कृत शब्द और अर्थ को ही काव्य कहते हैं। यदि हम काव्य में अलङ्कार्य और अलङ्कार का विवेचन अलग–अलग करते हैं तो वह विशिष्ट बुद्धि के द्वारा।

शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि।।

सहृदयों को आह्लादित करने वाले एवं वक्रकविव्यापार से सुशोभित होने वाले वाक्यविन्यास में साहित्ययुक्त शब्द और अर्थ काव्य होते हैं। वस्तुतः कुन्तक का सम्पूर्ण ग्रन्थ इसी काव्यलक्षण की व्याख्या को प्रस्तुत करता है। इस काव्य लक्षण में पाँच तत्त्वों का कुन्तक ने कथन किया है।

(1) शब्द और अर्थ

(2) साहित्य

(3) वक्रकविव्यापार

(4) बन्ध और

(5) तद्विदाह्लादकारित्व

इसके पश्चात् शब्द और अर्थ और उनके साहित्य का व्याख्यान करने के बाद कुन्तक वक्रकाव्यव्यापार को प्रस्तुत करते हैं। इसके 6 विभदों का विस्तार से कथन किया है। कवि प्रस्थान के तीन मार्ग एवं उनमें निहित चार गुणों का भो कथन किया है। इस प्रकार वक्रोक्ति की स्थापना स्वतन्त्र सिद्धान्त के रूप में करने के उद्देश्य को लेकर वक्रोक्तिजीवितम् शास्त्र प्रवृत्त एवं समाप्त हुआ है।

13.2.2 वक्रोक्ति का स्वरूप–

आचार्य कुन्तक ने अपने ग्रन्थ का नाम 'वक्रोक्तिजीवितम्' रखा क्योंकि उन्होंने ही वक्रोक्ति को काव्य के जीवन के रूप में प्रतिष्ठित किया था।

वक्रोक्ति शब्द का अर्थ – वक्र+उक्ति – वक्रोक्ति। अर्थात वक्रता से कही जाने वाली बात। सर्वसाधारण लोगों के कथन से भिन्न एवं ;वक्रताद्ध अलौकिक चमत्कार से युक्त कथन वक्रोक्ति कहलाता है। सामान्य व्यक्ति अपनी बात को बहुत साधारण से शब्दों में कर्ता, क्रिया, कर्मादि लगाकर सीधे सीधे कह देता है किन्तु यदि कोई विशेष उद्देश्य से पृथक् और चमत्कारी कथन कहकर कोई विशेष अर्थ बताना चाहता हो, उस कथन को 'वक्रोक्ति' नाम से जाना जाता है। प्रसिद्ध कथन से भिन्न विचित्र अभिधा अर्थात् वर्णनशैली ही वक्रोक्ति है। कुन्तक ने वैदग्ध्यपूर्ण शैली द्वारा उक्ति ही वक्रोक्ति बताई है, यहाँ वैदग्ध्य का अर्थ है– विदग्धता, कवि की चारुता द्वारा उक्त पङ्क्ति वक्रोक्ति है।

वक्रोक्ति में जो वक्र पद पाया गया इसका अर्थ क्या है? विचार करें तो देखेंगे कि आचार्य कुन्तक न 10वीं कारिका में इसकी व्याख्या प्रस्तुत की है। शब्द और अर्थ दोनों ही अलंकार्य हैं किन्तु इनका अलंकार वक्रोक्ति ही है। वक्रोक्ति विदग्धभङ्गीभणिति को कहते हैंः–

उभावेतावलङ्कार्यौ तयोः पुनरलङ्कृतिः।
वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गीभणितिरुच्यते।।10।।

कुन्तक ने वक्रोक्ति की व्याख्या अपने ग्रन्थ में अनेकत्र की है।

1. वैदग्ध्यभङ्गीभणिति ही वक्रोक्ति है।
2. प्रसिद्ध कथन से भिन्न विचित्र अभिधा ही वक्रोक्ति है।
3. वैदग्ध्य की विच्छित्ति से विचित्र ही अभिधा वक्रोक्ति कही जाती है।
4. प्रसिद्ध प्रस्थान व्यतिरेकी, षट् प्रकार की वक्रता विशिष्ट कवि व्यापार ही वक्रोक्ति है।

चूंकि कुन्तक का ग्रन्थ वक्रोक्ति सिद्धान्त की स्थापना को लेकर प्रवृत्त हआ है। अतः अनेकत्र उन्होंने वक्रोक्ति को स्पष्ट किया है। इसकी वक्रता में ध्वनिकार का समस्त ध्वनि प्रपंच एवं प्राचीनों का गुण व अलंकार भो समाविष्ट है।

कुन्तक की दृष्टि में वक्रोक्ति– विचित्र अभिधा को समस्त शब्दार्थ सौन्दर्य अपने भोतर समेट लेता है इसीलिये इसका नाम विचित्र अभिधा है। इसके बावजूद भो कुन्तक ने इसे एक अलङ्कार ही माना है। शब्दार्थ है अलङ्कार्य। अलङ्कार्य को अलङ्कृत करने के लिये उससे अतिरिक्त किसी अन्य साधन को होना चाहिये और वह अन्य साधन है वक्रोक्ति। किन्तु ये अलङ्कार कहों से लाकर जोडा नहीं जाता प्रत्युत् वक्रत्ववैचित्र्यपूर्वक इनका अभिधान ही अलङ्कार है इसलिये कुन्तक कहते हैं कि जैसे लोक में कटक केयूर आदि का योग देखा जाता है वैसे ही काव्य का अलङ्कार से योग नहीं होता बल्कि काव्य अलङ्कृत होता ही है। वक्रोक्ति की व्याख्या करते हुए कुन्तक कहते हैं–

''वक्रोक्ति प्रसिद्धाभिधान व्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिधा। कीदृशी वैदग्धभंगी भणितिः वैदग्धं
विदग्धभावः, कविकम कौशलं तस्य भंगी विच्छित्तिः तया भाणितिः विचित्रैवाभिधा वक्रोक्तिरित्युच्यते।''

अर्थात् प्रसिद्ध कथन से भिन्न विचित्र वर्णनशैली ;अभिधाद्ध का नाम वक्रोक्ति है। यह विचित्र अभिधा कविकम की निपुणता से निष्पन्न होती है और उस निपुणता से ही इसमें विच्छित्ति का आधान होता है।

वक्रोक्ति के चार प्रमुख लक्षण –

वक्रोक्ति लोकव्यवहार तथा शास्त्र में प्रयुक्त शब्दार्थ की योजना से भिन्न कवि प्रतिभाजन्य चमत्कार के कारण सहृदय को आह्लादित करने वालो कथन शैली है। कुन्तक ने वक्रोक्ति के सहृदय–हृदयाह्लादकारि' गुण पर जोर दिया है। वह वक्र प्रयोग तभो वक्रोक्ति कहलाता है जबकि सहृदय या काव्यमर्मज्ञ व्यक्ति को आनन्दित करे। अतः कुन्तक की वक्रोक्ति के ये चार प्रमुख लक्षण कहे गये हैं–

1. यह लोक–व्यवहार में प्रचलित तथा शास्त्र–व्याकरण तथा कोश आदि में प्रयुक्त शब्दार्थ से भिन्न होती है।
2. इसकी विलक्षणता अथवा चमत्कार कवि प्रतिभाजन्य होता है।
3. इसका सम्बन्ध समस्त कविव्यापार अर्थात् रचना प्रक्रिया–वर्ण, पद, वाक्य, अर्थ, प्रसङ्ग तथा प्रबन्धनादि से है।
4. इसमें सहृदय के हृदय में आह्लाद उत्पन्न करने की क्षमता रहती है।

कुन्तक ने वक्रोक्ति को एक अलङ्कार कहा और इसके अभाव में काव्य की स्थिति स्वीकार ही नहीं की।

कुन्तक ने विचित्र कविव्यापाररूपा एवं सहृदयहृदयाह्लादिका वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा स्वीकार किया हालाँकि परवर्ती आचार्यों को ये काव्यात्मा वक्रोक्ति को कहना मान्य नहीं हुआ। किन्तु कुन्तक ने तो अपने मत को बहुत पुष्ट रूप में प्रस्तुत किया।

केवल वक्रोक्ति ही अलङ्कार है– कुन्तक का कहना है कि अलङ्कृत शब्द और अर्थ मिलकर ही काव्य होते हैं किन्तु जब हम साधारण बुद्धि से अलङ्कार्य और अलंकार का विभाजन करते हैं तो शब्द और अर्थ को तो हम अलङ्कार्य कहते हैं और शब्दार्थ युगल का अलंकार केवल एक वक्रोक्ति ही होती है। 'तयोः द्वित्वसंख्याविशिष्टयोरप्यलंकृतिः पुनरेकैव, यया द्वावप्यलङ्क्रियेते'।

13.2.3 कविप्रस्थान के तीन मार्ग

काव्य के विशेष लक्षण का विषय बताने के लिये मार्ग–भद के कारण होने वाले त्रैविध्य का कथन करते हुए आचार्य कुन्तक कहते हैं–

सम्प्रति तत्र ये मार्गाः कविप्रस्थानहेतवः।
सुकुमारो विचित्रश्च मध्यमश्चोभयात्मकः।।24।।

कवियों का प्रस्थान अर्थात् काव्य करने की प्रवृत्ति, उसके हेतु अर्थात् काव्य करने के कारणभ्त तीन मार्ग है–

1. सुकुमार मार्ग
2. विचित्रमार्ग
3. मध्यम मार्ग

तीन मार्ग संख्या देने के विषय में अनेक विप्रतिपत्तियाँ है। मार्गों का विवेचन करते हुए कुन्तक ने गौडी, वैदर्भा आदि रीतियों तथा उनके मार्गों का खण्डन किया है उनका कहना है कि यदि देश विदेश के आधार पर रीतियों का नामकरण किया जाए तो आनन्त्य दोष हो जाएगा। जैसे गौड से गौडी, पंचाल से पांचाली वैसे ही जितने देश उतनी रीतियाँ हो जाएंगी। अतः देशभद से रीतियों को जानना उचित नहीं।

काव्य की रचना किसी देश विशेष का धर्म नहीं होती। देश विशेष का धर्म तो वृद्धजनों की परम्परा पर आधारित होता है यथा किसी धर्म में ममेरी बहिन से विवाह उचित माना गया है तो किसी में अनुचित। अतः देशधर्म जिस प्रकार परिवर्तनीय होते हैं। उस प्रकार काव्यरचना की सहायिका रीतियाँ परिवर्तनीय नहीं होती। काव्य की रचना तो शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास पर आधारित होती है। शक्ति आदि को देश–विशेष का धर्म नहीं माना जा सकता। अन्यथा एक देश के सभो कवियो की शक्ति एक जैसी ही होनी चाहिये। किन्तु ऐसा देखने

में नहीं आता। अतः कह सकते हैं कि देश विशेष के आधार पर रीतियों का विभाजन जो किया गया है वह उचित नहीं है।

रीतियों को मार्गविभाग मानना उचित नहीं –

कुछ आचार्यों ने उत्तम, मध्यम और अधम भद से रीतियों का विभाजन कर दिया यथा–

(1)	वैदर्भी	–	उत्तम रीति मार्ग
(2)	गौडी	–	अधम रीति मार्ग
(3)	पांचाली	–	मध्यम रीति मार्ग

यदि इन तीन उत्तम–मध्यम–अधम मार्गों को काव्य की रचना का कारणभ्त मानें तो इसका निरसन करते हुए कुन्तक ने कहा है कि इस प्रकार के मार्ग त्रैविध्य की स्थापना करना उचित नहीं है। अन्यथा वैदर्भी के अतिरिक्त अन्य रीतियों का उपदेश किया गया तो व्यर्थ सिद्ध होगा क्योंकि ऐसा कौनसा कवि होगा जो जानते हुए भो उत्तम काव्य को छोडकर मध्यम और अधम में रीतियों रचना करेगा और ऐसा कौन सा पाठक होगा जो उत्तम काव्य को छोडकर मध्यम और अधम को पढ़ेगा। यदि कोई रचना सम्यक् रूप से काव्य कही जा सकती है तो वो उत्तम काव्य ही है क्योंकि काव्य वही होता है जो सहृदयाह्लादकारी हो और काव्यलक्षण में समन्वित हो।

कुन्तक के अनुसार – वह आह्लादकारित्व सहृदय के हृदय में संवेद्य होता है। उसे वाणी द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता। वह शब्द, अर्थ, और वक्रोक्ति इन तीनों के उत्कष से भिन्न उत्कष वाला होता है। सहृदयहृदय संवेद्य किसी अनिर्वचनीय सौकुमार्य से रमणीय होता है। कुन्तक ने मार्ग विभाजन का आधार कवि स्वभाव को स्वीकार किया है। जिस कवि का जैसा स्वभाव होता है वैसी ही उसकी शक्ति होती है और उसी शक्ति के अनुरूप उसके व्युत्पत्ति और अभ्यास होते हैं।

1. **सुकुमार मार्ग**– सुकुमार स्वभाव की सुकुमार शक्ति होती है क्योंकि शक्ति और शक्तिमान में अभद होता है। उस सुकुमार शक्ति और व्युत्पत्ति के आधार पर वह सुकुमार मार्ग के अभ्यास में लगता है और सुकुमार काव्य की रचना करता है।

सुकुमार मार्ग का कथन करते हुए कुन्तक ने, उसके लक्षण को प्रस्फुटित किया है–

अम्लानप्रतिभोद्भिन्ननवशब्दार्थबन्धुरः।

अयत्नविहितस्वल्पमनोहारिविभूषणः।।25।।

यत् किंचनापि वैचित्र्यं तत्सर्वं प्रतिभोद्भवम्।

सौकुमार्यपरिस्पन्दस्यन्दि यत्र विराजते।।28।।

सुकुमाराभिधः सोऽयं येन सत्कवयो गताः।

मार्गेणोत्फुल्लकुसुमकाननेनेव षट्पदाः।।29।।

तात्पर्य यह है कि कवि की ताजगीपूर्ण प्रतिभा से प्रकट नये शब्द और अर्थ से कोमल, अनायास निर्मित अल्प अलंकार वाली रचना सुकुमार है। सुकुमार मार्ग में सुकुमारताजन्य जो रमणीयता के द्वारा प्रवाहित होने वाला जो कुछ भो सहृदयहृदयाह्लादकारित्वरूप जो वैचित्र्य, शोभातिशय का पोषण करता है, वह सब कवि की प्रतिभा से ही उल्लसित होता है।

ऐसा वह सुकुमार नाम का मार्ग कुन्तक ने बताया है जिस मार्ग से कालिदास प्रभति महाकवि विकसित हुए फूलों के वन से गुजरने वाले भमरों के समान काव्य रचना में प्रवृत्त हुए हैं।

2. **विचित्र मार्ग**– विचित्र स्वभाव वाला कवि विचित्र काव्य को उत्पन्न करता है। तलवार की धार क समान यह मार्ग अति दुःसंचारयोग्य है। कुछ ही कवि इस मार्ग से जा सके हैं, इसमें पुरानी वस्तु भो भणितिवैदग्ध्यवशात् लोकोत्तर उत्कृष्टता तक पहुँच जाती है। इस मार्ग का कवि अपनी प्रतिभा के प्रसाद से वस्तु के अन्यथा रूप

को हृदयहारी दूसरे रूप में रूपान्तरित कर प्रस्तुत करने में सक्षम होता है। इसमें सरस अभिप्राय से युक्त पदार्थों का स्वरूप किसी लोकोत्तर वैचित्र्य से उत्तेजित करके प्रस्तुत किया जाता है। कुन्तक वक्रोक्तिजीवितम् में कहते हैं–

स्वभावः सरसाकूतो भावानां यत्र वध्यते।
केनापि कमनीयेन वैचित्र्येणोपबृंहितः।।41।।

विचित्रो यत्र वक्रोक्तिवैचित्र्यं जीवितायते।
परिस्फुरति यस्यान्तः सा काप्यतिशयाभिधा।।42।।

सोऽतिदुःसंचरो येन विदग्धकवयो गताः।
खङ्गधारापथेनेव सुभटानां मनोरथाः।।43।।

कवि ने यहां इस मार्ग की दुर्गमता तथा उस पर प्रस्थान करने वालों की विचरण की परिपक्वता का प्रतिपादन किया है। इस मार्ग के निपुण कवियों में कुन्तक ने बाणभट्ट, भवभ्ति व राजशेखर को गिना है। विचित्र मार्ग में माधुर्य, प्रसाद, ओज आदि गुणों के एकांश से भो वैचित्र्य बोधक सौन्दर्य की सृष्टि होती है। उसके कई उदाहरण कुन्तक ने वक्रोक्तिजीवितम् में प्रस्तुत किये हैं।

3. **मध्यम मार्ग**– मध्यम स्वभाव वाला कवि मध्यम काव्य को प्रस्तुत करता है। मध्यम मार्ग में सुकुमार और विचित्र दोनों की सम्मिलित विशेषताऐं विद्यमान रहती हैं। कुन्तक के अनुसार–

"मार्गोऽसौ मध्यमो नाम नानारुचिमनोहरः।
स्पर्धया यत्र वर्तन्ते मार्गद्वितय संपदः।।51।।

इसमें कवि की शक्ति व व्युत्पत्ति से सम्भव होने वाला सौन्दर्य पराकाष्ठा तक होता है और सुकुमार तथा विचित्र मार्ग के माधुर्यादि गुण इस मार्ग में मध्यमवृत्ति का आश्रयण करके किसी अपूर्व सौन्दर्य की सृष्टि करता है। इस मार्ग के कवियों में कुन्तक ने मातृगुप्त मायुराज व मंजीर का नाम ग्रहण किया है।

कुन्तक ने प्रसाद, माधुर्य, लावण्य, आभिजात्य गुणो के उदाहरण पूर्वक मध्यम–मार्ग का विवेचन कर मध्यम मार्ग के कवियों को विरला ही बताया।

13.2.4 वक्रता के छः प्रकार –

कुन्तक ने कवि व्यापार ;काव्य रचनाद्ध की वक्रता के मुख्य छः भद बताए हैंः–

(1) वर्णविन्यास वक्रता,

(2) पदपूर्वार्द्धवक्रता,

(3) पदपरार्धवक्रता,

(4) वाक्यवक्रता,

(5) प्रकरण वक्रता, तथा

(6) प्रबन्ध वक्रता।

13.2.4.1 वर्णविन्यास वक्रता–

वर्णों के विशेष गठन से निर्मित, काव्यवेत्ता को आह्लादित करने वाला शब्दों की शोभा का आधिक्य ही वर्णविन्यास वक्रता है।

कुन्तक के अनुसार– जिसमें एक दो या बहुत से वर्ण थोडे–थोडे अन्तर से बार–बार (उसी रूप में) गथित हों, वह वर्ण–विन्यास की वक्रता कहलाती है।

एको द्वौ बहवो वर्णा बध्यमाना पुनः पुनः।
स्वल्पान्तरास्त्रिधा सोक्ता वर्णविन्यासवक्रता।।2/1।।

यह अनुप्रास का ही रूप है। इसके तीन भद हैं–

(1) **वर्गान्त से युक्त स्पर्श** अर्थात् कवर्ग चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग तथा पवर्ग के प्रथम चार वर्णों का अन्तिम वर्ण ङ ण न म से योग का नाम वर्गान्त योग है जैसे गंगा, पंच, रत्न शम्भ आदि। इनकी आवृत्ति वर्ण–विन्यास वक्रता का प्रथम प्रकार है।

(2) **त ल न आदि की द्विरुक्ति** अर्थात् त ल और नकार आदि का दो बार उच्चरित होकर बार–बार निबद्ध होना दूसरा प्रकार है। जैसे पतित, तलना, सनातन आदि।

(3) इन दोनों ;स्पर्श तथा त ल न आदिद्ध से भिन्न शेष व्यंजन वर्णों का रेफआदि से संयुक्त रूप से निबद्ध होना तीसरा प्रकार है। व्रण, सूर्य आदि। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि इन तीनों प्रकार में पुनः पुनः निबद्ध व्यंजन थोडे–थोडे व्यवधान ;अन्तरद्ध से आने चाहिए।

इन सभो के उदाहरणों के लिये वक्रोक्तिजीवितम् ग्रन्थ के द्वितीय–उन्मेष का अवलोकन कर सकते हैं।

13.2.4.2 पद–पूर्वार्द्ध वक्रता–

वर्गों के समुच्चय का नाम पद है। वर्ण के उपरान्त पद काव्य का दूसरा अवयव है। कुन्तक ने इसे ठीक ही दूसरा स्थान दिया है। इस पद के दो अंग है– पूर्वार्द्ध और परार्द्ध।

व्याकरण में 'सुप्तिङन्तं पदम्' सुबन्त रामः आदि तथा तिङन्त गच्छति आदि को पद कहा गया है। प्रकृतिगत वक्रता को पद पूर्वार्द्ध वक्रता तथा प्रत्ययगत वक्रता को पदपरार्द्धवक्रता कहते हैं। पदपूर्वार्द्धवक्रता के प्रमुख आठ भद हैं–

(1) **रूढ़ि वैचित्र्यवक्रता** में कवि अपनी प्रतिभा के बल से रूढ़ अथवा लोक प्रचलित तथा शास्त्रनिबद्ध अर्थ में असम्भाव्य अर्थ का अध्यारोप करता है अथवा विद्यमान अर्थ का अतिशयपूर्ण वर्णन करता है। इसमें वक्रता का आधार रूढ़ि अथवा परम्परागत मान्यता का वैचित्र्य होता है।

(2) **पर्यायवक्रता** में चमत्कारपूर्ण तथा असम्भाव्य अर्थसूचक समानार्थवाची शब्दो का प्रयोग होता है।

(3) **उपचार–वक्रता** में भिन्न एवं दूरस्थ वस्तु की किसी वस्तु के साथ लेशमात्र सम्बन्ध में अभद स्थापना होती है। इसके कई रूप हैं– अमूर्त पर मूर्त का तथा अचेतन पर चेतन का आरोप आदि।

(4) **विशेषण–वक्रता** में विशेषण के विशिष्ट प्रयोग के कारण कारक अथवा क्रिया में चमत्कार की सृष्टि होती है।

(5) **संवृत्ति–वक्रता** में वैचित्र्य कथन के प्रयोजन से सर्वनाम आदि के प्रयोग द्वारा वस्तु गोपन किया जाता है।

(6) **वृत्तिवैचित्र्य–वक्रता** में समास, तद्धित तथा कृदन्त आदि व्याकरण की वृत्तियों के प्रयोगजन्य चमत्कार की सृष्टि होती है।

(7) **लिंगवैचित्र्य –वक्रता** में लिंग विषयक प्रयोगों के कारण चमत्कार की सृष्टि होती है।

(8) **क्रिया वक्रता** में क्रिया के प्रयोगों में चमत्कार होता है। इसके कई भद हैं– (क) क्रिया की कर्ता से अभिन्नता, (ख) कर्ता की अन्य कर्ताओं से विचित्रता, (ग) क्रिया विशेषण की विचित्रता, (घ) क्रिया के अनेक रूपों में उपचार (सादृश्य के कारण आरोप) विचित्रता तथा (ङ) क्रिया के कम आदि के संवरण की विचित्रता।

13.2.4.3 पदपरार्द्धवक्रता–

पद का परार्ध प्रत्यय होता है, अतः इसे प्रत्यय वक्रता भो कहते हैं। इसके छः प्रमुख भद कुन्तक द्वारा निरूपित हैं–

(1) **कालवैचित्र्य वक्रता** – में काल के प्रयोग पर वैचित्र्य आश्रित होता है।

(2) कारक वक्रता में कारकों के विपर्यय– कर्त्ता को कम या करण का रूप तथा कम या करण को कर्त्ता का रूप देने से अपूर्व चमत्कार की सृष्टि होती है।

(3) संख्या अथवा वचन वक्रता में वचन के विपर्यास– एक वचन के स्थान पर बहुवचन तथा बहुवचन के स्थान पर एकवचन के प्रयोग से चमत्कार की सृष्टि होती है।

(4) पुरुष वक्रता में पुरुष–विपर्यय अर्थात् उत्तम या मध्यम पुरुष के प्रतिकूल प्रयोग द्वारा चमत्कार की सृष्टि होती है।

(5) उपग्रह–वक्रता में औचित्य के कारण आत्मनेपदीय तथा परस्मैपदीय धातुओं में एक का ग्रहण रहता है और इस ग्रहण में ही चमत्कार निहित रहता है।

(6) प्रत्यय–वक्रता में एक प्रत्यय में दूसरा प्रत्यय लगाकर सौन्दर्य सृष्टि की जाती है।

13.2.4.4 वाक्य वक्रता

अनेक पदों के संयोजन से वाक्य का निर्माण होता है। वाक्य, वाच्य अथवा वस्तुगत वक्रता को सामान्यतः एक सा ही माना जाता है। वाक्य–वक्रता दो प्रकार की होती है– सहजा और आहार्या। सहजा के भो दो प्रकार होते हैं– स्वभाव प्रधान तथा रस प्रधान। वस्तुतः कवि द्वारा जब सहज शक्ति से वस्तुस्वभाव का सुंदर वर्णन किया जाता है तब वह सहजा वक्रता कहलाती है और आहार्य वक्रता तब प्रतीत होती है जब कवि द्वारा शिक्षा अभ्यास, व्युत्पत्ति से अर्जित वक्रता का आश्रय लेकर काव्य–सर्जन किया जाता है। इसमें अर्थालंकारों के प्रयोग को अंतभ्त किया जा सकता है।

13.2.4.5 प्रकरण वक्रता–

प्रकरण का अभिप्राय है– प्रबंध का एक देश (प्रबंधस्यैकदेशः)। समग्र कथा विधान प्रबंध होता है और उसके अंग, अवयव अथवा प्रसंग 'प्रकरण' कहलाते हैं। कथा विधानगत प्रकरणों में निहित काव्य–सौंदर्य प्रकरण वक्रता कहलाती है। इसके कुंतक ने निम्नांकित भद निरुपित किए हैं :

1. भावपूर्ण स्थिति की उद्भावना, 2. उत्पाद्य लावण्य, 3. प्रधान कार्य से संबद्ध प्रकरणों का उपकार्य– उपकारक भाव, 4. विशिष्ट प्रकरण की अतिरंजना, 5. जल क्रीड़ा आदि रोचक प्रसंगों का वर्णन, 6 प्रधान उद्देश्य की सिद्धि के लिए सुंदर अप्रधान प्रसंग की उद्भावना, 7 गर्भांक, 8. प्रकरणों में पूर्वापर अन्विति।

13.2.4.6 प्रबंध वक्रता

प्रबंध–वक्रता की परिधि व्यापक है। इसके अन्तर्गत प्रबंध काव्य, महाकाव्य, नाटक आदि का संपूर्ण वस्तु विन्यास अर्न्तभ्त हो जाता है। कुंतक ने इसके छह भद निरूपित किए हैं–

(1) मूल रस परिवर्तन– जहां कवि पुनरावृत्ति के प्रति असहिष्णु होकर आधारभ्त ऐतिहासिक कथावस्तु में अपनी मौलिक प्रतिभा से मूल रस में परिवर्तन करता है, वहां कुन्तक की प्रबन्धवक्रता का प्रथम रूप होता है।

(2) नायक के चरित्र का उत्कष करने वाली चरम घटना पर ही इतिहास प्रसिद्ध कथानक की समाप्ति प्रबन्धवक्रता का दूसरा रूप है।

(3) बीच में ही विछिन्न हो जाने के कारण नीरस–सी लगती हुई कथा के मध्य में किसी आकस्मिक प्रसंग की अवतारणा द्वारा प्रधान कार्य की सिद्धि तथा रस संचार प्रबन्धवक्रता का तीसरा रूप है।

(4) एक फल की प्राप्ति में तत्पर नायक को अपने माहात्म्य के चमत्कार से अनेक फलों की प्राप्ति के रोचक प्रसंगों की कल्पना द्वारा नायक के उत्कष की वृद्धि प्रबन्ध–वक्रता का चौथा रूप है।

(5) प्रधान कथा के द्योतक–चिह्न–रूप नामकरण का वैचित्र्य प्रबन्ध वक्रता का पांचवा रूप है।

(6) उद्‌देश्य अथवा तात्पर्य की विचित्रता के कारण अनेक कवियों द्वारा वर्णित कथा की नवीन दृष्टिकोण से प्रस्तुति प्रबन्धवक्रता का षष्ठ रूप है।

इस प्रकार कुन्तक के अनुसार कवि–प्रतिभा की वस्तुगत अभिव्यक्ति का नाम वक्रता है। कवि प्रतिभा के आनन्त्य के अनुसार वक्रता के भो अनन्त रूप है।

13.2.5 कुन्तक के वक्रोक्ति सिद्धान्त की काव्यशास्त्र को देन

कुन्तक ने काव्य के स्वरूप को स्पष्ट करने में जैसे कवि व्यक्तित्त्व के अवदान तथा सहृदय के आस्वादन को भो आधाररूप में ग्रहण किया है, वैसे ही वक्रोक्ति के भदों की मीमांसा में भो सर्वाङ्गीण दृष्टिकोण अपनाया है। वक्रोक्ति को व्यापक काव्यसिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित करने के लिये वर्ण विन्यास से लेकर विराट प्रबन्ध कल्पना तक तथा उपसर्ग, प्रत्यय आदि पदावयवों से लेकर महाकाव्य तक इसके स्वरूप को विस्तार से प्रतिपादित किया है।

कुन्तक ने जो वक्रोक्ति के छः भद एवं उनके भो उपभद प्रस्तुत किये हैं वे काव्यशास्त्र को एक अपूर्व देन हैं। वक्रोक्ति कवि की कविता में चैतन्य बनाए रखता है।

13.3 वक्रोक्ति को सर्वालङ्कार सामान्य मानने वाले आचार्य

13.3.1 भामह–

काव्य शास्त्र के आरम्भिक आचार्यों में दण्डी, भामह आदि आते हैं। इन्होंने काव्य की उक्तियों में सौन्दर्य, आकषण, शोभा आदि के समावेश के मूल कारण को 'अलङकार' कहा है। और उस अलंकार का मूल, वे काव्य में निहित अतिशयता एवं वक्रता में मानते हैं। भामह की वक्रोक्ति को अलङ्कार मानने की बात का समर्थन आनन्दवर्धन ने भो किया है। भामह ने अनेकधा वक्रोक्ति की चर्चा की है वे काव्य और अलंकार विशेष न कहकर वक्रोक्ति को काव्य का तत्त्व विशेष मानते हैं, जो काव्य के प्रतिप्रसङ्ग में अनुस्यूत रहता हो। वक्रोक्ति को काव्य का अपरिहार्य धर्म माना है। अतः वक्रोक्ति को भामह ने सर्वालङ्कार रूप माना है। उन्होंने अपने ग्रन्थ काव्यालङ्कार में इसको स्वीकार भो किया है–

सैषा सर्वेव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनयाविना।।

13.3.2 आनन्दवर्धन –

आनन्दवर्धन ने भो भामह के मत का समर्थन किया। उनका कहना है कि अतिशय योग काव्य में पाया जाता है और अतिशयोक्ति जिस अलङ्कार में दिखाई देती है उसमें चारुत्वातिशययोग दिखता है। जहां कवि प्रतिभा दिखाई नहीं देतो वहां अलङ्कार कथन मात्र के लिये होता है, ध्वन्यालोकवृत्ति में वक्रोक्ति को आनन्दवर्धन ने अतिशयोक्ति का पर्याय एवं सर्वालङ्कार रूप स्वीकार किया है। ''प्रथमं तावदतिशयोक्तिगभता सर्वालङ्कारेषु शक्य क्रिया। कृतैवचसा महाकविभिः कामपि काव्यच्छविं पुष्पति।...... भामहेनाप्यतिशयोक्तिलक्षणे यदुक्तं–सैषासर्वेव वक्रोक्तिः.....सैव **सर्वालङ्काररूपा** इत्ययमेवार्थोऽवगन्तव्यः।''

आनन्दवर्धन ने वक्रोक्ति का चमत्कार कवि प्रतिभाजन्य एवं विषयानुकूल ही स्वीकार किया है–

यस्मिन्नस्ति न वस्तु किंचन मनः प्रह्लादि सालङ्कृतिः।
व्युत्पन्नै रचितं च नैव वचनैवक्रोक्ति शून्यं च यत्।।

13.3.3 अभिनवगुप्त–

अभिनवगुप्त ने ध्वन्यालोक पर अपनी लोचन टीका में उपर्युक्त पद्य की व्याख्या करते हुए कहा है–

''वक्रोक्तिरुत्कृष्टा संघटना, वक्रोक्ति शून्यशब्देन सर्वालङ्कारभावश्च उक्तः।'' इस प्रकार अभिनवगुप्त ने वक्रोक्ति का अर्थ उत्कृष्ट पदरचना और उसके अन्तर्गत सभो अलंकारों का समावेश किया है। अभिनव गुप्त तो यहां तक मानते हैं कि समस्त अलंकारों के बीजभ्त

;विशेषकर अर्थालङ्कारों केद्ध तथा कथा में वैचित्र्य लाने वाले वक्रोक्तिरूप चमत्कार ही लक्षण शब्द से जाने जाते हैं– 'समस्तार्थलङ्कारवर्गस्य बीजभ्ताश्चमत्कारा: कथाशरीरवैचित्र्यदायिनो वक्रोक्तिरूपा, लक्षणशब्देन व्यवह्रियन्ते।'

इस प्रकार अभिनवगुप्त ने भो वक्रोक्ति को सर्वालङ्काररूप में स्पष्ट किया।

13.3.4 दण्डी–

आचार्य दण्डी ने वक्रोक्ति को स्वीकार तो किया किन्तु उसकी व्यापकता को सीमित कर दिया। उन्होंने अलंकार वाङ्मय को दो रूपों में व्यक्त किया है– 1. स्वभावोक्ति, 2. वक्रोक्ति। वक्रोक्ति की शोभा श्लेष के द्वारा मानी है:–

श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम्।
भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिः वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम्।।

वक्रोक्ति में साक्षात् वर्णन के स्थान पर चमत्कारपूर्ण वर्णन होता है, उपमादि को दण्डी ने वक्रोक्ति के ही प्रकार माना है। 'वक्रोक्ति शब्देन उपमादय: संकीर्णपर्यन्ता: अलङ्कारा: उच्यन्ते। उनके मत में स्वभावोक्ति अतिरिक्त अन्य अलंकारों में श्लेष सौन्दर्य की सृष्टि करता है। भिन्न–भिन्न प्रकार की कल्पनाओं से मण्डित वक्र–सूक्तियां ही वक्रोक्ति है। दण्डी ने अतिशयोक्ति को सर्वालंकारों का मूल माना एवं वक्रोक्ति और अतिशयोक्ति को पर्यायरूप में ग्रहण किया। उनके अनुसार लोकोत्तर वर्णनेच्छा ही अतिशयोक्ति है–

विवक्षा या विशेषस्य लोकोसीमातिवर्तिनी।
असावतिशयोक्तिः स्यादलङ्कारोत्तमा यथा।।

इस प्रकार दण्डी ने भावयुक्त वाक् भगिमा को ही वक्रोक्ति कहा है तथा अन्य सभो अलङ्कारों को इसी के आश्रित कहा है।

दण्डी ने हेतु, सूक्ष्म और लेश को वाणी का उत्तम–भ्षण कहकर ज्ञापकहेतु के उदाहरणस्वरूप मान्यता दी–

''गतोऽस्तमर्को भातीन्दुर्यान्निवासाय पक्षिणः।
इतीदमपि साध्वेव कालावस्थानिवेदने।।''

दण्डी के मत में स्वभावोक्ति उत्तम अलङ्कार है और वक्रोक्ति भो अलङ्कारस्वरूप मान्य है किन्तु निश्चित सीमा में।

13.3.5 भोजराज

भोजराज ने अपने ग्रन्थ श्रृंगारप्रकाश में सम्पूर्ण वाङ्मय का विभाजन त्रिधा किया है–

1. वक्रोक्ति
2. रसोक्ति
3. स्वभावोक्ति

भोजराज के अनुसार 'उपमा' आदि अलङ्कारों का प्राधान्य होने पर 'वक्रोक्ति' विभावानुभावादि के संयोग से निष्पन्न होने पर रसोक्ति और माधुर्य ओज आदि गुणो के प्राधान्य होने पर 'स्वभावोक्ति' होती है।

इससे भो स्पष्ट है कि भोजराज ने भो वक्रोक्ति को सर्वालङ्कार के रूप में स्वीकार किया है।

13.4 वक्रोक्ति को एक अलङ्कारमात्र मानने वाले आचार्य

13.4.1 वामन –

वामन ने अपने ग्रन्थ 'काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति' में वक्रोक्ति को सादृश्याश्रित लक्षणापरक एक अर्थालङ्कार माना है। वामन ने न तो वक्रोक्ति को काव्य का स्वरूपाधायक प्राण तत्त्व माना है और न ही मूल तत्त्व माना है और न हि सम्पूर्ण अलङ्कारों के मूल में इसे अनिवार्य रूप से रखा है। वे इसे अन्य अलंकारों की भांति एक अलंकारमात्र मानते हैं। इन्होंने 'सादृश्य

निबन्धना लक्षणा' को ही वक्रोक्ति माना है और असादृश्य निबन्धना लक्षणा में वक्रोक्ति स्वीकार नहीं की है। वामन ने वक्रोक्ति को विशिष्ट अलंकार रूप में भले ही सीमित कर दिया है परन्तु उनके दस शब्द गुणों तथा दस अर्थ गुणों में से अनेक गुणों में कुन्तक प्रतिपादित अनेक वक्रोक्ति–भदों का सहज अन्तर्भाव हो जाता है।

13.4.2 रूद्रट –

वामन के 'काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति के बाद रूद्रट ने 'काव्यालङ्कार' में वक्रोक्ति को एक शब्दालङ्कार के रूप में प्रतिष्ठित किया। रूद्रट के अनुसार वक्रोक्ति में सामान्य धर्म विच्छित्ति तो है किन्तु वह एक अलंकार विशेष है।

वामन ने वक्रोक्ति को एक अर्थालङ्कार माना जबकि रूद्रट ने वक्रोक्ति को शब्दालङ्कार के रूप में प्रस्तुत किया।

13.4.3 मम्मट –

मम्मटाचार्य ने वक्रोक्ति को शब्दालङ्कार ही माना है। अग्नि पुराण में वक्रोक्ति की शब्दालङ्कार के रूप में स्वीकृति हुई ह –

'वक्रोक्तिस्तु भवेद्भङ्ग्या काकुस्तेन कृता द्विधा।' इसका समर्थन करते हुए मम्मटाचार्य ने भो वक्रोक्ति को साधारण शब्दालंकार के रूप में माना है।

13.4.4 विश्वनाथ –

आचार्य विश्वनाथ ने 'साहित्यदर्पण' में 'वक्रोक्तिअलङ्कार विशेषरूपत्वात्' कहकर वक्रोक्ति को सामान्य अर्थात् अलङ्कारों का मूल न मानकर एक शब्दालङ्कार विशेष ही माना है। कविराज विश्वनाथ ने अपने मत को विभिन्न प्रकार के खण्डनों से निवृत्त कर उसका परिष्कृत रूप प्रस्तुत किया एवं स्वयं की, बाणभट्ट की और सुबन्धु की ओर से वक्रोक्ति के नैपुण्य को स्वीकार किया।

सुबन्धुर्बाणभट्टश्च कविराज इति त्रयः।
वक्रोक्तिमार्ग निपुणश्चतुर्थो विद्यते न वा।।

अतः आचार्य विश्वनाथ वक्रोक्ति ज्ञान में निपुण थे और उन्होंने वक्रोक्ति को एक शब्दालङ्कार विशेष के रूप में प्रतिष्ठापित किया।

13.5 अन्य आचार्यों के वक्रोक्ति उल्लेख

13.5.1 बाणभट्ट –

महाकवि बाणभट्ट ने वक्रोक्ति शब्द को क्रीडालाप अथवा परिहास कथन के रूप में प्रस्तुत किया है। 'वक्रोक्तिनिपुणेन विलासिजनेन' तथा 'एषापि बुध्यत एवैतावती वक्रोक्तिः'।

13.5.2 रूय्यक –

रूय्यक ने अर्थालङ्कारों में वक्रोक्ति की गणना करते हुए उसका वैशिष्ट्य निरूपित करते हुए कहा– ''वक्रोक्ति शब्दश्चालङ्कार सामान्य वचनोऽपीहालङ्कार विशेषे संज्ञितः।'' अर्थात् वक्रोक्ति शब्द सामान्य अलङ्कार के रूप में प्रयुक्त होने पर भो एक विशिष्ट अर्थ रखता है।

13.5.3 विद्यानाथ –

विद्यानाथ ने भो वक्रोक्ति को सामान्य अलङ्कार न मानते हुए अर्थालङ्कार की श्रेणी में रखा है। उनके अनुसार वक्रोक्ति एक अर्थालङ्कार है।

13.5.4 अप्पय दीक्षित –

अप्पय दीक्षित के वक्रोक्ति की स्थापना एक अर्थालंकार के रूप में की।

उपर्युक्त विवेचन से निम्नलिखित तत्त्व स्पष्ट हैं–

1. 'भामह' ने वक्रोक्ति को व्यापक रूप में प्रतिष्ठित किया था, दण्डी को भो अधिकांशत यह स्वीकार था परन्त रूद्रट ने इसे वाक् चातुर्य मात्र माना है और आनन्दवर्धन ने काव्य–वक्रता का महत्त्व विषयाश्रित मानते हुए उसे गौण स्थान दिया।

2. कुन्तक ने वक्रता को काव्य का मूलाधार स्वीकार कर वक्रोक्ति की ही काव्य–जीवित के रूप में स्थापना की।
3. भोज ने अपने समय में प्रचलित वक्रोक्ति सम्बन्धित धारणाओं का विवेचन करते हुए रसोक्ति को वक्रोक्ति से अधिक महत्त्व दिया।
4. रूय्यक ने वक्रोक्ति को अलंकार से अतिरिक्त महत्त्व देने का उल्लेख अवश्य किया किन्तु उसे काव्यजीवित मानने का कोई संकेत नहीं किया।
5. काव्यशास्त्र में कुन्तक की वक्रोक्ति अन्ततः काव्यजीवित के रूप में मान्य न होकर एक अलंकार के रूप में ही मान्य हुई।

इस प्रकार हमने इकाई 13.3, 13.4 एवं 13.5 अध्यायांशों के समग्र अध्ययन से जाना कि वक्रोक्ति को संस्कृत काव्यशास्त्र में मूलतः तीन अर्थों में जाना जाता है।

प्रथम अवस्था में अतिशयोक्ति की पर्यायरूप वक्रोक्ति सर्वालङ्कार सामान्य तत्त्व है। इस तथ्य को भामह से लेकर ध्वनिकार आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, मम्मटादि समस्ताचार्य स्वीकार करते हैं।

द्वितीय अवस्था में भामह द्वारा कथित यही वक्रोक्ति विलसित होकर एक सिद्धान्त का, प्रस्थान का रूप ले लेती है, जिसकी प्रतिष्ठा का श्रेय आचार्य कुन्तक को है।

तृतीय अवस्था में वक्रोक्ति एक सीमित अर्थ में, एक अलंकार विशेष के रूप में प्रस्फुटित होती है। वामन की दृष्टि में यह सादृश्याश्रित लक्षणापरक एक अर्थालंकार है तो आचार्य रूद्रट और उसके अनुयायी मम्मट, विश्वनाथ आदि की दृष्टि में काकु और श्लेष पर निभर, शब्दालंकार मात्र सीमित है।

13.6 वक्रोक्ति एवं अन्य सिद्धान्त

13.6.1 वक्रोक्ति और अलंकार

अलंकारवादी और कुन्तक समान रूप से शब्दार्थ में काव्यत्व मानते हैं और अलंकार को काव्य की शोभा का मूलतत्त्व स्वीकार करते हैं। अलंकार वादियों की दृष्टि उपमा, रूपकादि अलंकारों तक ही सीमित है और कुन्तक की दृष्टि व्यापक है। उसकी वक्रोक्ति रसभावादि को भो समेटे हुए है अन्यथा दोनों की ही दृष्टि बाह्य सौन्दर्यपरक है।

अलंकार–सिद्धान्त और वक्रोक्ति सिद्धान्त में बहुत अन्तर है –
अलंकार–सिद्धान्त में व्यक्ति तत्त्व की सर्वथा अस्वीकृति है, केवल शब्दार्थ के चमत्कार का ही काव्यत्व है। वक्रोक्ति सिद्धान्त में शब्दार्थ के चमत्कार के साथ कवि व्यापार की भो स्वीकृति है।
अलंकार–सिद्धान्त में अलंकार्य और अलंकार का भद नहीं है। वक्रोक्ति सिद्धान्त में इन दोनों–अलंकार्य और अलंकार की स्पष्ट भिन्न सत्ता है। अलंकार–सिद्धान्त में रस को एक अलंकार माना गया है परन्तु वक्रोक्ति सिद्धान्त में उसकी अलंकार्य रूप में स्वीकृति है। इस प्रकार वक्रोक्ति सिद्धान्त में रस की अपेक्षाकृत महत्त्वपूर्ण स्थिति है।
अलंकार सिद्धान्त में स्वभाव–वर्णन की अवहेलना है। भामह आदि ने उसे वार्त्ता कहकर अकाव्य माना है। वक्रोक्ति में स्वभाव–सौन्दर्य की स्वीकृति है, अलंकारों का महत्त्व ही इस स्वभाव–सौन्दर्य का प्रकाशन है। अलंकार सिद्धान्त नितान्त बहिरंग सिद्धान्त है। उसकी दृष्टि केवल शब्दार्थ तक है, वक्रोक्ति सिद्धान्त के वक्रताजन्य चमत्कार के अन्तर्गत रस–भावादि की स्वीकृति है। इस प्रकार इसका क्षेत्र व्यापक है और इसमें अन्तस्तत्व का चित्रण है, इस रूप में यह अन्तरंग पक्ष के निकट है।
यद्यपि ये दोनों काव्य सिद्धान्त–अलंकार और वक्रोक्ति–काव्य की बाह्य सज्जा को ही चमत्कार का नाम देते हैं और इसका आधार अलंकार ;सामान्य अथवा विशिष्टद्ध मानते हैं तथापि कतिपय भिन्नताएं दोनों को पृथक् करती है।

13.6.2 वक्रोक्ति और रीति–

दोनों सिद्धान्त शब्दार्थ को काव्य की देह मानने वाले होने से एक दूसरे से समानता रखते हैं। इनमे कुछ भिन्नता भो है–

रीति–सिद्धान्त में बीस गुणों में केवल एक क्रान्तिगुण में रस की स्थिति है, इस प्रकार यहां रस उपेक्षित–सा ही है। इसके विपरीत वक्रोक्ति की प्रबन्ध–वक्रता आदि में रस तथा ध्वनि को अधिक महत्त्व प्राप्त है।

रीति–सिद्धान्त में अलंकार्य और अलंकार की पृथक् स्थिति नहीं है परन्तु वक्रोक्ति सिद्धान्त में इसकी स्पष्ट पृथक् सत्ता की स्वीकृति है। रसवत् अलंकार को अलंकार न मानने में भो रस–भाव आदि को महत्त्व देने का भाव है।

वक्रोक्ति का क्षेत्र अधिक व्यापक है। रीति की परिधि वक्रोक्ति के प्रथम चार भदों– वर्णवक्रता, पदपूर्वार्द्धवक्रता पदपरार्द्धवक्रता तथा वाक्य वक्रता तक है। वक्रोक्ति के अन्य दो भद– प्रकरण वक्रता तथा प्रबन्ध वक्रता–रीति की गति से बाहर है। इस प्रकार रीति वक्रोक्ति का एक अंग बनकर उसमें समाविष्ट हो सकती है।

13.6.3 वक्रोक्ति और ध्वनि –

ध्वनि–सिद्धान्त आत्मवादी सिद्धान्त है और वक्रोक्ति सिद्धान्त देहवादी सिद्धान्त है। ध्वनि में कवि–तथ्य को महत्त्व प्राप्त है और वक्रोक्ति में कवि व्यापार को। कुन्तक के समान आनन्दवर्धन ने भो ज्ञान की अपेक्षा कल्पना तथ्य को प्रमुखता अवश्य दी परन्तु उन्होंने कल्पना का योग स्पष्टतः अनुभ्ति से किया। आनन्दवर्धन की दृष्टि में कवि–कल्पना प्रमाता की कल्पना को उद्बुध कर काव्यत्व प्राप्त करतो है परन्तु कुन्तक की दृष्टि में कवि कल्पना काव्य में सन्निविष्ट हो जाती है अर्थात् ध्वनिकार के अनुसार कल्पना व्यक्तिनिष्ठ है और कुन्तक के अनुसार वस्तुनिष्ठ। ध्वनि–सिद्धान्त में शब्द–शक्तियों को साधन मात्र माना गया है और वक्रोक्ति सिद्धान्त में इसी कथन प्रणाली को ही सर्वस्व मान लिया गया है।

13.6.4 वक्रोक्ति और रस –

ध्वनि–सिद्धान्त के समान रस–सिद्धान्त भो आत्मवादी सिद्धान्त है और ध्वनिकार को आत्मरूप में इसी रसध्वनि की स्थिति स्वीकार है। वक्रोक्ति सिद्धान्त शरीरवादी है। वक्रोक्ति में रस की अन्य काव्यतत्त्वों–अलंकार, रीति तथा गुण आदि से विशिष्ट स्थिति है। कुन्तक काव्य का निकष सहृदय–आह्लादकत्व मानते हैं। काव्य प्रयोजन में अन्तश्चमत्कार की चर्चा करते हैं तथा रसवत्–अलंकार को अलंकार न मानकर अलंकार्य मानते हैं परन्तु इस रस को काव्य का अङ्गीतत्त्व न मानकर वक्रोक्ति का प्रमुख पोषक अंग मानते हैं और इस रूप में उसकी अनिवार्य स्थिति वाछनीय मानते हैं।

डॉ. नगेन्द्र का कथन है कि ''रस के बिना काव्य जीवित रह सकता है, वक्रोक्ति के बिना नहीं। इसलिए वक्रोक्ति ही काव्य का जीवित है, रस काव्य की अमूल्य सम्पत्ति होते हुए भो जीवित नहीं है। संक्षेप में रस के साथ वक्रोक्ति का यही सम्बन्ध है जो ध्वनि रस–सम्बन्ध से अधिक भिन्न नहीं।''

ध्वनिवादियों ने रस ध्वनि की सर्वश्रेष्ठता का बारम्बार उद्घोष किया है और कवियों को रस–परतन्त्र बन जाने का निर्देश दिया है। वक्रोक्ति में यह स्थिति कहां है? ध्वनिकार ने रस को काव्य का सर्वस्व माना है परन्तु वक्रोक्तिकार ने उसे शरीर–रूप ही माना है।

वक्रोक्ति अलंकार का ही एक विशिष्ट और व्यापक रूप है। वक्रोक्ति सिद्धान्त में अलंकार की पुनः प्रतिष्ठा का प्रयत्न है अतः उसके साथ रस का वही सम्बन्ध नहीं माना जा सकता जो ध्वनि के साथ रस का है अन्यथा ध्वनि–सिद्धान्त की प्रतिष्ठा हो जाने पर और उसकी महत्ता से परिचित होने पर भो कुन्तक को एक नए सिद्धान्त की स्थापना के प्रयत्न की क्या आवश्यकता थी? अतः वक्रोक्ति के साथ रस का ध्वनि के साथ का सम्बन्ध नहीं माना जा सकता।

13.6.5 वक्रोक्ति ओर औचित्य–

औचित्य की महत्ता असन्दिग्ध है। इसी से जीवन तथा काव्य में व्यवस्था, सामांजस्य तथा सौन्दर्य की सृष्टि होती है। कुन्तक ने भो औचित्य को उचित महत्त्व दिया है। उनके अनुसार– तत्र पदस्य तावदौचित्यं वक्रताया परं रहस्यम्।'' क्योंकि औचित्य ही वक्रता का

जीवन है– ''**उचिताभि**
धानजीवितत्वात्।'' अतः कुन्तक की इस औचित्य के प्रति विशेष सतर्क रहने की चेतावनी है। उसके अनुसार– ''**वाक्यस्याप्येक देशोऽप्यौचित्यविरहात्**
तद्विदाह्लादकारित्वहानिः।'' अर्थात् वाक्यांश में भो अनौचित्य आ जाने से सहृदय मनःप्रसादन में क्षति पहुंचती है।

13.6.6 स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति

स्वभावोक्ति का सर्वप्रथम उल्लेख भामह ने अपने काव्यालंकार में किया है– ''अर्थ का यथावत् कथन स्वभाव'' कहलाता है। यह एक अलंकार भो माना गया है। यद्यपि भामह ने वक्रोक्ति को विशेष महत्त्व दिया है फिर भो स्वभावोक्ति को वे स्वीकार करते हैं। **वक्र का अर्थ स्वभाव से भिन्न न मानकर साधारण से भिन्न मानते हैं।**

दण्डी ने समग्र साहित्य को स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति इन दो भागों में विभक्त किया और स्वभावोक्ति को अलंकार माना।

रुद्रट ने स्वभावोक्ति को अर्थालङ्कार का भद माना और जाति कहकर वस्तु के स्वरूप कथन को स्वभावोक्ति कहा।

भोज ने समस्त साहित्य को वक्रोक्ति, रसोक्ति और स्वभावोक्ति में विभाजित कर गुण प्रधान साहित्य को स्वभावोक्ति माना।

कुन्तक स्वभावोक्ति की अलंकारता का खण्डन करत हैं–

अलंकारकृतां येषां स्वभावोक्तिरलंकृतिः।
अलंकार्यतया तेषां किमन्यदवतिष्ठते? (वक्रोक्तिजीवितम् कारिका, 10/1)

कुन्तक प्रश्न करते हैं कि पूर्वोक्त जिन दण्डी आदि आलंकारिकों के मत में स्वभावोक्ति अलंकार है तो अलंकार्य क्या रह जाएगा? स्वभाव अलंकार्य है अलंकार नहीं। कुन्तक ने स्वभावोक्ति को अलंकार मानने वालों के लिए 'सुकुमारबुद्धि' तथा 'विवेकक्लेशद्वेषी' पदों का प्रयोग कर अपना विरोध दर्ज किया है–

स्वभावव्यतिरेकेण वक्तुमेव न युज्यते।
वस्तु यद्रहितं यस्मान्निरूपाख्यं प्रसज्यते।। (वक्रोक्तिजीवितम्, कारिका 10/12)

कुन्तक के अनुसार स्वभाव युक्त वस्तु ही कथन योग्य होती है अतः स्वभावोक्ति अलंकार्य ही है अलंकार नहीं। स्वभावोक्ति काव्य शरीर है और वक्रोक्ति अलंकार। कुन्तक का यह कथन महत्त्वपूर्ण है कि स्वपरिस्पन्द सुन्दर अर्थात् स्वभाव से सुन्दरता यदि अलंकार है तो अलंकार्य क्या है?

13.7 पारिभाषिक शब्दावली

वैदग्ध्य	–	विदग्धभाव यानि कविकम कौशल
भणिति	–	भासित होना
भङ्गी	–	विच्छित्ति, भिन्न प्रकार से
वक्रोक्ति	–	चमत्कारयुक्त कथन
प्रस्फुटित	–	प्रकट
आह्लाद	–	आनन्द

13.8 अभ्यासार्थ प्रश्न

बोध प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न

1. वक्रता के छः प्रकारों को विस्तृत रूप में समझाइये।
2. वक्रोक्ति सिद्धान्त का अन्य सिद्धान्तों से सम्बन्ध समझाइये।
3. वक्रोक्ति को सर्वालंकार मानने वाले आचार्यों के मत को प्रस्तुत कीजिये।
4. वक्रोक्ति का स्वरूप समझाते हुए कवि प्रस्थान के तीन मार्ग बताइये।

बोध प्रश्न 1 (रिक्त स्थानों की पूर्ति करो)

1. दण्डी ने वक्रोक्ति को .... माना।
2. रूद्रट ने वक्रोक्ति को .... माना।

3. भोजराज ने वक्रोक्ति को .... माना।

4. मम्मट ने वक्रोक्ति को .... माना।

बोध प्रश्न 2 (संक्षेप में उत्तर दीजिये)

1. वक्रता के तीन मार्ग कौनसे हैं?
2. पदपूर्वार्द्धवक्रता के भेदों का नामोल्लेख कीजिये।
3. पदपरार्द्धवक्रता के भेदों का नामोल्लेख कीजिये।
4. वक्रोक्ति को एक अलंकार मात्र मानने वाले चार आचार्यों के नाम लिखिये।

बोध प्रश्न 3 (कोष्ठक में से छांटकर ग्रन्थकार के समक्ष ग्रन्थ का नाम लिखिये)

(लोचन टीका, वक्रोक्तिजीवितम्, काव्यप्रकाश, काव्यादर्श)

1. कुन्तक
2. मम्मट
3. दण्डी
4. अभिनवगुप्त

अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

निबन्धात्मक प्रश्नों के उत्तर

1. इकाई 13.2.4 से स्वयं जाँच करें।
2. इकाई 13.6 से स्वयं जाँच करें।
3. इकाई 13.3 से स्वयं जाँच करें।
4. इकाई 13.2 से स्वयं जाँच करें।

बोध प्रश्न 1 के उत्तर

1. सर्वालंकाररूप
2. एक अलंकारमात्र
3. सर्वालंकाररूप
4. एक अलंकारमात्र

बोध प्रश्न 2 के उत्तर

1. सुकुमार, विचित्र, मध्यम।
2. इकाई 13.2.4.2 देखें।
3. इकाई 13.2.4.3 देखें
4. वामन, रूद्रट, मम्मट, विश्वनाथ।

बोध प्रश्न 3 के उत्तर

1.	कुन्तक	वक्रोक्तिजीवितम्
2.	मम्मट	काव्यप्रकाश
3.	दण्डी	काव्यादर्श
4.	अभिनवगुप्त	लोचन–टीका

13.9 सारांश

संस्कृत काव्यशास्त्र में वक्रोक्ति का मूलतः तीन अर्थों में प्रयोग किया गया है। प्रारम्भिक अवस्था में अतिशयोक्ति के अर्थ में वक्रोक्ति को सर्वालङ्कार सामान्य के रूप में भामह से लेकर ध्वनिकार आनन्दवर्धन तदनुयायी अभिनवगुप्त, मम्मट आदि आचार्यों ने माना। आचार्य कुन्तक भी इस विचार से अछूते नहीं रहे। और तत्पश्चात् यही वक्रोक्ति एक सिद्धान्त का रूप ले लेती है जिसका श्रेय आचार्य कुन्तक को जाता है। कुन्तक ने कवि प्रस्थान के तीन मार्गों का निरूपण कर वक्रता के छः प्रकार बताए। काव्यशास्त्र को कुन्तक की देन की विशेषता यह रही कि उन्होंने वक्रोक्ति को काव्य का प्राण माना। कन्तक के अनुसार रस काव्य की अमूल्य सम्पति होते हुए भी इस के बिना काव्य जीवित रह सकता है किन्तु वक्रोक्ति के बिना नहीं। कुन्तक का आह्लाद उक्ति का चमत्कार वैचित्र्य है रस का पर्याय नहीं। वक्रोक्ति का परिमाण वर्ण विन्यास से लेकर समग्र कवि व्यापार तक बढाया। रीति सिद्धान्त से समानता होन पर भी वक्रोक्ति सिद्धान्त व्यापक हुआ क्योंकि उसमें पद रचना सहित समस्त रूप विधान को भी काव्य का जीवन मान लिया। तीसरी अवस्था में वक्रोक्ति

एक सीमित अर्थ में अर्थात् अलंकार के एक भेद (भाग) के रूप में अभिव्यक्त हुई। वामन की दृष्टि में यह सादृश्याश्रित लक्षणापरक एक अर्थालंकार है तो आचार्य रूद्रट और मम्मट, विश्वनाथ आदि की दृष्टि में काकु और श्लेष पर आधारित शब्दालंकार मात्र वक्रोक्ति अलंकार है।

13.10 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. कुन्तकः वक्रोक्तिजीवितम्, (सम्पा.) डॉ. दशरथ द्विवेदी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 1988.
2. भारतीय काव्यशास्त्र, रामचन्द्रवर्मा, अनिता प्रकाशन, चरखेवालान, दिल्ली 1986.
3. काव्यप्रकाश, (मम्मटाचार्य) आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणी, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, 2006.

इकाई 14

ध्वनि सम्प्रदाय –प्रमुख ग्रन्थ एवं चिन्तक

इकाई की रूपरेखा

14.0 उद्देश्य

14.1 प्रस्तावना

14.2 ध्वनि का अर्थ, व्युत्पत्ति एवं परिभाषा

14.2.1ध्वनि का अर्थ

14.2.2ध्वनि शब्द की व्युत्पत्ति

14.2.3ध्वनि शब्द की परिभाषा

14.2.4रीति से ध्वनि की निष्पत्ति

14.3 ध्वनि सिद्धान्त का प्राचीनत्व एवं आनन्दवर्धन का परिचय

14.3.1ध्वनि सिद्धान्त की प्राचीनता

14.3.2आचार्य आनन्दवर्धन का सामान्य परिचय

14.3.3कालनिर्धारण

14.3.4वंश परम्पपरा

14.4 ध्वनि विरोधी आचार्य और सम्पप्रदाय

14.4.1ध्वनि को अलङ्कारों में अन्तर्भूत करने वाले आचार्य (भामह, दण्डी, उद्भट, रुद्रट)

14.4.2विरोधी आचार्य (प्रतीहारेन्दुराज, मुकुलभट्ट)

14.4.3प्रबलविरोधी आचार्य (भट्टनायक, कुन्तक, महिमभट्ट)

14.5 ध्वनि सिद्धान्त का मूल तत्त्व

14.5.1ध्वनि सिद्धान्त की मूलप्रेरणा

14.5.2तीन विरोधी मत

14.5.3त्रिविध अभाववादी

14.5.4त्रिविध भाक्तवादी

14.5.5नितान्त अभाववादी

14.5.6प्रस्थानवादी

14.5.7अन्तर्भाववादी

14.5.8भाक्तवादियों का खण्डन

14.5.9भाक्तवादियों का प्रथम मत

14.5.10 भाक्तवादियों का द्वितीय मत

14.5.11 भाक्तवादियों का तृतीय मत

14.5.12 अनिर्वचनीयतावादियों का खण्डन

14.5.13 ध्वनि की स्थापना

14.5.14 ध्वनि के भेदों का निरुपण

14.5.15 अविवक्षितवाच्य ध्वनि

14.5.16 विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि

14.6 वाच्यार्थ एवं प्रतीयमानार्थ में अन्तर

14.6.1स्वरूपभेद
14.6.2विषय-वस्तु भेद
14.6.3निमित्त-भेद
14.6.4कालभेद
14.6.5सङ्ख्याभेद
14.6.6आश्रयभेद
14.6.7कार्यभेद
14.7 ध्वनि सम्पप्रदाय का अन्य सम्पप्रदायों से सम्पबन्ध
14.7.1ध्वनि सम्पप्रदाय और रस सम्पप्रदाय
14.7.2ध्वनि सम्प्रदाय और रीति का सम्बन्ध
14.7.3ध्वनि और वृत्ति
14.7.4ध्वनि और अलङ्कार
14.7.5ध्वनि ओर औचित्य
14.7.6ध्वनि और वक्रोक्ति
14.8 पारिभाषिक शब्दावली
14.9 अभ्यासार्थ प्रश्न
14.10 सारांश
14.11 संदर्भ ग्रंथ सूची

14.0 उद्देश्य

आप एम.ए. (पूर्वार्द्ध) संस्कृत चतुर्थप्रश्न-पत्र (भारतीय काव्यशास्त्र एवं व्याकरण) की चौदहवीं इकाई का अध्ययन करने जा रहे हैं। इस इकाई में ध्वनि सम्प्रदाय के प्रमुख ग्रन्थ एवं चिन्तकों को आधार बनाकर ध्वनिमत का मूल स्वरूप स्पष्ट किया गया है। इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप :

- ध्वनि शब्द का तात्पर्य समझ सकेंगे।
- ध्वनि शब्द का उद्‌भव कहाँ से हुआ और अन्त में ध्वनि के सम्बन्ध में क्या मत स्थापित हुआ? इसका ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।
- रस सिद्धान्त, रीति सिद्धान्त, वक्रोक्ति आदि ध्वनि से किस तरह सम्बन्धित है, ये भी जान सकेंगे।
- ध्वनि के भेदों के बारे में जान सकेंगे।
- आचार्य आनन्दवर्धन के ध्वनि सिद्धान्त को समझ सकेंगे।

14.1 प्रस्तावना

वाच्य अर्थ और वाचक शब्द ध्वनि कहे जाते है। काव्य के आत्मभूत तत्त्व 'ध्वनि' के नामकरण के विषय में साहित्य-मर्मज्ञ व्याकरणशास्त्र के ऋणी हैं। व्याकरणशास्त्र में श्रोत्रग्राह्य शब्द के लिये 'ध्वनि' पद का प्रयोग होता है। ध्वनि सिद्धान्त के प्रवर्तक आचार्य आनन्दवर्धन ने अपने ग्रन्थ ध्वन्यालोक से काव्य जगत् में एक नवीन चेतना और जागृति का संचार किया और ध्वनि को काव्य की आत्मा स्वीकार किया। काव्य की आत्मारूप जो ध्वनि तत्त्व सहृदय-श्लाघनीय है उसके दो भेद किये जाते हैं। पहला वाच्य और दूसरा प्रतीयमान। ऐतिहासिक प्रमाण देते हुए, प्रतीयमान अर्थरस को ही काव्य की आत्मरूप ध्वनि कहा है।

इस इकाई में हम ध्वनि तत्त्व, ध्वनि विरोधी मतों का खण्डन एवं ध्वनि के स्वरूप के बारे में चर्चा करेंगे।

14.2 ध्वनि का अर्थ, व्युत्पत्ति एवं परिभाषा

14.2.1 ध्वनि का अर्थ

जैसा कि पूर्व में कहा गया है कि ध्वनि के नामकरण के विषय में साहित्यशास्त्रज्ञ व्याकरणशास्त्र के ऋणी हैं। व्याकरणशास्त्र में ध्वनि का एक विशिष्ट अर्थ होता है। उच्चरित शब्द को ध्वनि कहते हैं। वैयाकरणों के अनुसार जहाँ ध्वनि मूलत: अभिव्यंजक शब्द के लिये ही सीमित थी अब वो अभिव्यंजक अर्थ के लिये भी प्रयुक्त की जाने लगी। इसका तात्पर्य ये हुआ कि जो ध्वनि शब्द श्रवणमात्र से ही सम्बन्धित हुआ करता था अब वो मनन, चिन्तन आदि क्रियाओं का भी व्यञ्जक माना जाता है।

ध्वन्यालोक में 'ध्वनि' शब्द का प्रयोग पाँच अर्थों में किया गया है।

(1) व्यङ्ग्य शब्द

(2) वाच्य शब्द

(3) वाचक अर्थ

(4) व्यञ्जना व्यापार

(5) समुदायरूप काव्य

14.2.2 ध्वनि शब्द की व्युत्पत्ति

(1) ध्वनतीति ध्वनि:

(2) ध्वन्ति/ध्वनयति इति वाच्यार्थ:

(3) ध्वन्यत इति ध्वनि:

(4) ध्वननं ध्वनि:।

(5) ध्वन्यतेऽनेनेति ध्वनि: (व्यञ्जनाव्यापार:)

(6) ध्वन्यतेऽस्मिन्निति ध्वनि: (व्यङ्ग्यप्रधानकाव्यम्)

अर्थो वा शब्दो वा व्यापारो वा। अर्थोऽपि वाच्यो वा ध्वनतीति शब्दोऽप्येवम्। व्यङ्ग्यो वा ध्वन्यत इति। व्यापारो वा शब्दार्थयोर्ध्वननमिति।

(1) वाच्य अर्थ और वाचक शब्द 'ध्वनि' शब्द से अभिहित होते हैं। ध्वनतीति ध्वनि:।

(2) द्वितीय व्युत्पत्ति के अनुसार मात्र व्यङ्ग्यरूप अर्थ ध्वनि है। ध्वन्यत इति ध्वनि:।

(3) तृतीय व्युत्पत्ति के अनुसार व्यञ्जना व्यापार ध्वनि है ध्वननं ध्वनि:।

14.2.3 ध्वनि शब्द की परिभाषा

ध्वनि की सत्ता बहुत प्राचीन है। ध्वनि के विरुद्ध सम्भाव्य आपत्तियों का निराकरण करते हुए वाच्य अर्थ से श्रेष्ठ बताते हुए प्रतीयमान अर्थ की व्याख्या की गई। कवियों की प्रतिभा को प्रकट करने का अपूर्व साधन है ध्वनि। प्राचीन अर्थ को ग्रहण कर लिखी गई कविता ध्वनि से सम्पन्न होने पर नवीन चमत्कार उत्पन्न करती है। काव्य में, बात को किस तरह से प्रस्तुत किया जा रहा है इस बात का विशेष महत्त्व है। जैसे कि कोई वर्णनीय वस्तु है। उसका एक कवि ने सामान्य कथन करके बात समाप्त कर दी और एक अन्य कवि ने शब्द सौन्दर्य, अलंकारादि से विभूषित करके यदि उसे प्रस्तुत किया है, उसकी शैली में वैभिन्य एवं नवीनता है तो वह वस्तु हमारे लिये नवीन तथा चमत्कार युक्त प्रतीत होती है।

14.2.4 रीति से ध्वनि की निष्पत्ति

रीति से स्वतन्त्र अस्तित्त्व को दबाकर आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वनि सिद्धान्त की स्थापना कर उसे परतन्त्र बना दिया और ध्वनि को काव्य का जीवितभूतत्त्व स्वीकार किया। आचार्य आनन्दवर्धन का कहना है कि मानव-शरीर में जो स्थान आत्मा का होता है, वही काव्य में ध्वनि का होता है।

काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्वः।

वाच्यार्थ से अतिरिक्त व्यंग्यार्थ के सद्‌भाव का प्रतिपादन करके प्रकृत में उसका उपयोग करते हुए कहते हैं-

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः सः ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः।

अर्थात् जहाँ अर्थ अपने आपको अथवा शब्द अपने अर्थ को गुणीभूत करके प्रतीयमान अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं वह काव्यविशेष विद्वानों द्वारा ध्वनि कहा जाता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि काव्य के शब्द अपने वाच्यार्थ से परे किसी अन्य अर्थ को व्यक्त करते हैं। और यह अन्य अर्थ जो कि व्यंग्यार्थ है, प्रधान तथा काव्य की आत्मा होता है। और इसी सादृश्य के कारण काव्य के आत्मभूत तत्त्व का नामकरण 'ध्वनि' किया गया है।

14.3 ध्वनि सिद्धान्त का प्राचीनत्व एवं आनन्दवर्धन का परिचय

14.3.1 ध्वनि सिद्धान्त की प्राचीनता

ध्वनि सिद्धान्त एक बड़ा ही प्राचीन सिद्धान्त है। इसके प्रवर्तक आचार्य आनन्दवर्धन माने जाते हैं। आपका जन्म नवीं शताब्दी में हुआ। 875 ई. के आस-पास आपन सुप्रसिद्ध ग्रन्थ ध्वन्यालोक की रचना की। इस ग्रन्थ की रचना से काव्य जगत में एक क्रान्ति आ गई। आनन्दवर्धन ने 'काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति' मत प्रतिपादित किया। हालांकि यह मत आनन्दवर्धन से पूर्व के काव्यवेत्ताओं को विदित था किन्तु यह विचाराधीन था। आनन्दवर्धन ने उसे मूर्त रूप प्रदान किया।

14.3.2 आचार्य आनन्दवर्धन का सामान्य परिचय

काव्यशास्त्र के इतिहास में आचार्य आनन्दवर्धन अद्वितीय स्थान रखते हैं। अपने विषय क्षेत्र में इनका कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं है। पूर्व में ध्वनि मत को लेकर अनेक भ्रान्तियाँ पनप रही थीं। आपने उनका निराकरण कर स्वकीय अमूल्य सिद्धान्त को ध्वनि सिद्धान्त के नाम से अपनी पुस्तक 'ध्वन्यालोक' में प्रतिपादित किया एवं काव्यशास्त्र के चिन्तन की एक नई दिशा दी।

14.3.3 कालनिर्धारण

कल्हण की 'राजतरंगिणी' में आचार्य आनन्दवर्धन के देश-काल के सम्बन्ध में सङ्केत प्राप्त होते हैं।

मुक्ताकणः शिवस्वामी कविरानन्दवर्धनः।
प्रथां रत्नाकरश्चागात् साम्राज्येऽवन्तिवर्मणः॥

प्रस्तुत उद्धरण से इतना तो स्पष्ट है कि आनन्दवर्धन कश्मीरनरेश अवन्ति वर्मा के सभा-पण्डितों में से थे तथा कवि के रूप में प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके थे। 'राजानक' उपाधि से आपको विभूषित किया गया था।

उद्‌भट द्वारा ये निर्देशित है कि आनन्दवर्धन का समय आठवीं शताब्दी से पर का होना चाहिये। 'त्रिविद्विभिः भट्टोद्‌भटादिभिः'

काव्यमीमांसा में राजशेखर ने आनन्दवर्धन का उल्लेख किया है–

'प्रतिभात्युत्पत्योः प्रतिभा श्रेयसी इत्यानन्दः।' सूक्तिमुक्तावली में जल्हण ने भी एक श्लोक उद्धृत किया है, आनन्दवर्धन को ही ध्वनि का प्रतिष्ठाता बताया है।

ध्वनिनातिगम्भीरेण काव्यतत्त्व निवेशिना।
आनन्दवर्धनः कस्य नासीदानन्दवर्धनः॥

आनन्दवर्धन का समय राजशेखर से पूर्व का है ये तो स्पष्ट है। अब देखा जाए कि राजेशखर का समय 900 ई. से 925 ई. के आसपास है, अतः आनन्दवर्धन का समय इससे तो पूर्व ही माना जाएगा।

काव्यप्रकाश की टीका 'लोचन' में अभिनवगुप्त ने ध्वन्यालोक वृत्ति में कथित तथा 'चान्येन कृत एवात्र श्लोकः' वाक्य के अन्येन पद की व्याख्या करते हुए लिखा है–

'तथा चान्येनेति ग्रन्थ कृत समानकालभाविना मनोरथनाम्ना कविना'

इस पङ्क्ति के आधार पर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि मनोरथ कवि आनन्दवर्धन के समकालीन थे। इन्हो कवि मनोरथ का उल्लेख कल्हण ने अपनी राजतरंगिणी में राजा जयापीड़ के राजकवि के रूप में किया है।

मनोरथः शंखदत्तश्चटकः सन्धिमान्स्तथा।
बभूवुः कवयस्तस्य वामानाद्याश्च मन्त्रिणः॥

इस श्लोक से सिद्ध होता है कि आनन्दवर्धन का समय 800 ईसा के लगभग मानना पड़ेगा। यह समय 800 ईसा तभी माना जा सकेगा जब ये मनोरथ कवि वही है जिनका जिक्र अभिनवगुप्त ने किया है और जयापीड़ भी वही जयापीड़ है। किन्तु यह मत भी विवाद के घेरे में है क्योंकि उक्त श्लोक से मनोरथ कवि वामन के समकालीन सिद्ध होते हैं। वामन जयापीड़ के मन्त्री रहे हैं अतः मनोरथ भी समकालीन हुए या तो अभिनवगुप्त ने कोई त्रुटि की है या फिर ये मनोरथ कवि कोई अन्य रहे होंगे जिनका कथन अभिनवगुप्त ने किया है।

एक स्थान पर कल्हण ने 'राजतरंगिणी' में अवन्ति वर्मा के साम्राज्य में प्रसिद्ध होने वाले कवि के रूप में उनका उल्लेख किया है–

मुक्ताकणः शिवस्वामी कविरानन्दवर्धनः।
प्रथां रत्नाकरश्चागात् साम्राज्येऽवन्तिवर्मणः॥

बूलर और जैकोबी ने बहुत सोच-विचार कर विभिन्न तर्कों पर चिन्तन करते हुए आनन्दवर्धन के समकक्ष जो राजा हुए और उनका समय निर्विवाद है उनका प्रमाण देते हुए आनन्दवर्धन के समय को बताया। यथा– अवन्तिवर्मा का राज्यकाल 855-883 ई. था। कुछ विद्वानों ने अवन्तिवर्मा के पुत्र शंकरवर्मा के साथ भी आनन्दवर्धन की समसामयिकता सिद्ध करने का प्रयत्न किया है और शङ्कर वर्मा का समय 883 से 902 का माना जाता है। चूंकि आनन्दवर्धन के जीवनकाल का स्पष्ट उल्लेख प्राप्त नहीं है, वह अवन्तिवर्मा के राज्यकाल के आधार पर निश्चित होता है। कवि के रूप में प्रसिद्धि आनन्दवर्धन ने अवन्तिवर्मा के काल में प्राप्त की थी। और अनुमानतः जब उन्होंने ध्वन्यालोक का निर्माण किया होगा तब वे निश्चित रूप से वयः प्राप्त प्रौढ़ तो हो ही चुके होंगे।

यदि कोई यह आक्षेप उठाए कि आचार्य शङ्कर ने तो अल्पवयस् में ही समस्त ग्रन्थों की रचना कर डाली थी तो उसका उत्तर ये है कि आनन्दवर्धन का प्रथम ग्रन्थ तो ध्वन्यालोक नहीं है। उन्होंने अपने समस्त काव्य-निर्माणों का उल्लेख ध्वन्यालोक में किया है। अतः वे शङ्करवर्मा के काल में रहे होंगे।

न्यायमञ्जरी के रचयिता जयन्तभट्ट ने अपनी पुस्तक में आनन्दवर्धन के ध्वनिसिद्धान्त का खण्डन किया है।

एतेन शब्द सामर्थ्यमहिम्ना सोऽपि वारितः।
यमन्यः पण्डितम्मन्यः प्रपेदे कञ्चन ध्वनिम्॥
विधेर्निषेधावगतिर्विधिबुद्धिर्निषेधतः।

अन्यत्र-

मानान्तरपरिच्छेधवर-तुरुपोपदेशिनाम्।
शब्दानामेव सामर्थ्यं तत्र तत्र तथा तथा।
अथवा नेदृशी चर्चा कविभिः सह शोभते।
विद्वांसोऽपि विमुह्यन्ति वाक्यार्थगहनेऽध्वनि॥

इन विभिन्न मतों की चर्चा से हम विचार कर सकते हैं कि-

- आनन्दवर्धन शंकरवर्मा के समकालीन थे किन्तु जयन्त के पहले थे। अतः इनका समय 900 ई. माना जा सकता है।
- इसमें उद्भट का उल्लेख है जिनका समय 800 ई. माना जाता है।
- राजशेखर ने आनन्दवर्धन का उल्लेख किया है जो कि (900-925 ई.) के काल के थे।

अतः अनुमानतः उनके समस्त निर्माणों का समय 860-890 ई. के मध्य होना चाहिये।

14.3.4 वंश परम्परा

आचार्य आनन्दवर्धन के वंश के सन्दर्भ में भी बहुत्र प्रमाण प्राप्य नहीं है किन्तु सर्वाधिक प्रामाणिकं वहीं माना जाता है जहाँ लेखक या ग्रन्थ रचयिता स्वयं अपना समय वंश इत्यादि का कथन कर दे। देवीशतक में आप स्वयं लिखते हैं-

देव्या स्वप्नोद्गमादिष्टदेवी शतकसंशया।
देशिताभुपमामाधादतो नोणसुतो न्तिम्॥

हेमचन्द्र ने अपनी पुस्तक काव्यानुशासन विवेक में भी देवीशतक का उद्धरण देते हुए आपको 'नोणसुत' कहा है।

स्वयं आनन्दवर्धन ने भी ध्वन्यालोक में स्वयं ही स्पष्ट कर दिया है कि उनका जन्म कश्मीर के ब्राह्मण परिवार में श्री नोणोपाध्याय के घर पर हुआ था।

'एतात्पितुश्च नोण' इति नामासीदित्येत्प्रणीतत देवीशतकतो प्रतीयते।'

देवीशतक के एक श्लोक में यह भी स्पष्ट है कि आचार्य ने देवीशतक की रचना 'विषमबाणलीला' और 'अर्जुनचरित' के बाद में की थी-

येनानन्द कथायां त्रिदशानन्दे च लालिता वाणी।
तेन सुदुष्करमेतत् स्तोत्रं देव्याः कृतं भक्त्या॥

14.4 ध्वनि विरोधी आचार्य और सम्प्रदाय

स्थूल से सूक्ष्म की ओर प्रवृत्त होने वाला व्यक्ति निश्चित रूप से किसी गूढ तत्त्व को प्राप्त करता ही है। यह तो शाश्वत बात है कि जब भी इतिहास में स्थूल वस्तु, सिद्धान्त या कार्य देखा जाता है तो उसके सूक्ष्म से ज्ञान करना ही हमारा उद्देश्य हो तो हम सम्पूर्ण स्थूल को देख पाते हैं। यथा साहित्य में भामह,

दण्डी, उद्‌भट, वामन आदि आचार्यों के समक्ष काव्य का स्थूलरूप मुख्य रहा किन्तु मम्मट, आनन्दवर्धन, पण्डितराज जगन्नाथादि विभिन्न आचार्यों ने एक-एक सिद्धान्त को लेकर क्रमश: उनकी जो व्यञ्जना एवं स्थापना की है उससे विभिन्न मतों का स्पष्ट स्वरूप हमारे समक्ष प्रस्तुत होता है।

'काव्यस्यात्मा ध्वनि:' यहाँ जो काव्य की आत्मरूप ध्वनि है उसका अर्थ है- चतुर्थकक्ष्यानिविष्ट व्यङ्ग्य अर्थ। यद्यपि आनन्दवर्धन के पूर्ववर्ती आचार्यों ने भी ध्वनि के व्यङ्ग्य अर्थ का आभाष पर्यायोक्त आदि अनेक अलङ्कारों मे अनुभूत किया था किन्तु वे वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यङ्ग्यार्थ के चारुत्व में पूर्ण विश्वास न करते थे। ऐसे समय में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन की आवश्यकता थी। एक ऐसे सिद्धान्त की जो काव्य की आत्मस्वरूप व्यङ्ग्यार्थ प्रतीति का स्वरूप सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित कर सके और यह कार्य सम्पन्न किया आचार्य पण्डितराज जगन्नाथ ने।

सिद्धान्त स्थापना के पूर्व भी ध्वनि को व्यङ्ग्य अर्थ की स्वीकृति के रूप में समासोक्ति, अप्रस्तुत प्रशंसा, व्याजस्तुति, आक्षेपादि अलङ्कारों के रूप में तो स्वीकृति प्राप्त थी। इस बात को पण्डितराज जगन्नाथ ने 'रसगङ्गाधर' के पर्यायोक्त प्रकरण में स्वीकार किया है-

'ध्वनिकारात् प्राचीनैर्भामहोद्‌भट्प्रभृततिभि: स्वग्रन्थेषु कुत्रापि ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्यादिशब्दा: प्रयुक्ता इत्येतावतैव तैर्ध्वन्यादयो न स्वीक्रियन्त इत्याधुनिकानां वाचोयुक्तिरयुक्तैव। यत: समासोक्ति व्याजस्तुत्यप्रस्तुतप्रशंसाद्यलङ्कारनिरूपणे-कियन्तोऽपि गुणीभूतव्यङ्ग्यभेदास्तैरपि निरुपिता:। अपरश्च सर्वोऽपि व्यङ्ग्यप्रपञ्च: पर्यायोक्तकुक्षौ निक्षिप्त:। न ह्यनुभवसिद्धोऽर्थो बालेनाप्यपह्नोतुं शक्यते। ध्वन्यादिशब्दै: परं व्यवहारो न कृत:। न ह्येतावतानङ्गीकारो भवति। प्राधान्यादलङ्कार्यो हि ध्वनिरलङ्कारस्य पर्यायोक्तस्य कुक्षौ कथङ्कारं निविशतामिति तु विचारान्तरम्।'

ये शब्द तो पण्डितराज जगन्नाथ के हैं किन्तु इसी मत का समर्थन करते हुए आचार्य आनन्दवर्धन ने भी स्वयं अपने शब्दों में लिखा है-

यद्यपि ध्वनिशब्दसङ्कीर्तनेन काव्यलक्षणविधायिभिर्गुणवृत्तिरन्यो वा न कश्चित् प्रकार: प्रकाशित:, तथापि अमुख्यवृत्त्या काव्येषु व्यवहारं दर्शयता ध्वनि मार्गो मनाक् स्पृष्टोऽपि न लक्षित:।

ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने सर्वप्रथम ध्वनि को 'घंटे के अनुरणन' के रूप में अनुभूत किया और इसी आधार पर उस अनुरणन अर्थ की संज्ञा 'ध्वनि' रख दी। उनसे पूर्व वैयाकरण लोग श्रूयमाण अर्थ को ध्वनि कहते थे। किन्तु अब 'ध्वनि' नामकरण को विद्वान् वैयाकरणों ने भी अनुकूल स्वीकृति दे दी। अत: अब 'ध्वनि सम्प्रदाय' नामक भिन्न सम्प्रदाय की स्थापना हो गई। इस सम्प्रदाय को जानने से पूर्व हमें आचार्य आनन्दवर्धन के पूर्ववर्ती आचार्यों का मत भी जान लेना चाहिये जिससे हम जान सकेंगे कि ध्वनि पहल किस स्वरूप में जानी जाती थी। अत: अब हम आनन्दवर्धन के पूर्ववर्ती आचार्यों के ध्वनि चिन्तन की चर्चा करेंगे।

14.4.1 ध्वनि को अलङ्कारों में अन्तर्भूत करने वाले आचार्य

भामह ने जो 'गुणसामान्यप्रतीति' का निर्देश किया है, यह सर्वथा गम्यमान औपम्य के समान है। अलंकारों में अन्य गम्यमान अर्थों की स्वीकृति मिलती है। यथा- समासोक्ति में बताया जाता है- 'यत्रोक्ते गम्यमानोऽर्थ:'। इसी तरह पर्यायोक्ति अलङ्कार में भी कहा जाता है- 'यदन्येन प्रकरणेनाभिधीयते।' इस प्रकार इनके और भी अलङ्कारों में अन्य गम्यमान अर्थ की स्वीकृति मिलती है। भामह के कहने का तात्पर्य स्पष्टतया प्रतीत होता है कि सामान्य अर्थ तो एक सामान्य वाक्य द्वारा जाना एवं समझा जा सकता है किन्तु विशेष अर्थ जो कि गम्यमान नाम से जाना जाता है वो अलङ्कारों द्वारा ही व्यञ्जित हाता है। (1) अत: ध्वनि तत्त्व को भामह ने गुणसाम्य प्रतीतिरूप कहा है। (2)

ध्वनि तत्त्व को उन्होनें गम्यमान अर्थ का बोधक कहा है। (3) प्रतीयमान अर्थ अलंकारों द्वारा जाना जा सकता है।

भामह ने इन तीन दृष्टियों से आचार्य आनन्दवर्धन के मत को अपनी विशिष्ट दृष्टि से भिन्न रूप में (अलङ्कारों में अन्तर्भूत) प्रस्तुत किया।

दण्डी की काव्यादर्श में भी ध्वनि सिद्धान्त के सङ्केत प्राप्त होते हैं- उदात्त अलंकार के प्रसङ्ग मे दण्डी ने लिखा है-

पूर्वत्राशयमाहात्म्यमत्राभ्युदयगौरवम्।
सुव्यञ्जितमिति व्यक्तमुदात्तद्वयमप्यदः॥

उद्भट् ने 'पर्यायोक्ति' अलङ्कार में ध्वनि सिद्धान्त के सङ्केत दिये हैं।

रुद्रट के परिकर अलङ्कार में ध्वनि की व्यञ्जना प्राप्त है। रुद्रट ने समासोक्ति और अन्योक्ति अलङ्कारों में भी ध्वनि तत्त्व को माना है।

14.4.2 विरोधी आचार्य

भामह, दण्डी, उद्भट् रुद्रट आदि तो ध्वन्यालोक के रचयिता आचार्य आनन्दवर्धन के ध्वनि सिद्धान्त को अलङ्कारों में देखा है तथा उसे अन्य रूप में स्वीकार किया है। किन्तु प्रतीहारेन्दुराज, भट्टनायक, कुन्तक, महिमभट्ट आदि आचार्यों ने ध्वन्यालोक के ध्वनि सिद्धान्त का विरोध किया। अब हम संक्षेप में उन ध्वनि सम्प्रदाय विरोधी आचार्यों के बारे में पढ़ेंगे-

प्रतीहारेन्दुराज- आनन्दवर्धन ने जब प्रतीयमान अर्थ पर आधारित विचार को ध्वनि सिद्धान्त के रूप में स्थापित किया तब विशेषरूप से 'अलङ्कारान्तर्भूत' करने का पयत्न किया। प्रतीहारेन्दुराज ने इस विचार को (प्रयत्न को) उद्भट के 'काव्यालङ्कार संग्रह' पर लिखी अपनी व्याख्या में निर्दिष्ट किया-

'स (प्रतीयमानः) कस्मादिह नोपदिष्टः। उच्यते। एष्वेवालङ्कारेष्वन्तर्भावात्।

यथा- पर्यायोक्त अलङ्कार में पदध्वनि को अन्तर्भूत करते हुए प्रतीहारेन्दुराज ने लिखा है-

'न खलु पदे पर्यायोक्तेन न भवितव्यमितीयं राजामाज्ञा, सूत्रकारवनं वा।'

यहाँ वस्तुध्वनि को पर्यायोक्त अलङ्कार के अन्तर्गत बताते हुए 'रामोस्मि सर्वं सहे' को पदध्वनि मानकर पद में पर्यायोक्त का निर्देश दिया है।

मुकुलभट्ट के शिष्य प्रतीहारेन्दुराज ने ध्वनि को अलङ्कार के अन्तर्गत माना और उसके तीन भेदों वस्तु, अलङ्कार और रस के ध्वन्यालोक में दिये गए उदाहरणों को अलङ्कारों के उदाहरण सिद्ध किया। यथा-

ननु यत्र काव्ये सहृदयहृदयाह्लादिनः प्रधानभूतस्य स्वशब्दव्यापारास्पृष्टत्वेन प्रतीयमानैकरूपस्यार्थस्य सद्भावस्त्वत्र तथाविधार्थाभिव्यक्ति हेतुः काव्यजीवितभूतः कैश्चित् सहृदयैर्ध्वनिर्नाम व्यञ्जकत्वभेदात्मा काव्यधर्मोऽभिहितः। स कस्मादिह नोपदिष्टः। उच्यते। एष्वेवालङ्कारेष्वन्तर्भावात्।'

मुकुलभट्ट ने अपनी पुस्तक 'अभिधावृत्तिमातृका' में लिखा है-

'लक्षणामार्गावगाहित्वं तु ध्वनेः सहृदयैर्नूतनतयोपवर्णितस्य विद्यत इति
दिशमुन्मीलयितुमिदमत्रोक्तम्।'

यहाँ स्पष्ट है कि मुकुलभट्ट ध्वनि को लक्षणा के अन्तर्गत स्वीकार करते थे अतः आनन्दवर्धनाचार्य की नूतन ध्वनिविषयक व्यञ्जना उन्हें उचित न लगी।

14.4.3 प्रबल विरोधी आचार्य

इस प्रकार प्रतीहारेन्दुराज एवं मुकुलभट्ट द्वारा ध्वनि का खण्डन प्रसङ्गत: हुआ। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी आलङ्कारिक हुए जिन्होंने अपने ग्रन्थों का निर्माण ही ध्वनि के खण्डनमात्र के उद्देश्य से किया। इनमें तीन प्रमुख हैं- (1) भट्टनायक (2) कुन्तक (3) महिमभट्ट।

(1) **भट्टनायक**- 'हृदयदर्पण' नामक ग्रन्थ में भट्टनायक ने ध्वनि सिद्धान्त की आलोचना की है। वस्तुत: यह ग्रन्थ अप्राप्य है किन्तु लोचन टीका में इसका उल्लेख प्राप्त होता है।

'दर्पणों हृदयदर्पणाख्यो ध्वनि ध्वंस ग्रन्थोऽपि' व्यक्ति विवेकव्याख्यान के इस कथन के अनुसार यह बात स्पष्ट है कि 'हृदयदर्पण' ध्वनिध्वंस के उद्देश्य से ही लिखा गया है। भट्टनायक व्यञ्जनाशब्दशक्ति के समर्थक नहीं है। वे अभिधा के अतिरिक्त भावना और भोजकत्व नामक दो नये व्यापारों को कल्पना करते हैं। आप रससिद्धान्त के युक्तिवादी व्याख्याता है।

(2) **कुन्तक**- कुन्तक ने अपने ग्रन्थ 'वक्रोक्तिजीवितम्' का निर्माण ही ध्वनिसिद्धान्त की स्थापना के विरोध में किया है। किन्तु इनका मूल उद्देश्य ध्वनि का खण्डन करना नहीं अपितु वक्रोक्ति का मण्डन करना है। आचार्य आनन्दवर्धन के ध्वनि सिद्धान्त को इन्होंने वक्रोक्ति के प्रकारान्तर के रूप में ही माना है। ये इनका स्वभाव आनन्दवर्धन के प्रति सौहार्दपूर्ण था। आपने रस की उपयोगिता काव्य में स्वीकार करते हुए भी कुन्तक ने उसे स्वतन्त्र काव्यतत्त्व न मानकर वक्रोक्ति का भेदमात्र माना है। कुन्तक लोचनकार के समकालिक थे।

(3) **महिमभट्ट**- महिमभट्ट ने अपने ग्रन्थ 'व्यक्तिविवेकव्याख्यान' में लिखा है कि मेरी बुद्धि हृदयदर्पण को देखे बिना ही सहसा यश की ओर प्रवृत्त हो गई है-

सहसा यशोऽभिसर्तुं समुद्यता-दृष्टदर्पणा मम धी:।

स्वालङ्कारविकल्पप्रकल्पने वेत्ति कथमिवावद्यम्॥

महिमभट्ट के ग्रन्थ का प्रणयन ध्वनि सिद्धान्त के खण्डनार्थ हुआ है इस बात की पुष्टि स्वयं महिमभट्ट के ग्रन्थ के इस पद्य से हो जाती है-

अनुमानेऽन्तर्भावं सर्वस्यैव ध्वने: प्रकाशयितुम्।
व्यक्तिविवेकं कुरुते प्रणम्य महिमा परां वाचम्॥

अर्थात् महिमभट्ट परा वाणी को प्रणाम करके अनुमान में सभी ध्वनियों का अन्तर्भाव करने के लिये 'व्यक्ति विवेक' नाम के ग्रन्थ निर्माण कर रहे हैं।

महिमभट्ट अभिधावादी है, व्यङ्ग्य को वे अनुमान में अन्तर्भूत करते हैं। लिङ्गलिङ्गीभाव को ये व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव के स्थान पर स्वीकार करते हैं। इन्होंने ध्वनि के उदाहरणों को अनुमान द्वारा सिद्ध किया है। किन्तु साहित्य जगत् में इनका स्थान बहुत अधिक ऊँचाई तक नहीं पहुँच पाया और ध्वनि सिद्धान्त अपनी विजयपताका फहराता हुआ साहित्यगगन में सुशोभित हो रहा है।

इनक अतिरिक्त जयद्रथरचित 'अलङ्कार सर्वस्य' के व्याख्यान में एकत्र दो कारिकाओं का उल्लेख प्राप्त है जिनके लेखक का नाम अनिर्दिष्ट है, उसमें ध्वनि के सम्बन्ध में 12 विप्रतिपत्तियाँ निर्दिष्ट हैं-

तात्पर्यशक्तिरभिधा लक्षणानुमिती द्विधा।
अर्थापत्ति: क्वचित्तन्त्रं समासाक्त्याद्यलङ्कृति:॥

रसस्य कार्यता भोगो व्यापारान्तरबाधनम्।
द्वादशेत्थं ध्वनेरस्य स्थिता विप्रतिपत्तय:॥

विस्तारभय से इन विप्रतिपत्तियों की चर्चा यहाँ हम नहीं करेंगे। अभिधेयमात्र यहाँ देखेंगे। (1) तात्पर्य, (2) अभिधा, (3) (4) लक्षणा के दो भेद, (5) (6) अनुमान के दो भेद, (7) अर्थापत्ति, (8) तन्त्र, (9) समासोक्त्यादि अलङ्कार, (10) रसकार्यता, (11) भोग, (12) व्यापारान्तरबाधनम्।

इन समस्त आचार्यों ने जो ध्वनिसिद्धान्त की आलोचना की है उसके स्वरूप को बदला है वो सारी क्रियाऐं -प्रतिक्रियाऐं होने के पश्चात् भी आनन्दवर्धन का सिद्धान्त अपनी जगह अक्षुण्ण खड़ा है। ध्वनि विरोधी पक्षों में स्वयं आनन्दवर्धन ने तीन पक्षों का निर्देश दिया है-(1) अभाववादी, (2) भाक्तवादी, (3) अनिर्वचनीयतावादी। इन सभी मतों का खण्डन एवं स्वमत का मण्डन हम अग्रिम अध्याय में पढ़ेंगे।

उपरोक्त सम्पूर्ण प्रसङ्ग को पढ़कर हमने आचार्य आनन्दवर्धन के विरोधी आचार्यों के मतों का संक्षेप में अध्ययन किया। अध्ययन सौकर्य की दृष्टि से हम इस पूरे विरोधी सम्प्रदाय को तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं।

आनन्दवर्धन के विरोधी आचार्य

(1)	(2)	(3)
(अ) भामह	(अ) प्रतीहारेन्दुराज	(अ) भट्टनायक
(ब) दण्डी	(ब) मुकुलभट्ट	(ब) कुन्तक
	(स) उद्भट्	(स) महिमभट्ट
	(द) रुद्रट	

यहाँ प्रथम विभाजन में वे आचार्य परिगणित है जिन्होंने आनन्दवर्धन के मत का खण्डन तो नहीं किया किन्तु उनके ध्वनि सिद्धान्त को अलङ्कारों में अन्तर्भूत किया है।

द्वितीय विभाजन में वे आचार्य हैं जिन्होंने प्रसङ्गवश ध्वनि का खण्डन किया है।

तृतीय विभाजन में वे आचार्य है जिन्होंने प्रसङ्गवश नहीं अपितु ध्वनि के खण्डन के उद्देश्यमात्र से ही अपने स्वतन्त्र ग्रन्थों की रचना की है।

14.5 ध्वनि सिद्धान्त का मूल तत्त्व

14.5.1 ध्वनि सिद्धान्त की मूलप्रेरणा

साहित्य जगत् का बहुमूल्यसिद्धान्त ध्वनिसिद्धान्त ऐसे ही कहीं से उठकर नहीं आ गया है। इसके मूल में वैयाकरणों की उक्ति विद्यमान है और वह सर्वमान्य है।

उपासनीयं यत्नेन शास्त्रं व्याकरणं महत्।
प्रदीपभूतं सर्वासां विद्यानां यदवस्थितम्॥

अर्थात् महान् व्याकरणशास्त्र की अनेकयत्नपूर्वक उपासना करनी चाहिये क्योंकि यह शास्त्र समस्त विद्याओं के प्रदीप के रूप में अवस्थित है।

व्याकरणाचार्यों के अनुसार श्रूयमाण वर्ण ही 'ध्वनि' कहलाते हैं। चूंकि ये वर्ण व्यञ्जक होते हैं अत: विद्वानों ने वाच्यवाचकसम्मिश्रित काव्य को भी 'ध्वनि' कहा। ध्वनिकार ने इसी मत की शास्त्रसम्मति

और विषय के सार्वजनीकरण हेतु से अपने ग्रन्थ की रचना को प्रवृत्त किया। जिस स्फोटवाद से ध्वनि सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव हुआ उसे प्रसङ्गवश यहाँ हम पढ़ेंगे।

स्फोटवाद- स्फोटवाद के प्रतिपादक स्फोटायनाचार्य ही थे। इसके प्रमाण भी हमें अन्य ग्रन्थों में प्राप्त होते हैं।

'अवङ् स्फोटायनस्य'। अष्टाध्यायी 6.1.123।

'स्फोटोऽयनं पारायणं यस्य स स्फोटायनः स्फोटप्रतिपादनपरो वैयाकरणाचार्यः॥ पदमञ्जरी॥

पाणिनी के अतिरिक्त भी समस्त वैयाकरण यथा कात्यायन, पतञ्जलि आदि भी स्फोटवाद के समर्थक हैं। वैयाकरणाचार्यों के मतानुसार शब्द नित्य है, एक है तथा अखण्ड है। शब्द की अभिव्यक्ति का माध्यम वैयाकरणों ने ध्वनि से माना है तथा ध्वनि के दो वर्गीकरण किये हैं- (1) प्राकृत (2) वैकृत। वैयाकरणों के मत में वाक्य में सार्थकता होती है न कि वर्णों या पदों में। पतञ्जलि ने अपने शब्दों में स्पष्ट रूप से (शब्द) स्फोट का लक्षण बताया है तथा यह भी स्पष्ट किया है कि अर्थ की प्रतीति वाक्य से होती है। श्रोत्र से ही शब्द की उपलब्धि होती है।

'श्रोत्रोपलब्धिर्बुद्धिनिर्ग्राह्यः प्रयोगेणाभिज्वलित आकाशदेशः शब्दः। एकं च पुनराकाशम्।'

'नित्यांश्च शब्दाः। नित्येषु च शब्देषु कूटस्थैरविचालिभि-वर्णैर्भवितव्यमनपायोपजनविकारिभिः।'

पतञ्जलि के अनुसार शब्द स्फोटरूप है। ध्वनि स्फोट का गुण है। जैसे घंटे की टंकार में एक अनुरणन होता है, वही ध्वनि है। स्फोट और ध्वनि में व्यङ्ग्यव्यञ्जक भाव है।

स्फोट शब्द की व्युत्पत्ति वैयाकरणों ने इस प्रकार दी है।

'स्फुटत्यर्थोऽऽस्मादिति स्फोटः'

जिससे अर्थ का स्फुरण होता है वह स्फोट कहलाता है। स्फोट और ध्वनि शब्द के दो भेद व्याकरणशास्त्र में माने जाते हैं।

द्वावुपादानशब्देषु शब्दौ शब्दविदो विदुः।
एको निमित्तं शब्दानामपरोऽर्थे प्रयुज्यते॥

स्फोट एवं ध्वनि की चर्चा का दार्शनिक पद्धति से विवेचन करते हुए आचार्य जगन्नाथ पाठक ने विस्तृत वर्णन प्रस्तुत किया है।

स्फोट ध्वनि रूप शब्द का उपादान कारण है क्योंकि उससे अर्थ का भान होता है और दूसरे ध्वनिरूप शब्द का अर्थों में प्रयोग किया जाता है अथवा वह शब्द-समुदाय (उपादान) जिसे ध्वनि कहते हैं स्फोट का निमित्त अर्थात् व्यञ्जक होता है तत्पश्चात् दूसरे स्फोट रूप शब्द के अभिव्यक्त होने पर अर्थ की प्रतीति होती है। अभिप्राय यह है कि श्रोता की बुद्धि में स्थित क्रमरहित शब्द स्फोट या ध्वनि शब्द के सुनते ही अभिव्यक्त होता है और वह अर्थ का बोध कराता है। इस प्रकार स्फोट व्यङ्ग्य है और ध्वनि व्यञ्जक।

जिस प्रकार कारण और कार्य को कुछ दार्शनिक भिन्न मानते हैं तो कुछ अभिन्न, इसी प्रकार का मतभेद स्फोट और ध्वनि के सन्दर्भ में भी प्राचीन दार्शनिकों में हुआ।

स्फोट की स्थिति बुद्धि में उस प्रकार की होती है जिस प्रकार काष्ठ में अग्नि की। उस स्थिति में वह अज्ञात रहता है। किन्तु जब कण्ठ, तालु आदि करणों के आश्रय से विवर्त की स्थिति में आता है तब ध्वनि रूप से प्रतीत होने लगता है। व्यंजक ध्वनि के भेद से उसमें भी भेद हो जाता है। जिस प्रकार अग्नि स्वयं को प्रकाशित करता हुआ अन्य घटादि वस्तुओं को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार ध्वनि

द्वारा व्यंजित स्फोट शब्द भी अपने को प्रकाशित करता हुआ अर्थ को भी प्रकाशित करता है। स्फोट और ध्वनि में तादात्म्य माना जाता है, क्योंकि यदि ऐसा न माना जाय तो किसी भी ध्वनि से किसी भी अर्थ का ज्ञान होना चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं होता। फिर भी स्फोट में कोई क्रम नहीं होता तथा भेद भी नहीं होता। उसमं क्रम और भेद की प्रतीति ध्वनि की अभिव्यक्ति के क्रम से होती है। जिस प्रकार चन्द्रमा में चंचलता नहीं होती, किन्तु तरल जल में उसके प्रतिबिम्ब को देखकर उसमें भी चंचलता आरोपित करते हैं उसी प्रकार स्फोट में क्रम और भेद वास्तविक नहीं है, प्रत्युत आरोपित है।

मनुष्य की बुद्धि में वह ब्राह्माण्डव्यापी शब्द अपने क्रमरहित एवं निर्विभाग रूप में विद्यमान रहता है और जब उच्चारण की इच्छा होती है तब उसमें एक क्रियारूपा वृत्ति होती है, फिर वह उस वृत्ति के कारण वाक्य, पद आदि के रूप में आता है। स्वत: अखण्ड है, फिर भी वृत्ति के कारण भागों की तथा क्रम की उसमें सत्ता होती है। यह ठीक उसी प्रकार होता है जिस प्रकार पक्षी के अण्डे के भीतर केवल अरूप अविभक्त एक तरल पदार्थ होता है वही विशेष स्थिति में एक रूप में आने लगता है।

वैयाकरणों ने ध्वनि के दो भेद किए हैं–प्राकृत एवं वैकृत। प्राकृत अर्थात् मौलिक ध्वनि तथा वैकृत ध्वनि अर्थात् प्राकृत ध्वनि का अनुरणन रूप। प्राकृत ध्वनि में स्वभाव भेद रहता है उसी के कारण ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत होता है। स्फोट शब्द इस काल-भद से रहित है किन्तु इसे उसमें आरोपित करते हैं। प्राकृत ध्वनि के काल का शब्द में आरोप करके उसे व्यवहार का विषय बनाते हैं।

प्राकृत ध्वनि में ह्रस्व, दीर्घ आदि गुण हैं और वैकृत ध्वनि में द्रुत, मध्य एवं विलम्बित वृत्तियाँ रहती है। प्राकृत ध्वनि के पश्चात् वृत्तिभेद होने पर यह ध्वनि उत्पन्न होते हैं। और जैसा कि भगवान् भर्तृहरि का कहना है–

स्फोटस्य ग्रहणे हेतुः प्राकृतो ध्वनिरिष्यते।
वृत्तिभेदे निमित्तत्वं वैकृतः प्रतिपद्यते॥

स्फोट का ग्रहण प्राकृत ध्वनि से होता है। प्राकृत को स्फोट का प्रतिबिम्ब माना जाता है। यद्यपि प्राकृत ध्वनि में नित्यता नहीं है, तथापि स्फोट की नित्यता उसमें भी मान ली जाती है। प्राकृत ध्वनि के पश्चात् उत्पन्न होने वाली ध्वनि को मूल का विकार कहा जाता है और उससे ही सब प्रकार की वृत्तियों का भेद होता है।

संक्षेप में इस विस्तारगम्य विषय को प्रस्तुत में इतना ही समझ लेने की आवश्यकता है। लोचनकार ने वैयाकरणों के ध्वनि को काव्य-सिद्धान्तीय ध्वनि-विचार में संगत करते हुए भगवान् भर्तृहरि के श्लोक भी उद्धृत किए हैं।

काव्य में 'ध्वनि' शब्द से मुख्यत: व्यंग्य अर्थ, व्यंजक शब्द-अर्थ एवं व्यञ्जनाव्यापार इन सब का ग्रहण होता है। प्रथम तो व्यंग्य अर्थ 'ध्वनि' कहा जाता है वह घण्टादि के शब्द के स्थान पर अनुरणन रूप होता है और व्याकरण-दर्शन में उत्पत्तिवादियों के मतानुसार स्फोट वह शब्द है जो स्थान, पयत्न आदि से वायु में संयोग या विभाग के कारण उत्पन्न होता है और उस शब्द से उत्पन्न होने वाले (शब्दज शब्द अर्थात् घण्टानुरणन रूप शब्द) ध्वनि कहे जाते हैं। (ये उत्पत्तिवादी आचार्य स्फोट को नित्य नहीं मानते, बल्कि इनके अनुसार स्फोट उत्पन्न होता है अतएव अनित्य है।) श्लोक इस प्रकार है–

यः संयोगवियोगाभ्यां करणैरुपजन्यते।
स स्फोटः शब्दजाः शब्दा ध्वनयोऽन्यैरुदाहृताः॥ वाक्यपदीय, 1/103

जैसा कि वैयाकरणों का अभिमत है, नाद अर्थात् श्रूयमान वर्ण स्फोट के अभिव्यंजक होते हैं और स्फोट अन्त्यबुद्धिनिर्ग्राह्य होता है। इस प्रकार श्रूयमाण वर्ण या नाद, जिन्हें 'ध्वनि' कहते हैं, क्रमशः स्फोट को बुद्धि में प्रकाशित या अभिव्यक्त करते जाते हैं। भर्तृहरि कहते हैं–

प्रत्ययैरनुपाख्येयैर्ग्रहणानुगुणैस्तथा। ध्वनिप्रकाशिते शब्दे स्वरूपमवधार्यते॥

वाक्यपदीय, 1/84

इस प्रकार व्यंग्य अर्थ के व्यंजक शब्द-अर्थ भी प्रस्तुत काव्य-सिद्धान्त में 'ध्वनि' शब्द से अभिहित हैं। फिर ऐसा होता है कि वर्णों के परिमित होने से अल्पतर यत्न से उच्चारित शब्द को जब बुद्धि नहीं ग्रहण कर पाती, उस स्थिति में वक्ता का जो प्रसिद्ध उच्चारण-व्यापार से अधिक द्रुत, विलम्बित आदि वृत्तियों का भेदरूप व्यापार है उसे भी ध्वनि कहते हैं–

शब्दस्योर्ध्वमभिव्यक्तेर्वृत्तिभेदे तु वैकृताः।
ध्वनयः समुपोहन्ते स्फोटात्मा तैर्न भिद्यते॥ **वाक्यपदीय**, 1/78

कहा जा चुका है कि ये वृत्तियाँ वैकृत ध्वनि में होती हैं और उच्चारण-व्यापार से ये अतिरिक्त व्यापार हैं। इसी आधार पर प्रस्तुत में ध्वनिकार ने प्रसिद्ध अभिधा, तात्पर्य और लक्षणा व्यापारों से अतिरिक्त व्यंजना व्यापार को भी 'ध्वनि' कहा है।

और व्यंग्य अर्थ, व्यंजक शब्द और अर्थ, व्यंजना-व्यापार ये चार ध्वनि हैं तो इनके योग से समुदायरूप काव्य भी 'ध्वनि' पदवाच्य होता है।

इन समस्त पक्षों को स्वीकार करते हुए आचार्य आनन्दवर्धन ने अपने पक्ष की स्थापना की। किन्तु स्वमत की स्थापना करने के लिये उन्हें तीन वादों के अनुयायियों का खण्डन करके अपने सिद्धान्त की स्थापना करनी पड़ी। इस त्रिविध खण्डन का सङ्केत ध्वन्यालोक के प्रथम श्लोक से ही प्राप्त हो जाता है।

काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नात्पूर्व-
स्तस्याभावं जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये।

केचिद्वाचां स्थितमविषये तत्त्वमूचुस्तदीयं
तेन ब्रूमः सहृदयमनःप्रीतये तत्स्वरूपम्॥

यहाँ समाम्नात् पूर्व जिन लोगों ने ध्वनि को अन्यान्य स्वरूपों में प्रस्तुत किया है उनका वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है–

14.5.2 तीन विरोधी मत

अभाववादी भक्तिवादी अनिर्वचनीयतावादी

इनमें से अभाववादियों के पुनः त्रिविध मतों का खण्डन प्राप्त होता है जिन्हें आचार्य बलदेव उपाध्याय ने समुदायविशेष के नाम से भी बताया है।

14.5.3 त्रिविध अभाववादी

नितान्त अभाववादी प्रस्थानवादी अन्तर्भाववादी

द्वितीय पक्ष है भाक्त सम्प्रदाय। आचार्य आनन्दवर्धन ने अपने ध्वनि सिद्धान्त की स्थापना हेतु यथाशक्य प्रस्तुत होने वाली शंकाओं का खण्डन पस्तुत किया है। भक्तिवादियों के मत में तीन विकल्पों की कल्पना करते हुए आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वनि की लक्षणागम्यता का खण्डन किया है।

14.5.4 भाक्तवादियों के तीन पक्ष (जिनका खण्डन किया गया है)

(1)क्या 'भक्ति और 'ध्वनि' (2)क्या 'भक्ति' (3) क्या भक्ति ध्वनि का

दोनों एक ही हैं? 'ध्वनि' का लक्षण है? उपलक्षण हो सकती है?

इन सभी पक्षों का खण्डन करने के उपरान्त ध्वनि को 'काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति' परिभाषा से अलङ्कृत किया है।

(1) अभाववादी –

''बुधै: काव्यतत्त्वविद्भि:, काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति संज्ञित: परम्परया य: समाम्नातपूर्व: सम्यक् आसमन्ताद्म्नात: प्रकटित:, तस्य सहृदयजनमन: प्रकाशमानस्याप्यभावमन्ये जगदु:। तदभावादिनां चामी विकल्पा: संभवन्ति।''

स्वयं आनन्दवर्धन ने लिखा है कि बुध अर्थात् काव्य के तत्त्वज्ञ लोगों ने काव्य के आत्मा को 'ध्वनि' संज्ञा दी है। और जिसे परम्परा से पूर्व ही समाम्नात अर्थात् अच्छी प्रकार से प्रकट कर दिया गया है, सहृदय जनों के मन में प्रकाशमान भी उस (ध्वनि) का अन्य लोग अभाव कहते हैं। उन अभाववादियों के यथासम्भव विकल्प हो सकते हैं। उनका कथन सर्वप्रथम आनन्दवर्धन ने किया है।

''तस्याभावं जगदुपरे।'' इस कारिकांश का प्रयोग आचार्य आनन्दवर्धन ने 'ध्वन्यालोक' की प्रथम कारिका में ही किया है। यह कारिकांश ध्वनि का अभाव मानने वाले 'अभाववादियों' की ओर संकेत करता है।'

खण्डन-मण्डन पद्धति को आधार बनाकर आचार्य आनन्दवधन ने स्थूणानिखणवन्याय से ध्वनि मत की स्थापना की है। खण्डन-मण्डन पद्धति में पूर्व पक्ष के सम्भावित आक्षेपों का कथन करते हुए उत्तर पक्ष अपना मनन एवं चिन्तन करता है तथा अन्त में स्व पक्ष की स्थापना करते हुए पूर्व पक्ष को निराकृत कर देता है। यहाँ पर भी यही प्रक्रिया हम देखेंगे।

14.5.5 (I) नितान्त अभाववादी–

सर्वप्रथम अभाववादियों के तीन समुदायों में से प्रथम नितान्त अभाववादियों के मत पर विचार किया जा रहा है।

पूर्व पक्ष-यदि कुछ लोग कहें-काव्य का शरीर तो शब्द और अर्थ है। उसमें शब्दगत चारुत्व के प्रमाणस्वरूप अनुप्रासादि अलङ्कार प्राप्त हैं और अर्थगत चारुत्व के प्रमाणस्वरूप उपमादि अलङ्कार प्रसिद्ध ही हैं। शब्दार्थ में ही वर्णसंघटना के जो धर्म हैं, माधुर्य, ओज, प्रसादादि गुण हैं, वे भी प्रतीत होते हैं। उन (अलङ्कार और गुणों) से अभिन्न रहने वाली वृत्तियाँ भी (उपनागरिका आदि) सुनने में आती हैं। वैदर्भी, गौडी, पाञ्चाली आदि रीतियाँ भी शब्दार्थ में ही सुनने में आ जाती हैं। तो इन सबके अतिरिक्त यह ध्वनि नाम का कौनसा नवीन पदार्थ है?

ध्वनिकार के शब्दों में-

तत्र केचिदाचक्षीरन्-शब्दाथशरीरन्तावत्काव्यम्। तत्र च शब्दगताश्चारुत्वहेतवोऽनुप्रासादय: प्रसिद्धा एव। अर्थगतश्चोपमादय: वर्णसंघटना धर्माश्च ये माधुर्यादयस्तेऽपि प्रतीयन्ते। तदनतिरिक्तवृत्तयोऽपि या: कैश्चिदुपनागरिकाद्या: प्रकाशिता:, ता अपि गता: श्रवणगोचरम्। रीतयश्च वैदर्भीप्रभृतय:। तद्व्यतिरिक्त: कोऽयं ध्वनिर्नामेति।

तात्पर्य है कि चारुतासम्पन्न शब्द और अर्थ के साहित्य पर ही काव्य की सत्ता निर्भर है। यह चारुता दो प्रकार से होती है-(1)स्वरूपमात्र से रहने वाली तथा (2) संघटना में रहने वाली। शब्द की स्वरूपनिष्ठ-चारुता शब्दालंकार के द्वारा और संघटनाश्रित चारुता शब्द-गुणों के द्वारा होती है। इसी

प्रकार अर्थ की स्वरूपनिष्ठ चारुता अर्थालंकारों द्वारा तथा संघटनाश्रित चारुता अर्थ-गुणों द्वारा सम्पन्न होती है। चारुता की उत्पादिका वृत्ति तथा रीति भी गुणालंकार से भिन्न नहीं होती। वृत्तियाँ (परुषा, उपनागरिका तथा कोमला) अनुप्रास की ही प्रकार है तथा रीतियाँ (गौडी, वैदर्भी तथा पांचाली) माधुर्यादि गुणों की समुदाय रूप है। काव्य के चारुत्व के प्रसाधक ये ही तत्त्व हैं। ध्वनि इनसे भिन्न हैं। फलत: ध्वनि की कल्पना ही असिद्ध है।

सरल शब्दों में अभाववादियों के प्रथम दल का कहना है कि काव्य का आत्मा उसमें रहने वाला चारुत्व है।

'शब्दार्थ शरीरं तावत काव्यं' शब्द अर्थ से मिलकर काव्य शरीर का निर्माण होता है। शब्दगत चारुत्व में वृद्धि करने वाले अनुप्रासादि अलंकार और अर्थगत चारुत्व में वृद्धि करने वाले उपमादि अलंकार काव्य में प्रसिद्ध हैं। वर्ण संघटना के धर्म माधुर्य, ओज, प्रसाद आदि भी प्रसिद्ध ही हैं। काव्य में पुरुषा, नागरिका, ग्राम्या आदि वृत्तियाँ भी सुनाई गई हैं पर संघटना के धर्म वैदर्भी आदि रीतियाँ भी प्रसिद्ध हैं। काव्य में इनसे भिन्न और कोई चारुत्व हेतु नहीं हो सकता अत: काव्य में ध्वनि का अभाव है।

खण्डन–आचार्यानन्दवर्धन ने अभाववादियों के प्रथम मत का खण्डन इस प्रकार से किया है–

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृत स्वार्थौ।
व्यक्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति शूरिभिः कथितः॥

अर्थात् जहाँ पर वाक्य अपने को और वाचक शब्द अपने अर्थ को गौण बनाकर प्रतीयमान अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं, वही ध्वनि है। अत: ध्वनि काव्य का अंगी धर्म है। जबकि वाच्य वाचक पर आधारित उपमा, अनुप्रास, गुण वृत्तियाँ आदि काव्य के अंग धर्म हैं।

इसे सरल एवं स्पष्ट रूप से समझने के लिये हम कह सकते हैं कि जो कुछ 'अभाववादियों' का कहना है कि–'शब्दार्थशरीरं तावत्काव्यम्।' इनके मत में गुण, वृत्ति, रीति तथा अलंकार आदि प्रसिद्ध प्रस्थान से पृथक् ध्वनि नाम की कोई नई वस्तु नहीं है। इनके खण्डन में ध्वनिकार ने ध्वनि की परिभाषा देते हुए, निम्नलिखित कारिका को प्रस्तुत किया है–''यत्रार्थ: शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ। व्यक्त: काव्यविशेष: स ध्वनिरिति सूरिभि: कथित:॥'' अर्थात्–काव्य में जब अर्थ या शब्द अपनी आत्मा तथा अपने अर्थ को गौण बनाकर उस व्यंग्यार्थ को व्यक्त करते हैं, तब वह काव्यविशेष विद्वानों द्वारा ध्वनि नाम से अभिहित किया जाता है। अत: स्पष्ट है कि–ध्वनि का विषय–वाच्यार्थ की चारुता से उत्पन्न होने वाले उपमा आदि तथा वाचक की चारुता से उत्पन्न अनुप्रास आदि से पृथक् है–'अनेन वाच्यवाचकचारुत्वहेतुभ्य उपमादिभ्योऽनुप्रासादिभ्यश्च विभक्त एव ध्वनेर्विषय इति दर्शितम्।'

14.5.6 (II) प्रस्थानवादी–

काव्य सहृदयों के हृदय को आनन्दित करने वाले शब्द और अर्थ के युगल रूप से ही निर्मित होता है। काव्य की एक निश्चित परम्परा है। सरल सहृदयों के द्वारा निर्दिष्ट गुणालंकार समन्वित काव्य ही 'काव्य' शब्द का अधिकारी होता है। ध्वनि के विषय में इस प्रकार का कोई भी सर्वसम्मत सिद्धान्त नहीं है। कतिपय सहृदयों का मनोरंजन भले ही यह करता रहे, परन्तु समग्र विद्वज्जनों के हृदय को यह आकृष्ट नहों करता। फलत: काव्य प्रस्थान की दृष्टि से ध्वनि की सत्ता असिद्ध है।

सरल शब्दों में अभाववादियों का जो द्वितीय मत है उसके अनुसार–ध्वनि नाम की कोई वस्तु है ही नहीं, क्योंकि काव्य का एक प्रसिद्ध मार्ग है कि सहृदयों के अर्थ को आह्लादित करने वाले शब्द और अर्थ से काव्य निर्मित होता है। काव्य के इस प्रसिद्ध मार्ग का उल्लंघन करके अन्य किसी प्रस्थान को काव्य नहीं कहा जा सकता।

'**सहृदयहृदयाह्लादक शब्दार्थयुक्तत्व**' ही काव्य का लक्षण है। यदि कोई अपने को सहृदय मानने वाले व्यक्ति ध्वनि को काव्य की सज्ञा दे भी दे तो वह सभी विद्वज्जनों को मनोग्राही नहीं हो सकता।

खण्डन–जो अभाववादी गुण और अलंकारों में ध्वनि का अन्तर्भाव मानते हैं उनका मत भी इसी से खण्डित हो जाता है, क्योंकि गुण और अलंकार वाच्यवाचक भाव सम्बन्ध पर आश्रित है पर ध्वनि व्यंग्यव्यंजक सम्बन्ध पर आश्रित रहती है। इस प्रकार वाच्यवाचक भाव सम्बन्ध पर आश्रित रहने वाले गुण एवं अलंकारों में व्यंग्य व्यंजक भाव सम्बन्ध पर आश्रित ध्वनि का अन्तर्भाव कैसे हो सकता है?

'व्यंग्यव्यंजक सम्बन्ध निबन्धनतयाध्वनेः
वाच्यवाचक चारुत्व हेत्वन्तः पातिताकुतः।

अर्थात् जो कुछ अभाववादियों का कहना है कि–'**नास्त्येव ध्वनिः**' क्योंकि काव्य का ऐसा कोई प्रकार सम्भव नहीं हो सकता, जो प्रसिद्ध प्रस्थान–गुण, रीति, वृत्ति व अलंकारादि से पृथक् हो– '**सहृदयहृदयाह्लादिशब्दार्थमयत्वमेव काव्यलक्षणम्।**' अतः ध्वनि–सिद्धान्त अमान्य है। इनका खण्डन करते हुए आनन्दवर्धनाचार्य कहते हैं–ध्वनि केवल लक्षणकारों में ही प्रसिद्ध नहीं है, अपितु–'**लक्ष्ये तु परीक्ष्यमाणे स एव सहृदयहृदयाह्लादकारि काव्यतत्त्वम्।**' ये लक्ष्यग्रन्थ रामायण, महाभारतादि हैं। इनके अतिरिक्त सभी काव्य चित्रकाव्य हो कहे जाते हैं। यथा–

''मा निषादप्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीःसमा॥ यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितं॥''

14.5.7 (III) अन्तर्भाववादी–

इस मत का सिद्धान्त है कि ध्वनि नामक किसी अपूर्व पदार्थ की सम्भावना ही नहीं हो सकती। ध्वनि को नवीन आलोचक काव्य में चारुता उत्पन्न करने वाला एक साधन मानते हैं। ऐसी दशा में काव्य में शोभाधायक जितने साधन माने जाते हैं, उन्हीं में किसी भीतर इसका अन्तर्भाव हो सकता है। ध्वनि कोई विलक्षण वस्तु नहीं ठहरती, बल्कि किसी विशिष्ट शोभाधायक साधन का यह एक नवीन नामकरण-मात्र है। शब्द और अर्थ की विचित्रता का क्या कहीं कोई अन्त है? निर्मल बुद्धि के द्वारा समीक्षा करते जाइये, तो नये–नये तत्त्वों का उन्मेष होता रहेगा। काव्य के जितने परिचित तथा परिज्ञात तत्त्व हैं, उनका उद्गम क्या किसी एक युग में सम्पन्न हुआ है? नहीं, कभी नहीं। ये तो नवीन अनुशीलन के परिणत फल हैं। विचित्रताओं की जब इयत्ता ही नहीं, तब ध्वनि की नवीनता ही क्यों मानी जाय? यह इन्हीं सम्भाव्यमान चारुता का एक नवीन उपकरण है। फलतः ध्वनि का अन्तर्भाव अलंकार आदि परिचित तत्त्वों में भली–भाँति किया जा सकता है। इस अन्तर्भाव की दृष्टि से भी ध्वनि की सत्ता असिद्ध है।

सरल शब्दों में अभाववादियों के तृतीय मत की मान्यता है कि ध्वनि नाम की कोई अपूर्व वस्तु होना सम्भव नहीं है। क्योंकि ध्वनि काव्य से कमनीयता का हेतु है। इस प्रकार कमनीयता का अतीक्रमण न करने वाले गुणालंकारादित्व में ध्वनि का अन्तर्भाव हो जाएगा। काव्य के इस प्रसिद्ध मार्ग से भिन्न ध्वनि का कोई अस्तित्त्व नहीं है। यदि गुण अलंकार आदि में से किसी एक का नामकरण ध्वनि रख देने से कौनसी बड़ी बात होगी।

इस प्रकार आपका यह 'ध्वनि' मिथ्या प्रलाप है।

खण्डन–आचार्य आनन्दवर्धन ने इस मत के खण्डन में कहा है कि ध्वनि काव्य का अंगी धर्म है और वही काव्य की कमनीयता (चारुत्व) का हेतु है।

जबकि गुणालंकारादय काव्य के (गौण) अंग धर्म हैं। काव्य के आत्मभूत अंगी धर्म ध्वनि का जो व्यंग्य व्यंजक पर आधारित है उसका वाच्यवाचक के चारुत्व हेतु गुण–अलंकार आदि में अन्तर्भाव कैसे

हो सकता है? अतः ध्वनि का काव्य में स्वतन्त्र अस्तित्त्व है। ध्वनि ही काव्य की आत्मा जीवनाधायक स्वरूपाधायक तथा प्राणतत्त्व है।

तात्पर्य है कि जिन अभाववादियों का कहना है कि–'**न सम्भवत्येव ध्वनिर्नामापूर्वः कश्चित्।**' अर्थात– ध्वनि नाम की किसी अपूर्व वस्तु की सम्भावना ही नहीं हो सकती, क्योंकि काव्य की कमनीयता में इसका कोई विशेष महत्त्व न होने से काव्य सौन्दर्य के हेतुभूत–गुण, अलंकार आदि में ही ध्वनि का अन्तर्भाव हो जाता है। इस सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण उक्ति निम्नलिखित है–

''**यस्मिन्नस्ति न वस्तु किञ्चन मनःप्रह्लादि सालंकृति–,**
व्र्युत्पन्नै रचितं च नैव वचनैर्वक्रोक्तिशून्यं च यत्।
काव्य तद्ध्वनिना समन्वितमिति प्रीत्या संशसञ्जडो,
नो विद्मोऽभिदधाति कि सुमतिना पृष्टः स्वरूपं ध्वनेः॥''

ध्वनिकार आचार्य आनन्दवर्धन अभाववादियों के प्रस्तुत मत का खण्डन करते हुए कहते हैं– '**वाच्यवाचकमात्राश्रयिणि प्रस्थाने व्यंग्यव्यञ्जकसमाश्रयेण व्यवस्थितस्य ध्वनेः कथमन्तर्भावः**' क्योंकि वाच्यवाचक के चारुत्व हेतु उपमा तथा अनुप्रासादि तो उस ध्वनि के अग रूप हैं। अङ्गी (प्रधान) तो ध्वनि ही है–

''**व्यंग्यव्यञ्जकसम्बन्धनिबन्धनतया ध्वनेः। वाच्यवाचकचारुत्वहेत्वन्तःपतिता कुतः॥**''

इस प्रकार अभाववादियों के उपर्युक्त तीनों सम्प्रदायों का तर्कपूर्ण खण्डन करके आचार्य आनन्दवर्धन ने अपने ध्वनि सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है।

इन तीनों अभाववादी मतों में सूक्ष्म अन्तर है। प्रथम पक्ष के अनुसार 'ध्वनि' नामक कोई काव्यतत्त्व होता ही नहीं। द्वितीय पक्ष के अनुसार ध्वनि काव्य का सर्वालोचक–सम्मत तत्त्व नहीं है। कतिपय अलोचकसम्मत होने से इसकी मान्यता स्वीकृत नहीं। तृतीय पक्ष में ध्वनि काव्य में मान्य है, परन्तु एक स्वतन्त्र काव्यतत्त्व के रूप में नहीं। गुण, अलंकार आदि सर्वसम्मत काव्यतत्त्वों के भीतर ही इसका अन्तर्भाव माना जा सकता है। इन तीनों पक्षों को हम क्रमशः नितान्ताभाववादी, प्रस्थानवादी तथा अन्तर्भाववादी का नाम समुचित रीति से दे सकते हं।

14.5.8 भाक्तवादियों का खण्डन

आचार्य आनन्दवर्धन ने अपनी प्रथम कारिका में ही–''**भाक्तमाहुस्तमन्ये**'' इस कारिकांश के द्वारा भाक्तवादियों के मत को उपस्थापित किया है। भाक्तवादी ध्वनि का लक्षणा में अन्तर्भाव मानते हैं। 'प्रतिपाद्ये शैत्यपावनत्वादौ श्रद्धातिशयो भक्तिः' अथवा 'भजते सेव्यते पदार्थेन इति सामीप्यादिधर्मो भक्तिः'। 'तत आगतः भाक्तः'। अर्थात्–मुख्यार्थबाधादि तीनों बीजों से जो अर्थ प्रतीत होता है, उस लक्ष्यार्थ को 'भाक्त' कहते हैं।

अर्थात् 'भक्ति का अर्थ है लक्षणा। इस अर्थ के भीतर अनेक कारण होते हैं। भक्ति का मोटा अर्थ है भंजन–तोड़ना। मुख्य अर्थ को तोड़कर जहाँ नवीन अर्थ की कल्पना की जाती है, वहाँ होती है भक्ति। जैसे–'कर्मणि कुशलः' में कुश लाने वाले अर्थ को तोड़कर 'निपुण' अर्थ का प्रतिपादन। अनेक आचार्य ध्वनि की सत्ता मानते तो अवश्य हैं, परन्तु उसे वे लक्षणा के भीतर ही निविष्ट करते हैं।

भक्ति शब्दों से आलंकारिकों की लक्षणा और मीमांसकों की गौणी नामक दो प्रकार की शब्दशक्ति का ग्रहण होता है। अलंकारिकों की लक्षणा के मुख्यार्थबाध, मुख्यार्थ का लक्ष्यार्थ से सम्बन्ध और शैत्यपावनत्वरूप प्रयोजन ये तीन बीज है। इन तीन लक्षणा बीजों को बोधन करने के लिये भक्ति शब्द की तीन प्रकार की व्युत्पत्तियाँ की गई है–

1. मुख्यार्थस्य भङ्गो भक्ति:।

2. भज्यते सेव्यते पदार्थेन इति सामीप्यादि धर्मो भक्ति:। मुख्यार्थ का लक्षणा सेसामीप्यादि सम्बन्ध

3. प्रतिपाद्ये शैत्यपावनत्वादौ श्रद्धातिशयो भक्ति:। इस श्रद्धातिशयार्थक व्याख्यान से भक्ति परप्रयोजन का सूचक है। तत् आगत: भक्त:। मुख्यार्थ और बाधादित्रय हेतुओं से जो अर्थ प्रतीत होता है उस लक्ष्यार्थ को भाक्त कहते हैं। आचार्य भामह उद्भट आदि विद्वानों ने गौण वृत्ति शब्द का प्रयोग देखकर ध्वनि को भक्तिमात्र कहा है।

आचार्य आनन्दवर्धन के शब्दों में, यद्यपि काव्यलक्षणकारों ने ध्वनि शब्द का उल्लेख करके गुणवृत्ति या अन्य कोई प्रकार प्रदर्शित नहीं किया है फिर भी काव्यों में गुण वृत्ति से व्यवहार दिखाने वाले भट्टोभट्ट या उनके उपजीव्य भामह ने ध्वनिमार्ग का थोड़ा सा स्पर्श करके भी उसका स्पष्ट लक्षण नहीं किया इसलिये उनके मत में गुणवृत्ति ही ध्वनि है।

ऐसी कल्पना करके 'भाक्तमाहुस्तमन्ये' यह कहा गया है।

14.5.9 भाक्तवादियों का प्रथम मत

खण्डन–"भाक्तमाहुस्तमन्ये" इस पक्ष में प्रथम विकल्प अभेदवाद का खण्डन है। जब पूर्वपक्षी भक्ति को ध्वनि कहता है तो क्या भक्ति और ध्वनि शब्द को घट कलश आदि के समान पर्याय रूप मानकर दोनों का अभेद प्रतिपादन करना चाहता है।

भाक्तमाहुस्तमन्ये तम् काव्यात्मानं गुणवृत्तिरित्याहु:। भाक्तवादि विद्वान् ध्वनि को लक्षणागम्य कहते हैं और अन्य मीमांसक उसे गुणवृत्ति कहते हैं। शैत्यपावनत्वादि प्रयोजन की प्रतीति लक्षणावादियों के अनुसार भक्ति अर्थ से सम्भव है फिर ध्वनि का अस्तित्त्व मानने का कोई प्रयोजन प्रतीत नहीं होता है।

खण्डन–इस प्रथम अभेदवाद के खण्डन में आचार्य आनन्दवर्धन ने कहा है कि, भक्तया विभर्ति नैकत्वं रूप भेदादयं ध्वनि:।

अर्थात् रूप में भेद होने के कारण ध्वनि भक्ति के साथ एकत्व को (अभेद को) प्राप्त नहीं हो सकती। अत: भाक्तवादियों का ध्वनि को लक्षणागम्य कहना उचित नहीं है, क्योंकि भाक्त अर्थ तो वाच्यवाचक द्वारा वाच्य से भिन्न अर्थ का कथन करता है, जबकि व्यंग्यार्थ के प्रधान होने पर ध्वनि होती है। अत: रूपभेद होने के कारण भक्ति और ध्वनि एक-दूसरे से अभिन्न न होकर पृथक्-पृथक् है।

14.5.10 भाक्तवादियों का द्वितीय मत

अतिव्याप्तेऽव्याप्तेर्न चासौलक्ष्यते तया

अतिव्याप्ति और अव्याप्ति के कारण ध्वनि भक्ति से लक्षित भी नहीं हो सकती है। अतिव्याप्ति इसलिये है कि ध्वनि से भिन्न विषय में भी (भक्ति) लक्षणा हो सकती है। जहाँ व्यंग्य के कारण विशेष सौन्दर्य नहीं होता वहाँ पर भी कभी प्रसिद्धिवश उपचार या गौणी शब्दवृत्ति से व्यवहार करते हुए देखे जाते हैं। जैसे–

स्वैऋणी स्त्रियाँ नाराज या प्रसन्न होती हुई रोती हुई जैसे भी देखो सभी रूप में वह मन को हरण कर लेती है। यहाँ गृहीता पद से उपादेयता और हरण पद से उसकी अधीनता लक्षणा द्वारा बोधित होती है। परन्तु ध्वनि का अवसर न होने में यहाँ भी अतिव्याप्ति है, अत: भक्ति ध्वनि का लक्षण नहीं हो सकती।

14.5.11 भाक्तवादियों का तृतीय मत

वह भक्ति वक्ष्यमाण प्रभेदों में से किसी विशेष भेद का उपलक्षण हो सकती है। इस मत का खण्डन करते हुए आचार्यानन्दवर्धन ने कहा है कि यदि दुर्जनतोषन्याय से यह मान लिया जाए कि गुणवृत्ति से

समग्र ध्वनि लक्षित हो सकती है उसी प्रकार यह भी कहा जा सकता है कि अभिधाव्यापार से ही समग्र अलंकार वर्ग भी लक्षित हो सकता है।

तब तो वैयाकरणों और मीमांसकों द्वारा अभिधा का लक्षण कर देने और उसके द्वारा समस्त अलंकारों के लक्षित हो जाने से अलंकारों का पृथक्-पृथक् लक्षण करना व भामह आदि आलंकारिकों का काव्य के प्रति किया गया प्रयास तथा समस्त साहित्यशास्त्र ही व्यर्थ हो जाएगा और यदि किसी भेद में भक्ति हो सकती है तो इससे ध्वनि का भक्ति में अन्तर्भाव नहीं हो सकता। यदि अन्य लोगों ने ध्वनि का लक्षण कर दिया है तब तो हमारे ही पक्ष की सिद्धि होगी, अत: ध्वनि और भक्ति भिन्न-भिन्न तत्त्व है।

ध्वनि की इस लक्षणागम्यता का खण्डन बहुत व्यवस्थित रूप से डॉ. मिथिलेश पाण्डेय ने प्रस्तुत किया है जो कि छात्रहित की दृष्टि से अमूल्य है उसे हम यहाँ देखेंगे-

भाक्तवादियों के मत में ध्वनि या व्यंजना की जो भी विशेषताएँ हैं, वे सभी लक्षणा में पाई जाती हैं। वक्ता या बोद्धा लक्ष्यार्थ की प्रतीति हेतु जिन सामीप्यादि निमित्त रूप में प्रसिद्ध धर्मों की पर्यालोचना करता है, उन प्रसिद्ध सामीप्यादि धर्मों को 'भक्ति' तथा उनसे प्राप्त होने वाले अर्थ को 'भाक्त' या लाक्षणिक अर्थ कहते हैं। अर्थात्-भक्ति को प्रयोजन के रूप में लेकर जो अर्थ निकलता है, उसे 'भाक्त' कहते हैं, यथा-'**सिंहो माणवक:।**' इस प्रकार भाक्तवादियों का विचार है कि ध्वनि तथा गुणवृत्ति दोनों परस्पर अभिन्न हैं। आचार्य आनन्दवर्धन ने तीन विकल्पों की कल्पना कर ध्वनि की लक्षणागम्यता का खण्डन किया है, जो इस प्रकार है-

1. क्या भक्ति एवं ध्वनि दोनों एक ही हैं?

'भक्ति' एवं 'ध्वनि' में रूप भेद होने से दोनों एकरूपता को नहीं धारण कर सकतीं-'**भक्त्या बिभर्ति नैकत्वं रूपभेदादयं ध्वनि:।**' शब्द, वाच्यार्थ, व्यंग्यार्थ, व्यंजना-व्यापार तथा सबका समूह-इन पाँचों अर्थों से व्यवहृत ध्वनि का लक्षणा से रूपभेद होता है। अत: ध्वनि लक्षणा से विशिष्ट वस्तु है। '**वाच्यव्यतिरिक्तस्यार्थस्य वाच्यवाचकाभ्यां तात्पर्येण प्रकाशनं यत्र व्यङ्ग्यप्राधान्ये स ध्वनि:। उपचारमात्रन्तु भक्ति:।**' अत: सुस्पष्ट है कि-भक्ति तथा ध्वनि दोनों एक नहीं हैं।

2. क्या 'भक्ति' ध्वनि का लक्षण है?

इस प्रश्न के उत्तर में ध्वनिकार का कहना है कि-अतिव्याप्ति और अव्याप्ति के कारण 'भक्ति' ध्वनि का लक्षण भी नहीं हो सकती-''**अतिव्याप्तेरथाव्याप्तेर्न चासौ लक्ष्यते तया।**'' कवि लोग ऐसे शब्दों का प्रयोग भी प्राय: करते हैं, जिनमें व्यंजना के रहते हुए भी कोई विशिष्ट सौन्दर्य नहीं दिखाई पड़ता। लक्षणा में प्रयोजन की प्रतिपत्ति तो सर्वत्र होती है, किन्तु काव्य को ध्वनि-रूपता प्राप्त करने के लिए प्रयोजन को कुछ न कुछ गूढ़ अवश्य होना चाहिए, परन्तु ऐसे भी स्थान देखे जाते हैं, जहाँ प्रयोजन बिल्कुल गूढ़ नहीं होता तथा श्रोता को चमत्कार का बोध नहीं होता, ऐसे स्थलों पर ध्वनि नहीं हो सकती, जबकि लक्षणा अवश्य होगी। उदाहरणतया-

''**परिम्लानं पीनस्तनजघनसंगादुभयत:, तनोर्मध्यस्यान्त: परिमिलनमप्राप्य हरितम्। इदं व्यस्त न्यासं श्लथभुजलताक्षेपवलनै:, कृशांग्या: सन्तापं वदति विसिनीपत्रशायनम्॥**''

यही अलक्ष्य में लक्षण का घटना अतिव्याप्ति दोष है। ध्वनि का विषय तो वही होता है, जो ऐसी चारुता को प्रकाशित कर जो दूसरी उक्ति से असम्भव हो। दोनों का विषय एक होने पर ही लक्षण-लक्ष्य भाव बन सकता है, परन्तु दोनों में विषयभेद होने से भक्ति को ध्वनि का लक्षण नहीं कहा जा सकता है। ध्वनि के विवक्षितान्यपरवाच्यादि बहुत से प्रकारों में लक्षणा व्याप्त होती ही नहीं। अत: अव्याप्ति दोष

है। उदाहरणतया–''**शिखरिणी क्व नु नाम ...... बिम्बफलं शुकशावकः।**'' अतः सुस्पष्ट है कि भक्ति, ध्वनि का लक्षण नहीं हो सकती–

''उक्त्यन्तरेणाशक्यं यत् तच्चारुत्वं प्रकाशयन्।
शब्दो व्यञ्जकतां बिभ्रद् ध्वन्युक्तेर्विषयी भवेत्॥''

3. क्या 'भक्ति' ध्वनि का उपलक्षण हो सकती है?

इसके उत्तर में ध्वनिकार कहते हैं–''**कस्याचिद् ध्वनिभेदस्य सा तु स्यादुपलक्षणम्।**'' सम्भवतः ध्वनि के भेदोपभेदों में से किसी एक ध्वनि का लक्षणा, उपलक्षण भले ही हो जाय, परन्तु सम्पूर्ण-ध्वनिभेदों का उपलक्षण नहीं हो सकती। यदि ऐसा हुआ तो अभिधा व्यापार के द्वारा सम्पूर्ण अलंकार वर्ग ही लक्षित हो जाएगा। पुनः प्रत्येक का अलग-अलग लक्षण करना व्यर्थ सिद्ध होगा। ध्वनि का निरूपण कोई नई वस्तु नहीं है। लक्षणा या भक्ति को यदि कोई ध्वनि का उपलक्षण मान भी लेता है, तो इसमें तो हमारी ही पक्षसिद्धि होगी, कि–'**अस्तिध्वनिः, काव्यात्मा चास्ति**'। इस प्रकार ध्वनि ही काव्य की आत्मा सिद्ध होती है।

14.5.12 (III) अनिर्वचनीयतावादियों का खण्डन

पूर्व पक्ष–तृतीय विरोधी जो कि अनिर्वचनीयतावादी है उनके अनुसार ध्वनि कोई विलक्षण पदाथ है। ध्वनि तत्त्व को वाणी के क्षेत्र से बहिर्भूत माना है। ध्वनि स्वतः अनुभूति का विषय है। ध्वनि की शब्दजन्यमीमांसा नहीं हो सकती।

खण्डन–आचार्य आनन्दवर्धन कहते हैं कि जिन लोगों ने सहृदय जनों के द्वारा संवेद्य एवं अनिर्वचनीय ध्वनि के स्वरूप को आम्नात किया है वे भी परीक्षा करके कहने वाले नहीं हैं। क्योंकि कथित और वक्ष्यमाण नीति के अनुसार ध्वनि के सामान्य एवं विशेष लक्षण के प्रतिपादित होने पर भी यदि उसका अनिवर्चनीयत्व है, तब तो वह (अनिर्वचनीयत्व) समग्र वस्तुओं के सम्बन्ध में प्राप्त है। पुनः यदि वे लोग इस अतिशयोक्ति द्वारा ध्वनि का कोई दूसरे काव्यों से बढ़कर स्वरूप कहते हैं तो वे भी ठीक ही कहते हैं।

''येऽपि सहृदयहृदयसंवेद्यमनाख्येयमेव ध्वनेरात्मानमाम्नासिषुस्तेऽपि न परीक्ष्य वादिनः। यत् उक्तया नीत्या वक्ष्यमाणया च ध्वनेः सामान्यविशेषलक्षणे प्रतिपादितेऽपि यद्यनाख्येयत्वं तत्सर्वेषामेव वस्तूनां तत्प्रसक्तम्। यदि पुनर्ध्वनेरतिशयोक्त्यानया काव्यान्तरातिशायि तैः स्वरूपामाख्यायते तत्तेऽपि युक्ताभिधायिन एव।''

इस प्रकार ये तीन विरोधी मत ध्वन्यालोक में पाए जाते हैं।

14.5.13 ध्वनि की स्थापना

सम्भावित मतों का खण्डन करने के पश्चात् आनन्दवर्धन काव्यस्यात्मा ध्वनि को सिद्ध किया। यद्यपि आनन्दवर्धन से पूर्व अनेक साहित्याचार्य काव्यलक्षण करते आए हैं, किन्तु इस 'ध्वनि' शब्द का कथन ध्वन्यालोककार से पूर्व किसी की भी सूक्ष्मातिसूक्ष्म बुद्धि भी नहीं कर पाई है।

योऽर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मति व्यवस्थितः।
वाच्य प्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ।

सहृदयजनों के द्वारा प्रशंसनीय जो अर्थ 'काव्य की आत्मा' के रूप में व्यवस्थित है उसके वाच्य और प्रतीयमान नाम से दो भेद हो जाते हैं।

जैसा कि पूर्व में कहा गया 'शब्द और अर्थ काव्य के शरीर हैं। उसके अनुसार तो शरीर ग्रहण से ही उसे अनुप्राणित करने वाले किसी आत्मा को होना ही चाहिये। ऐसी स्थिति में, शब्द तो शरीर के भाग में ही समावेश प्राप्त करता है, क्योंकि वह स्थूल और कृशादि शरीर की भाँति सभी लोगों द्वारा संवेद्य है। इसके विपरीत अर्थ सभी लोगों द्वारा संवेद्य नहीं होता। अर्थ मात्र से काव्य का व्यवहार नहीं होता है, क्योंकि लौकिक और वैदिक वाक्यों में वह काव्य का व्यपदेश नहीं होता। इसी बात को स्पष्ट करने के लिये कहा गया 'सहृदयजनों के द्वारा प्रशंसनीय'। जो अर्थ ह वह एक ही है और दो शाखाओं वाला होने के कारण विवेचनशील लोगों द्वारा विभाग बुद्धि से विभाजित किया जाता है।

काव्यात्मभूत ध्वनि के अंग

शब्दरूप **अर्थरूप**

शब्दरूप एवं अर्थरूप ध्वनि

वाच्य **प्रतीयमान**

यहाँ प्रथम विभाग में जो शब्दरूप एवं अर्थरूप ध्वनि पठित है यहाँ ध्वनि एवं इन द्विधा प्रकारों में अङ्गाङ्गीभाव है। ध्यातव्य है कि ये ध्वनि के भेद नहीं हैं। केवल शब्द में चारुत्व या ध्वनि अभिव्यंजित नहीं होती है। न ही केवल अर्थ में। चूँकि इस अर्थ से वाच्य और प्रतीयमान अर्थ निकाले जाते हैं अतः इस अङ्ग का विभाजन दिखाया गया है।

'शब्दार्थ शरीरं काव्यमिति' यदुक्तं तत्र शरीरग्रहणादेव केनचिदात्मना तदनुप्राणकेन भाव्यमेव। तत्र शब्दस्तावच्छरीरभाग एव सन्निविशते सर्वजनसंवेद्यधर्मत्वात्स्थूलकृशादिवत्। अर्थः पुनः सकलजनसंवेद्यो न भवति। न ह्यर्थमात्रेण काव्यव्यपदेशः, लौकिकवैदिकवाक्येषु तदभावात्। तदाह-सहृयश्लाघ्य इति। स एक एवार्थो द्विशाखतया विवेकिभिर्विभागबुद्धया विभज्यते।''

(लोचन टीका अभिनवगुप्त विरचित)

यहाँ जो प्रथम भेद वाच्य कहा गया है वह तो उपमादि प्रकारों से लोक में बहुत विश्रुत है। किन्तु ध्वन्यालोककार का मुख्य प्रयोजन तो प्रतीयमान नामक नवीन अर्थ की संकल्पना करना ही है।

प्रतीयमानार्थ को वाच्यार्थ से सर्वथा भिन्न बताते हुए कहते हैं। प्रतीयमान तो वाच्यार्थ से सर्वथा पृथक् है इसे व्यंग्यार्थ भी कहा जाता है।

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु॥

प्रतीयमान तो कोई अन्य ही वस्तु है जो महाकवियों की वाणी में 'अङ्गनाओं में लावण्य' की भाँति प्रसिद्ध शृङ्गारादि अवयवों के अतिरिक्त भासित होती है। अर्थात् सहृदयों में प्रसिद्ध जो प्रतीयमान है वह प्रसिद्ध उपमादि अलङ्कारों से प्रतीत होने वाले शब्द तथा अर्थरूपी अङ्गों से ठीक उसी तरह भिन्न है जिस तरह की लावण्य रमणियों के मुख, नेत्र, श्रोत्रादि से प्रतीत होने वाले अवयवों तथा अलङ्कारों से सर्वथा भिन्न होता है। इस प्रकार प्रतीयमानार्थ एक ऐसा विशिष्ट तत्त्व है जो वाच्यार्थ को एवं प्रतीयमानार्थ दोनों को सुशोभित करता हुआ, सहृदयों के हृदय को आह्लादित करता है।

यहाँ लावण्य से तात्पर्य है-मुक्ताओं में जो छाया की तरलता की भाँति अङ्गों में कुछ झलकता या दीप्तित हुआ सा मालूम पड़ता है वह लावण्य कहलाता है।

मुक्ताफलेषुच्छायायास्तरलत्वमिवान्तरा।
प्रतिभाति यदङ्गेषु तल्लावण्यमिहोच्यते॥

और यह लावण्य की भाँति प्रतीत होने वाला प्रतीयमानार्थ कदाचित् विधिरूप होने पर भी प्रतिषेध रूप होता है–

भ्रम धार्मिक विस्रब्धः स शुनकोऽद्य मारितस्तेन।
गोदावरीनदीकूललतागहनवासिना दृप्तसिंहेन॥

कदाचित् वाच्य निषेधरूप होने पर भी प्रतीयमानार्थ विधिरूप प्रतीत होता है–

श्वश्रूरत्र शेते (निमज्जति) अत्राहं दिवसकं प्रलोकय।
मा पथिक रात्र्यन्ध शय्यायामावयोः शयिष्ठाः॥

कदाचित् वाच्यार्थ के विधिरूप होने पर (व्यंग्यार्थ) प्रतीयमानार्थ अनुभयरूप (न तो विधिरूप तथा न ही निषेधरूप) होता है।

व्रज ममैवैकस्या भवन्तु निःश्वासरोदितव्यानि।
मा तवापि तथा विना दाक्षिण्यहतस्य जनिषत॥

कदाचित् वाच्यार्थ प्रतिषेधरूप होने पर भी अनुभयरूप होता है।

प्रार्थये तावत्प्रसीद निवर्तस्व मुखशशिज्योत्स्नाविलुप्ततमोनिवहे।
अभिसारिकाणां विघ्नं करोष्यन्यासामपि हताशे॥

कदाचित् वाच्यार्थ से विभिन्न विषयरूपों में व्यवस्थापित व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है–

कस्य वा न भवति रोषो दृष्टा प्रियायाः सव्रणमधरम्।
सभ्रमरपद्माघ्राणशीले वारितवाये सहस्वेदानीम्॥

इन उदाहरणों पर मनन करके यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि प्रतीयमान रस–ध्वनि ही काव्य की आत्मा है।

काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः॥

ध्वनिकार कहते हैं कि काव्य का आत्मा वही अर्थ है, जैसा कि पुराकाल में क्रौञ्च पक्षी के जोड़े के वियोग से उत्पन्न शोक आदिकवि का श्लोक बन गया। अतः सिद्ध हुआ वस्वलङ्कारध्वनि वहीं पर काव्यरूपता को अङ्गीकार करती है जहाँ वह रसध्वनि पर्यवसायी होती है।* सामान्य मनुष्य की वाणी वाच्यार्थ को धारण करती है किन्तु महापुरुषों अर्थात् विद्वत्वर्ग की वाणी प्रतीयमानार्थ को द्योतित करती है। अतएव इस प्रतीयमानार्थ को जानने के लिये काव्यमर्मज्ञ होना या सहृदय होना परम आवश्यक है, क्योंकि व्याकरण ज्ञान एवं शब्दकोष ज्ञान की सहायता से वाच्यार्थ को तो समझा जा सकता है किन्तु प्रतीयमानार्थ को नहीं।

*** सरस्वती स्वादुतदर्थवस्तु निःष्यन्दमाना महतां कवीनाम्।**
अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिमाविशेषम्॥

प्रतीयमानार्थ को तो काव्यशास्त्रमर्मज्ञ ही समझ सकते हैं–

शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते।
वेद्यते स तु काव्यार्थतत्त्वज्ञैरेव केवलम्॥

यहाँ यह विचारणीय विषय है कि कवि व्यंग्यार्थ का अवगमन करने के लिये ही विविध शब्दों का प्रयोग क्यों करता है। तो इसका उत्तर यह है कि वाच्यार्थ तो सामान्यजन की वाणी का विषय है, महान

कवियों की वाणी जो सहृययों के हृदय को आह्लादित करने के उद्देश्य से प्रवृत्त होती है उसका उद्देश्य तो व्यंग्यार्थ की प्रतीति से पाठक को (विद्वत्वर्ग को) चमत्कृत कर देना ही है। किन्तु ऐसा नहीं है कि वाच्यार्थ को कवि छोड़ देता है। वाच्यार्थ तो व्यंग्यार्थ की प्रतीति में साधन मात्र है।

आलोकार्थी यथा दीपशिखायां यत्नवान् जनः।
तदुपायतया तद्वदर्थे वाच्ये तदादृतः॥

जिस प्रकार अन्धकार में अवलोकन के लिये दीपक की आवश्यकता होती है उसी प्रकार प्रतीयमानार्थ के ज्ञान के लिये वाच्यार्थ की आवश्यकता होती है।

वैसे भी सोपानारोहणवत् ही क्रमशः एक से दूसरे चरण पर जाने वाले की ही सफल गति होती है–

यथा पदार्थद्वारेण वाक्यार्थः सम्प्रतीयते।
वाच्यार्थपूर्विका तद्वत् प्रतिपत्तस्य वस्तुनः॥

जिस प्रकार पदार्थ के ज्ञान से वाक्यार्थ का ज्ञान होता है, उसी प्रकार वाच्यार्थ के ज्ञानपूर्वक ही व्यंग्यार्थ का ज्ञान होता है। इसे अत्यधिक स्पष्ट शब्दों में लिखते हुए ध्वनि की परिभाषारूप में आनन्दवर्धनाचार्य ने लिखा है–

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः॥

अर्थात् जहाँ अर्थ अपने–आपको अथवा शब्द अपने अर्थ को गुणीभूत करके प्रतीयमान अर्थ को व्यक्त करते हैं, वह 'काव्यविशेष' विद्वान् लोगों द्वारा 'ध्वनि' कहा जाता है।

14.5.14 ध्वनि के भेदों का निरूपण –

स चासावविवक्षितवाच्यो विवक्षितान्यपरवाच्यश्चेति द्विविधः सामान्येन।

ध्वनि–भेद -

(1) अविवक्षितवाच्य

(2) अविवक्षितान्यपरवाच्य

14.5.15 (1) अविवक्षितवाच्य ध्वनि –

उदाहरण–

सुवर्णपुष्पां पृथिवीं चिन्वन्ति पुरुषास्त्रियः।
शूरश्च कृतविद्यश्च यश्च जानातिसेवितुम्॥

ये पुनः अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य और अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य के भेद से द्विधा रूपों से जानी जाती है।

अविवक्षितवाच्यध्वनि

अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य

अर्थान्तरेसङ्क्रमितमत्यन्तं वा तिरस्कृतम्।
अविवक्षितवाच्यस्य ध्वनेर्वाच्यं द्विधा मतम्॥

14.5.16. (2) अविवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि –

यह भी (रसादि) अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य एवं संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के भेद से द्विधा विभक्त किया गया है।

असंलक्ष्यक्रमोद्द्योतः क्रमेण द्योतितः परः।
विवक्षिताभिधेयस्य ध्वनेरात्मा द्विधा मतः॥

अविवक्षितान्यपरवाच्य

अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य

इनके अवान्तरावान्तर भेदों को देखने पर अन्त में कुल 36 भेद निष्पन्न होते हैं किन्तु यहाँ संक्षेप में उनका चार्ट द्वारा अवबोध मात्र कर रहे हैं। उनकी व्याख्या की यहाँ अपेक्षा नहीं है अतः हम सख्यागणन के ब्याज से उनकी स्थिति को देखेंगे।

ध्वनिभेद निरूपण

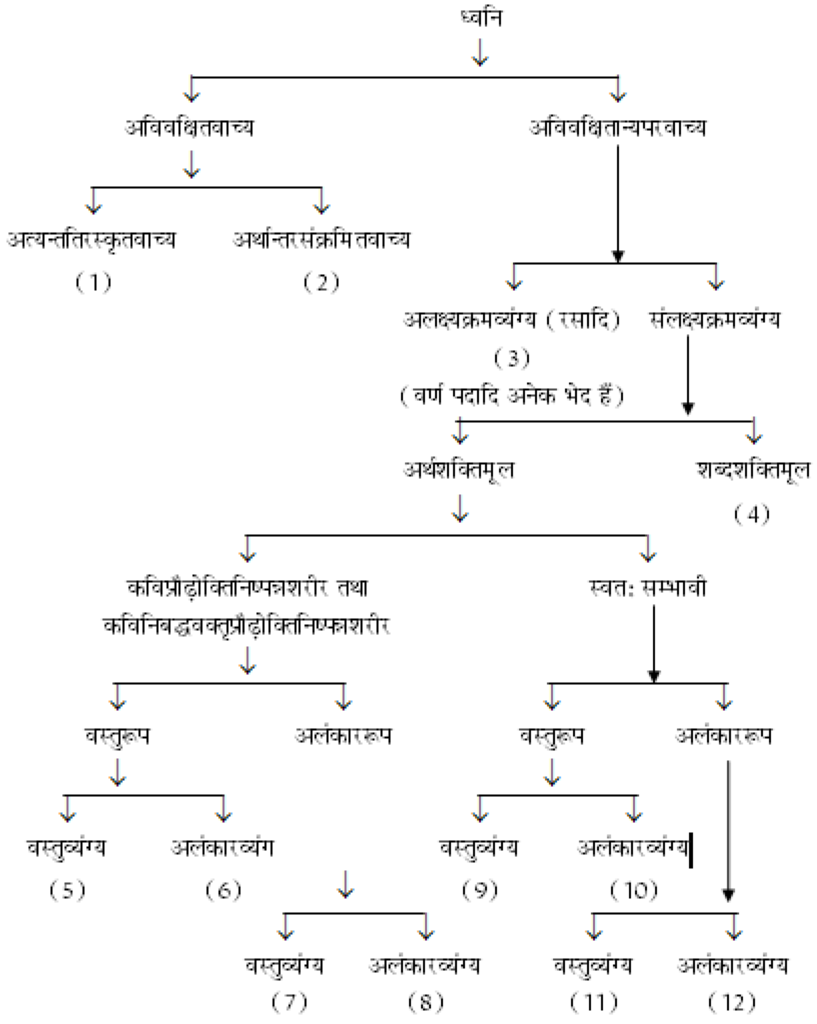

उपर्युक्त 12 भेदों में प्रत्येक के पदप्रकाश्य वाक्यप्रकाश्य तथा प्रबंधप्रकाश्य तीन-तीन भेद होने से कुल (12 × 3 = 36) छत्तीस भेद निष्पन्न होते हैं।

14.6 वाच्यार्थ एवं प्रतीयमानार्थ में अन्तर

योऽर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मेति व्यवस्थितः।
वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ॥

अर्थात् काव्य की आत्मारूप से अवस्थित सहृदयश्लाघ्यार्थ के दो भेद प्राप्त हैं–प्रथम वाच्यार्थ, द्वितीय प्रतीयमानार्थ। इन्हें वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ भी कहा जाता है। ये दोनों अपने अभिधेयानुसार किस प्रकार एक–दूसरेसे भिन्न हैं ये जान लेना परमावश्यक है। कुछ महत्त्वपूर्ण सन्दर्भों में हम इनका भेद देखेंगे, यथा–

(1) स्वरूपभेद

(2) विषय–वस्तुभेद

(3) निमित्तभेद

(4) कालभेद

(5) संख्याभेद

(6) आश्रयभेद

(7) कार्यभेद

14.6.1 स्वरूपभेद–

वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ में सबसे बड़ा भेद तो स्वरूपभेद है। वाच्यार्थ अपने वाक्य में निहित पदों का अक्षरश: अर्थ प्रस्तुत करेगा और उतनी ही दूर प्रवृत्त होगा किन्तु व्यङ्ग्यार्थ की तो सीमा असीम है। किसी भी छोटे से वाक्य का अनेक लोगों के लिये कुछ विशेष गूढ़ या निमित्तरूप अर्थ हो सकता ह। इसकी अनेक प्रकार से प्रतीति देखी जाती है। क्वचित् वाच्यार्थ विधिरूप प्रतीत हो रहा है वहीं उस वाक्य का व्यङ्ग्यार्थ निषेधरूप भी देखने में आता है। क्वचित् वाच्यार्थ निषेधरूप है किन्तु व्यङ्ग्यार्थ प्रवृत्तिपरक होता है। क्वचित् अन्य ही स्वरूप देखने में आता है। यहाँ हम उदाहरण से एक ही वाक्य का वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ किस प्रकार भिन्न हो सकते हैं, देखेंगे–

''**भ्रम धार्मिक विस्रब्ध: स शुनकोऽद्य मारितस्तेन।**
गोदानदीकच्छकुञ्जवासिना दृप्तसिंहेन॥

अर्थात्–''हे ब्राह्मण! अब तुम गोदावरी के किनारे कुञ्ज में निश्चिंत होकर भ्रमण करो, क्योंकि वहाँ जो कुत्ता तुम्हें परेशान करता था वो अब वहाँ रहने वाले पागल शेर के द्वारा मार दिया गया है।''

प्रस्तुत पद्य में वाच्यार्थ तो विधिपरक है और व्यङ्ग्यार्थ निषेधपरक है।

(1) विधि–हे ब्राह्मण! अब तुम सुख से उस उपवन में रमण करो, क्योंकि जो शुनक तुम्हें परेशान करता था वो अब मृत है, वहाँ नहीं है।

(2) निषेध–यहाँ निषेध का प्रयोजन परिस्थिति की भयङ्करता है। पहले जो जन्तु परेशान करता था वो मात्र कुत्ता था, वो दुविधा तो अब हट गई है, किन्तु जिसने उस सङ्कट से मुक्ति दिलाई है वो तो एक शेर है। अत: उस उपवन में एक शेर भी रहता है यह कहकर उक्त वाक्य में विधि के रहते हुए भी निषेधपरक अर्थ द्योतित हो रहा है कि ब्राह्मण उस उपवन की ओर मत जाना वहाँ एक शेर भी रहता है।

प्रस्तुत उदाहरण तो है वाच्यार्थ के विधिपरक होने पर व्यङ्ग्यार्थ के निषेधपरक होने का क्वचित् ऐसी स्थिति भी देखी जाती है कि वाच्यार्थ तो निषेधपरक होता है और उसका व्यङ्ग्यार्थ विधिपरक। यथा–

श्वश्रूरत्र निमज्जति अत्राहं दिवसकं प्रलोकय।
मा पथिक रात्र्यन्धक शय्यायां मम निमंक्ष्यसि॥

यहाँ एक (प्रियतमा) प्रोषित पतिका स्त्री है, (प्रोषित पतिका वह स्त्री होती है जिसका पति परदेश चला गया है) ऐसी तरुणी को देखकर कोई पथिक कामासक्त हो गया और उस स्त्री को भी उस पुरुष पर आसक्ति हो गई है। अब वो स्त्री उसे दिन में तो मर्यादाभय से बुला नहीं सकती है अतः रात्रि में शयन हेतु निमंत्रण देते हुए कहती है–

''मेरी सासु यहाँ सोती है (जो कि बहुत गहरी नींद सोती है) और इस खाट पर मैं सोती हूँ। हे रात के अन्धे पथिक! कहीं तुम रात्रि को मेरी खाट पर आकर न गिर पड़ना। दिन में ही भली-भाँति देख लो।''

यहाँ वाच्यार्थ तो स्पष्ट है, निषेधपरक है। किन्तु व्यङ्ग्यार्थ है कि रात्रि में कहीं तुम आकर सासु की खाट से ना टकरा जाना। दिन में ही मेरी और सासु की खाट का स्थान भली-भाँति देख लो। रात्रि में मेरी ही खाट पर आना।

इस प्रकार हमने देखा कि वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ में स्वरूपभेद की दृष्टि से कितना भयंकर अर्थ परिवर्तन हो जाता है।

14.6.2 विषय-वस्तुभेद–

वाच्यार्थ का विषय एक व्यक्ति होता है तो व्यङ्ग्यार्थ का विषय अन्य व्यक्ति होता है। यथा–

कस्य वा न भवति रोषो दृष्ट्वा प्रियायाः सव्रणमधरम।
सभ्रमरपद्माघ्रायिणि वारितवामे सहस्वेदानीम्॥

अर्थात् प्रिय के वर्ण युक्त अधर को देखकर किसे क्रोध नहीं आता, अरी, मना करने पर भी भौंरे सहित कमल को सूंघने वाली, अब तू उसका दुष्परिणाम भुगत।

यहाँ पति के द्वारा तो ठुकराई गई है प्रियतमा किन्तु उसकी सखी सपत्नियों के मध्य उसकी प्रतिष्ठा बनाए रखने हेतु 'दन्तक्षत' को छुपाने के लिये उसे भ्रमर द्वारा क्षत बताकर उसकी लाजरक्षा कर रही है। रसिक के व प्रेमिका के प्रति यह भाव है कि आगे से प्रत्यक्ष दन्तक्षत मत करना।

इस प्रकार वाच्यार्थ तो यहाँ सबके लिए एक ही होता है परन्तु प्रतीयमानार्थ सामाजिक पात्रों के लिये पृथक्-पृथक् होता है। अतः पति, सपत्नी, पड़ौसी, नायिका, जार एवं रसिक सभी के लिये इस श्लोक का अर्थ भिन्न है।

14.6.3 निमित्तभेद–

वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ को समझने के निमित्त अलग-अलग होते हैं। वाच्य अर्थ को शब्द और अर्थ के नियमों के ज्ञान मात्र से, सामान्य शब्दकोष एवं व्याकरणादि के सामान्य ज्ञान को रखने वाला व्यक्ति भी समझ सकता है, जबकि प्रतीयमानार्थ को वे ही लोग जान सकते हैं जिन्हें काव्यशास्त्र का ज्ञान हो।

शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते।
वेद्यते स वु काव्यार्थतत्त्वज्ञैरेव केवलम्॥

14.6.4 कालभेद–

वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ के बोध हेतु काल में भी बाध्यता रहती है। यावत् व्यक्ति वाच्यार्थ को नहीं सुन लेता तो व्यङ्ग्यार्थ को नहीं जान सकता। अतः वाच्यार्थ पूर्ववर्ती होता है और व्यङ्ग्यार्थ परवर्ती होता है।

यथा पदार्थद्वारेण वाक्यार्थः सम्प्रतीयते।
वाच्यार्थपूर्विका तद्वत् प्रतिपत्तस्य वस्तुनः।

जिस प्रकार वाक्य का अर्थ जानने के लिये वाक्य में प्रयुक्त पदों एवं अर्थों का बोध होना आवश्यक होता है वैसे ही प्रतीयमान अर्थ का बोध होने के लिये वाच्यार्थ का ज्ञान होना आवश्यक होता है।

14.6.5 संख्याभेद–

वाच्यार्थ तो नियत होने से सदैव एक ही अर्थ देता है किन्तु प्रतीयमानार्थ अनेक व्यक्तियों के अनुरूप देश, काल व परिस्थिति को देखते हुए भिन्न-भिन्न अर्थ देने के कारण एकाधिक संख्यावाची होता है। इन्हें नियत एवं अनियत नाम से भी जाना जाता है।

यथा–कस्य वा न भवति रोषो –।

पूर्व में पठित श्लोक को देखने से यह ज्ञात होता है कि भौंरे वाले कमल को नहीं सूँघनारूप वाच्यार्थ है एवं सपत्नी, पति, पड़ौसी आदि के लिये इस श्लोक का व्यङ्ग्यार्थ नानार्थवाची है।

14.6.6 आश्रयभेद–

वाच्यार्थ एवं व्यङ्ग्यार्थ के अर्थ को जानने हेतु आश्रय में भी भेद देखा जाता है। यथा–''अधरों पर दन्तक्षत का परिणाम भुगत।'' यहाँ पर यह सिद्ध है कि यदि हमें वाच्यार्थ को देखना है तो मात्र शब्द या वाक्य का आश्रय लेंगे। किन्तु यदि हमें व्यङ्ग्यार्थ देखना है तो हमें वाक्य, शब्द, पद, पदांश, वर्ण, रचना कुछ भी आश्रय हो सकता है।

14.6.7 कार्यभेद–

वाच्यार्थ का कार्य वाक्य के अर्थ की प्रतीति मात्र होता है किन्तु व्यङ्ग्यार्थ का कार्य उस वाक्य में नीहित अर्थ की चमत्कृति दिखाना है। साहित्यदर्पणकार ने वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ में पृथकता दिखाने वाले समस्त हेतुओं को एकत्रित कर एक श्लोक में निबद्ध कर दिया है–

बोद्धस्वरूपसङ्ख्यानिमित्तकार्यप्रतीतिकालानाम्।
आश्रयविषयादीनां भेदाद् भिन्नोऽभिधीयते व्यङ्ग्यः॥

इस प्रकार वाच्यार्थ और प्रतीयमानार्थ के प्रतीत होने में जो हेतु उनके पार्थक्य को सिद्ध करते हैं उनकी हमने चर्चा की।

14.7 ध्वनि सम्प्रदाय का अन्य सम्प्रदायों से सम्बन्ध

चूकि स्फोट से ही ध्वनि का स्फुरण हुआ है, स्फोट शब्द का वाची है और शब्द ब्रह्म माना गया है। अतः कहा जा सकता है कि ध्वनि भी नित्य है। ध्वनि सम्प्रदाय का समर्थन किये बिना इस निखिल चराचर जगत का कोई प्रयोजन नहीं है। न कोई बात कर सकता है ध्वनि के बिना, न अन्य किसी की बात को सुन या समझ सकता है, अतः ध्वनि तो अपने आप में चमत्कारिक मत है। उसका सभी प्रस्थानों के साथ गूढ़ सम्बन्ध स्वाभाविक है। लोक में भी यदि हम देखें तो बिना ध्वनि कुछ भी स्फुरित नहीं होगा। सारी सृष्टि मौन हो जाएगी। झरने की कलकल, वायु का वेग, पक्षियों की कलरव कुछ भी सुनाई नहीं देगा। और यदि उस ध्वनि के होने को मान भी लें तो भी ध्वनि सम्प्रदायों के मत को मानना ही पड़ेगा अन्यथा

रोको, मत जाने दो

रोको मत, जाने दो

आदि जो एक ही वाक्य के भिन्न भिन्न अर्थ देखे जाते हैं वे ध्वनि के भेद से ही देखे जाते हैं।

अब हम ध्वनि से विभिन्न सम्प्रदाय किस प्रकार प्रभावित, संरक्षित एवं संवर्धित है, इस दृष्टि से विचार करेंगे।

14.7.1 ध्वनि सम्प्रदाय और रस सम्प्रदाय

पूर्व के अध्याय में हम पढ़ चुके हैं कि ध्वनि, मुख्यतया तीन प्रकार की है- (1) वस्तु ध्वनि, (2) अलङ्कार ध्वनि, (3) रस ध्वनि।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि अलङ्कार, वस्तु एवं रस भी ध्वनि ही है। रस को ध्वनि का प्रकार कहा है किन्तु जिस ध्वनि को ध्वनिकार ने काव्य की आत्मा कहा है वो मूलत: रस ही है।

काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवे: पुरा।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थ: शोक: श्लोकत्वमागत:॥ ध्व. 1.5

इस बात को स्पष्ट करते हुए लोचनकार लिखते हैं कि

'स एवेति प्रतीयमानमात्रेऽपि प्रक्रान्ते तृतीय एव रसध्वनिरिति मन्तव्यम्, इतिहासबलात् प्रक्रान्तवृत्ति-ग्रन्थार्थबलाच्च। तेन रस एवं वस्तुत आत्मा, वस्त्वलङ्कार ध्वनि तु सर्वथा रसं प्रति पर्यवस्येते इति वाच्यादुत्कृष्टौ तावित्यभिप्रायेण ध्वनि: काव्यस्यात्मेति सामान्येनोक्तम्।

इस प्रकार आचार्य आनन्दवर्धन ने रसतत्त्व की ध्वनि सिद्धान्त द्वारा काव्य में सर्वोच्च पद पर प्रतिष्ठा की ह। रस को आनन्दवर्धन ने अलौकिक कहा है क्योंकि रस की अनुभूति कभी भी वाच्यार्थ से उतनी अच्छी तरह से नहीं हो सकती, जितनी अच्छी तरह से व्यङ्ग्यार्थ से होती है। और वाच्यार्थ से उसका संस्पर्श भी नहीं हो सकता। काव्य के अन्य सभी तत्त्व रस की अभिव्यक्तिके साधनरूप ही होते हैं।

ध्वनिकार ने स्पष्ट कहा है कि 'अयमेव हि महाकवेर्मुख्यो व्यापारो यद् रसादीनेव मुख्यतया काव्यार्थीकृत्य तद्व्यक्त्यनुगुणत्वेन शब्दानामर्थानाञ्चोपनिबन्धनम्।'

अत: जितना सम्मान रस को ध्वनिकार ने दिया उतना रस सम्प्रदाय ने भी नहीं दिया। और अलङ्कारवादियों ने तो रस को एक अलङ्कार मात्र ही कह दिया।

14.7.2 ध्वनि और रीति का सम्बन्ध :

'रीतिरात्मा काव्यस्य' मत को प्रतिष्ठापित करके आनन्दवर्धन से पूर्व वामन ने रीति को काव्य की आत्मा कहा था। उनका (वामन का) मत था कि रीति एक विशिष्ट पद रचना है और काव्य में पदरचना से ही चमत्कृति देखी जाती है जो काव्य की आत्मा है।

आनन्दवर्धन ने रीति को संघटनामात्र कहा है। रीति और रस में आनन्दवर्धन ने उपकार्य-उपकारकभाव सिद्ध किया है क्योंकि उचित पदसंघटना से ही रस की निष्पत्ति उचित प्रकार से हो सकती है। स्वयं आनन्दवर्धन ने कहा है-

अस्फुटस्फुरितं काव्यतत्त्वमेतद्यथोदितम्।
अशुक्नुवद्भिर्व्याकर्तं रीतय: सम्प्रवर्तिता॥ 3।46

अर्थात् यह अस्फुटस्फुरित काव्यतत्त्व जैसे कहा गया है, उसे व्याकृत करने में असमर्थ हुए लोगों के द्वारा रीतियाँ प्रवर्तित की गई है।

इस ध्वनितत्त्व के प्रवर्तन से निर्णीत काव्यतत्त्व को अस्फुटस्फुरित की स्थिति में प्रतिपादन करने में असमर्थ होते हुए वैदर्भी, गौणी और पाञ्चाली इन रीतियों का प्रवर्तन किया गया।

'गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती.....। 3।6।

इस श्लोक से रीति की संघटना को एवं रीति के सम्पूर्ण प्रकरण को आचार्य आनन्दवर्धन ने बहुत पाण्डित्य से प्रदर्शित किया है।

14.7.3 ध्वनि और वृत्ति

आनन्दवर्धन वृत्ति का विभाजन दो प्रकार से करते हैं, एक कैशिकी आदि वाच्याश्रय नाट्यवृत्तियाँ और दूसरी वाचकाश्रय उपनागरिका आदि वृत्तियाँ। आनन्दवर्धन उपनागरिका आदि वृत्तियों को गुणों से अभिन्न मानते हैं।

इन वृत्तियों को रस के अनुगुण होना चाहिये। स्वयं ध्वनिकार के शब्दों में-

रसाद्यनुगुणत्वेन व्यवहारोऽर्थशब्दयोः।
औचित्यवान् यस्ता एव वृत्तयो द्विविधाः स्थिताः॥

वृत्तयो हि रसादि तात्पर्येण सन्निवेशिताः कामपि काव्यस्य नाट्यस्य च छायामावहन्ति।

ध्वनिकार ने वाच्याश्रयाश्रित कैशिकी आदि नाट्यवृत्तियों को अर्थतत्त्व पर आधारित माना है तथा वाचकाश्रयाश्रित उपनागरिका आदि वृत्तियों को शब्दतत्त्व पर आश्रित माना है।

शब्दतत्त्वाश्रयाः काश्चिद् अर्थतत्त्वयुजोऽपराः।
वृत्तयोऽपि प्रकाशन्ते ज्ञातेऽस्मिन् काव्यलक्षणे॥

इस प्रकार वृत्तियाँ द्विधा एवं उनके आश्रय द्विधा आनन्दवर्धन ने स्वीकार किये हैं। इन्हें हम अधोलिखित चार्ट द्वारा हृदयङ्गम कर सकते हैं।

वृत्तियाँ
↓

↓	↓
वाचकाश्रित वृत्तियाँ	वाच्याश्रित वृत्तियाँ
↓	↓
उपनागरिका आदि	कैशिका आदि
↓	↓
शब्दतत्त्व पर आश्रित	अर्थ तत्त्व पर आश्रित

14.7.4 ध्वनि और अलङ्कार

ध्वनि में अलङ्कारों का समावेश आचार्य आनन्दवर्धन ने शुक्ति में रजत के आभास के समान ही किया है जिस प्रकार शुक्ति में अतिशय चाकचिक्य या भ्रमवशाद् रजत का आभास होता है उसमें कुछ निमित्त अवश्य होता है उसी प्रकार ध्वनिकार के मत में अलङ्कारों की सार्थकता अलङ्कार्य की शोभा बढ़ाने में है, जब उनका निवेशन काव्य में रसादि के तात्पर्य से होगा, तभी वे 'अलङ्कार' भी कहलाऐंगे।

रसभावादितात्पर्यमाश्रित्य विनिवेशनम्।
अलङ्कृतीनां सर्वासामलङ्कारत्वसाधनम्॥

काव्य में उस अलङ्कार का कुछ भी स्थान नहीं, जो रस की व्यञ्जना में सहयोग नहीं करता। रसाभिनिविष्ट कवि के समक्ष अलङ्कार स्वतः ही आने लगते हैं। और जब अलङ्कार रसभावादि के तात्पर्य से शून्य होकर कवि द्वारा निबद्ध किया जाता है तब चित्रकाव्य का विषय होता है।

रसभावादिविषयविवक्षाविरहे सति।
अलङ्कारनिबन्धो यः स चित्रविषयो मतः॥

प्रतीयमान अर्थ की भिन्न स्थापना होने के बाद भी अनेक साहित्य के मर्मज्ञ विद्वानों ने अलङ्कारों में ही काव्यात्मभूत ध्वनि को स्थापित किया। किन्तु जब ध्वनिकार के ध्वनि को काव्य की आत्मारूप में समस्त विरोधों का निराकरण करते हुए सिद्ध किया तब अलङ्कारों की स्थिति कुछ अपने रूप में प्रकट हो गई। अर्थात् अलङ्कारों को ध्वनि से भिन्न स्थान की प्राप्ति हुई।

14.7.5 ध्वनि और औचित्य

वाच्य और वाचकों का जो रसादिविषयक औचित्य से जोड़ना है, वह महाकवि का मुख्य कर्म है।

वाच्यानां वाचकानां च यदौचित्येन योजनम्।
रसादिविषयेणैतत्कर्म मुख्यं महाकवेः॥

वाच्य अर्थात् विशेष इतिवृत्तों का और उनके विषय के वाचकों का रसादि विषयक औचित्य के साथ जो जोड़ना है, वही महाकवि का मुख्य कर्म है। महाकवि का मुख्य यही व्यापार है जो रसादि को मुख्य रूप से काव्य का अर्थ बनाकर उनकी व्यञ्जना के अनुगुण रूप से शब्दों और अर्थों का उपनिबन्धन है।

''वाच्यानामिति वृत्तविशेषाणां वाचकानां च तद्विषयाणां रसादि विषयेणौचित्येन यद्योजनमेतन्महाकवेर्मुख्यं कर्म। अयमेव हि महाकवेर्मुख्यो व्यापारो यद्रसादीनेव मुख्यतया काव्यार्थीकृत्य तद्व्यक्त्यनुगुणत्वेन शब्दानामर्थानां चोपनिबन्धनम्।

और ये रसादि के तात्पर्य से काव्य का निबन्धन भरतादि आचार्यों के मत में भी ग्राह्य है इसका प्रतिपादन इस श्लोक से करते हैं-

रसाद्यनुगुणत्वेन व्यवहारोऽर्थशब्दयोः।
औचित्यवान्यस्ता एता वृत्तयो द्विविधाः स्थिताः॥

इस प्रकार रस एवं औचित्य का समावेश अपने ग्रन्थ में आनन्दवर्धन ने किया है। क्षेमेन्द्र ने जो औचित्य विचारचर्चा ग्रन्थ की रचना की है उसे एक सम्प्रदाय विशेष के रूप में मान्यता मिलने का श्रेय आचार्य आनन्दवर्धन को ही जाता है। औचित्य सिद्धान्त को प्रतिष्ठित करने का श्रेय आचार्य आनन्दवर्धन के इस श्लोक को जाता है।

अनौचित्याद् ऋते नान्यद् रसभङ्गस्य कारणम्।
औचित्योपनिबन्धस्तु रस्योपनिषत् परा॥

अर्थात् यदि काव्य की आत्मा रस है तो रस का परम गूढ़ रहस्य औचित्य है।

ध्वन्यालोक में गुणौचित्य, अलङ्कारौचित्य, सङ्घटनौचित्य, विषयौचित्य का विस्तार से वर्णन प्राप्त होता है।

14.7.6 ध्वनि और वक्रोक्ति

वक्रोक्ति का कथन सर्वप्रथम भामह ने किया। उनके अनुसार अतिशयोक्ति ही वक्रोक्ति है।

सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयाऽर्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना॥

भामह ने इसे समग्र अलङ्कारों का मूल कहा है और आनन्दवर्धन ने भी इस विचार का समर्थन किया है-

अतिशयोक्तिगर्मता सर्वालङ्कारेणु शक्यक्रिया।

अतिशयोक्ति जिस अलङ्कार कवि की प्रतिभा के वश से जिस अलङ्कार पर अधिष्ठित होती है, उसमें अतिशय चारुत्व का योग हो जाता है और अन्य अलङ्कारमात्र होते हैं। इस प्रकार सभी अलङ्कारों के शरीर को अङ्गीकार की योग्यता हो जाने से अभेदोपचार से वही सर्वालङ्कार स्वरूप है, यही अर्थ समझना चाहिये। और वह अलङ्कारान्तर से सङ्कीर्ण कभी व्यङ्ग्य रूप से होती है, कभी वाच्यरूप से होती है। व्यङ्ग्यत्व भी कभी प्राधान्य से कभी गुणभाव से होता है। उनमें प्रथम पक्ष में वाच्य अलङ्कार का मार्ग है, द्वितीय पक्ष में ध्वनि में अन्तर्भाव है और तृतीय में गुणीभूतव्यङ्ग्यरूपता है।

'तत्रातिशयोक्तिर्यमलङ्कारमधितिष्ठतकविप्रतिभावशात्तस्य चारुत्वातिशययोगोऽन्यस्य त्वलङ्कारमात्रतैवति सर्वालङ्कारशरीर-स्वीकरणयोग्यत्वेनामेदोपचारात्सैव सर्वालङ्काररुपेत्ययमेवार्थोऽवगन्तव्य:। तस्याश्चालङ्कारान्तर-सङ्कीर्णत्वं कदाचिद्वाच्यत्वेन कदाचित् व्यङ्ग्यत्वेन। व्यङ्गस्वमपि कदाचित् प्रधान्येन कदाचित् गुणभावेन। तत्राद्ये पक्षे वाच्यालङ्कारमार्ग:। द्वितीये तु ध्वनावन्तर्भाव:। तृतीये तु गुणीभूतव्यङ्ग्यरुपता।

वक्रोक्ति का एक सम्प्रदाय के रूप में विकास सर्वप्रथम आनन्दवर्धन ने ही किया। उनके पश्चात् वक्रोक्ति सम्प्रदाय को लेकर कुन्तक ने अपनी लेखनी चलाई।

इस प्रकार इस अध्यायांश में हमने ध्वनि सम्प्रदाय का अन्य सम्प्रदायों से किस तरह से सम्बन्ध है, इस विषय-वस्तु का अध्ययन किया है। अत: अब हम कह सकते हैं ध्वनि और रीति, ध्वनि और रस, ध्वनि और औचित्य, ध्वनि और वृत्ति, ध्वनि और अलङ्कार, ध्वनि और वक्रोक्ति परस्पर सम्बद्ध है। काव्य के चारुत्व हेतु इन समस्त सम्प्रदायों की यथा-स्थान यथावसर आवश्यकता है, महत्ता है।

अत: ये समस्त सम्प्रदाय भिन्न-भिन्न होते हुए भी स्व-स्व अस्तित्त्व को अक्षुण्ण बनाए रखते हैं। काव्य की रचना में अपना विशिष्ट महत्व रखते हैं।

14.8 पारिभाषिक शब्दावली

अभिधेयाथ्र	-	अभिधा से प्राप्त अर्थ
लक्ष्यार्थ	-	लक्षणा से प्राप्त अर्थ (अन्य अर्थ में कहा जाना)
व्यङ्ग्यार्थ	-	व्यङ्ग्य में किसी बात को कहना
प्रतीयमानार्थ	-	प्रतीत होने वाला अर्थ (तात्पर्यार्थ)
शब्दयुगल	-	शब्द एवं अर्थ का जोड़ा
अनिर्वचनीय	-	जिसे शब्दों में न कहा जा सके
प्रतिपत्ति	-	निष्पत्ति
प्रस्थानवादी	-	किसी एक प्रस्थान का अनुसरण करने वाले
लावण्य	-	मुक्ताओं में छाया की तरलता की भाँति झलकने वाला तत्त्व

14.9 अभ्यासार्थ प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न

1. ध्वनि सिद्धान्त के उद्भव को स्पष्ट कीजिये।

2. अभाववादियों, भाक्तवादियों एवं अनिर्वचनीयतावादियों के मतों को देते हुए आनन्दवर्धन द्वारा उनके मत के खण्डन को बताइये।

3. ध्वनि सम्प्रदाय का अन्य सम्प्रदायों से सम्बन्ध सिद्ध कीजिये।

4. संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिये-

   (क) आनन्दवर्धन

   (ख) भट्टनायक

   (ग) महिमभट्ट

   (घ) प्रतीहारेन्दुराज

बोध प्रश्न

बोध प्रश्न 1. कोष्ठक में से उचित आचार्य को उचित वर्ग में लिखिये-

ध्वनि को अलङ्कारान्तरान्तर्भूत करने वाले आचार्य	ध्वनि के प्रबल विरोधी आचार्य
(अ)	(क) ....
(ब)	(ख) ....
(स)	(ग) ....

[भट्टनायक, भामह, दण्डी, उद्‌भट, कुन्तक, महिमभट्ट]

बोध प्रश्न 2.

रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिये।

(अ) विवाक्षितान्यपरवाच्य .... का भेद है।

(ब) ....के ज्ञान पूर्वक प्रतीयमानार्य का ज्ञान होता है।

(स) प्रतीयमानार्थ ध्वनि सहृदयों के हृदय को .... करती है।

(द) ....पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।

(य) ध्वनि काव्य की .... है। (आनन्दवर्धन)

बोध प्रश्न 3.

(क) अभाववादियों के तीन भेद कौनसे हैं?

(ख) तीन प्रमुखवादियों के नाम बताइये जिनका खण्डन आनन्दवर्धन ने किया है?

(ग) ध्वनि शब्द की व्युत्पत्ति बताइये?

प्रश्नों के उत्तर

14.12.1 निबन्धात्मक प्रश्नों के उत्तर

इकाई से स्वयं जाँच करें।

14.12.2 बोध प्रश्न 1 के उत्तर

1. (अ) भामह (क) भट्टनायक

(ब) दण्डी (ख) कुन्तक

(स) उद्भट (ग) महिमभट्ट

बोध प्रश्न 2 के उत्तर

(अ) ध्वनि

(ब) वाच्यार्थ

(स) आह्लादित

(द) प्रतीयमानं

(य) आत्मा

बोध प्रश्न 3 के उत्तर

(क) 1. नितान्त अभाववादी

2. प्रस्थानवादी

3. अन्तर्भाववादी

(ख) 1. अभाववादी

2. भक्तिवादी

3. अनिर्वचनीयतावादी

(ग) 1. ध्वनतीति ध्वनि:

2. ध्वन्यत इति ध्वनि:

3. ध्वननं ध्वनि:

14.10 सारांश

इस अध्याय में हमने ध्वनि का प्रादुर्भाव कहाँ से हुआ और किस तरह ये विभिन्न शब्दों का वाचक होता हुआ अन्त में आनन्दवर्धनाचार्य द्वारा ध्वनि नामक स्वतन्त्र सम्प्रदाय के रूप में विकसित हुआ। ध्वनि का अर्थ, व्युत्पत्ति, परिभाषा एवं तात्पर्य हमने अच्छी तरह से जाना। ध्वनिकार का परिचय एवं उनका काल निर्धारण भी हमने पढ़ा। ध्वनि विरोधी आचार्यो के मतों को पढ़ा एवं 14.5 अध्यायांश में हमने ध्वनि के मूल तत्त्व विभिन्न प्रमुख वादियों के खण्डनपूर्वक ध्वनि की स्थापना व ध्वनि के भेदों के बारे में जाना। वाच्यार्थ एवं प्रतीयमानार्थ मं अन्तर और ध्वनि के अन्य रसादि सम्प्रदायों से सम्बन्ध को भी जाना। अत: इस अध्याय में हम ध्वनि के आद्योपान्त स्वरूप एवं स्थिति को जान सके।

14.11 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. ध्वन्यालोक, आचार्य विश्वेश्वर, ज्ञान मण्डल लिमिटेड, वाराणसी,वि.सं. 2012.
2. ध्वन्यालोक, लोचनटीका संवलित, भण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्स इन्स्टीट्यूट, पूना,1960.
3. भारतीय साहित्यशास्त्र भाग-2, बलदेव उपाध्याय,प्रसाद परिषद, वाराणसी, 1948.
4. भारतीय काव्यशास्त्र के नए आयाम, मनोहर काले, नमन प्रकाशन, नई दिल्ली, 1999.

इकाई–15

काव्यालङ्कार की दृष्टि से काव्य का प्रयोजन, हेतु लक्षण, काव्यभेद, मार्ग, दोष एवं भामह का योगदान का विवेचन

इकाई की रूपरेखा

15.0 उद्देश्य
15.1 प्रस्तावना
15.2 काव्यालङ्कार की दृष्टि से काव्य प्रयोजन
15.3 काव्य हेतु
15.4 भामहकृत काव्य लक्षण
15.5 काव्य भद
15.5.1 महाकाव्य का लक्षण
15.5.2 गद्यकाव्य के भद आख्यायिका और कथा
15.6 काव्यमार्ग
15.7 काव्यालङ्कार का परिचय
15.8 भामह का परिचय एवं योगदान
15.9 पारिभाषिक शब्दावली
15.10 अभ्यासार्थ प्रश्न
15.11 सारांश
15.12 संदर्भ ग्रंथ सूची

15.0 उद्देश्य

संस्कृत एम.ए. पूर्वार्द्ध के चतुर्थ प्रश्न पत्र की इकाई 15 एवं 16 में भामहकृत काव्यालङ्कार ग्रन्थ का प्रथम अध्याय निर्धारित किया गया है। इन दोनो इकाईयों के अध्ययन के पश्चात आप–

- संस्कृत काव्यशास्त्र के प्रथम ग्रन्थ की विषय वस्तु से परिचित हो पाएँगे।
- काव्य और शास्त्र में भद को समझ पाएँगे।
- काव्य का प्रयोजन, हेतु, लक्षण और काव्य भदो को बता पाएँगे।
- प्रमुख कारिकाओं की व्याख्या से काव्यशास्त्र के मर्म को समझने की प्रवृत्ति बढेगी।
- भामह के काव्यशास्त्र में योगदान को रेखांकित कर पाएँगे।

15.1 प्रस्तावना

संस्कृत के इस प्रश्नपत्र की इन दो इकाइयों के माध्यम से संस्कृत काव्यशास्त्र की विषय वस्तु की जानकारी मिल पाएगी। भामह ने काव्यालङ्कार नामक ग्रन्थ की रचना करके, भरत के नाट्य शास्त्र से पृथक् शास्त्र की प्रतिष्ठा की। परवर्ती काल में आचार्यो ने काव्यशास्त्र पर स्वतन्त्र ग्रन्थों की रचना प्रारम्भ की। काव्यालङ्कार नामक ग्रन्थ से काव्यशास्त्र को न्याय, व्याकरण और मीमांसा जैसे शास्त्रों के समान आदर की दृष्टि से देखा जाने लगा। विद्यार्थी इन इकाईयों के अध्ययन से काव्य के प्रयोजन, हेतु, लक्षण, भद, मार्ग एवं काव्य दोष के विषय में अपनी समझ बढा पाएगा।

15.2 काव्यालङ्कार की दृष्टि से काव्य प्रयोजन

शास्त्र के आदि में शास्त्रकार उसके विषय, प्रयोजन, सम्बन्ध और अधिकारी इन चार अनुबन्धों पर विचार करता है। मन्द से मन्द भो मनुष्य किसी कार्य में तभो प्रवृत्त होता है जब उसमें उसको इष्टसाधनता और कृतिसाध्यता का ज्ञान होता है। इष्टसाधनता का अर्थ है जो मुझे इष्ट (इच्छित) है उसका यह साधन है यह ज्ञान इष्टसाधनता है। कृतिसाध्यता का अर्थ है, यह कार्य मेरे द्वारा भली प्रकार से किया जा सकता है। जब मनुष्य को यह ज्ञान होता है कि यह कार्य मेरे इष्ट का साधन है तथा मेरे द्वारा भली भाँति किया जा सकता है तभो वह कार्य में प्रवृत्त होता है अन्यथा नहीं।

काव्य की रचना करना या काव्य का श्रवण अथवा दर्शन आहार–निद्रा आदि के समान सहज स्वाभाविक एवं प्राकृतिक कार्य तो है नहीं। काव्य कवियों की अलौकिक प्रतिभा विशेष से स्फुरित होने वाला स्वादु सारस्वत तत्त्व है। वह न मरता है न जीर्ण होता है।

पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति।

काव्य नियति के नियमों से रहित है, आह्लादमय है, रसों से रुचिर है। इस प्रकार के काव्य के निर्माण में कवि एवं आस्वाद हेतु सहृदय की प्रवृत्ति किसी प्रयोजन से ही होगी। इसीलिए शास्त्रकारों ने काव्य से सम्बद्ध कवि एवं सहृदय ;पाठक श्रोता, सामाजिकद्ध के प्रयोजनों का विस्तार से वर्णन किया है। भरतमुनि ने नाट्य के प्रयोजनों की चर्चा की है। काव्यशास्त्र के प्रथम आचार्य भामह ने काव्य के प्रयोजनों की चर्चा करते हुए लिखा है–

धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिबन्धनम्।। काव्यालङ्कार 1/2।।

उत्तम काव्य की रचना से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति होती है, कलाओं में विचक्षणता आती है, यश मिलता है और आनन्द प्राप्त होता है।

उत्तरवर्ती सभो आचार्यों ने भामह के इस मत को आदरपूर्वक अपनाया है। इसके अनुसार कीर्ति तथा प्रीति के अतिरिक्त पुरूषार्थचतुष्टय, कला तथा व्यवहार आदि में निपुणता की प्राप्ति भो काव्य का प्रयोजन है।

भामह ने कवि की दृष्टि से कीर्ति को काव्य का मुख्य प्रयोजन अङ्गीकार किया है। इस विषय पर भामह की कुछ कारिकाएँ निम्नानुसार हैं –

उपेयुषामपि दिवं सन्निबन्धविधायिनाम्।
आस्त एव निरातङ्कं कान्तं काव्यमयं वपुः।। का.अ.1/6

रुणद्धि रोदसी चास्य यावत् कीर्तिरनीश्वरी।
तावत्किलायमध्यास्ते सुकृती वैबुधं पदम्।। वही 1/7

अतोऽभिवाञ्छता कीर्तिं स्थेयमां भुवः स्थितेः।
यत्नो विदितवेद्येन विधेयः काव्यलक्षणः।। वही 1/8

सर्वथा पदमप्येकं न निगाद्यमवद्यवत्।
विलक्ष्मणा हि काव्येन दुःसुतेनेव निगद्यते।। वही 1/11

ना कवित्वमधर्माय व्याधये दण्डनाय वा।
कुकवित्वं पुनः साक्षान्मृतिमाहुर्मनीषिणः।। वही 1/12

इन कारिकाओं के अर्थ इस प्रकार हैं –

उत्तम काव्य का निबन्धन करने वाले महाकवियों के दिवङ्गत हो जाने पर भो उनका रमणीय काव्यमय शरीर निभर ही रहता है।।6।।

और जब तक उनका स्थायी यश आकाश और पृथ्वी में व्याप्त रहता है तब तक वे पुण्यकर्मा देवपद का भोग करते हैं।।7।।

इसलिए भ्मण्डल की स्थितिपर्यन्त कीर्ति को चाहने वाले कवि को, उसके उपयोगी सभो विषयों का ज्ञान प्राप्त करके उत्तम काव्य की रचना के लिए प्रयत्न करना चाहिए।।8।।

काव्य म एक भो दोषयुक्त पद का प्रयोग नहीं होना चाहिए क्योंकि दोषयुक्त काव्य की रचना से कवि उसी प्रकार निन्दा का पात्र होता है जिस प्रकार कुपुत्र से पिता की निन्दा होती है।।11।।

(कु–कवि बनने की अपेक्षा तो अ–कवि होना अच्छा है क्योंकि) अ–कवि होने से न तो अधर्म होता है और न व्याधि या दण्ड का भागी ही बनना पड़ता है परन्तु कु–कवित्व को विद्वान् लोग साक्षात् मृत्यु ही कहते हैं।।12।।

कीर्ति के साथ–साथ उत्तम कवि को धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की भो प्राप्ति होती है। इस पुरुषार्थचतुष्टय की प्राप्ति शास्त्रों से भो होती है किन्तु शास्त्र प्रायः दुर्बोध होते है, अल्पमति शास्त्र से डरते हैं उनको सरलता से धर्मादि की प्राप्ति हो इसके लिए काव्य परम उपयोगी है। इस विषय पर भामह लिखते हैं–

प्रायेण दुर्बोधतया शास्त्राद् बिभ्यत्यल्पमेधसः।
तदुपच्छन्दनायैष हेतुन्यायलवोच्वयः।।का.अ/5/2।।

काव्य मधुर होता है इसलिए मधुर काव्य के रस से मिश्रित होकर शास्त्र के दुर्बोध ज्ञान का भो उपयोग होता है। जैसे पहले मधु को चूसने वाले कड़वी दवा पी लेते हैं।

भामह लिखते हैं –

स्वादुकाव्यरसोन्मिश्रं शास्त्रमप्युपयुज्यते।
प्रथमालीढ़मधवः पिबन्ति कटु भेषजम्।। का.अ./5/3।।

काव्य शास्त्र के परवर्ती आचार्यों ने भामह के काव्य प्रयोजन विषयक–चिन्तन को स्वीकार किया है साथ ही इस में कुछ अभिवृद्धि भो की है।

आचार्य कुन्तक ने 'वक्रोकिजीवितम्' में इस मत को और अधिक स्पष्ट किया है। उन्होंने लिखा है–

धर्मादिसाधनोपायः सुकुमारक्रमोदितः।
काव्यबन्धोऽभिजातानां हृदयाह्लादकारकः।। प्रथम उन्मेष/3।।

व्यवहारपरिस्पन्दसौन्दर्यं व्यवहारिभिः।
सत्काव्याधिगमादेव नूतनौचित्यमाप्यते।।वही 4।।

चतुर्वर्गफलास्वादुमप्यतिक्रम्य तद्विदाम्।
काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते।।वही 5।।

अर्थात् काव्य की रचना अभिजात श्रेष्ठ कुल में उत्पन्न–राजकुमार आदि के लिए सुन्दर एवं सरस ढंग से कहा गया धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि का सरल मार्ग है।।3।।

सत्काव्य काव्य के परिज्ञान से ही व्यवहार करने वाले सब प्रकार के लोगों को अपने–अपने व्यवहार का पूर्ण एवं सुन्दर ज्ञान प्राप्त होता है।।4।।

(और सबसे बड़ी बात यह है कि) उससे सहृदयों के हृदय में चतुर्वर्ग–फल की प्राप्ति से बढ़कर आनन्दानुभ्तिरूप चमत्कार उत्पन्न होता है।

आचार्य विश्वनाथ ने चतुर्वर्ग (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) की प्राप्ति को काव्य का प्रयोजन माना है (चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि काव्यादेव यतस्तेन तत् स्वरूपं निरूप्यते)

आचार्य मम्मट ने पूर्ववर्त्ती आचार्यों का समीक्षापूर्वक समन्वय करते हुए काव्य के छह प्रयोजन स्वीकार किए हैं। मम्मट की कारिका इस प्रकार है –

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे।। का.प्र. 1/2।।

काव्य का प्रयोजन है – यशः प्राप्ति, अर्थार्जन, व्यवहार ज्ञान, अमङ्गल का विनाश, सद्यः आनन्द की प्राप्ति और कान्ता सम्मित उपदेश।

इन सभो प्रयोजनों में कवि का परम प्रयोजन यश–प्राप्ति है तथा सहृदय का परम प्रयोजन आनन्द प्राप्ति है। मम्मट ने आनन्द को ही समस्त प्रयोजनों का मुख्य माना है। उन्होंने लिखा है–

''सकलप्रयोजनमौलिभूतं समनन्तरमेव रसास्वादनसमुद्भूतं विगलितवेद्यान्तरमानन्दम्''

काव्य के श्रवण एवं दर्शन के समकालीन ही रसास्वादन से समुत्पन्न और अन्य वेदनीय विषयों के परिज्ञान से शून्य परम आनन्द ही समस्त प्रयोजनों का मौलिभ्त् है अर्थात् प्रधान है।

15.3 काव्य हेतु

आचार्य भामह ने अपने काव्यालङ्कार ग्रन्थ में काव्य के हेतुओं की चर्चा की है। भामह काव्य को अत्यधिक महत्त्व देते हैं। जो कवि नहीं है उसका शास्त्र ज्ञान व्यर्थ है। सत्कवित्व से ही वाणी की विदग्धता सुशोभित होती है। भ्मण्डल पर स्थायी कीर्ति चाहने वाले व्यक्ति को ज्ञातव्य विषयों का ज्ञान प्राप्त करके काव्यनिर्माण के लिए यत्न करना चाहिए –

अतोऽभिवाञ्छता कीर्तिं स्थेयसीमां भुवःस्थितेः।
यत्नो विदितवेद्येन विधेयः काव्यलक्षणः।। का.अ. 1/8

उत्तम काव्य के निबन्ध से कवि के दिवङ्गत होने पर भो उसका काव्य रूपी कान्त शरीर विद्यमान रहता है :–

उपेयुषामपि दिवं सन्निबन्धविधायिनाम्।
आस्त एव निरातङ्कं कान्तं काव्यमयं वपुः।। का.अ. 1/6

कीर्ति और प्रीति प्रदान करने वाल उत्तम काव्य की रचना के लिए कुछ विशिष्ट हेतु होते हैं। भामह ने काव्यालङ्कार के प्रथमपरिच्छेद की तीन कारिकाओं में काव्यहेतुओं का विवेचन किया है। काव्य का प्रमुख कारण प्रतिभा है। भामह प्रतिभावादी आचार्य हैं। इनके अनुसार :–

गुरूपदेशादध्येतुं शास्त्रं जड़धियोऽप्यलम्।
काव्यं तु जायते जातु कस्यचित् प्रतिभावतः।।

जडमति भो गुरु के उपदेश से शास्त्र का ज्ञान प्राप्त कर सकता है किन्तु काव्यरचना का सामर्थ्य केवल प्रतिभावान् को ही प्राप्त होता है। प्रतिभा कवित्व का बीज रूप संस्कार विशेष है जो जन्मान्तर से प्राप्त होता है। देवता की आराधना से भो प्रतिभा का उदय होता है। इस जन्म के संस्कारों से भो प्रतिभा उद्भावित होती है। भट्टतौत के शब्दों में प्रतिभा नित्यनूतन अर्थों का उन्मीलन करती है।

''प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता''
प्रतिभा से अपूर्व वस्तु का निर्माण होता है।

प्रतिभाशाली कवि काव्य के उपयोगी शब्द और अर्थ के संयोजन में कुशल होता है। शब्द और अर्थ के सम्यक् ज्ञान से सम्पन्न होकर जब कवि काव्यनिर्माण में कुशल कवि और काव्यमर्मज्ञ आचार्यों के निर्देशन में काव्य रचना में प्रवृत्त होता है इसे अभ्यास कहते हैं। भामह ने लिखा है :–

शब्दाभिधेये विज्ञाय कृत्वा तद्विदुपासनाम्।
विलोक्यान्यनिबन्धांश्च कार्यः काव्यक्रियादरः।। का.अ. 1/10

काव्य निर्माण के अभ्यास के लिए वाल्मीकि, व्यास, कालिदास आदि महाकवियों के काव्यों का पुनः–पुनः अनुसन्धान भो सहायक होता है।

भामह ने प्रतिभा में व्युत्पत्ति उत्पन्न करने के उपयोगी विषयों का संग्रह निम्न कारिकाओं में किया है :–

शब्दश्छन्दोऽभिधानार्था इतिहासाश्रयाः कथाः।
लोको युक्तिः कलाश्चेति मन्तव्याः काव्यहेतवः।। का.अ. 1/9

शब्दशास्त्र, छन्दःशास्त्र, अभिधानकोश, विविध अर्थ, उपजीव्य काव्यों की कथाएँ लोकव्यवहार, तर्कशास्त्र और चतुःषष्टि कलाएँ काव्य के हेतु हैं। भामह इससे भो सन्तुष्ट नहीं हुए। उन्होंने लिखा कि संसार का कोई ऐसा ज्ञान, कोई ऐसी शिल्प, कोई ऐसी विद्या, कोई ऐसी कला नहीं है जो काव्य का अङ्ग न बन सके। कवि का दायित्व कितना महान् है। कारिका इस प्रकार है :–

न स शब्दो न तद्वाच्यं न स न्यायो न सा कला।
जायते यन्न काव्याङ्गमहो भारो महान् कवेः।। का.अ. 5/4

भामह ने मुख्य रूप से प्रतिभा को काव्य का कारण माना है। साथ ही काव्य हेतुओं में व्युत्पत्ति और अभ्यास को भो स्वीकार किया है। परवर्ती आचार्यों में दण्डी ने स्वाभाविक प्रतिभा, प्रचुर शास्त्रज्ञान (व्युत्पत्ति) एवं अभ्यास को काव्य का हेतु स्वीकार किया है :–

नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतं च बहु निर्मलम्।
अमन्दश्चाभियोगोऽस्याः कारणं काव्यसम्पदः।। काव्यादर्श 1/103

वामन ने काव्य हेतु की व्यापक मीमांसा करते हुए लिखा है कि लक्ष्यज्ञत्व, अभियोग, वृद्धसेवा, अवेक्षण, प्रतिभा तथा अवधान के द्वारा काव्य की रचना होती है।

श्रेष्ठ कवियों के काव्यों का परिचय प्राप्त करना 'लक्ष्यज्ञत्व' है। काव्यरचना में उद्योग करना 'अभियोग' है। काव्यों के उपदेश में श्रेष्ठ लोगों (गुरुओं) की सेवा करना वृद्ध–सेवा कहलाती है। काव्य की रचना करते समय ;उपयोगीद्ध पदों का ग्रहण और (अनुपयोगी) पदों का त्याग करने की परीक्षा को 'अवेक्षण' कहा जाता है। कवित्व का बीज प्रतिभान अर्थात् 'प्रतिभा' कही जाती है। चित्त की एकाग्रता 'अवधान' कहा जाता है। अवधान की उत्पत्ति का उपाय देश और काल है। एकान्त स्थान काव्य निर्माण के लिए उपयोगी देश है तथा रात्रि का चतुर्थ प्रहर (ब्रह्ममुहूर्त) उपयोगी काल है। वामन के शब्द इस प्रकार है :–

लक्ष्यज्ञत्वमभियोगो वृद्धसेवाऽवेक्षणं
प्रतिभानमवधानं च प्रकीर्णम्।। काव्यालङ्कारसूत्र।। 1/3

तत्र काव्यपरिचयो लक्ष्यज्ञत्वम्।।12।। काव्यबन्धोधमोऽभियोगः ।। 13।। काव्योपदेशगुरुशुश्रूषणं वृद्धसेवा।।141।। पदाधानोद्धरणमवेक्षणम्।।151।। कवित्वबोजं प्रतिभानम्।। 16।। चित्तैकाग्रयमव
धानम् ।।17।। तद्देशकालाभ्याम्।।18।। विविक्तोदेशः।।19।। रात्रियामस्तुरीयः कालः ।।20।। काव्यालङ्कार सूत्र 1/3/11–20

आचार्य मम्मट ने अपने से पूर्ववर्ती आचार्यों के मतों की सुसङ्गत व्याख्या करते हुए शक्ति, निपुणता और अभ्यास को समुदित (समन्वित) रूप से काव्य का हेतु स्वीकार किया है –

शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे।। काव्यप्रकाश 1/3

यहाँ समुदित कारणता का अर्थ यह है कि जिस प्रकार घड़े के निर्माण के लिए दण्ड, चक्र (चाक), चीवर आदि सब मिलकर कारण होते हैं उसो प्रकार काव्य के लिए भो शक्ति ;कवित्व का बीज जो संस्कार विशेष हैद्ध निपुणता और अभ्यास मिल कर कारण है। किसी एक को साधुकाव्य के लिए कारण स्वीकार नहीं किया जा सकता।

राजशेखर, पण्डित राज जगन्नाथ और वाग्भट आदि आचार्य केवल प्रतिभा को ही काव्य का हेतु मानते हैं तथानि व्युत्पत्ति और अभ्यास को भो महत्त्व देते हैं। इन आचार्यों के कथन इस प्रकार हैं–

(1) सा (शक्तिः) केवलं काव्ये हेतुरिति यायावरीयः। राजशेखर–काव्यमीमांसा 6.11

(2) तस्य च कारणं कविगता केवला प्रतिभा–जगन्नाथ रसगंगाधर पृ. 8

"प्रतिभव च कवीनां काव्यकरणकारणम्।"

व्युत्पृयभ्यासौ तस्या स्व संस्कारकौ न तु काव्य हेतू।। वाग्भट–अलंकारतिलक पृ. 2

वस्तुतः काव्य निर्माण में प्रतिभा तो अनिवार्य कारण है ही उसके बिना काव्य का प्रसार ही नहीं होता किन्तु अमर काव्य के लिए व्युत्पत्ति और अभ्यास भो समान रूप से कारण है।

15.4 भामहकृत काव्य लक्षण

भामह काव्य को आस्वादक एवं धर्मादि के प्राप्ति का साधन मानते हैं। संसार में अजर और अमर के समान स्थाई यश को चाहने वाले कवि को साधुकाव्य के निबन्धन में यत्न करना चाहिए। वाणी की विदग्धता सत्कवित्व के बिना कुछ नहीं हैं। जो कवि नहीं है उसका शास्त्रज्ञान निर्धन के दान के समान है। भामह इस आशय को व्यक्त करते हुए कारिका लिखते हैं–

''अधनस्येव दातृत्वं क्लीबस्येवास्त्रकौशलम्।
अज्ञस्येव प्रगल्भत्वमकवेः शास्त्रवेदनम्।। का.अ.1/3

विनयेन विना का श्रीः का निशा शशिना विना।
रहिता सत्कवित्वेन कीदृशी वाग्विदग्धता।। वही 1/4

साधुकाव्य को कैसे पहचाना जावे? किसी भो वस्तु को उसके लक्षण के आधार पर पहचाना जाता है। लक्षण किसी भो वस्तु का असाधारण धर्म होता है। लक्षण से लक्ष्य पदार्थ को जानते हैं। लक्ष्य पदार्थ को उस जैसे और उससे भिन्न पदार्थों से पृथक् समझा जाता है। इस दृष्टि से काव्य को जो असाधारण (अर्थात् काव्यमात्र में रहने वाला) धर्म अर्थात् रूप होता है उससे काव्य को इतिहास–पुराण आदि से पृथक् समझा जाता है। स्वरूप या लक्षण वस्तु के सम्पूर्ण रूपों में व्याप्त रहता है। किसी एक विशेष रूप में ही वही रहता। इसी दृष्टि से काव्य के लक्षण पर काव्यशास्त्र के भोष्मपितामह आचार्य भामह ने विचार किया। भामह ने तत्कालीन विचारो में समन्वय भो स्थापित किया है। भामह लिखते हैं कि कुछ आचार्य काव्य में रूपक आदि अलंकारो को महत्त्व देते हैं तो कुछ इन्हें बाह्य तत्व मानते हैं तथा सुप् और तिङ् की व्युत्पति रूप शब्दालङ्कारों को ही काव्य का अलंकार मानते हैं।

किन्तु भामह अपना मत प्रकट करते हुए कहते हैं कि हमें तो शब्द और अर्थ के अलंकार के रूप में दोनों की इष्ट हैं। भामह का मूल कथन इस प्रकार हैं :–

''रूपकादिरलंकारस्तथान्यैर्बहुधोदितः।
न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनिताननम्।।

रूपकादिमलङ्कारं बाह्यमाचक्षते परे।
सुपां तिङाञ्च व्युत्पत्तिं वाचां वाञ्छन्त्यलङ्कृतिम्।।

तदेतदाहुः सौशब्द्यं नार्थव्युत्पत्तिरीदृशी।
शब्दाभिधेयालङ्कारभेदादिष्टं द्वयं तु नः।। का. अ. /13–15

इस पृष्ठ भ्मि के साथ भामह काव्य लक्षण करते हुए लिखते हैं–

''शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्''। का.अ. 1/16

अर्थात् शब्द आर अर्थ का साहित्य काव्य है। साहित्य शब्द से अभिप्राय यह है कि जिस रचना में वर्णित अर्थ के अनुरूप शब्दों का प्रयोग हो या शब्दों के अनुरूप अर्थ का वर्णन हो वे शब्द और अर्थ ही ''सहितौ'' पद से विवक्षित है। वही शब्द और अर्थ का साहित्य है। भामह को काव्य में शब्द और अर्थ का सौन्दर्य अपेक्षित था क्योंकि काव्य में शब्दालङ्कारों के प्रयोग से शब्द सौन्दर्य आता है तो अर्थालङ्कारो के प्रयोग से अर्थ सौन्दर्य। भामह ने दोनों का महत्त्व स्वीकार किया है किन्तु उनके ग्रन्थ के अनुशीलन से यह ज्ञात होता है कि उनका आग्रह भो अर्थ सौन्दर्य के प्रति अधिक हैं क्योंकि काव्य की वक्रोक्ति अर्थ को ही प्रधानतया विभावित करती है। भामह का कथन इस प्रकार हैं –

सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना। (2/85)

अर्थात् यह सब वक्रोक्ति ही है जिसमें अर्थ का विभावन होता है। इसके लिए कवि को प्रयास करना चाहिए। इसके बिना कौनसा अलंकार हो सकता है।

भामह अलंकारवादी आचार्य है अतः इन्होंने अपने काव्यालङ्कार में अनेक स्थान पर काव्य में अलंकार की अनिवार्यता की अंगीकार किया है।

यथा–

वाचां वक्रार्थशब्दोक्तिरलंकाराय कल्पते।। 5/66

(वाणी में तो शब्द और अर्थ की वक्रता ही चारूत्व का हेतु हैं)

गिरामलङ्कारविधिः सविस्तरः
स्वयं विनिश्चित्य धिया मयोदितः।
अनेन वागर्थविदामलङ्कृता
विभाति नारीव विदग्धमण्डना।। 3/58

(मेरे द्वारा स्वयं विनिश्चय करके बुद्धिपूर्वक वाणी के अलङ्करण की विधि विस्तारपूर्वक कही गयी है। इससे अर्थविदों की अलंकृत वाणी विभ्षित नारी के समान विभावित होती है।)

न नितान्तादिमात्रेण जायते चारूता गिराम्।
वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलङ्कृतिः।।1/36

(केवल ''नितान्त सुन्दर'' आदि मात्र कहने से वाणी में चारूता नहीं आती। अर्थ तथा शब्द की वक्रता में ही वाणी का अलङ्करण इष्ट हैं।)

भामह ने शब्द और अर्थगत सौन्दर्य के अतिरिक्त काव्य में रस के महत्त्व को भो स्वीकार किया है। उनका कथन है कि काव्य लोक का आश्रय लेकर रहता है (लोकाश्रयं काव्यम्–5/33) चतुर्वर्ग की प्राप्ति का साधन काव्य लोकस्वभाव से युक्त होकर समस्त रसों को अपने में समाहित किए हुए रहता है।

चतुर्वर्गाभिधानेऽपि भूयसार्थोपदेशकृत्।
युक्तं लोकस्वभावेन रसैश्च सकलैः पृथक्।। 1/21

भामह के काव्य लक्षण की विशेषता :–

1. भामह ने अपने काव्य लक्षण में शब्द और अर्थ को समान महत्त्व प्रदान किया है।
2. काव्य में अलंकार को अनिवार्य तत्त्व माना है।।
3. काव्य में रस को भो महत्त्व दिया है।
4. शब्दार्थ युगल को काव्य का शरीर स्वीकार किया है।

उन्होंने स्पष्टतः तो नहीं किन्तु रस और गुण का भो उल्लेख किया है। इनके शब्दों का आशय हम यह समझ सकते हैं कि यदि वे काव्य की आत्मा का विचार करते तो उनकी दृष्टि में रस ही काव्य की आत्मा होता। जसा कि उन्होंने अनेक स्थानों पर संकेत किया है। संकेत इस प्रकार हैं –

स्वादुकाव्यरसोन्मिश्रं शास्त्रमप्युपयुज्यते।। काव्यालंकार 5/3
रसैश्च सकलैः पृथक्।। वही 1/21

5. भामह का अभिमत है कि इष्ट अर्थ को व्यक्त करने के लिए कवि को मालाकार के समान सावधान होकर काव्य में प्रयोग करना चाहिए।

   मालाकारो रचयति यथा साधु विज्ञाय मालां।
   योज्यं काव्येश्ववहितधिया तद्वदेवाभिधानम्।। वही 1/59

लक्षण की न्यूनता

1. शब्द और अर्थ को काव्य स्वीकार करते हुए भामह ने काव्य के बाह्य स्वरूप का ही निरूपण किया।

2. काव्य की आत्मा के विषय में विचार नहीं किया। आत्मा के बिना शरीर का अस्तित्व नहीं हो सकता।

3. काव्य में अलंकारो को ही प्रमुख माना। रस को विशेष महत्त्व नहीं दिया।

4. आचार्य भामह ने अलंकार और गुण को एकरूप में स्वीकार किया है। इनके मत में गुण काव्यशोभा के कर्ता नहीं अपितु अलंकारों के समान शोभा के उत्कषक हैं। किन्तु वस्तुस्थिति में गुण काव्य के सौन्दर्य के उत्पादक धर्म हैं अलंकार के समान उत्कषक नहीं।

5. स्वाभाविक सौन्दर्य के स्थान पर अलङ्कृत सौन्दर्य को महत्त्व दिया है जो औचित्यपूर्ण नहीं हैं।

भामह ने काव्य के बाह्य रूप पर विशेष ध्यान रखते हुए लक्षण प्रस्तुत किया है। किन्तु भामह के द्वारा स्वीकृत शब्दार्थोभय को काव्य मानने की परम्परा को ही काव्यशास्त्र में महत्त्व मिला हैं। आचार्य मम्मट, वामन, रूद्रट, आनन्दवर्धन, कुन्तक आदि आचार्यों ने शब्द और अर्थ दोनों में ही काव्यत्व माना हैं।

भामह के काव्य लक्षण में आए हुए ''सहितौ'' शब्द भो बड़ा महत्त्वपूर्ण रहा है। इस पद का रहस्य आचार्य कुन्तक ने प्रकट किया है। कुन्तक लिखते हैं :–

साहित्यमनयोः शोभाशालितां प्रति काप्यसौ।
अन्यूनानतिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थितिः।।
वक्रोक्तिजीवितम् 1/17

काव्य की शोभा बढाने के लिए शब्द और अर्थ की न कम न अधिक परस्पर स्पर्धावाली मनोहर स्थिति साहित्य है। शब्द और अर्थ के सहित होने का यही भाव है।

भामह ने प्रथम बार काव्य के लक्षण का प्रणयन किया। शब्द और अर्थ को काव्य कहा। अलंकृत शब्द और अर्थ काव्य हैं। दोनो का सहभाव आवश्यक है। अलंकार के साथ गुण और रस की ओर भो इंङ्गित किया।

15.5 काव्य भद

भामह ने काव्य का स्वरूप बतलाते हुए उसके भदों पर भो विचार किया है। वे लिखते हैं– ''शब्दार्थौ सहितौ काव्यं गद्यं पद्यञ्चतद्विधा। का.अ. 1/16

शब्द और अर्थ का साहित्य काव्य है और वह गद्य और पद्य दो प्रकार को होता है। भामह ने अभिव्यक्ति के प्रकार की दृष्टि से सर्वप्रथम काव्य के दो भद किए गद्य और पद्य। भदों में पहले गद्य का उल्लेख क्यों किया? इसका उत्तर वामन ने काव्यालङ्कार सूत्र में दिया है कि:–

''गद्यस्य पूर्वनिर्देशो दुर्लक्ष्यविशेषत्वेन दुर्बन्धत्वात्। तथाहु :– गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति'' काव्यालङ्कार सूत्र 1/3/21 वृत्ति

अर्थात् गद्य को पहले इस कारण निर्दिष्ट किया गया है कि गद्य कठिनाई से लक्षित होता है, गुरू–लघु के नियमादि विशेषवाला क्लिष्टतापूर्वक रचना करने लायक होता है। जैसा कि आलोचक विद्वानों ने कहा है – ''गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति अर्थात् गद्य काव्य को कवियों की कसौटी कहते हैं।

गद्य शब्द ''गद व्यक्तायां वाचि'' इस धातु से ''गदमदचरयमश्चानुपसर्गे (पां. 3/1/100) से कम में यत् प्रत्यय करने से निष्पन्न होता है अथवा ''स्तनगदी देवशब्द, इस चौरादिक णिजन्तान्त धातु से ''अचोयत्''से यत् प्रत्यय से भो निष्पन्न हो सकता है। गद्य का स्वरूप दण्डी ने इस प्रकार लिखा है–''अपादः पद सन्तानो गद्यम्'' (काव्यादर्श 1/23) गण और मात्रा से नियमित पद्य के चतुर्थ भाग को पाद कहते हैं तथा पाद से रहित पद (सुबन्त और

तिडन्त) समुदाय को गद्य कहते हैं। आचार्य विश्वनाथ के अनुसार ''गद्य'' वह शब्दार्थ योजना है जो छन्दोबद्ध नहीं हुआ करती–''वृतगन्धउिझतं गद्यम् (साहित्यदर्पण 6/330)

पद्य–पादों में निबद्ध रचना पद्य है। ''पादेषु भवं पद्यम्। पाद शब्द से ''शरीरावयवाच्च'' (पा. 4/3/55) सूत्र से भवार्थ में यत् प्रत्यय करने से पद्य शब्द बनता है (भसंज्ञा, पदादेश करने पर)। दण्डी ने पद्य का लक्षण किया है–''पद्यं चतुष्पदी तच्च वृत्तं जातिरिति–द्विद्या'' (काव्यादर्श 1/11)। पद्य चार पादों में निबद्ध होता है (लौकिक पद्य) वृत्त और जाति इसके दो भद हैं।

भामह के समय में काव्य रचना प्रायः तीन भाषाओं में होती थी। इसलिए उन्होंने अभिव्यक्ति के माध्यम की दृष्टि से काव्य के तीन भद माने हैं :–

संस्कृतं प्राकृतञ्चान्यदपभ्रंश इतित्रिधा।। का.अ. 1/16।।

भाषा की दृष्टि से काव्य के तीन भद हैं–संस्कृतकाव्य, प्राकृत काव्य और अपभश काव्य।

भाषाओं की विभिन्नता होने पर भो कथावस्तु की दृष्टि से काव्य को चार प्रकारों में विभक्त किया जा सकता है। भामह कहते हैं –

वृत्तं देवादिचरितशंसि चोत्पाद्यवस्तु च।
कलाशास्त्राश्रयञ्चेति चतुर्धा भिद्यते पुनः।। का.अ. 1/17

काव्य का विषय देवता आदि का चरित वर्णन हो सकता है, कल्पित कथावस्तु हो सकती है, कला अथवा शास्त्र के आश्रित कथावस्तु भो काव्य का विषय बन सकती है। भामह ने देवता आदि के चरित में यह संकेत दिया है कि कथावस्तु पौराणिक, ऐतिहासिक अथवा पूर्ववर्ती उपजीव्य काव्यों से भो ग्रहण की जा सकती है। उद्भट के टीकाकार ने कलाश्रय और शास्त्राश्रय का अर्थ क्रमशः भरत आदि ने जिन कलाओं का विवेचन किया उनको आश्रय बना कर काव्य लिखा जा सकता है तथा व्याकरण आदि शास्त्र के परिज्ञान के लिए भो काव्य रचना की जा सकती है :–

अत्र हि कलाश्रयशब्देन भरताद्यभिहितम्।
शास्त्राश्रयशब्देन च व्याकरणादि। का.सा. संवर्ग 6 पर लघुवत्ति।

अभिव्यक्ति के प्रकार गद्य और पद्य रूप में संस्कृत, प्राकृत अथवा अपभश में लिखी पौराणिक ऐतिहासिक अथवा कविप्रतिभा से उत्पाद्य आदि कथावस्तुविषयक काव्य को विद्या की दृष्टि से पाँच प्रकारों में विभक्त किया जा सकता है। भामह लिखते हैं :–

सर्गबन्धोऽभिनेयार्थं तथैवाख्यायिकाकथे।
अनिबद्धञ्च काव्यादि तत्पुनः पञ्चधोच्यते।। का. अ. 1/18

सर्गबन्ध अर्थात् महाकाव्य, अभिनेयार्थ अर्थात् नाटक (रूपक), आख्यायिका, कथा और अनिबद्ध (गाथा, श्लोक, मुक्तक) के रूप में वह काव्य पांच प्रकार का कहा जाता है।

इनमें से कथा और आख्यायिका गद्य के भद हैं। सर्गबन्ध और अनिबद्ध पद्य के भद हैं। अभिनेय अर्थात् नाटक आदि गद्य और पद्यात्मक होने के कारण मिश्र माने जाते हैं। भामह ने तो इनको मिश्र शब्द से नहीं कहा किन्तु दण्डी ने इनको मिश्र कहा है। दण्डी का वचन है :–

''मिश्राणि नाटकादीनि'' काव्यादर्श 1/31

भामह ने अपने ग्रन्थ में नाटक पर इसलिए विचार नहीं किया क्योंकि वह नाट्यशास्त्र का विषय है। नाटक दशरूपक का ही उपलक्षक है तथा द्विपदी शम्या, रासक आदि उपरूपकों के प्रकार हैं।

नाटकं द्विपदीशम्यारासकस्कन्धकादि यत्।
उक्तं तदभिनेयार्थमुक्तोऽन्यैस्तस्य विस्तरः।। का.अ. 1/24

अर्थात् द्विपदी, शम्या, रासक और स्कन्धक आदि जो नाटक हैं, उसे अभिनेयार्थ कहा गया है। अन्य आचार्यों के द्वारा उसका विस्तार कहा गया है।

भामह ने जिसे अनिबद्ध काव्य प्रकार कहा है वह श्लोकमात्र अथवा गाथामात्र (प्राकृत भाषा में श्लोक को गाथा कहा जाता है) है। इसे ही दण्डी ने मुक्तक, सङ्घात, कुलक या कोशादि भदों में विभक्त किया है।

मुक्तकं कुलकं कोषः सङ्.घात इति तादृशः।
सर्गबन्धांशरूपत्वादनुक्तः पद्यविस्तरः।। काव्यादर्श 1/13

15.5.1 महाकाव्य का लक्षण

भामह ने महाकाव्य का लक्षण इस प्रकार हैं :

सर्गबन्धो महाकाव्यं महताञ्च महच्च यत्।
अग्राम्यशब्दमर्थ्यञ्च सालङ्कारं सदाश्रयम्। 19।

मन्त्रदूतप्रयाणाजिनायकाभ्युदयैश्च यत्।
पञ्चभिः सन्धिभिर्युक्तं नातिव्याख्येयमृद्धिमत्। 20।

चतुर्वर्गाभिधानेऽपि भूयसार्थोपदेशकृत्।
युक्तं लोकस्वभावेन रसैश्च सकलैः पृथक्। 21।

नायकं प्रागुपन्यस्य वंशवीर्यश्रुतादिभिः।
न तस्यैव वधं ब्रूयादन्योत्कर्षाभिधित्सया।। कां.अ. 1/19–22

अर्थात् सर्गबन्ध महाकाव्य ;कहलाताद्ध है जो महान चरित्रों से युक्त होता है तथा आकार में बड़ा होता है। महाकाव्य अग्राम्य शब्दों से युक्त, अर्थ से सम्पन्न, अलंकारों से युक्त, और सत्पुरूष (के वृन्त पर) आश्रित होता है।।19।।

महाकाव्य मन्त्रणा, दूतप्रयोग, (सेना) प्रयाण, युद्ध, नायक के अभ्युदय और पांच सन्धियों से युक्त, अनतिव्याख्येय तथा वैभव (पूर्ण, वचनों से) सम्पन्न होता है।।20।।

चतुवर्ग (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) का अभिधायक होने पर भो प्रधानतया अर्थ का उपदेश करने वाला, लोकस्वभाव तथा पृथक्–पृथक् समस्त रसों से युक्त होता है ।।21।।

पहले वंश, पराक्रम और विद्या आदि गुणों से नायक (प्रतिनायक) को प्रस्तुत कर दूसरे (नायक) का उत्कर्ष बतलाने की अभिलाषा से उसका वध नहीं करना चाहिए।।22।।

भामह ने काव्य शास्त्र में सर्वप्रथम महाकाव्य का लक्षण प्रस्तुत किया। सर्गबद्वता तो महाकाव्य का पर्याय बन गई। महाकाव्य में नेता और वस्तु ;इतिवृत्तद्ध ये दो प्रधान तत्त्व हैं। लक्षण में इन दोनो से सम्बद्ध दो विशेषण दिए गए हैं। प्रथम ''महताञ्च'' विशेषण नायक का है।

काव्य का नायक महान् चरित्रवाला होना चाहिए उसके महान् गुणों का आधान होना चाहिए। उसकी कीर्ति भो महान् होनी चाहिए। दूसरा विशेषण ''महच्च'' है जो कथावस्तु का है। कथावस्तु में महत्ता उसकी रमणीयता, सर्वजनग्राह्यता, उदात्तचरित्रता, विशालवर्णनीयता और व्यापक फलकता के आधार पर होनी है। भामह ने केवल महत् कहकर छोड़ दिया है। इसका रहस्य प्रकट नहीं किया। कुछ संकेत कथावस्तु के विस्तार से सम्बद्व मन्त्रणा, दूतप्रेषण, अभियान आदि कर दिए हैं। वस्तु अपने महान् उद्देश्य एवं अपूर्व वर्णन कौशल के आधार पर महत होती हैं।

भामह ने सर्गों की संख्या और आकार के विषय में कोई संकेत नहीं किया है। विश्वनाथ ने ''नातिस्वल्पा नातिदीर्घाः सर्गा अष्टाधिकाइह'' (साहित्यदर्पण 6/320) कहकर यह नियम बनाया है कि महाकाव्य में आठ सर्ग से कम सर्ग नहीं हुआ करते और ये सर्ग भो न बहुत छोटे हो और न बहुत बड़े।

महाकाव्य का नायक महान् और सत् होना चाहिए। महाकाव्य लोकस्वभाव से युक्त होना चाहिए। इसमें सभो रस होने चाहिए तथा कथावस्तु पञ्च सन्धियों से युक्त हो यह नाट्य का प्रभाव है।

भामह ने श्रव्यकाव्य में रसवाद को सर्वप्रथम स्वीकार किया। रस प्रतीति के साधन के रूप में अग्राम्य शब्द और अर्थसौष्ठव को स्वीकार किया है।

15.5.2 गद्यकाव्य के भेद आख्यायिका और कथा

पद्यरचना की दृष्टि से जो महाकाव्य था, गद्य में उसे ही आख्यायिका कहा गया है। आख्यायिका का लक्षण भामह ने इस प्रकार दिया है–

संस्कृतानाकुलश्रव्यशब्दार्थपदवृत्तिना।
गद्येन युक्तोदात्तार्थ सोच्छ्वासाख्यायिका मता।।25।।

वृत्तभाख्यायते तस्यां नायकेन स्वचेष्टितम्।
वक्त्रञ्चापरवक्त्रञ्च काले भाव्यर्थशंसि च ।।26।।

कवेरभिप्रायकृतैः कथनैः कैश्चिदङ्किता।
कन्याहरणसङ्ग्राम विप्रलम्भोदयान्विता।।27।। का.अ. 1/25–27

अर्थात् आख्यायिका संस्कृत में निबद्ध रचना को कहत हैं। आख्यायिका में अक्लिष्ट और सुश्रव्य शब्द और अर्थ से युक्त समास वाले गद्य से युक्त होती है। उसका विषय उदात्त होता है, यह उच्छ्वासों में विभक्त होती है।।25।। उसमें नायक के द्वारा स्वघटितवृत्त का आख्यान किया जाता है। वह यथावसर भावी घटनाओं के सूचक वक्त्र और अपरवक्त्र (छन्दों से युक्त होती है।)।।26।।

आख्यायिका में कवि के अभिप्राय से प्रयुक्त कुछ कथन होते हैं इसमें कन्याहरण, संग्राम, विप्रलम्भ और अभ्युदय आदि का वर्णन होता है।।27।।

कथा :– कथा का लक्षण करते हुए भामह ने लिखा है :–

न वक्त्रापरवक्त्राभ्यां युक्ता नोच्छ्वासवत्यपि।
संस्कृताऽसंस्कृता चेष्टा कथापभ्रंशभाक्तथा।।
अन्यैः स्वचरितं तस्यां नायकेन तु नोच्यते।
स्वगुणाविष्कृतिं कुर्यादभिजातः कथं जनः।।

अर्थात् कथा में वक्त्र और अपरवक्त्र छन्दों का प्रयोग नहीं होता, कथा उच्छवासों में विभक्त नहीं होती है। कथा की भाषा संस्कृत अथवा अन्य भो हो सकती है। कथा में इतिवृत्त स्वयं नायक द्वारा नहीं कहा जाता अपितु अन्य पात्रों द्वारा कहा जाता है क्योंकि कुलीन नायक अपने गुणों का प्रकाशन कैसे करें।

आचार्य दण्डी ने भामह के इस विभाजन को स्वीकृति नहीं दी। उन्होंने लिखा है कि कथा और आख्यायिका एक ही जाति है केवल संज्ञा (नाम) का ही भद हैं :–

तत् कथाऽख्यायिकेत्येका जातिः
संज्ञा द्वयाङ्किता। काव्यादर्श 1/28

उत्तरवर्ती काल में ये दोनो अलग अलग विधाएँ बनी रही।

15.6 काव्यमार्ग

काव्यभदों की विवेचना के पश्चात् भामह ने काव्यमार्ग की चर्चा की है। भामह के समय वैदभ और गौड ये दो मार्ग प्रचलित थे। कुछ विद्वान् वैदभ को तो कुछ गौड़ मार्ग को श्रेष्ठ मानते थे। ये भद प्रदेशो का नाम के आधार पर किए गए थे। किन्तु भामह कहते है कि प्रदेश के आधार पर किया गया भद गतानुगतिक (भड़चाल) हैं। उनका कथन है कि काव्य के सभो भद वक्रोक्ति अथवा स्वभावोक्ति से यदि युक्त हो तो काव्यत्व के रूप में सर्वथा ग्राह्य हैं फिर चाहे उस रचना में वैदभ मार्ग के गुण हों चाहे गौड़ मार्ग के गुण हो। भामह का कथन है :–

युक्तं वक्रस्वभावोक्त्या सर्वमेवैतदिष्यते।। का. अ. 1/30
गौडीयमिदमेतत्तु वैदर्भमिति किं पृथक्।
गतानुगतिकन्यायान्नानाख्येयममेघसाम्।। वही 1/32

भामह मानते हैं कि इस प्रकार मार्ग का भद काव्य के बाह्य रूप के आधार पर ही इस प्रकार किया जाता है व उसके आन्तरिक मर्म के आधार पर नहीं, वास्तव में तो कोई भो रचना जो अलंकृत हो, ग्राम्य दोषों से रहित हो, अर्थसौष्ठव से युक्त हो, न्यायसङ्गत और अक्लिष्ट हो वह उत्तम होती हैं :–

अलंकारवदग्राम्यमर्थ्यं न्याय्यमनाकुलम्।
गौडीयमपि साधीयो वैदर्भमिति नान्यथा।।वही 1/35

भामह लिखते हैं कि अश्मक प्रदेश के कवियों के काव्य को (अथवा अश्मकवंश नामक काव्य को जो सम्प्रति उपलब्ध नहीं हैं) वैदभ काव्य कह देते हैं वह केवल इच्छावशात् किया गया नाम है, तात्त्विकनाम नहीं हैं :–

ननु चाश्मकवंशादि वैदर्भमिति कथ्यते।
कामं तथास्तु प्रायेण संज्ञेच्छातो विधीयते।। वहीं 1/33

किसी स्थान विशेष का ही काव्य की प्रवृत्ति के साथ सम्बन्ध स्थापित कर देना केवल गतानुगतिक ही है।

भामह विचारपूर्वक लिखते हैं कि केवल वदभ मार्ग कहकर किसी काव्य की स्तुति करने से उसमें चारूता उत्पन्न नहीं हो जाती। किसी भो काव्य में यदि अर्थ परिपुष्ट न हो, वक्रोक्ति का आदर न हो तो केवल प्रसादगुण से युक्त कोमलकान्त पदावली में निबर्द्ध वह काव्य गीत के समान सुनने में ही मधुर लगता है उसमें काव्यगत वैशिष्ट्य नहीं होता :–

अपुष्टार्थमवक्रोक्तिः प्रसन्नमृजु कोमलम्।
भिन्नं गेयमिवेदन्तु केवलं श्रुतिपेशलम् ।।वही 1/34

भामह की दृष्टि में काव्य में अलंकारिता तो शब्द और अर्थ की वक्रता से ही निष्पन्न होती है। केवल काव्यमार्ग की स्तुति अथवा निन्दा से नहीं –

न नितान्तादिमात्रेण जायते चारूता गिराम्
वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलङ्कृतिः।। वहीं 1/36

भामह ने काव्यमार्ग के विषय में तात्विक विवेचन किया। उन्होंने प्रदेश के आधार पर काव्यमार्ग को स्वीकार नहीं किया अपितु उसकी आन्तरिक विशेषता को स्वीकार किया।

15.7 काव्यालङ्कार का परिचय

भामह का केवल एक ही ग्रन्थ ''काव्यालंकार'' उपलब्ध होता है। यह ग्रन्थ भो बहुत समय तक अनुपलब्ध रहा था। काव्यशास्त्र के अन्य ग्रन्थों में इसके उद्धरण ही उपलब्ध होते थे। सबसे पहले के.पी. त्रिवेदी ने ''प्रताप यशोभ्षण'' के परिशिष्ट–8 में इसे प्रकाशित किया। काव्यालङ्कार मे छह परिच्छेद हैं। प्रथम परिच्छेद में 60 श्लोक हैं। इनमें काव्य के शरीर का वर्णन है। चौखम्बा संस्करण के अनुसार इस परिच्छेद में 59 श्लोक हैं। द्वितीय और तृतीय परिच्छेद में अलंकारो का वर्णन है इनमें मिलाकर 160 श्लोक है। चतुर्थ परिच्छेद में दोषो का निरूपण है इसमें 50 श्लोक है। पञ्चम परिच्छेद में 70 श्लोको में न्याय निर्णय का प्रतिपादन किया है और षष्ठ परिच्छेद में 60 श्लोको में शब्द शुद्धि का विवेचन किया है। इस प्रकार ''काव्यालंकार में 400 श्लोक है। चौखम्बा संस्करण में श्लोक संख्या में कुछ अन्तर है। भामह ने स्वयं ग्रन्थ के अन्त में संख्या का विवरण इस प्रकार दिया है :–

षष्ट्या शरीरं निर्णीतं शतषष्ट्या त्वलङ्कृतिः।
पञ्चाशता दोषदृष्टिः सप्तत्या न्याय निर्णयः।।
षष्ट्या शब्दस्य शुद्धिः स्यादित्येवं वस्तुपञ्चकम्।
उक्तं षड्भिः परिच्छेदैः भामहेन क्रमेण वः।।

काव्यालंकार के प्रथम परिच्छेद में भामह ने मन, वाणी और शरीर से सर्वहितकारी भगवान सर्वज्ञ को प्रणाम कर मानव जीवन के परमलक्ष्य पुरूषार्थ चतुष्टय को काव्य के प्रयोजन के रूप में स्थापित किया है।

धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधुकाव्य निबन्धनम्।। का.अ. 1/2

काव्य से वर्ग चतुष्टय की प्राप्ति होतो है साथ ही सत्कवित्व के बिना शास्त्रज्ञान भो सुशोभित नहीं होता। इस भ्मिका के साथ भामह ने काव्यालंकार का प्रारम्भ किया है। काव्य

लेखन दैवीय अनुग्रह से होता है। यह किसी प्रतिमान् को ही कभो स्फुरित होता है। कवि के लिए शब्दशास्त्र, छन्दोविचिति अभिधानकोश, विविध अथ, काव्य की कथाएं, लोकव्यवहार, तर्कशास्त्र और कलाएँ ज्ञेय हैं।

भामह कहते है कि प्रत्येक ज्ञान, कला, शिल्प और विद्या काव्य का अङ्ग बन सकते हैं। बहुश्रुत कवि को काव्य में प्रवृत्त होना चाहिए। भामह अलंकृत शब्द और अर्थ का साहित्य को काव्य मानते हैं। इनकी दृष्टि में शब्दालंकार और अर्थालङ्कार समान रूप से काव्य में ग्राह्य है। काव्य गद्य और पद्य भद से दो प्रकार का होता है। माध्यम की दृष्टि से अपने युग में प्रचलित भाषाओं के आधार पर भामह ने संस्कृत, प्राकृत और अपभश ये तीन प्रकार के काव्य माने हैं। कथावस्तु के आधार पर काव्य के चार भद माने गये हैं।

संस्कृत, प्राकृत अथवा अपभश में रचित इस गद्य–पद्यात्मक काव्य को सर्गबन्ध, अभिनेयार्थ, कथा, आख्यायिका तथा अनिबद्ध इन पाँच शीर्षकों में भो विभक्त किया जा सकता है। भामह ने प्रथम परिच्छेद में ही महाकाव्य, कथा, आख्यायिका एवं अनिबद्ध काव्यों का लक्षण प्रस्तुत किए हैं। काव्य के ये सभो भद वक्रोक्ति तथा स्वभावोक्ति से यदि युक्त हो तो काव्यत्व के रूप में सर्वथा ग्राह्य है। यहाँ काव्य के गौडीय और वैदभ मार्ग की भो चर्चा की गई है। भामह काव्य में दुष्ट पद और दुष्ट अर्थ को सहन नहीं करते हैं। इसलिए इस परिच्छेद में दोषों का वर्णन भो किया गया है।

द्वितीय परिच्छेद के प्रारम्भ में अलंकारों से पूर्व तीन कारिकाओं में माधुर्य, प्रसंगाद और ओज का संक्षिप्त विवेचन किया गया है। इनकी गणना अलंकारों में नहीं है। पर इनके लिए गुण शब्द का प्रयोग भो नहीं किया। ये अलङ्कारो के ही समान काव्य के उत्कर्षक हेतु विशिष्ट अलङ्कार है। भामह की दृष्टि में अलंकार काव्य का जीवनाधायक तत्त्व है। भामह ने शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार ये भद स्वीकार किए। तृतीय परिच्छेद में 24 अलंकारों का स्वरूप वर्णन किया है। भामह ने दोनों परिच्छेद में 38 अलंकारों का वर्णन किया है। चतर्थ परिच्छेद में दोषों का विवेचन है। पञ्चम परिच्छेद में न्याय दोषों का विवेचन मुख्य है। षष्ठ परिच्छेद में मुख्यतः शब्द शुद्धि पर बल दिया है।

15.8 भामह का परिचय एवं योगदान

संस्कृत काव्य शास्त्र के इतिहास में भामह का महत्त्वपूर्ण स्थान है। भरतमुनि के पश्चात् वे काव्यशास्त्र के प्रथम आचार्य है। भामह ने काव्यशास्त्र को नाट्यशास्त्र से भिन्न प्रतिष्ठित किया। उन्होंने कवि और सहृदयों को काव्य के सामान्य सिद्धान्तों से परिचय करवाया तथा विद्वत्समाज में व्याकरण, न्याय, मीमांसा आदि शास्त्रों के समान काव्य शास्त्र को प्रतिष्ठित किया। काव्यशास्त्र के उत्तरवर्ती प्रायः सभो आचार्यों ने भामह तथा उनकी कृति'' काव्यालंकार का आदर के साथ उल्लेख किया है। वस्तुतः भामह ने ही काव्यशास्त्र के विवेच्य विषयों का निर्धारण किया है। अनेक आचार्यों ने उनके ग्रन्थ से विषय–वस्तु ग्रहण की है।

भामह के व्यक्तिगत जीवन के विषय में बहुत कम जानकारी उपलब्ध है। परम्परा भामह को कश्मीर के निवासी स्वीकार करती है। काव्यालंकार के अन्तिम श्लोक से ज्ञान होता है कि इनके पिता का नाम ''रक्रिल गोमिन'' था। श्लोक इस प्रकार है :–

अवलोक्य मतानि सत्कवीना–
मवगम्य स्वधिया च काव्यलक्ष्म।
सुजनावगमाय भामहेन
ग्रथितं रक्रिलगोमिसूनुनेदम्।। का अ 6/64

भामह के समय के विषय में भो विद्वानों में मतभद रहा है। भामह का समय विद्वानों ने षष्ठ शतक का पूर्वार्द्ध माना है। इसका आधार यह कि उन्होंने काव्यालंकार के पञ्चम परिच्छेद में न्याय निर्णय का वर्णन करते हुए बौद्ध आचार्य दिङ्नाग के ''प्रत्यक्षंकल्पनापोढम्'' इस प्रत्यक्ष लक्षण को उद्धृत किया है। दिङ्नाग का समय 500 ई के लगभग माना जाता है। दिङ्नाग के पश्चात् उनके व्याख्याकार आचार्य धर्मकीर्ति का समय 620 ई के लगभग माना जाता है। धर्मकीर्ति ने दिङ्नाग प्रत्यक्ष लक्षण में संशोधन कर ''कल्पना पोढ भान्ति प्रत्यक्षं निर्विकल्पकम'' यह प्रत्यक्ष लक्षण किया है। भामह के लक्षण में ''अभान्त'' पद नहीं है। इससे

अनुमान होता है कि भामह दिङ्नाग के बाद और धर्मकीर्ति के पहिले अर्थात् 500 ई. तथा 820 ई. के बीच में हुए हैं।

काव्यशास्त्र के इतिहास में भामह का अति महत्त्व है। इसके महत्त्व को निम्न प्रकार स प्रस्तुत किया जा सकता है –

1. भामह का ''काव्यालङ्कार'' काव्यशास्त्र का प्राचीन ग्रन्थ है। भरत के नाट्यशास्त्र के पश्चात् यह प्रथम ग्रन्थ है। भरत का नाट्यशास्त्र मुख्य रूप से नाट्य से सम्बद्ध था। इस दृष्टि से ''काव्यालङ्कार'' को काव्यशास्त्र का प्रथम ग्रन्थ कहा जा सकता है।
2. भामह ने इस ग्रन्थ में काव्य शास्त्र को नाट्यशास्त्र से पृथक् स्वरूप प्रदान किया। काव्य के सभो अङ्गों पर विचार किया। इसे शास्त्रीय स्वरूप प्रदान किया है।
3. भामह ने प्रथम बार काव्य का लक्षण किया– ''शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्''। काव्यशरीर पर चर्चा की। काव्यशरीर के गुण, अलंकार और दोषों की चर्चा की।
4. भरत के नाट्यशास्त्र में केवल चार अलंकारों की विवेचना थी किन्तु भामह ने 38 अलंकारों को काव्य के शोभाधायक तत्त्व के रूप में स्वीकार किया। इस अलंकार विवेचन के कारण ''अलंकार सम्प्रदाय'' प्रतिष्ठित हुआ।
5. भामह ने काव्य रचना के लिए अनेक शास्त्रों के ज्ञान को महत्त्व दिया विशेष रूप से न्याय और शब्द शास्त्र को।

15.9 पारिभाषिक शब्दावली

काव्य–प्रयोजन – काव्यशास्त्र के प्रथम आचार्य भामह ने काव्य के प्रयोजनों की चर्चा करते हुए लिखा है–

प्रतिभा – भट्टतौत के शब्दों में प्रतिभा नित्यनूतन अर्थों का उन्मीलन करती है।

''प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता''

प्रतिभा से अपूर्व वस्तु का निर्माण होता है।

कलाएँ काव्य – शब्दशास्त्र, छन्दःशास्त्र, अभिधानकोश, विविध अर्थ, उपजीव्य काव्यों की कथाएँ लोकव्यवहार, तर्कशास्त्र और चतुःषष्टि कलाएँ काव्य के हेतु हैं।

'लक्ष्यज्ञत्व' – श्रेष्ठ कवियों के काव्यों का परिचय प्राप्त करना 'लक्ष्यज्ञत्व' है। काव्यरचना में उद्योग करना 'अभियोग' है। काव्यों के उपदेश में श्रेष्ठ लोगों (गुरुओं) की सेवा करना वृद्ध–सेवा कहलाती है।

'अवेक्षण' – काव्य की रचना करते समय ;उपयोगीद्ध पदों का ग्रहण और (अनुपयोगी) पदों का त्याग करने की परीक्षा को 'अवेक्षण' कहा जाता है।

शब्द और अर्थ का साहित्य काव्य – साहित्य शब्द से अभिप्राय यह है कि जिस रचना में वर्णित अर्थ के अनुरूप शब्दों का प्रयोग हो या शब्दों के अनुरूप अर्थ का वर्णन हो वे शब्द और अर्थ ही ''सहितौ'' पद से विवक्षित है।

''गद्य'' – आचार्य विश्वनाथ के अनुसार ''गद्य'' वह शब्दार्थ योजना है जो छन्दोबद्ध नहीं हुआ करती–''वृतगन्धज्झितं गद्यम् (साहित्यदर्पण 6/330)

15.10 अभ्यासार्थ प्रश्न

बोध प्रश्न

सभी उत्तर कोष्ठक में लिखें –

1. भामह के काव्य प्रयोजन है :–
   (क) धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष
   (ख) पुरूषार्थ चतुष्टय और कलाओं में विचक्षणता
   (ग) प्रीति और कीर्ति
   (घ) पुरूषार्थ चतुष्टय और कलाओं में विचक्षणता, कीर्ति और प्रीति ( )
2. भामह ने काव्य का प्रमुख हेतु माना है :–
   (क) शास्त्रज्ञान (ख) प्रतिभा
   (ग) अभ्यास (घ) अदृष्ट ( )
3. भामह का काव्य लक्षण है :–

(क) शब्दार्थौ काव्यम्

(ख) शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्

(ग) शब्दार्थौ सहितौ गुणालङ्कारान्वितौ काव्यम्

(घ) तददोषौ शब्दार्थौ सुगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि ( )

4. भामह के काव्य लक्षण की समीक्षा कीजिए।

5. काव्य भेदों को समझाइए।

6. महाकाव्य का लक्षण लिखिए।

15.11 सारांश

इस इकाई के अध्ययन से काव्यालंकार ग्रन्थ के अनुसार काव्य के प्रयोजन, हेतु, लक्षण, भेद, मार्ग एवं काव्य दोष के विषय मे ज्ञान प्राप्त हुआ । भामह के अनुसार काव्य की रचना से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति होती है, कलाओं में विचक्षणता आती है, यश मिलता है और आनन्द प्राप्त होता है। काव्य हेतु की व्याख्या के प्रक्रम में जडमति भी गुरु के उपदेश से शास्त्र का ज्ञान प्राप्त कर सकता है किन्तु काव्यरचना का सामर्थ्य केवल प्रतिभावान् को ही प्राप्त होता है। प्रतिभा कवित्व का बीज रूप संस्कार विशेष है जो जन्मान्तर से प्राप्त होता है। दवता की आराधना से भी प्रतिभा का उदय होता है। शब्द और अर्थ का साहित्य काव्य है। साहित्य शब्द से अभिप्राय यह है कि जिस रचना में वर्णित अर्थ के अनुरूप शब्दों का प्रयोग हो या शब्दों के अनुरूप अर्थ का वर्णन हो वे शब्द और अर्थ ही ''सहितौ'' पद से विवक्षित है।भामह ने अभिव्यक्ति के प्रकार की दृष्टि से सर्वप्रथम काव्य के दो भेद किए गद्य और पद्य। भामह के समय वैदर्भ और गौड ये दो मार्ग प्रचलित थे। कुछ विद्वान् वैदर्भ को तो कुछ गौड़ मार्ग को श्रेष्ठ मानते थे। ये भेद प्रदेशो का नाम के आधार पर किए गए थे। किन्तु भामह कहते है कि प्रदेश के आधार पर किया गया भेद गतानुगतिक (भेड़चाल) हैं। इस प्रकार काव्यालंकार का अध्ययन उक्त विषयों के सन्दर्भ में इस इकाई में किया गया ।

15.12 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. काव्यालङ्कार (भामह कृत) ,सं. रमण कुमार शर्मा,साहित्य भण्डार, मेरठ, 1994.

2. काव्यालङ्कार (भामह कृत),सं. के.पी. त्रिवेदी, विश्वनाथन प्रकाशन वाराणसी, 1976.

3. चौखम्भा विद्या भवन, वाराणसी, 1969.

4. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, डॉ.पी.वी.काणे,मोतीलाल बनारसी दास, नई दिल्ली, 1966.

इकाई–16

भामह काव्यालङ्कार–प्रथम अध्याय की महत्त्वपूर्ण कारिकाओं की व्याख्या

इकाई की रूपरेखा

16.0 उद्देश्य
16.1 प्रस्तावना
16.2 मङ्गलाचरण की कारिका की व्याख्या
16.3 काव्य प्रयोजन की कारिका की व्याख्या
16.4 काव्य हेतु की कारिका की व्याख्या
16.5 काव्य में अलङ्कार स्थान की कारिका की व्याख्या
16.6 काव्य स्वरूप की कारिका की व्याख्या
16.7 काव्यभद की कारिका की व्याख्या
16.7.1 महाकाव्य लक्षण की कारिका की व्याख्या
16.7.2 आख्यायिका एवं कथास्वरूप की कारिका की व्याख्या
16.8 काव्यमार्ग की कारिका की व्याख्या
16.9 दोष प्रकरण की कारिका की व्याख्या
16.10 दोष परिहार की कारिका की व्याख्या
16.11 शब्द सन्निवेश की कारिका की व्याख्या
16.12 पारिभाषिक शब्दावली
16.13 अभ्यासार्थ प्रश्न
16.14 सारांश
16.15 संदर्भ ग्रंथ सूची

16.0 उद्देश्य

संस्कृत एम.ए. पूर्वार्द्ध के चतुर्थ प्रश्न पत्र की इकाई 16 में भामहकृत काव्यालङ्कार ग्रन्थ का प्रथम अध्याय निर्धारित किया गया है। इस इकाईयों के अध्ययन के पश्चात आप–

- संस्कृत काव्यशास्त्र के प्रथम ग्रन्थ की विषय वस्तु से परिचित हो पाएँगे।
- काव्य और शास्त्र में भेद को समझ पाएँगे।
- काव्य का प्रयोजन, हेतु, लक्षण और काव्य भेदो को बता पाएँगे।
- प्रमुख कारिकाओं की व्याख्या से काव्यशास्त्र के मर्म को समझने की प्रवृत्त बढेगी।
- भामह के काव्यशास्त्र में योगदान को रेखांकित कर पाएँगे।

16.1 प्रस्तावना

भामह ने काव्यालङ्कार नामक ग्रन्थ की रचना करके, भरत के नाट्य शास्त्र से पृथक् शास्त्र की प्रतिष्ठा की। परवर्ती काल में आचार्यो ने काव्यशास्त्र पर स्वतन्त्र ग्रन्थों की रचना प्रारम्भ की। काव्यालङ्कार नामक ग्रन्थ से काव्यशास्त्र को न्याय, व्याकरण और मीमांसा जैसे शास्त्रों के समान आदर की दृष्टि से देखा जाने लगा। विद्यार्थी इस इकाईयों के अध्ययन से काव्य प्रयोजन,काव्य हेतु, काव्य में अलङ्कार का स्थान, काव्यभेद,महाकाव्य,आख्यायिका एवं कथास्वरूप, काव्यमार्ग,काव्यदोष, प्रकरण दोष, दोष–परिहार, काव्य स्वरूप, शब्द सन्निवेश आदि के विषय में अपनी समझ बढा पाएगा।

16.2 मङ्गलाचरण की कारिका की व्याख्या

प्रणम्य सार्वं सर्वज्ञं मनोवाक्कायकमभिः।
काव्यालंकार इत्येष यथाबुद्धि विधास्यते काव्यालंकार 1/1 का.अ.)

कारिकार्थ – सर्वहितकारी और सर्वज्ञ (शिव) को मन, वाणी और शरीर के कर्मों से प्रणाम करके बुद्धि के अनुसार काव्यालङ्कार नामक इस ग्रन्थ का विधान किया जाएगा।

व्याख्या – भामह अपने ग्रन्थ काव्यालङ्कार की निर्विघ्न समाप्ति के लिए मङ्गलाचरण करते हैं। शिष्ट परम्परा की रक्षा एवं अनुयायियों को शिक्षा प्रदान करने के लिए किया जाता है। मङ्गल विधान से ग्रन्थ लेखन में आने वाले विघ्नों का विनाश होता है तथा व्याख्यान करने वालों तथा श्रवण करने वालों को भो निर्विघ्न व्याख्यान और श्रवण का लाभ मिल सके इसलिए भो ग्रन्थ के आदि में मङ्गलाचरण किया जाता है। महाभाष्यकार पतञ्जलि लिखते हैं कि–

''मङ्गलादीनि हि शास्त्राणि प्रथन्ते वीरपुरूषाणि च भवन्ति, आयुष्मत्पुरूषाणि अध्येतारश्च सिद्धार्थाः यथा स्युः।।''

मङ्गलाचरण का पूर्वार्द्ध नमस्कारात्मक है। इसमें सर्वहितकारी भगवान शिव को मन, वाणी एवं शरीर के कर्मों से प्रणाम किया गया है।

भामह ने ''सार्व'' शब्द की व्युत्पत्ति ''सर्व'' शब्द से हित अर्थ में ''न'' प्रत्यय से मानी है–

''हितप्रकरणे णञ्च सर्वशब्दात्प्रयुज्यते ततश्छमिष्ट्या च यथा सावः सर्वीय इत्यपि (काव्यालंकार 6/53)

''सार्व'' के स्थान पर ''शर्व'' पाठ भो मिलता है। शर्व का अर्थ भगवान शिव है। ''सर्वज्ञ'' पद का अर्थ भगवान् शिव है। अमरकोश में भगवान् बुद्ध के पयार्यों में भो सर्वज्ञ शब्द स्वीकृत है। भामह की परम्परा के आधार पर विद्वानों ने इस पद्य म शिव का ही प्रणाम स्वीकार किया है क्योंकि भगवान् शिव से समस्त ज्ञान राशि का आविर्भाव हुआ है।

कारिका के उत्तरार्द्ध में ग्रन्थ के नाम एवं प्रतिपाद्य विषय का उल्लेख किया है। ग्रन्थ का नाम काव्यालंकार है

भामह, वामन, रूदट आदि के काव्यशास्त्र–सम्बन्धी ग्रन्थ सामान्यतः काव्यालंकार नाम से प्रसिद्ध है। इन ग्रन्थों में अलङ्कारों के महत्त्व को ध्यान में रखा गया है। भामह ने शब्द और अर्थ के साहित्य को काव्य कहा है (शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्)। शब्द और अर्थ का साहित्य विशिष्ट सौन्दर्य का प्रतिपादक है। काव्य के अलंकार को ''काव्यालंकार'' कहते हैं। ''लोकोत्तर–वर्णनानिपुणकविकम काव्यम्। काव्यस्यलड्.कारोऽलङ्कृतिः भावे घञ् (पा. 3/3/18)।

16.3 काव्य प्रयोजन की कारिका की व्याख्या

धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिबन्धनम्।। का.अ./1/12

कारिकार्थ – सत्काव्य का निर्माण धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप चारों पुरुषार्थों तथा कलाओं में निपुणता और कीर्ति तथा प्रीति प्रदान करता है।

व्याख्या – किसी प्रयोजन के बिना मन्द से मन्द व्यक्ति की भो प्रवृत्ति किसी भो कार्य में नहीं होती। जैसे कहा गया है :– प्रयोजनमनुद्देश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते''। अतः भामह ने इस कारिका में काव्य के प्रयोजनों का प्रतिपादन किया है। उत्तम काव्य की रचना के प्रयोजन हैं– (1) धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूपी चार पुरूषार्थों की प्राप्ति। पुरूषार्थ चतुष्टय को काव्य का प्रयोजन प्रतिपादन करने वाले प्रथम आचार्य भामह हैं। काव्य का अन्य प्रयोजन कलाओं में निपुणता प्राप्त करना हैं। भामह ने अन्यत्र'' न सा कला जायते यन्न काव्याङ्गम्'' (5/4 का.अ) कला को काव्य का अङ्ग माना है।

कवि काव्य में सभो कलाओं का समुचित सन्निवेश करता है। काव्यास्वाद के समय सहृदयों का कलाओं का परिज्ञान होता है। काव्य का एक अन्य प्रयोजन कीर्ति आर प्रीति हैं।

काव्य दो प्रकार का होता है। श्रव्य और दृश्य। श्रव्य काव्य के श्रवण एवं दृश्य काव्य के दर्शन से सहृदयों को पुरूषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति होती है। काव्यों में भगवान् और उसकी विभ्तियों का वर्णन होता हैं। उनके श्रवण एवं दर्शन से धर्म की प्राप्ति होती है। काव्य से अर्थ की प्राप्ति कवियों को पुरस्कार आदि के माध्यम से होती हैं तथा सहृदयों को काव्यों के पुनः प्रदर्शन, प्रवचन आदि से अर्थ की प्राप्ति होती है। अर्थ प्राप्ति से सभो प्रकार के भोग प्राप्त होते हैं। काव्य में मोक्षोपयोगी चिन्तन भो होता है। इस प्रकार चारों पुरूषार्थ काव्य से प्राप्त होते हैं।

कवि और पाठक काव्य से सम्बद्ध होते हैं। भामह ने कवि और पाठक के काव्य विषयक प्रयोजनों का प्रतिपादन किया है। कीर्ति अर्थात् आनन्द प्राप्ति केवल कवि को होती है तथा प्रीति अर्थात् आनन्द प्राप्ति केवल सहृदय को ही होती है किन्तु पुरूषार्थ चतुष्टय एवं कलाओं में निपुणता कवि और सहृदय (पाठक) दोनों का प्रयोजन हैं।

इस कारिका के तृतीय चरण का ''प्रीतिं करोतिकीर्तिं च'' तथा ''कीर्तिं करोति प्रीतिं च '' यह पाठ भो मिलता है। चतुर्थ चरण में ''निबन्धनम्'' के स्थान पर साहित्यदर्पण आदि ग्रन्थों में ''निषेवणम्'' पाठ भो प्राप्त होता है। ''निबन्धनम्'' पद कवि को इंगित करता है। कवि ही काव्य का निबन्धन (रचना) करता है। काव्य का ''निषेवण'' अर्थात् सेवन कवि एवं सहृदय दोनों सम्बद्ध है। दोनों ही काव्य का रसास्वाद करते हैं।

16.4 काव्य हेतु की कारिका की व्याख्या

गुरूपदेशादध्येतुं शास्त्रं जडधियोऽप्यलम्
काव्यं तु जायते जातु कस्यचित्प्रतिभावतः (का.अ. 1/5)

कारिकार्थ – जड़मति भो गुरू के उपदेश से शास्त्र का अध्ययन कर सकता है किन्तु काव्यत्व तो कभो किसी प्रतिभाशाली को ही प्राप्त होता है।

व्याख्या – भामह इस कारिका में काव्य के हेतु पर विचार कर रहे हैं। भामह का मानना है कि अल्पबुद्धि भो गुरू के उपदेश से शास्त्र का ज्ञान प्राप्त कर सकता है। किन्तु काव्य निर्माण की क्षमता किसी प्रतिभावान् में ही होती है। प्रतिभा के बिना काव्य का निर्माण नहीं हो सकता। भामह ने प्रथम परिच्छेद की नवी एवं दसवी कारिका में भो काव्य के अन्य हेतुओं का विवेचन किया है किन्तु यहाँ इस कारिका में प्रतिभा को मूल कारण स्वीकार किया है।

काव्यशास्त्र के सभो आचार्यों ने प्रतिभा को कारण स्वीकार किया किन्तु कुछ ने केवल प्रतिभा को ही कारण माना है जिनमें राजशेखर, वाग्भट और जगन्नाथ प्रमुख हैं। वैसे इन आचार्यों ने भो येन–केन प्रकारेण व्युत्पत्ति और अभ्यास को भो कारण स्वीकार किया है।

अधिकांश आचार्यों की दृष्टि में प्रतिभा पूर्व जन्म का संस्कार विशेष है। दण्डी और वामन ने प्रतिभा को नैसर्गिक एवं जन्मान्तर संस्कार स्वीकार किया है।

''नैसर्गिकी च प्रतिभा'' दण्डी काव्यादर्श 1/103,
''जन्मान्तरसंस्कारापेक्षिणी सहजा'' काव्यालङ्कार सूत्र 1/3/6

आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार प्रतिभा कवित्व का बीज है तथा जन्म जन्मांतर के संस्कार में आती हैं।

''कवित्वबीजं जन्मान्तरसंस्कारगत विशेषः

कश्चित् अभिनव भारती टीका. पृ. 346

मम्मट ने प्रतिभा के स्थान पर शक्ति नाम रखा है तथा इस कवित्व का बीज रूप संस्कार विशेष माना है। उनका कथन है कि इस के बिना काव्य की रचना नहीं हो सकती है और प्रतिभा के बिना काव्य रचना होगी भो तब वह उपहास योग्य ही होगी। प्रतिभा से काव्य में

रमणीयता आती हैं। जगन्नाथ प्रतिभामय पूर्वजन्म के संस्कार को कवि का आन्तरिक गुण मानते है तथा इसका उदय कदाचित अदृष्ट तथा कदाचित् व्युत्पत्ति और अभ्यास से होता है। कुन्तक ने माना है कि प्रतिभा का विकास प्राक्तन और अद्यतन संस्कारों से होता हैं।

भट्टतौत ने प्रतिभा के मूलस्वरूप को उद्घाटित किया। उनका कथन है कि नए नए अर्थों को उन्मीलित करने में समर्थ प्रज्ञा ही प्रतिभा है। उससे अनुप्राणित होकर कवि वर्णन करने में निपुण होता है और उसका कार्य काव्य कहलाता हैं।

प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता।
तदनुप्राणनाज्जीवद्वर्णनानिपुणः कविः ।।

तस्य कम स्मृतं काव्यम्.........।

राजशेखर के अनुसार प्रतिभा के द्वारा कवि परोक्ष वस्तु को भो प्रत्यक्ष के समान देखने लगता है। कवियों के हृदय में प्रतिभा के द्वारा शब्द समूह, अर्थसमूह, अलंकार और उक्तियाँ प्रतिभासित हो जाती हैं।

प्रतिभा के कारण ही काव्य रमणीय होता है। कवि अपनी प्रतिभा से विश्व के रूप को अपनी कल्पना के अनुसार परिवर्तित कर देता है, वह अदृष्टपूर्व वस्तुओं को भो प्रत्यक्षवत् प्रस्तुत कर देता है। प्रतिभा के अनेक भद स्वीकृत किए गए हैं। रूद्रट ने सहजा और उताद्या ये दो भद प्रतिभा के किए हैं। राजशेखर ने कारयित्री और भावयित्री ये दो भद स्वीकार किए हैं।

शब्दश्छन्दोऽभिधानार्था इतिहासाश्रयाः कथाः।
लोको युक्तिः कलाश्चेति मन्तव्याः काव्यहतवः।।

शब्दाभिधेये विज्ञाय कृत्वा तद्विदुपासनाम्।
विलोक्यान्यनिबन्धांश्च कार्यः काव्यक्रियादरः।। का. अ. 1/9–10

कारिकार्थ – शब्दशास्त्र, छन्दःशास्त्रे, अभिधानकोश, इतिहासाश्रित (उपजीव्य) कथाएँ, लोक (व्यवहार) तर्कशाास्त्र और कलाएँ काव्य के हेतु माने जाने चाहिए। शब्द और अर्थ का विशिष्ट ज्ञान प्राप्त कर काव्यशास्त्रज्ञों की उपासना कर और अन्य (कवियों द्वारा) निबद्ध काव्यों को देखकर काव्यरचना में प्रवृत्त होना चाहिए।।

व्याख्या – भामह ने पूर्ववर्ती कारिका में प्रतिभा को काव्य का प्रमुख कारण माना है। इन दो कारिकाओं में भामह प्रतिभा में संस्कार करने वाले अन्य हेतुओं की चर्चा की है। कवित्व के बीजरूप सहज प्रतिभा में शास्त्रज्ञान व्युत्पत्ति को जन्म देता है। व्युत्पत्तिविधायक शास्त्रों की गणना करते हुए भामह ने शब्द शास्त्र, छन्दः शास्त्र, अभिधान कोश, इतिहासाश्रित कथा, लोकव्यवहार तर्कशास्त्र एवं कलाओं का उल्लेख किया है। शब्दशास्त्र व्याकरण शास्त्र है। इस के ज्ञान से कवि एवं सहृदय साधु शब्दों का ज्ञान करते हैं। व्याकरण ज्ञान से काव्योपयोगी नूतन शब्दों का निर्माण भो किया जा सकता है। व्याकरण ज्ञान सभो शास्त्रों का मूल है। पिंगल आदि आचार्यों के छन्दः शास्त्र से कवियों को पद्यकाव्य रचना के लिए परम उपयोगी छन्दों का ज्ञान होता है। अभिधानकोशों से शब्दों के सही अर्थों का ज्ञान होता है। इतिहास का सम्यक् ज्ञान भो काव्य रचना के लिए उपयोगी है। लोक से तात्पर्य लोक व्यवहार है– लोकवृत्तं लोकः। लोक स्थावर और जंगम (जड़ और चेतन) दो प्रकार का होता है। कवि अपने काव्यों में इसी लोक के व्यवहार का वर्णन करते हैं। भामह ने युक्ति शब्द से तर्कशास्त्र के साथ काव्य में उपयोगी अन्य शास्त्रों (युक्तियुक्त शास्त्रों) की ओर संकेत किया है। मम्मट ने इस आशय को पुरूषार्थचतुष्टय, गजशास्त्र आदि समस्त लक्षण ग्रन्थों का उल्लेख करते हुए प्रकट किया है। सभो शास्त्र किसी ना किसी रूप में काव्य के लिए उपयोगी होते हैं। नृत्यगीत आदि 64 कलाओं का ज्ञान भो कवि के लिए आवश्यक है। ये सभो कवि की प्रतिभा में व्युत्पत्ति पैदा करते हैं।

आचार्य आनन्दवर्धन ने इनके लिए लिखा है कि इनसे कवि की प्रतिभा अनन्त हो जाती है–

"अनेनानन्त्यमायाति कवीनां प्रतिभा गुणः।" (ध्वन्यालोक 4.1)

भामह ने व्युत्पत्ति के साथ अभ्यास को भो काव्य के हेतु के रूप में स्वीकार किया है। इसी बात को दसवीं कारिका में लिखा है कि कवि को चाहिए कि वह काव्यविदों की उपासना करे। काव्य विद् से काव्य निर्माण में समर्थ कवि और काव्य पर विचार करने में समर्थ आलोचक दोनो का ग्रहण होता है। कवि प्रयोग कुशल होता है तथा समालोचक युक्तिपूर्वक काव्य के मर्म को जानता है। कवि को दोनों से काव्य के रहस्य को समझकर काव्य निर्माण में प्रवृत्त होना चाहिए। आचार्य मम्मट ने काव्यविद् के रहस्य को प्रकट करते हुए लिखा हैं :–

''काव्यं कतु विचारयितुं च ये जानन्ति तदुपदेशेन करणे योजने च पौन : पुन्येन प्रवृत्तिरिति।''

भामह ने काव्य हेतु पर विचार करते हुए यह प्रतिपादित किया कि काव्य का प्रमुख हेतु प्रतिभा है–

''काव्यं तु जायते जातु कस्यचित्प्रतिभावतः।''

प्रतिभाशाली कवि व्युत्पत्ति और अभ्यास से साधु काव्य का निबन्धन कर सकता है। शब्दार्थ ज्ञान, कोशज्ञान, छन्दःशास्त्र, महाकवियों के काव्यों का अनुशीलन, कलाविषयक ज्ञानं एवं विविधशास्त्रज्ञान कवि में व्युत्पत्ति उत्पन्न करते हैं।

16.5 काव्य में अलंकार स्थान की कारिका की व्याख्या

रूपकादिरलङ्कारस्तस्यान्यैर्बहुधोदितः।
न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनिताननम्।। का.अ.1/13

कारिकार्थ – अन्य (आचार्यों) के द्वारा उस (काव्य) के रूपकादि अलङ्कार (वर्ग) का बहुधा कथन किया है। (क्योंकि) सुन्दर भो कान्ता का मुख आभ्षणों के बिना सुशोभित नहीं होता है।

रूपकादिमलङ्कार बाह्यमाचक्षते परे।
सुपां तिङाञ्च व्युत्पत्तिं वाचां वाञ्छन्त्यलङ्कृतिम्। का.अ.1/14

कारिकार्थ – दूसरे (आचार्य) रूपकादि अलङ्कार को बाह्य कहते है। सुप और तिङ् अलङ्कार की व्युत्पत्ति (शब्दों का अलङ्कार) (के रूप में वे) वाणी का अलङ्करण चाहते हैं।

तदेतदाहुः 'सौशब्द्यं' नार्थव्युत्पत्तिरीदृशी।
शब्दाभिधेयालङ्कार भेदादिष्टं द्वयं तु नः।। का.अ. 1/15

कारिकार्थ – यह 'सौशब्द्य' है अर्थालङ्कृति ऐसी नहीं होती। हमें तो शब्द और अर्थ के अलङ्करण के भद से ये दोनों इष्ट हैं।

व्याख्या – भामह ने उपयुक्त तीन कारिकाओं में अपने समय में प्रचलित अलङ्कार विषयक चिन्तन को प्रस्तुत करते हुए अपने अभिमत को प्रकट किया है। अलङ्कारवादी आचार्यों के दो वर्ग थे। दोनों ही प्रकार के आचार्य इस बात को स्वीकार करते थे कि अलङ्कार से काव्य की शोभा उसी प्रकार बढ़ती है जैसे आभ्षणों से रमणी के मुख की शोभा बढ़ती है। इन आचार्यों का मत था कि कान्त (सहज सुन्दर) भो मुख आभ्षण के बिना दीप्त नहीं होता।

मुख के सौन्दर्य को दीप्त करने के लिए जिस प्रकार आभ्षण आवश्यक है वैसे ही काव्य के सौन्दर्य के लिए अलङ्कार आवश्यक हैं। परन्तु इन आचार्यों में कुछ आचार्य यह मानते थे कि शब्द और अर्थ रूप काव्य में अर्थ के सौन्दर्य को बढ़ाने वाले रूपक आदि अर्थालङ्कार काव्य के बाह्य धर्म है। इनके अनुसार काव्य का वास्तविक अलङ्करण तो शब्दालङ्कार ही होता है। इसे ही सौशब्द्य कहते है।

भामह इन दोनों धाराओं में समन्वय स्थापित करते हुए लिखते हैं कि हमें तो दोनों ही प्रकार के अलङ्कार इष्ट हैं। परन्तु भामह का विशेष आग्रह अर्थालङ्कारों के प्रति है। भामह का

अभिमत है कि काव्य में चारूता के आधायक तत्त्व के रूप में शब्द और अर्थ दोनों में ही वक्रता इष्ट है (वक्राभि धेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलङ्कृतिः)। काव्य में शब्द बाहय तत्त्व है तथा अर्थ आन्तरिक। अर्थालङ्कारों का इसलिए विशेष महत्त्व है कि सहृदय जन अर्थ के सौन्दर्य से आह्लादित होते हैं।

16.6 काव्य स्वरूप की कारिका की व्याख्या

शब्दार्थौ सहितौ काव्यं गद्यं पधञ्च तद्द्विधा।
संस्कृतं प्राकृतञ्चान्यदपभ्रंश इति त्रिधा।। का.अ. 1/16

कारिकार्थ – शब्द और अर्थ का साहित्य काव्य है और वह (काव्य) गद्य और पद्य दो प्रकार का है और (भाषा और भद से) संस्कृत, प्राकृत और अपभश भद से तीन प्रकार का है।

व्याख्या – काव्यशास्त्र के प्रथम आचार्य भामह ने काव्य का लक्षण करते हुए 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' कहा हैं। शब्द और अर्थ मिलकर काव्य है न कि केवल शब्द या वाक्य। भामह ने काव्यशास्त्र में शब्दार्थौभय को काव्य मानन वाली धारा का प्रवर्तन किया। इसी धारा में परवर्ती आचार्य आनन्दवर्धन, मम्मट, वाग्भट, कुन्तक, भोजराज आदि आचार्य शब्द और अर्थ सहित होने पर ही काव्य कहे जाते हैं। साहित्य शब्द की व्युत्पत्ति है –

सहितयोः शब्दार्थयोः भावः साहित्यम्।

शब्द और अर्थ में साहित्य व्यासज्यवत्ति से रहता है इसी कारण इस विद्या को साहित्य विद्या भो कहा जाता है –

''शब्दार्थयोर्यथावत् सहभावेन विद्या साहित्यविधां'' साहित्य शब्द का रहस्य आचार्य कुन्तक ने इस प्रकार प्रकट किया है –

साहित्यमनयोः शोभाशालितां प्रति काप्यसौ।
अन्यूनानतिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थितिः।। वजी.1/17

अर्थात् शोभाशालिता के लिए शब्द और अर्थ की न्यूनता और अधिकता से विहीन मनोहारिणी कुछ अपूर्व ही अवस्थिति 'साहित्य' कही जाती है। साहित्य में शब्द और अर्थ दोनों में से किसी की भो न्यूनता या उत्कष अपेक्षित नहीं है।

काव्य में एक शब्द दूसरे शब्द से स्पर्धा करे तथा एक अर्थ दूसरे अर्थ से स्पर्धा करें। यह स्पर्धा शोभा बढ़ाने में हो यही शब्द और अर्थ का साहित्य होता हैं।

अभिव्यक्ति के प्रकार की दृष्टि से भामह ने काव्य के गद्य और पद्य ये दो भद किए हैं। भद में गद्य का प्रथम उल्लेख किया है। इसका कारण वामन ने लिखा है –

'गद्यस्य पूर्वं निर्देशो दुर्लक्ष्यविशेषत्वेन दुर्बन्धत्वात्। तथाहुः– 'गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति।

अर्थात् गद्य की रचना क्लिष्टतापूर्वक होती है। दुर्लक्ष्यविशेष होने के कारण। जैसा कि आलोचक विद्वानों ने कहा है–'गद्य काव्य को कवियों की कसौटी कहते है। जैसे कसौटी से सोने की शुद्धता पहचानी जाती है उसी प्रकार गद्य काव्य से कवि की उत्कृष्टता पहचानी जाती है।

चरणों में अविभक्त पदसमुदाय की रचना को गद्य कहा जाता है और चरणों में निबद्ध पदसमुदाय की रचना पद्य कहीं जाती है। ''पादेषु भवं पद्यम्'' पद्य का लक्षण है–'पद्यं चतुष्पदी'। अर्थात् पद्य चार पाद वाला होता है।

भामह के काल में प्रायः काव्यरचना संस्कृत, प्राकृत और अपभश भाषा में होती थी इसलिए भाषा के आधार पर काव्य के संस्कृत, प्राकृत और अपभश ये तीन भद किए हैं। भामह ने यहाँ काव्य को सीमित नहीं किया है अपितु यह संकेत दिया है कि भाषा के आधार पर भो काव्य के भद होते है और काव्य की भाषा कोई भो हो सकती है।

वृत्तं देवादि चरितशंसि चोत्पाद्यवस्तु च।
कलाशास्त्राश्रयञ्चेति चतुर्धा भिद्यते पुनः।। का.अ.1/17

कारिकार्थ – देवादिचरित का वर्णन करने वाला इतिवृत्त और कल्पित कथावस्तु तथा कलाश्रित और शास्त्राश्रित के रूप में पुनः (विषयवस्तु की दृष्टि से) काव्य को चार प्रकार से विभक्त किया जाता है।

व्याख्या – भामह ने इस कारिका में विषय के आधार पर काव्य के चार भद किए हैं। कवि काव्य के विषय के रूप में शिव आदि दिव्य पात्रों के चरित का वर्णन कर सकता है या ईश्वरावतार दिव्यादिव्य राम आदि के चरित का वर्णन सकता है अथवा ऐतिहासिक पुरूषों के चरित का वर्णन कर सकता है अर्थात् देवादि चरित वर्णन प्रथम प्रकार है। विषय की दृष्टि से काव्य का दूसरा भद कवि कल्पना से प्रसूत कथा वस्तु हो सकती है। काव्य की तीसरे प्रकार की विषयवस्तु, नृत्य, संगीत आदि कलाओं का आश्रय लेकर हो सकती है तथा चौथा प्रकार शास्त्र के आधार से कथा हो सकती है।

देवादिचरित वर्णन कथावस्तु के उदाहरण के रूप में हमें रामायण, महाभारत, कुमारसंभव, शिशुपालवध, प्रतापचरितम्, शिवराजविजय आदि काव्यों को ले सकते हैं। उत्पाद्यवस्तु के उदाहरण के रूप में कादम्बरी, दशकुमारचरित, मृच्छकटिकम् आदि काव्य हो सकते हैं। कला और शास्त्र पर आधारित काव्यों से भामह का अभिप्राय क्या है, इसका वास्तविक ज्ञान नहीं हो सका है। उद्भट के टीकाकार प्रतिहारेन्दुराज ने भो भामह की इस कारिका पर टिप्पणी करते हुए लिखा है कि कलाश्रय शब्द से भरतादि के ग्रन्थ ;नाट्यशास्त्रद्ध तथा शास्त्राश्रय से व्याकरणादि का ग्रहण किया जा सकता है। किन्तु ये दोनों काव्य नहीं है। अतः भामह के विभाजन से हम यह समझ सकते हैं कि जिन काव्यों में कला (संगीत, नृत्य, चित्रादि) को आश्रय बनाया गया है वे विक्रमोर्वशीयम आदि काव्य कलाश्रय काव्यवस्तु के अन्तर्गत रखे जा सकते हैं तथा शास्त्रज्ञान को लक्ष्य करके लिए गए भट्टिकाव्यम्, धातु काव्यम् आदि काव्य शास्त्राश्रय के भद के अन्तर्गत स्वीकार किए जा सकते हैं।

भामह के परवर्ती आचार्यों ने इन भदों को मान्यता प्रदान नहीं की है।

16.7 काव्य भेद स्थान की कारिका की व्याख्या

सर्गबन्धोऽभिनेयार्थं तथैवाख्यायिकाकथे।
अनिबद्धञ्च काव्यादि तत्पुनः पञ्चधोच्यते।। का.अ. 1/18

कारिकार्थ – सर्गबन्ध (महाकाव्य), अभिनेय (रूपक), आख्यायिका, कथा और अनिबद्ध (मुक्तक) के रूप में वह काव्य पुनः पाँच प्रकार का कहा जाता है।

व्याख्या – इस कारिका में भामह ने विद्या की दृष्टि से काव्य के पाँच भद किए है। सर्गबन्ध अर्थात् महाकाव्य और अनिबद्ध पद्य काव्य के भद हैं। आख्यायिका और कथा गद्य के भद हैं। अभिनेय काव्य रूपक है।

सहृदय या सामाजिक की दृष्टि से काव्य के प्रथमतः दो भद किए जाते हैं दृश्य और श्रव्य। श्रव्य काव्य के पुनः पद्य, गद्य और मिश्र भद से तीन भद होते हैं। पद्य काव्य के महाकाव्य और खण्डकाव्य (अनिबद्ध) ये दो भद होते हैं। गद्य काव्य के भदों के रूप में कथा और आख्यायिका ये प्रमुख भद होते हैं (कुछ आचार्यों ने कथा और आख्यायिका में भद स्वीकार नहीं किया ह) मिश्र काव्य के अन्तर्गत चम्पू काव्यों को स्वीकार किया है। (गद्यपद्यमयं काव्यं चम्पूरित्यभिधीयते साहित्यदर्पण 6/336)।

दृश्य काव्य को ही अभिनेय कहा जाता है (दृश्यं तत्राभिनेय तद्रूपारोपान्तु रूपकम्–साहित्यदर्पण 6/11)। भामह द्वारा उक्त अभिनेय काव्य दृश्य ही है। सामाजिक की दृष्टि स जो रचना 'दृश्य' अथवा 'रूप' हुआ करती है वही अभिनेता की दृष्टि से 'अभिनेय' अथवा 'नाट्य' हुआ करती है और रचनाकार की दृष्टि से उसे 'रूपक' कहते है। इन्हें मिश्र काव्य भो कहा जाता हैं।

16.7.1 महाकाव्य लक्षण

सर्गबन्धो महाकाव्यं महताञ्च महच्च यत्।
अग्राम्यशब्द्यमर्थ्यञ्च सालङ्कारं सदाश्रयम्।। का.अ.1/19

अर्थ – सर्गबन्ध महाकाव्य (कहलाता) है जो महान् (चरित्रों से सम्पन्न) और (आकार में) बड़ा होता है। आग्राम्य शब्दों से युक्त, अर्थवान्, अलंकृत और सत्पुरूष (के इतिवृत्त पर) आश्रित होता है।

मन्त्रदूतप्रयाणाजिनायकाभ्युदयैश्च यत।
पञ्चभिः सन्धिभिर्युक्तं नातिव्याख्येयमृद्धिमत्। का.अ. 1/20

अर्थ – महाकाव्य मन्त्रणा, दूतप्रयोग, ;सेनाद्ध प्रयाण, युद्ध, नायक के अभ्युदय और पाँच सन्धियों से युक्त, अनतिव्याख्येय तथा वैभव सम्पन्न होता हैं।

चतुर्वर्गाभिधानेऽपि भूयसार्थोपदेशकृत्।
युक्तं लोकस्वभावेन रसैश्च सकलैः पृथक्।। का.अ. 1/21

अर्थ – चतुर्वर्ग का अभिधायक होने पर भो प्रधानतया अर्थ का उपदेश करने वाला, लोकस्वभाव तथा पृथक्–पृथक् समस्त रसों से युक्त होता है।

नायकं प्रागुपन्यस्य वंशवीर्यश्रुतादिभिः।
न तस्यैव वधं ब्रूयादन्योत्कर्षाभिधित्सया।। का.अ. 1/22

अर्थ – वश, वीर्य और शास्त्रज्ञान आदि (गुणों) से (प्रति) नायक को प्रस्तुत कर दूसरे (नायक) का उत्कर्ष बतलाने की अभिलाषा से उसका (प्रतिनायक) वध नहीं कहना चाहिए।

यदि काव्यशरीरस्य न स व्यापितयेष्यते।
न चाभ्युदयभाक्तस्य मुधादौ ग्रहणं स्तवे।। का.अ. 1/23

अर्थ – यदि काव्य शरीर में उसकी व्यापकता इच्छित नहीं है और वह अभ्युदय का पात्र नहीं होता तो आदि में प्रशंसामात्र के लिए उसका ग्रहण व्यर्थ है।

व्याख्या (19–23) – भामह ने इन कारिकाओं में महाकाव्य के स्वरूप को प्रकट किया है। महाकाव्य का प्रथम लक्षण है कि वह सर्गो में निबद्ध होता है। महाकाव्य काव्य का ही एक भद है किन्तु उसके पूर्व में जुड़े हुए महाशब्द का रहस्य भामह ने लिखा है कि वह महान् चरित्रों से युक्त होना चाहिये। परवर्ती आचार्यों ने महाकाव्य का नायक चतुर और उदात्त स्वीकार किया है। नायक इतिहास प्रसिद्ध हो, सत्पुरूष हो, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूपी वर्ग चतुष्टय के लिए प्रयत्नशील है। महाकाव्य का नायक चाहे कोई देव विशेष हो, प्रख्यात राजवंश का राजा हो, धीरोदात्त गुणों से युक्त हो, कहीं एक ही राजवंश के अनेक कुलीन राजा भो नायक बन सकते हैं। साहित्यदर्पण में नायक का लक्षण इस प्रकार दिया है –

त्यागी कृती कुलीनः सुश्रीको रूप यौवनोत्साही।
दक्षोऽनुरक्तलोकस्तेजोवैदग्ध्यशीलवान्नेता।।

दशरूपक में नायक का लक्षण इस प्रकार है –

नेता विनीतो मधुरस्त्यागी दक्षः प्रियंवदः।
रक्तलोकः शुचिर्वाग्मी रूढ़वंशः स्थिरो युवा।।

बुद्ध्युत्साहस्मृति, प्रज्ञाकलामानसमन्वितः।
शूरो दृढ़श्च तेजस्वी शास्त्रचक्षुश्च धार्मिकः।।

इस प्रकार के गुणों से युक्त महान् नायकों के चरित का वर्णन से ही महाकाव्य को महाकाव्य कहा जाता हैं। इसे महाकाव्य कहने का दूसरा कारण भामह ने इसके आकार को माना है। अन्य काव्यों की तुलना में यह विशाल होता है। परवर्ती आचार्यों ने इसमें कम आठ सर्ग होने की बात कही है। आकार को बढ़ाने के लिए कवि मन्त्रणा दूत प्रयोग सेना के प्रयाण, युद्ध आदि का वर्णन करता है। दण्डी एवं आचार्य विश्वनाथ ने महाकाव्य के आकार की वृद्धि, रोचकता एवं कथावस्तु के विस्तार के लिए उसके नगरवर्णन, समुद्रवर्णन,

पर्वतवर्णन, ऋतुवर्णन, चन्द्रोदय–सूर्योदय एवं चन्द्रास्त–सूर्यास्तवर्णन, उद्यानविहार, जलक्रीड़ा, मधुसेवन, संयोग–विप्रलम्भ, मुनिस्वर्ग–यज्ञ, पुत्रोत्सव, मृगया आदि के वर्णन को महत्त्व दिया है।

महाकाव्य की कथावस्तु का सन्निवेश पाँच सन्धियों में किया जाता है। महाकाव्य में प्रतिनायक के वर्णन के दो प्रकार हैं। प्रथम के अनुसार प्रतिनायक के वंश, पराक्रम और विद्यावैभव का वर्णन करना चाहिए। भामह का मत है कि नायक के उत्कष के लिए प्रतिनायक के वध का वर्णन नहीं करना चाहिए। केवल उसके अपकष का ही वर्णन करना चाहिए। इस विषय में दण्डी का भो अभिमत है कि यह मार्ग हमें अच्छा लगता है। दूसरा प्रकार है कि पहले नायक के उत्कष का वर्णन करें तथा अनन्तर प्रतिनायक का वर्णन करके उसका अपकर्ष बताया जावे। यह प्रकार स्वभावतः सुन्दर है।

दण्डी का अभिमत इस प्रकार है :–

गुणतः प्रागुपन्यस्य नायकं तेन विद्विषाम्।
निराकरणमित्येष मार्गः प्रकृतिसुन्दरः।।

वंशवीर्य श्रुतादीनि वर्णयित्वा रिपोरपि।
तज्जयान्नायकोत्कषकथनं च धिनोति नः।। काव्यादर्श 1/21–22

16.7.2 आख्यायिका एवं कथा स्वरूप

संस्कृतानाकुलश्रव्य शब्दार्थपदवृत्तिना।
गद्येन युक्तोदात्तार्था सोच्छ्वासाख्यायिका मता।। का.अ. 25

अर्थ – संस्कृत (में निबद्ध) अक्लिष्ट, श्रव्य शब्द, अर्थ और पदवृत्ति (समास) वाले गद्य से युक्त, उदात्त अर्थ वाली, उच्छ्वासो में विभक्त, (रचना) आख्यायिका मानी गई है।

वृत्तमाख्यायते तस्यां नायकेन स्वचेष्टितम्।
वक्त्रञ्चापरवक्त्रञ्च काले भाव्यर्थ शंसि च।। का. अ. 26

अर्थ – उसमें (आख्यायिका में) नायक के द्वारा अपने द्वारा घटित वृत्त का आख्यान किया जाता है। (वह) यथावसर भावी घटनाओं के सूचक वस्त्र और अपरवस्त्र (छन्दों से युक्त) होती है।

कवेरभिप्रायकृतैः कथनैः कैश्चिदङ्किता।
कन्याहरणसङ्ग्राम विप्रलम्भोदयान्विता।। का.अ. 27

अर्थ – कवि के (विशिष्ट) अभिप्राय से प्रयुक्त कुछ कथनों से युक्त (तथा) कन्याहरण, सङ्ग्राम, विप्रलम्भ (और) अभ्युदय से युक्त होती हैं।

व्याख्या – भामह न इन तीन कारिकाओं में गद्यकाव्य के भद ' आख्यायिका' के स्वरूप का वर्णन किया है। आख्यायिका 'संस्कृत' भाषा में निबद्ध होती है। आख्यायिका का गद्य क्लिष्ट न हो, शब्द सुश्रव्य हो, अर्थ भो स्पष्ट हो, समास भो क्लिष्ट न हो। आख्यायिका का विषय उदात्त होना चाहिए। इसका विभाजन उच्छवासों में विभक्त होना चाहिए। इसका नायक अपने जीवन के वृत्त को स्वयं ही कहता है। इसमें भावी अर्थ को कहने के लिए कवि वक्त्र और अपर वक्त्र छन्दों का प्रयोग करता है। आख्यायिका में कवि अपने कथनों से विशिष्ट अभिप्राय को व्यक्त करता है। इसमें कन्याहरण, युद्ध, विप्रलम्भ आदि का वर्णन होता है। साथी नायक के अभ्युदय का वर्णन भो होता है। बाणभट्ट का 'हर्षचरितम्' आख्यायिका का उदाहरण है।

कथा का स्वरूप –

न वक्त्रापरवक्त्राभ्यां युक्ता नोच्छ्वासवत्यपि।
संस्कृतासंस्कृता चेष्टा कथापभ्रंशभाक्तथा।। का.अ. 28

अर्थ – वक्त्र और अपरवक्त्र से रहित, उच्छ्वासों से रहित, संस्कृत, प्राकृत और अपभश से युक्त (रचना) कथा (के रूप में) इष्ट है।

अन्यैः स्वचरितं तस्यां नायकेन तु नोच्यते।
स्वगुणाविष्कृतिं कुर्यादभिजातः कथं जनः।। का.अ. 29

अर्थ – उसमें (कथा में) नायक अपने चरित का कथन नहीं करता अपितु अन्य करते हैं। अभिजात जन अपने गुणों का प्रकाशन कैसे करें ?

व्याख्या :– इन दो कारिकाओं में भामह ने कथा के स्वरूप का वर्णन किया है। आख्यायिका के स्वरूप से भद दिखाते हुए कथा के स्वरूप का प्रकाशन किया गया है। कथा की भाषा संस्कृत, प्राकृत अथवा अपभश हो सकती है जबकि आख्यायिका की भाषा संस्कृत होती है। कथा उच्छ्वासों में विभक्त नहीं होती। आख्यायिका में नायक अपने चरित का वर्णन करता है किन्तु कथा में वह अपने चरित का वर्णन नहीं करता अपितु अन्यवक्ता उसके चरित का वर्णन करते हैं। इसमें भामह ने हेतु दिया है कि कथा का नायक कुलीन होता है वह स्वयं अपने चरित का वर्णन नहीं कर सकता। कथा का उदाहरण 'कादम्बरी' है।

भामह ने गद्य काव्य के आख्यायिका और कथा ये दो भद स्वीकार किए हैं किन्तु परवर्ती आचार्य दण्डी ने इसका खण्डन कर दिया है तथा विश्वनाथ जी ने भो इसका समर्थन किया है।

दण्डी का अभिमत है कि आख्यायिका और कथा एक ही काव्य है केवल नाम दो हैं

तत् कथाऽख्यायिकेत्येका जातिः संज्ञा द्वयाङ्किता।

दण्डी का कथन है कि छन्द, उच्छ्वास, कन्याहरण आदि कथावस्तु वक्ता के आधार पर काव्य का भद स्वीकार नहीं किया जा सकता।

16.8 वैदर्भ और गौड मार्ग की कारिका की व्याख्या

वैदर्भमन्यदस्तीति मन्यन्ते सुधियोऽपरे।
तदेव च किल ज्यायः सदर्थमपि नापरम्।। का.अ. 31

अर्थ – दूसरे विद्वान् मानते है कि वैदभ अन्य (काव्यमार्ग) है (गौड अन्य) और वही श्रेष्ठ है। अर्थ गौरव से युक्त भो दूसरा (गौड) नहीं।

गौडीयमिदमेतत्तु वैदर्भमिति किं पृथक्।
गतानुगतिकन्यायान्नानाख्येयममेधसाम्।। का.अ. 32

अर्थ – यह गौड है और यह वैदभ है, इनमें क्या भद है? (हाँ) गतानुगतिकन्याय से यह अमेधावीजनों के लिए अनाख्येय नहीं है।

ननु चाश्मकवंशादि वैदर्भमिति कथ्यते।
कामं तथास्तु प्रायेण संज्ञेच्छातो, विधीयते।। का.अ. 33

अर्थ – अश्मकवंशादि वैदभ कहे जाते ह। भले ही ऐसा हो। प्रायः संज्ञाएँ यादृच्छिक बनाई जाती है।

अपुष्टार्थमवक्रोक्ति प्रसन्नमृजु कोमलम्।
भिन्नं गेयमिवेदं तु केवलं श्रुतिपेशलम्।। का.अ. 34

अर्थ – अपुष्टार्थक, वक्रोक्ति से रहित, केवल प्रसाद, सरलता और सौकुमार्य से युक्त यह मार्ग तो (सत्काव्य से) भिन्न सङ्गीत के समान केवल श्रुतिमधुर ही है।

अलङ्कारवदग्राम्यमर्थ्यं न्याय्यमनाकुलम्।
गौडीयमपि साधीयो वैदर्भमिति नान्यथा।। का.अ. 35

अर्थ – अलङ्कार से युक्त, अग्राम्य, अर्थ ;सौन्दर्यद्ध से युक्त, न्यायसङ्गत और अक्लिष्ट गौडीय मार्ग भो श्रेष्ठ है, अन्यथा वैदभ भो (श्रेष्ठ) नहीं।

व्याख्या – भामह ने इन कारिकाओं में अपने काल में प्रचलित काव्य मार्गों पर विचार किया है। भामह के अनुसार काव्यमात्र वक्रोक्ति और स्वभावोक्ति इन दो भदों में विभक्त किया जा

सकता है। भामह वक्रोक्ति को अलङ्कार का प्राण मानते हैं– ''कोऽलङ्कारोऽनया विना।'' भामह ने स्वभावोक्ति के महत्त्व को भो स्वीकार किया है। इनको वक्रोक्ति अथवा स्वभावोक्ति से युक्त प्रत्येक काव्यविद्या स्वीकार्य है –

युक्तं वक्रस्वभावोक्त्या सर्वमेवैतदिष्यते।। का.अ. 1/30

फिर वह चाहे वैदभमार्ग हो चाहे गौडीय मार्ग। भामह कहते है कि प्रदेश के आधार पर यह विभाजन केवल गतानुगतिक है। कुछ लोग काव्य के बाह्य स्वरूप के आधार पर यह भद करते हैं जो युक्तिसङ्गत नहीं है। भामह का मत है कि जो रचना ;वक्रोक्ति और स्वभावोक्ति आदिद्ध अलङ्कारों से युक्त हो, ग्राम्य दोष से रहित हो, अर्थगौरव से पूर्ण हो, न्यायसङ्गत और अक्लिष्ट हो, वह उत्तम काव्य है। इन गुणों से हीन कोई भो रचना प्रशंसनीय नहीं हैं। चाहे वह वैदभमार्ग की रचना हो या गौडमार्ग की। जिस रचना में अर्थ परिपुष्ट नहीं है, वक्रोक्ति का आदर नहीं है, केवल प्रसाद गुण से युक्त हैं और सुनने में मधुर हैं तो उसकी प्रशंसा नहीं की जा सकती। किसी काव्य की प्रशंसा कर देने से भो वह चारू नहीं होता अपितु उसमें शब्द और अर्थ की वक्रता आवश्यक है –

न नितान्तादिमात्रेण जायते चारूता गिराम्
वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलङ्कृति।। का.अ. 1/36

भामह ने काव्य के आन्तरिक सौन्दर्य को महत्त्व दिया। इनकी दृष्टि में प्रदेश के आधार पर मार्ग का नामकरण युक्ति संगत नहीं है। कुन्तक ने भो भामह के इस विचार को महत्त्व दिया। इन्हों कि कविगत स्वभाव भो विशेषता को मार्ग के साथ जोड़ा। किन्तु वामन और दण्डी ने प्रदेश के आधार पर नामकरण को स्वीकार किया।

सा त्रेधा वैदर्भी गौडीया पाञ्चाली चेति।।
विदर्भादिषु दृष्टत्वात् तत्समाख्या।। काव्यालंकार सूत्रवत्ति – 1/2/4–10

16.9 दोष प्रकरण की कारिका की व्याख्या

सर्वथा पदमप्येकं न निगाद्यमवद्यवत्।
विलक्ष्मणा हि काव्येन दुःसुतेनेव निन्द्यते।।
नाकवित्वमधर्माय व्याधये दण्डनाय वा।
कुकवित्वं पुनः साक्षान्मृतिमाहुर्मनीषिणः।। का.अ. 1/11–12

अर्थ – दोषयुक्त एक पद का भो प्रयोग सर्वथा नहों होना चाहिए। दोषयुक्त काव्य के द्वारा (कवि) कुपुत्रवान् के समान निन्दित होता है।

अर्थ – अकवित्व (कवि न होना) अधर्म, व्याधि अथवा दण्ड के लिए नहीं होता परन्तु विद्वान् लोग कुकवित्व को साक्षात्–मृत्यु ही कहते हैं। ।।12।।

व्याख्या – भामह शब्द और अर्थ के साहित्य को काव्य मानते हैं। शब्द और अर्थ का अलङ्करण स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति हैं। वक्रोक्ति सभो अलंकारों का मूल है। कवि को चाहिए कि वह काव्य में एक भो दूषित पद का प्रयोग न करें। दूषित पद का प्रयोग दुष्ट पुत्र के समान निन्दनीय है। दूषित पद प्रयोग से कवि सत्कवि न कहलाकर कुकवि कहलाता हैं। कुकवित्व साक्षात् मृत्यु है इसके विपरीत तो अकवि रहना अच्छा है। क्योंकि कवि न होना न तो कोई अधर्म है, न यह कोई रोग है और न यह कोई दण्डनीय अपराध है। इसलिए सत्कवि को दोष से बचना चाहिए। आचार्य दण्डी ने भो कहा है कि कवि को तनिक से दोष से भो बचना चाहिए जैसे सुन्दर भो शरीर कोढ़ के एक चिह्न से भो असुन्दर हो जाता है वैसे ही एक भो दुष्ट पद से काव्य दूषित हो जाता है।

भामह ने दोष का स्वरूप नहीं बताया किन्तु उनकी दृष्टि में काव्यत्व को दूषित करने वाला दोष है। आचार्य भरत ने गुणों को दोषों का विपर्यस्त माना है –

एते दोषास्तु विज्ञेयाः सूरिभिर्नाटकाश्रयाः।
एत एव विपर्यस्ता गुणाः काव्येषु कीर्तिताः।। नाट्यशास्त्र 16/15

आचार्य वामन ने दोष का स्वरूप विधिमुख से प्रकट करते हुए लिखा है कि दोष गुणों के विपर्यय हैं –

गुणविपर्ययात्मानो दोषाः। का.सू.वृ. 2/1/1

इन की दृष्टि में दोष का सामान्य लक्षण है –

गुण से विपरीत स्वभाव वाले दोष होते हैं। जहाँ गुण और अलंकारों से काव्य में चारूता आती है वहीं दोष के कारण यह चारूता च्युत हो जाती है अर्थात् चारूता के विध्वंसक दोष है।

गुण रस के धर्म है और दोष रस के अपकषक है। इसी आधार पर विश्वनाथ ने कहा है –

दोषास्तस्यापकषकाः ।। साहित्यदर्पण 1/3

भामह के गुण के विरोधी के रूप में दोष का स्वरूप नहीं माना। वैसे काव्यालङ्कार में भामह ने कहीं भो दोष सामान्य का लक्षण नहीं किया किन्तु उनके विवेचन से ज्ञात होता है कि काव्य के प्राणतत्त्व वक्रोक्ति में हीनता ही काव्य का दोष है।

भामह ने प्रथम परिच्छेद में दोषों का विवेचन करते हुए प्रथम वर्ग में नेयार्थ, क्लिष्टत्व, अन्यार्थक, अवाचक, अयुक्तिमत् और गूढ़शब्दाभिधान छह दोषों का निरूपण किया है तथा द्वितीय वर्ग में श्रुतिदुष्ट, अर्थदुष्ट, कल्पनादुष्ट, और श्रुतिदुष्ट ये चार दोष परिगणित किए है –

भामह की कारिकाएँ इस प्रकार है –

नेयार्थं क्लिष्टमन्यार्थमवाचकमयुक्तिमत्।
गूढ़शब्दाभिधानञ्च कवयो न प्रयुज्यते।। का.अ. 1/37

(कवि नेयार्थ, क्लिष्ट, अन्यार्थक, अवाचक, अयुक्तिमत् और गूढ़शब्दभिधान दोषों का प्रयोग नहीं करते)

श्रुतिदुष्टार्थदुष्टे च कल्पनादुष्टमित्यपि।
श्रुतिकष्टं तथैवाहुर्वाचां दोषं चतुर्विधम्।। का.अ. 47

(श्रुतिदुष्ट, अर्थदृष्ट और कल्पनादुष्ट तथा श्रुतिकष्ट, ये चार प्रकार के दोष कहे गए हैं।)

नेयार्थ दोष –

नेयार्थं नीयते युक्तो यस्यार्थः कृतिभिर्बलात्।
शब्दन्यायानुपारूढ़ः कथञ्चित्स्वाभिसन्धिना।। का.अ. 1/38

अर्थ – शब्दन्याय (भाषाशास्त्र) के प्रतिकूल, किसी प्रकार से अपने अभिप्राय के अनुसार विद्वानों के द्वारा बलपूर्वक जिस पद का उपयुक्त अर्थ लिया जाता है (वहाँ) नेयार्थ दोष होता है।

मायेव भद्रेति यथा सा चासाध्वी प्रकल्पना।
वेणुदाकेरिति च तां न यन्ति वचनाद् विना।। का.अ. 1/39

अर्थ – जैसे 'मायेव भद्रा' यह सदोष रचना है। वेणुदाकि के प्रसंग के बिना उसे प्राप्त नहीं किया जा सकता है।

व्याख्या – नेयार्थ दोष वहाँ होता है जहाँ विद्वान् लोग अपने–अपने अभिप्राय से किसी पद का भिन्न–भिन्न अर्थ लगाकर समाधान खोजते हैं। इसका उदाहरण भामह ने 'मायेव भद्रा' यह दिया है। इसका अर्थ है 'माया के समान कल्याणकारिणी'। इस वाक्य का सन्देश रहित अर्थ नहीं है। विद्वान् लोग खींचतान से इसका अर्थ लगाते हैं। भामह लिखते है कि 'वेणुदाकि' के सन्दभ से इसका अर्थ समझा जा सकता है। यहाँ 'वेणुदाकेः' पद के भो विद्वानों ने अनेक अर्थ किए हैं। पी.वी. नागनाथशास्त्री जी ने 'वेणुदाकेः' के स्थान पर 'वेणुदारेः' पाठ माना है और अर्थ किया है बाणासुर का पुत्र। इस प्रकार अर्थ होगा बाणासुर के पुत्र की कल्याण कारिणी माया के समान। श्री ताताचार्य ने 'वेणुदाकि' को किसी काव्य

का नायक माना है। भद्रा उसकी नायिका रही होगी वह उसके लिए माया के समान थी। इस प्रकार यहाँ विद्वान् अपने–अपने अभिप्राय से अर्थ लेते है अतः नेयार्थ दोष है।

क्लिष्ट और अन्यार्थ दोष –

क्लिष्टं व्यवहितं विद्यादन्यार्थं विगमे यथा।
विजह्रुस्तस्य ताः शोकं क्रीडायां विकृतञ्च तत्।। का.अ. 1/40

अर्थ – (अर्थ बोध में) व्यवधान 'क्लिष्ट' दोष है। (विग में) वाञ्छित अर्थ का अभाव 'अन्यार्थ'दोष है। जैसे विजह्रुस्तस्य ताः शोरूम्' (यहाँ क्लिष्ट दोष है) और क्रीडायां विकृतं तत् (में अन्यार्थ) दोष है।

व्याख्या – अर्थज्ञान में जहाँ व्यवधान हो वहाँ क्लिष्ट दोष होता है। इसका उदाहरण है– विजह्रुस्तस्य ताः शोरूम। कवि इस वाक्य में यह अर्थ बताना चाहता है कि उन स्त्रियों ने उसके शोक का हरण किया। 'विजह्रु' पद में ह्रधातु है जिसका अर्थ हरण करना होता है किन्तु 'वि' उपसर्ग लगने से इसकी अर्थ विहार करना हो जाता हैं अतः यहाँ कवि के अभिलषित अर्थ मे व्यवधान उत्पन्न हो जाता है। अतः यहाँ क्लिष्ट दोष है।

कवि द्वारा वाञ्छित अर्थ का अभाव 'अन्यार्थ' दोष है। इसका उदाहरण है –

क्रीडायां विकृतं तत् यहाँ पर कवि यह कहना चाहता है कि उन्होंने शोकहरण का कार्य क्रीड़ा के द्वारा किया। यहाँ विकृत पद के स्थान पर 'कृत' पद का प्रयोग होना चाहिए। यहाँ विकृत पद के प्रयोग के कारण कवि का अभिलषित अर्थ ज्ञात नहीं होता है।

अवाचक दोष –

हिमापहामित्रधरै र्व्याप्तं व्योमेत्यवाचकम्।
साक्षादरूढं वाच्येऽर्थे नाभिधानं प्रतीयते।। का.अ. 41

अर्थ – हिम का हनन करने वाले (अग्नि) के अमित्र शत्रु (जल) को धारण करन वालों (मेघों) के द्वार व्योम व्याप्त है, यहाँ 'अवाचक' है। वाच्य अर्थ में साक्षात् अप्रसिद्ध शब्द (से अर्थ) ज्ञात नहीं होता।

व्याख्या – 'अवाचक' दोष वहाँ होता है जहाँ कवि किसी ऐसे पद का प्रयोग करता है जो साक्षात् रूप से उस अर्थ विशेष का वाचक नहीं होता जिस अर्थ को वह बतलाना चाहता है। जैसे ''हिमापहामित्र धरा'' इस पद से कवि 'बादल' अर्थ का बोध करना चाहता है किन्तु यह पद साक्षात् रूप से उस अर्थ का ज्ञान नहीं कराता है अपितु जैसे तैसे अर्थ बोध कराता हैं हिममपहन्तीति–हिमापहा (अग्नि) तस्यामित्रम् (जलम्) तद्धरतीति (जलघरो मेघः) इस प्रकार अर्थ बोध होता है। इसलिए यह पद मेघ का साक्षात् वाचक न होने के कारण 'अवाचक' दोष से दूषित है।

अयुक्तिमद् दोष –

अयुक्तिमद् यथा दूता जलभृन्मारुतेन्दवः।
तथा भ्रमरहारीत चक्रवाकशुकादयः।। वही 1/42

अर्थ – जैसे मेघ, मरुत, इन्दु, भमर, हारीत, चक्रवाक तथा शुक आदि दूत हो (यह) अयुक्तिमत् दोष है।

अवाचोऽव्यक्तवाचश्च दूरदेशविचारिणः।
कथं दूत्यं प्रपद्येरन्निति युक्त्या न युज्यते।।वही।।1/43

अर्थ – वाणीहीन, अव्यक्तवाणी वाले और दूर देश में विचरण करने वाले दूतकम कैसे सम्पादित कर सकते है। यह (वर्णन) युक्ति से युक्त नहीं है।

यदि चोत्कण्ठया यत्तदुन्मत्त इव भाषते।
तथा भवतु भूम्नेदं सुमेधोभिः प्रजुज्यते।। वही।।1/44

अर्थ – यदि उत्कण्ठा के कारण (कोई) उन्मत्त के समान जो कुछ बोलता है तो भले ही ऐसा हो जाए। मेघावीजनों के द्वारा भो ऐसा) प्रयोग किया गया है।

व्याख्या – भामह ने इन कारिकाओं में अयुक्तिमत्त् दोष का विवेचन किया है। इनका मानना है कि कवि को ऐसे प्रसंग उपस्थित नहीं करने चाहिए। जो सामान्य जनों की बुद्धि से गृहीतन हो सके! जो भो वचन या प्रसंग युक्ति से युक्त नहीं होगा अर्थात् तार्किक नहीं होगा वहाँ युक्तिमत् दोष होगा। भामह ने इस के उदाहरण के रूप में कहा कि जैसे कोई

कवि मेघ, वायु, इन्दु, भमर आदि को दूत बनाकर भजे तो वह अयुक्तिमत् दोष है इसमें भामह का तर्क यह है कि दूत की वाणी स्पष्ट होनी चाहिए, मूक दूत नहीं बन सकता या दूर देश में विचरण करने वाला इन्दु आदि भो दूत नहीं हो सकता।

किन्तु कवियों ने भामह के इस कथन के विरूद्ध अपने काव्यों में मेघ, मरूत, पिक, शुक, हंस, पत्र आदि को दूत बनाया है।

रामायण में हनुमानजी को दूत बनाया गया था। महाभारत में कृष्ण दूत बने, ये सभो समर्थ थे। किन्तु काविता कामिनी के विलास महाकवि कालिदास ने धूम–ज्योति–सलिल और मरूत् के समूह में मेघ को दूत बनाया और उसके लिए युक्ति भो ढूंढ ली–''कामार्ता हि प्रकृति कृपणाः चेतनाचेतनेषुः। कालिदास मेघदूत को आधार मानकर संस्कृत कवियों ने एक लम्बी परम्परा के रूप में हंसदूत, पिकदूत, पत्रदूत आदि काव्यों की रचना की। समर्थ कवि बन्धनों से मुक्त हो जाते है एवं प्रतिभा के बल पर नए पथ का निर्माण कर देते हैं।

गूढशब्दाभिधान दोष –

गूढशब्दाभिधानञ्च न प्रयोज्यं कथञ्चन।
सुधियामपि नैवेदमुपकाराय कल्पते।। वही 1/45

अर्थ – गूढ शब्दाभिधान का किसी प्रकार से भो प्रयोग नहीं करना चाहिए। इसके विद्वानों का भो उपकार नहीं हो सकता।

असितर्तितुगद्रिच्छित्स्वःक्षितां पतिरद्विदृक्।
अमिद्मः शुभ्रदृग्दृष्टैर्द्विषो जेहनीयिषीष्ट वः।। वही।।1/46

अर्थ – अग्नि के पुत्र, पर्वत का छेदन करने वाले, देवताओं के स्वामी, जिनके दो नेत्र नहीं है (ऐसे भगवान् कार्तिकेय) रूक्ष (तथा) शभ नेत्रों के अवलोकन से तुम्हारे शत्रुओं को नष्ट करें।

व्याख्या – सहृदय जनों को सद्यः काव्यानन्द की प्राप्ति हो जावे इसके लिए कवि को ऐसे शब्दों का प्रयोग नहीं करना चाहिए जिनका अर्थ गूढ हो। यदि कवि गूढ अभिधान वाले शब्दों का प्रयोग करता है तो वहाँ ''गूढशब्दाभिधान'' दोष होता है। इसके उदाहरण के रूप में भामह ने ''असितत्तितुक्......................जेहनीयिषीष्ट वः'' यह श्लोक दिया है। इस श्लोक में भगवान कार्तिकेय का अभिधान करने के लिए ''असितर्त्तितुक'', अद्रिच्छित, स्वःक्षितां पतिः और अद्विहक्'' इन गूढ शब्दों का प्रयोग किया गया है। सरलता से इन शब्दों से कार्तिकेय का अर्थ बोध नहीं होता है। ''असितर्त्तितुक'' का अर्थ हुआ ''कार्तिकेय''। इसी प्रकार ''अद्रिच्छित्'' शब्द का अर्थ है– पर्वत का छेदन करने वाला। कार्तिकेय ने क्रौञ्च पर्वत का छेदन किया था इसलिए उन्हे अद्रिच्छित्'' कहा जा सकता है।

''स्वःक्षितां पतिः'' का अभिप्राय है–देवताओं का स्वामी। ''अद्विदृक्'' का अर्थ है जिसके दो नेत्र न हों। कार्तिकेय षडानन है अतः उनके दो नेत्रों के बजाय बारहनेत्र हैं। भामह का कथन है कि इस प्रकार के शब्दों के प्रयोग से न तो काव्य में कोई उत्कष होता है और न विद्वानों को कोई लाभ होता है।

श्रुतिदुष्टादिदोष –

श्रुतिदुष्टार्थदुष्टे च कल्पनादुष्टमित्यपि।
श्रुतिकष्टं तथैवाहुर्वाचां दोषं चतुर्विधम्।।वही।।

अर्थ – श्रुतिदुष्ट, अर्थदुष्ट और कल्पनादुष्ट तथा श्रुतिकष्ट ये वाणी के चार प्रकार के दोष कहे गए हैं।

विड्वर्चोविष्ठितक्लिन्नच्छिन्नवान्त प्रवृत्तयः।
प्रचारधर्षितोद्गारविसर्गहृदयन्त्रिताः।।वही 48
हिरण्यरेताः संबाधः पेलवोपस्थिताण्डजाः।
वाक्काटवादयश्चेति श्रुतिदुष्टा मताः गिरः।।वही 49

अर्थ – विट्, वर्चस्, विष्ठित, क्लिन्न, छिन्न, वान्त, प्रवृत्ति, प्रचार, द्यर्षित, उद्गार, विसर्ग, ह्यद, यन्त्रित, हिरण्यरेतस्, सम्बाध, पेलव, उपस्थित, अण्डज और वाक्काटव ये शब्द श्रुतिदुष्ट माने गए हैं।

व्याख्या – जहाँ कवि ऐसे द्वयर्थी शब्दों का प्रयोग करता है जिनसे सामान्य अर्थ के साथ जुगुप्सित अर्थ की प्रतीति होने लगती है वहाँ श्रुतिदुष्ट दोष माना जाता है। इसके उदाहरण के रूप में विड्, वर्चस् आदि शब्दों का संग्रह प्रस्तुत किया गया है।

अर्थदुष्टं पुनर्ज्ञेयं यत्राक्ते जायते मतिः।
असभ्यवस्तुविषया शब्दैस्तद्वाचिभिर्यथा।। वही 1/50

अर्थ – जहाँ तत्तद् (अर्थों के) वाचक शब्दों के द्वारा बुद्धि असभ्य अर्थ विषयक हो जाती है वहाँ ''अर्थदुष्ट'' दोष माना जाता है। उदाहरण –

हन्तुमेव प्रवृत्तस्य स्तब्धस्य विवरैषिणः।
पतनं जायतेऽवश्यं कृच्छ्रेण पुनरून्नतिः।। वही 1/51

अर्थ – ताडन करने के लिए प्रवृत्त, स्तब्ध, छिन्द्रान्वेषी का पतन अवश्य होता है। फिर उन्नति कठिनाई से ही होती है।

पदद्वयस्य सन्धाने यदनिष्टं प्रकल्पते।
तदाहुः कल्पनादुष्टं स शोर्याभरणो यथा।। वही 1/52

अर्थ – दो पदों के एक स्थान में जो अनिष्ट (अर्थ की) कल्पना होती है उसे (आचार्यों ने) कल्पना दुष्ट कहा है जैसे ''शोर्याभरण''। यहाँ शोर्याभरण शब्द में शौर्य और आभरण इन पदों का एक साथ प्रयोग है। यहाँ ''याभ'' पद मैथुन का वाचक है।

यथाजिह्लददित्यादि श्रुतिकष्टञ्च तद्विदुः।
न तदिच्छन्ति कृतिनो गण्डमप्यपरेकिल।। वही 1/53

अर्थ – जिस प्रकार ''अजिह्लदत्'' आदि पद श्रुतिकष्ट दोषयुक्त जाने गए हैं। विद्वान् ऐसा (पद) नहीं चाहते। दूसरे ''गण्ड'' को भो श्रुतिकष्ट मानते हैं।

व्याख्या – जो पद सुनने में कष्ट प्रद हो वहां श्रुतिकष्ट दोष होता है जैसे ''अजिह्लदत्'' ''गण्ड'' ''कार्त्यार्थ्यम्'' आदि पद।

16.10 दोष परिहार की कारिका की व्याख्या

सन्निवेशविशेषात्तु दुरूक्तमपि शोभते।
नीलं पलाशमाबद्धमन्तराले स्रजामिव।। वही 1/54

अर्थ – सन्निवेश की विशेषता के कारण दुष्टपद भो (श्वेत पुष्प की) मालाओं में (समुचित) अन्तराल पर पिरोए गए नील पलाश के समान शोभित होता है।

किञ्चिदाश्रयसौन्दर्याद्धत्ते शोभामसाध्वपि।
कान्ताविलोचनन्यस्तं मलीमसमिवाञ्जनम्।। वही 1/ 55

अर्थ – आश्रय के सौन्दर्य के कारण कोई असाधु पद भो कान्ता के नेत्रों में डाले गए मलिन अञ्जन के समान शोभा को धारण करता है।

आपाण्डुगण्डमेतत्ते वदनं वनजेक्षणे।
सङ्गमात्पाण्डुशब्दस्य गण्डः साधु यथोदितः।। वही 1/56

अर्थ – ''अपाण्डु वनजेक्षणे'' इस पद्यांश में पाण्डु शब्द के सान्निध्य के कारण ''गण्ड शब्द'' जिस प्रकार साधु कहा गया है।

अनयान्यदपि ज्ञेयं दिशा युक्तमसाध्वपि।
यथा विक्लिन्नगण्डानां करिणां मदवारिभिः।। वही 57

अर्थ – इस प्रकार से (साधुन्सान्निविष्टविधि से) अन्य दोषयुक्त पद भो युक्त माने जावें। जैसे ''विक्लिन्नगण्डानां कारिणां मदवारिभिः'' इस उदाहरण में विक्लिन्न और गण्ड पदों को युक्त माना गया है।

मदक्लिन्नकपोलानां द्विरदानां चतुश्शती।
यथा तद्वदसाधीयः साधीयश्च प्रयोजयेत्।। वही 1/58

अर्थ – मदक्लिन्नकपोलानां द्विरदानां चतुश्शती, यहाँ जैसे क्लिन्न पद साधु प्रतीत होता है। उसी प्रकार असाधु और साधु शब्दों का सुन्दर सन्निवेश करना चाहिए।

व्याख्या – भामह ने नेयार्थ आदि दस दोषों का वर्णन करने के पश्चात् इन दोषों के परिहार का उपाय भो बताया है। प्रथम परिच्छेद की 54 वीं कारिका से 58 वीं कारिका तक दोष परिहार का उपाय बताया गया है। भामह ने यहाँ दो प्रकारों का उल्लेख किया है।

प्रथम प्रकार में इन्होनें स्पष्ट किया है कि सन्निवेश के वैशिष्ट्य के कारण दोष युक्त पद भो दोषयुक्त नहीं माने जाते हैं। जैसे गण्ड शब्द दोषयक्त है किन्तु पाण्डु शब्द की सन्निधि के कारण दोषहीन हो गया है

उदाहरण– ''आपाण्डुगण्डमेतत्ते वदनं वनजेक्षणे''

हे कमल नयने! विरहावस्था के कारण कुछ पीले गण्डस्थल वाला तुम्हारा वदन शोभायमान है।

यहाँ गण्ड शब्द श्रुतिदुष्ट है किन्तु पाण्डु शब्द के साथ कवि ने इस प्रकार इसे सन्निविष्ट किया है कि यह दोष नहीं रहा।

दूसरा प्रकार है–आश्रय के सौन्दर्य के कारण असाधु पद भो असाधु नहीं होता है। जैसे हथियों के मदवारि के वर्णन में क्लिन्न और ''गण्ड'' पद दोष युक्त होते हुए भो दोष युक्त नहीं हैं क्योंकि मदवारि के सौन्दर्य का वर्णन इनके बिना नहीं हो सकता! इस प्रकार आश्रयगत सौन्दर्य के कारण दोष परिहार हो जाता है।

16.11 शब्दसन्निवेश प्रकार की कारिका की व्याख्या

एतद्ग्राह्यं सुरभि कुसुमं ग्राम्यमेतन्निधेयम्,
धत्ते शोभां विरचितमिदं स्थानमस्यैतदस्य।
मालाकारो रचयति यथा साधु विज्ञाय मालां,
योज्यं काव्येष्ववहितधिया तद्वदेवाभिधानम्।।वहीं 59

अर्थ – यह सुगन्धित पुष्प ग्रहण करने योग्य है, यह ग्राम्य (अतः) त्याज्य है, यह प्रयुक्त होने पर शोभा धारण करता है, इसका यह उपयुक्त स्थान है'' (इस प्रकार) जैसे मालाकार अच्छी प्रकार समझकर माला बनाता है उसी प्रकार सावधानीपूर्वक काव्य में शब्द का प्रयोग करना चाहिए।

व्याख्या – पूर्ववर्ती कारिका में भामह ने लिखा है कि सन्निवेश के वैशिष्ट्य एवं आश्रय के सौन्दर्य के आधार पर कवि को साधु और असाधु शब्दों का बुद्धिपूर्वक प्रयोग करना चाहिए। साधु शब्द भो सन्निवेश वैशिष्ट्य से जिस प्रकार सौन्दर्य को बढाते हैं उसी प्रकार असाधु शब्द भो सुन्दर सन्निवेश के आधार पर सौन्दर्यवर्धक बन जाते हैं।

भामह लिखते हैं कि जिस प्रकार मालाकार माला में सुगन्धित पुष्पों को ग्रहण करता है और ग्राम्य

(गन्धहीन एवं असुन्दर) पुष्पों का त्याग करता है वैसे ही कवि को भो काव्य सौन्दर्य जनक साधु शब्दों का ग्रहण करना चाहिए एवं वैरस्यजनक दुष्ट पदों का त्याग करना चाहिए। जैसे मालाकार यह विचार करता है कि माला की शोभा बढती है और किस पुष्प का कौनसा स्थान है वैसे ही कवि को भो शब्दों के सन्निवेश के समय यह विचार करना चाहिए कि इस पद के सन्निवेश से काव्य की शोभा बढेगी या नहीं और किस स्थान पर रखने से बढेगी। इस प्रकार सम्यक् विचार करके अवहित बुद्धि से काव्य में पदों का सन्निवेश करना चाहिए।

भामह के कहने का आशय यह है कि केवल शब्द और अर्थ का साहित्य मात्र काव्य नहीं है अपितु इनके साधुता असाधुता का विचार करके उचित स्थान पर सन्निवेश करना काव्य है।

16.12 पारिभाषिक शब्दावली

मङ्गलाचरण – मङ्गल विधान से ग्रन्थ लेखन में आने वाले विघ्नों का विनाश होता है तथा व्याख्यान करने वालों तथा श्रवण करने वालों को भी निर्विघ्न व्याख्यान और श्रवण का लाभ मिल सके इसलिए भी ग्रन्थ के आदि में मङ्गलाचरण किया जाता है।

प्रतिभा – आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार प्रतिभा कवित्व का बीज है तथा जन्म जन्मांतर के संस्कार में आती हैं।

काव्य–भेद – शब्द और अर्थ का साहित्य काव्य है और वह (काव्य) गद्य और पद्य दो प्रकार का है और (भाषा और भेद से) संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश भेद से तीन प्रकार का है।

महाकाव्य – सर्गबन्ध महाकाव्य (कहलाता) है जो महान् (चरित्रों से सम्पन्न) और (आकार में) बड़ा होता है। आग्राम्य शब्दों से युक्त, अर्थवान्, अलंकृत और सत्पुरूष (के इतिवृत्त पर) आश्रित होता है।

आख्यायिका – 'संस्कृत' भाषा में निबद्ध होती है। आख्यायिका का गद्य क्लिष्ट न हो, शब्द सुश्रव्य हो, अर्थ भी स्पष्ट हो, समास भी क्लिष्ट न हो। आख्यायिका का विषय उदात्त होना चाहिए। इसका विभाजन उच्छ्वासों में विभक्त होना चाहिए। इसका नायक अपने जीवन के वृत्त को स्वयं ही कहता है।

काव्य–दोष – श्रुतिदुष्ट, अर्थदृष्ट और कल्पनादुष्ट तथा श्रुतिकष्ट, ये चार प्रकार के दोष कहे गए हैं।)

16.13 अभ्यासार्थ प्रश्न

बोध प्रश्न

निम्नलिखित कारिकाओं की व्याख्या कीजिए :–

1. शब्दश्छन्दोऽभिधानार्था इतिहासाश्रयाः कथाः
   लोकोयुक्तिछः कलाश्चेति मन्तव्या काव्यहेतवः।।
2. तदेतदाहुः सौशब्द्यं नार्थव्युत्पतिरीदृशी।
   शब्दाभिधेयालङ्कारभेदादिष्टं द्वयं तु न ः।।
3. सर्गबन्धोऽभिनेयार्थं तथैवाख्यायिकाकथे।
   अनिबद्धञ्च काव्यादि तत्पुनः पञ्चधोच्यते।।
4. न नितान्तादिमात्रेण जायते चारूता गिराम्।
   वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलङ्कृतिः।।

बोध प्रश्नों के उत्तर

1. इकाई–15 एवं 16 के बोध प्रश्नों का उत्तर
2. इकाई–15 प्र.1 का 'घ', 2 का 'ख', 3 का 'ख', 4 का उत्तर इकाई का उपबन्ध 15. 4, 5 का उत्तर इकाई का उपबन्ध 15.5, 6 का उत्तर इकाई का उपबन्ध 15.5.1
3. इकाई–16 के उत्तर इकाई 16 में कारिकाओं की व्याख्या देखें

16.14 सारांश

इस प्रकार इस इकाई के अध्यनोपरान्त हमने काव्यालंकार नामक ग्रन्थ के अनुसारकाव्य प्रयोजन,काव्य हेतु, काव्य में अलङ्कार का स्थान, काव्यभेद,महाकाव्य,आख्यायिका एवं कथास्वरूप, काव्यमार्ग,काव्यदोष, प्रकरण दोष, दोष–परिहार, काव्य स्वरूप, शब्द सन्निवेश इत्यादि विषयों का अध्ययन किया ।

16.15 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. काव्यालङ्कार (भामह कृत) ,सं. रमण कुमार शर्मा,साहित्य भण्डार, मेरठ, 1994.
2. काव्यालङ्कार (भामह कृत),सं. के.पी. त्रिवेदी, विश्वनाथन प्रकाशन वाराणसी, 1976.
3. चौखम्भा विद्या भवन, वाराणसी, 1969.
4. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, डॉ.पी.वी.काणे,मोतीलाल बनारसी दास, नई दिल्ली, 1966.

इकाई—17

संस्कृत व्याकरण णिजन्त एवं सनन्त प्रक्रिया

इकाई की रूपरेखा

17.0 उद्देश्य
17.1 प्रस्तावना
17.2 व्याकरण : एक परिचय
17.2.1 लघुसिद्धांत कौमुदी : एक परिचय
17.2.2 तिङन्त बोध
17.2.3 परस्मैपदी प्रत्यय
17.2.4 आत्मनेपदी प्रत्यय
17.3 धातु रूप विचार
17.3.1 सामान्य धातु रूप विचार
17.3.2 विशेष धातु रूप विचार
17.4 णिजन्त प्रक्रिया
17.4.1 णिजन्त प्रक्रिया के प्रमुख सूत्र
17.4.2 णिजन्त प्रक्रिया के उदाहरणों की रूपसिद्धि
17.5 सनन्त प्रक्रिया
17.5.1 सनन्त प्रक्रिया के प्रमुख सूत्र
17.5.2 सनन्त धातु रूप सिद्धि
17.6 पारिभाषिक शब्दावली
17.7 अभ्यासार्थ प्रश्न
17.8 सारांश
17.9 संदर्भ ग्रंथ सूची

17.0 उद्देश्य

संस्कृत एम.ए. पूर्वार्द्ध के चतुर्थ प्रश्न पत्र की इकाई 17 में संस्कृत व्याकरण णिजन्त एवं सनन्त प्रक्रिया को निर्धारित किया गया है। इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप–

- तिङन्त बोध परस्मैपदी प्रत्यय आत्मनेपदी प्रत्यय,सामान्य धातु रूप विचारविशेष धातु रूप विचार का ज्ञान प्राप्त कर पायेंगें ।
- णिजन्त प्रक्रिया के अन्तर्गत णिजन्त प्रक्रिया के प्रमुख सूत्र एवं णिजन्त प्रक्रिया के उदाहरणों की रूपसिद्धि का अवबोध कर पायेंगें।
- सनन्त प्रक्रिया,सनन्त, प्रक्रिया के प्रमुख सूत्र,सनन्त धातु रूप सिद्धि के विषय में विस्तृत जानकारी ले पायेंगें ।

17.1 प्रस्तावना

''व्याक्रियन्ते विविच्यन्ते शब्दाः अनेनेति व्याकरणम्, जिसके द्वारा प्रकृति–प्रत्यय का विवेचन किया जाता है। यजुर्वेद में व्याकरण का अर्थ है कि प्रजापति ने शब्दरूपों में सत्य और अनृत का व्याकरण (विश्लेषण) किया। इस आधार पर सत्य में श्रद्धा और असत्य में अश्रद्धा की प्रतिष्ठा की। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने व्याकरण की अनेक परिभाषाएँ दी हैं।

व्याकरण की परिभाषाएँ– ''व्याक्रियन्ते शब्दा अनेनेति व्याकरणम्'' अर्थात् जिससे शब्दों का प्रकृति–प्रत्यय आदि रूप से विभाग किया जाता है, वह व्याकरण है।

इसी प्रकार ''लक्ष्यलक्षणे व्याकरणम्' अर्थात् लक्ष्य और लक्षण दोनों मिलकर व्याकरण होता है। शब्द लक्ष्य है और सूत्र लक्षण है। शब्द का प्रकृति–प्रत्यय विश्लेषण करने वाला शास्त्र व्याकरण शास्त्र है। अतः शब्द के निर्धारण में सूत्रों का निश्चित करना ही व्याकरण है।

17.2 व्याकरण : एक परिचय

संस्कृत व्याकरण सभो भाषाओं की अपेक्षा सर्वाधिक समृद्ध व्याकरण है, उसका कारण है कि इसमें प्रत्येक शब्द की व्युत्पत्ति किसी न किसी धातु से हुई है और प्रत्येक धातु का अपना स्वतन्त्र अर्थ होता है। सामान्य व्याकरण की दृष्टि से 'धातु' शब्द का अर्थ है– जिससे शब्दों की व्युत्पत्ति हो, वह मूल आधार। संस्कृत धातु पाठ में पाणिनि ने 1880 धातुओं की गणना की है, जिनसे विभिन्न प्रत्यय जोड़कर असंख्य शब्दों का निर्माण किया जाता है।

संस्कृत भाषा के वाक्य में क्रिया पद ही प्रधान होता है। वाक्य के अन्य सारे पद क्रिया से सम्बन्ध होने के कारण ही कारक रूप ग्रहण करते हैं वाक्य में प्रयुक्त क्रिया के काल या वृत्ति को वैयाकरणों ने लकार नाम दिया है। इन्हें लकार इसलिए कहा जाता है कि इनके प्रत्येक के नाम 'ल' से शुरू होते हैं। यथा –

लट्, लिट्, लुट्, लृट्, लेट् (केवल वेद में होता है), लोट्, लङ्, लिङ्, लुङ् तथा लृङ्।

17.2.1 लघुसिद्धांत कौमुदी : एक परिचय –

पाणिनि मुनि व्याकरण शास्त्र के प्रवर्तक आचार्य हुए, जिन्होंने अष्टाध्यायी में व्याकरणात्मक ज्ञान के लिए अपना एक क्रम रखा, जो विद्वानों के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं वैज्ञानिक क्रम था, परन्तु इस क्रम में सूत्रों का क्रम विषय–क्रम के अनुसार एक स्थान पर न होने के कारण व्याकरण ज्ञान के साधारण जिज्ञासु की कठिनाई को देखकर 'भट्टोजिदीक्षित' ने अष्टाध्यायी के सूत्रों को विषय क्रमानुसार व्यवस्थित करते हुए ''सिद्धांत कौमुदी'' की रचना की, जिसकी टीका (प्रौढ़मनोरमा) भी उन्होंने स्वयं लिखी।

'सिद्धांत कौमुदी' में अष्टाध्यायी के सभी सूत्रों का समावेश होने के कारण उसकी विशालता को देखते हुए भट्टोजिदीक्षित के शिष्य वरदराजाचार्य ने सरल रूप प्रस्तुत करने के लिए 'मध्यसिद्धान्तकौमुदी' रूप में संक्षेपण किया तथा बालकों को शीघ्र व्याकरण का बोध कराने के लिए बारह सौ अस्सी सूत्रों में ही सभी विषयों के मुख्य–मुख्य बिन्दु एकत्रित करके ''लघुसिद्धांत कौमुदी'' की रचना की। इस ग्रन्थ में विषय क्रम इस प्रकार है– संज्ञा प्रकरण– सन्धि प्रकरण' सुबन्त (अजन्त–हलन्त) प्रकरण– अव्यय प्रकरण– तिङन्त प्रकरण (दस लकारों में धातु रूप सिद्धि)– प्रक्रिया भाग– कृदन्त प्रकरण– कारक प्रकरण– समास प्रकरण– तद्धित प्रकरण– स्त्री प्रत्यय।

17.2.2 तिङन्त बोध

ये सभो लकार वर्तमान, भ्त, भविष्य आदि कालों के वाचक हैं अथवा विधेयादि के बोधक हैं।

प्रत्येक लकार में तीन पुरूष होते हैं, जिनके प्रत्येक के तीन–तीन वचन।

इस प्रकार प्रत्येक धातु के नौ रूप पाये जाते हैं। जिन धातुओं से ये विभक्तियाँ बनाई जाती हैं, वे भो दो प्रकार की होती हैं– परस्मैपद और आत्मनेपद।

सामान्यतः धातुओं से जिन प्रत्ययों को जोड़कर धातु रूप बनाये जाते हैं वे प्रत्यय 'तिङ्' प्रत्यय कहलाते हैं तथा उनसे युक्त धातु रूपों को 'तिड.न्त' कहा जाता है।

ये 'तिङ्' प्रत्यय परस्मैपद तथा आत्मेपद में मिलाकर 9+9 त्र 18 होते हैं, जिनका प्रारम्भ 'तिप्' के 'ति' से शुरू होकर समापन 'महिङ' के 'ङ्' पर होता है। इसीलिए इन्हें 'तिङ्' प्रत्यय (प्रत्याहार की परम्परा से) कहा जाता है

ये तिङ् प्रत्यय हैं –

17.2.3 परस्मैपदी प्रत्यय

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथम पुरुष	तिप्	तस्	झि
मध्यम पुरुष	सिप्	थस्	थ

उत्तम पुरुष	मिप्	वस्	मस्

17.2.4 आत्मनेपदी प्रत्यय

	एकवचन	**द्विवचन**	**बहुवचन**
प्रथम पुरुष	त	आताम्	झ
मध्यम पुरुष	थास्	आथाम्	ध्वम्
उत्तम पुरुष	इड्	वहि	महिङ्

17.3 धातु रूप विचार

17.3.1 सामान्य धातु रूप विचार –

सामान्यतः धातु रूप बनाने में धातु से तिप् आदि प्रत्यय लगाकर सामान्य क्रिया रूप बनाये जाते हैं। यथा –

भ्+तिप् भवति पठ्+तिप् पठति इत्यादि।

17.3.2 विशेष धातु रूप विचार –

प्रत्येक धातु का अपना एक निश्चित अर्थ होता है, जिसके साथ तिङ् प्रत्यय जोड़कर धातु रूप बनाया जाता है, परन्तु धातुरूप से जब कोई विशेष अभिप्राय लिया जाता है, तो उसके लिए

धातु के आगे विशेष प्रत्यय जोड़कर एक विशेष धातुरूप बनाया जाता है, तत्पश्चात् उससे 'तिङ्' प्रत्यय जोड़ते हुए धातुरूप बनाया जाता है और इस विधि को 'प्रक्रिया' के नाम से अभिहित किया जाता है। ये प्रक्रियाएँ अथवा प्रत्ययान्त धातुएँ चार प्रकार की होती हैं– णिजन्त/ण्यन्त,सनन्त, यड.न्त और नामधातु।

17.4 णिजन्त प्रक्रिया

जब किसी धातु के अर्थ में प्रेरणा अर्थ भो जोड़ना हो तो धातु से णिच् प्रत्यय जोड़ा जाता है। यथा जाना से भिजवाना, बनाना से बनवाना, सुनना से सुनवाना आदि। सामान्यतः किसी धातु का जो कर्ता होता है, प्रेरणार्थक धातु बन जाने पर वह मूल कर्ता स्वयं काम न करके किसी दूसरे से काम करवाता है। यथा– रामः पाठं पठति– रामः अनुजेन पाठं पाठयति। अथवा यदि प्रेरणार्थक धातु में कर्ता वही रहता है तो प्रेरणा देने वाला एक अन्य कर्ता हो जाता है। यथा– भत्यः कटं करोति– रामः भत्येन कटं कारयति। णिच् प्रत्यय लगने पर कभो–कभो धातु का अर्थ परिवर्तित हो जाता है। णिच् प्रत्यय जुड़ने से धातु कदाचित् अकमक से सकमक भो हो जाती है। णिजन्त धातु के रूप चुरादिगणी धातुओं के समान चलते हैं। धातु और तिङ् प्रत्यय के बीच जुड़ने वाले णिच् प्रत्यय का केवल 'इ' शेष रहता है।

17.4.1 णिजन्त प्रक्रिया के प्रमुख सूत्र

1. **स्वतन्त्रः कर्ता** – क्रिया की उत्पत्ति में जो प्रधान रूप से विवक्षित हो, उसे कर्ता कहते हैं।
2. **तत्प्रयोजको हेतुश्च** – कर्ता के प्रयोजक को हेतु कहते हैं और उसकी हेतु तथा प्रेरक संज्ञा होती है।
3. **हेतुमति च** – प्रयोजक के कार्य में धातु से 'णिच्' प्रत्यय किया जाता है। अर्थात् जब कर्ता को अन्य व्यक्ति, जो उसमें कारण होता है अथवा प्रयोजक होता है अथवा कार्य करने की प्रेरणा देता है तो सामान्य धातु के साथ 'णिच्' प्रत्यय जोड़कर धातु

को प्रेरणार्थक बनाई जाती है, तत्पश्चात् उससे 'तिप्' आदि प्रत्यय लगाकर धातुरूप बनाया जाता है।

17.4.2 शब्दरूप सिद्धि

भावयति :– भवन्तं प्रेरयति –

'भ्' धातु से 'हेतुमति च' सूत्र से णिच् प्रत्यय	–	भ्+णिच्
''हलन्त्यम्'' से च् का लोप	–	भ्+णिच्
'चुटू' से ण् का लोप	–	भ्+इ
'अचोञ्णिति' से भ् के उ को वृद्धि आदेश	–	भो+इ
'एचोऽयवायावः' से औ को 'आव्' आदेश	–	भाव्+इ
'सनाद्यन्ताः धातवः' से भावि की धातु संज्ञा	–	भावि
'तिप् तस् झि...' सूत्र से तिप् प्रत्यय	–	भावि+तिप्
'हलन्त्यम्' से 'प्' का लोप	–	भावि+तिप्
'तिङ्शित् सार्वधातुकम्' से सार्वधातुक संज्ञा		
'कतरिशप्' से शप् प्रत्यय	–	भावि+शप्+ति
अनुबन्ध लोप	–	भावि+शप्+ति
		भावि+अ+ति
'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से गुण	–	भावे+अ+ति
एचोऽयवायावः' से 'अय्' आदेश	–	भावय्+अ+ति
	=	भावयति

इति सिद्धम्

अबीभवत् –

'भ्' धातु से 'हेतुमतिच' से णिच्' प्रत्यय	–	भ्+णिच्
अनुबन्ध लोप होकर	–	भ्+इ
यहाँ 'णिच्यच...' से पहले वृद्धि नहीं होगी		
'सनाद्यन्ता.....' से धातु संज्ञा, तिप्	–	भ्+इ+तिप्
'लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः' से अट् का आगम	–	अट्+भ्+इ+ति
अनुबन्ध लोप – च्लि प्रत्यय	–	अ+भ्+इ+ति
च्लि लुङि	–	अ+भ्+इ+च्लि+ति
च्लि के स्थान पर 'णिश्रिद्रुस्रुभ्य.' से चङ् प्रत्यय	–	अ+भ्+इ+चङ्+ति
अनुबन्ध लोप	–	अ+भ्+इ+अ+ति
इतश्च से ति का इ लोप	–	अ+भ्+इ+अ+त्
'चडि.' से धातु को द्वित्व	–	अ+भ्+भ्+इ+अ+त्
अभ्यास कार्य होने पर	–	अ बु भ् इ अ त्
ह्रस्वः से भ को ह्रस्व	–	अ भ भ् इ अ त्
अभ्यासे चर्चः से भ को ब्	–	अ बु भ इ अ त्
'अचोञ्णिति' से आदिवृद्धि	–	अ बु भो इ अ त्
'एचोऽयवायावः' से आवादेश	–	अ बु भाव् इ अ त्
'णौ चङ्युपधायाः' ह्रस्वः' से उपधा ह्रस्व	–	अ बु भ व् इ अ त्

'णेरनिटि' से इ ;णिच्द्ध का लोप	–	अ बु भ व् अ त्
'सन्वल्लघुनि चङ्परेऽनग्लोपे' से सन्वद्भाव	–	अ बु भ व् अ त्
सन्वद्भाव होकर	–	'ओःपुयण्ज्यपरे' से
अभ्यास के उ को इ आदेश	–	अ बि भ व् अ त्
'दीर्घो लघोः' से लघु को दीर्घ	–	अ बी भ व् अ त्
	=	अबीभवत्

इति सिद्धम

सूत्र की व्याख्या –

'अर्तिह्रीव्लीरीक्नूयीक्ष्माय्यातां पुङ्णौ'

अर्ति, ह्री, व्ली, री, क्नूयी, क्ष्मायी, आकारान्त धातु को 'णिच्' परे रहते 'पुक्' का आगम होता है। 'पुक्' में से 'प्' शेष रहता है।

शब्द सिद्धि –

स्थापयति –

'स्था' धातु से 'हेतुमतिच' से णिच्	–	स्था+णिच्
अनुबन्ध लोप	–	स्था+इ
'अर्तिह्रीव्ली..' से 'पुक्' का आगम	–	स्था+पुक्+इ
पुक् का अनुबन्ध लोप – प् शेष	–	स्था+प्+इ
	–	स्थापि
'सनाद्यन्ता..' से स्थापि की धातुसंज्ञा	–	स्थापि+लट्
'तिप्तस्झि ...' से तिप् प्रत्यय	–	स्थापि+तिप्
सार्वधातुकसंज्ञा, शप् प्रत्यय	–	स्थापि+शप्+तिप्
अनुबन्ध लोप	–	स्थापि+अ+ति
'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से गुण	–	स्थापे+अ+ति
'एचोऽयवायावः' से अयादेश	–	स्थापय्+अ+तित्रस्थापयति इति

इति सिद्धम्

अतिष्ठिपत् –

'स्था' धातु से 'हेतुमतिच' से णिच्	–	स्था+णिच्
अनुबन्ध लोप	–	स्था+इ
'अर्तिह्रीव्ली..' से 'पुक्' का आगम	–	स्था+पुक्+इ
पुक् का अनुबन्ध लोप – प् शेष	–	स्था+प्+इ
	–	स्थापि
'सनाद्यन्ता..' से स्थापि की धातुसंज्ञा	–	स्थापि+लट्
'तिप्तस्झि ...' से तिप् प्रत्यय	–	स्थापि+तिप्
णिच् के इ को अलग रखते हुए	–	स्थाप्+इ+तिप्
'लुङ्लङ्लृक्ष्वडुदात्तः' से अट् का आगम	–	अट्+स्थाप्+इ+तिप्
अनुबन्ध लोप	–	अ+स्थाप्+इ+ति
च्लि प्रत्यय– च्लि को चङ्	–	अ+स्थाप्+इ+चङ्+ति
'इतश्च से तिप् का इ' लोप	–	अ+स्थाप्+इ+चङ्+त्

अनुबन्ध लोप	–	अ+स्थाप्+इ+अ+त्
'चडि.' से द्वित्व	–	अ+स्थाप्+स्थाप्+इ+अ+त्
'पूर्वोऽभ्यासः' पूर्व स्थाप् को अभ्यास संज्ञा	–	
'हलादिशेषः' 'शर्पूवाखयः' से अभ्यास का 'था' शेष	–	अ+था+स्थाप्+इ+अ+त्
'ह्रस्वः' से था का थ –		
'अभ्यासे चर्च' से थ का 'त' आदेश	–	अ+त+स्थाप्+इ+अ+त्
'तिष्ठतेरित्' से अभ्यास को 'इ'	–	अ+ति+स्थाप्+इ+अ+त्
'णरनिटि' से णिच् के इ का लोप	–	अ+ति+स्थाप्+इ+अ+त्
तथा 'णौचडि. से स्थाप् की उपधाह्रस्व होकर	–	अ+ति+स्थप्+अ+त्
'सन्यतः' स स्थप् को इत्व		
तथा 'ष्टुनाष्टुः से ष्टुत्व होकर	–	अ+ति+ष्ठिप्+अ+त् अतिष्ठिपत्

इति सिद्धम्

सूत्र व्याख्या –

मितां ह्रस्वः

घट् तथा 'ज्ञप्' आदि धातुओं की उपधा को ह्रस्व होता है, णिच् परे रहते।

शब्द सिद्धि –

घटयति – घट् धातु से 'हेतुमति च' से णिच्	–	घट्+णिच्
अनुबन्ध लोप होकर	–	घट्+इ
'अत उपधायाः' से उपधा दीर्घ	–	घाट्+इ घाटि
'मितां ह्रस्वः' से पुनः उपधाह्रस्वः	–	घट्+इ घटि
'सनाद्यन्ताः धातवः' से धातु संज्ञा,		
तिप्, शप्, अनुबन्ध लोप आदि करके	–	घटि+शप्+तिप्
'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से गुण	–	घटे+अ+ति
'एचोऽयवायावः' से अय् आदेश	–	घटय्+अ+ति
	=	घटयति

इति सिद्धम्

ज्ञपयति	–	घटयति के समान
अजिज्ञपत्	–	अबीभवत् के समान
अजीघटत्	–	अबीभवत् के समान

केवल ज्ञान वृद्धि के लिए– णिजन्त भ् धातु के छः लकारों में रूप अंत में दिये जा रहे हैं। छात्र पूर्व ज्ञान के आधार सिद्धि करके अभ्यास कर सकते हैं।

बोध प्रश्न

1. ण्यन्त अथवा णिजन्त से क्या तात्पर्य है ?
2. स्वतन्त्रः कर्ता सूत्र का अर्थ लिखो।
3. हेतुमतिच' सूत्र की व्याख्या कीजिए।
4. ओःपुयण्ज्यपरे' सूत्र की सोदाहरण व्याख्या कीजिए।
5. 'अर्तिह्रीव्लीरीक्नूयीक्ष्माय्यां पुङ्णौ' सूत्र के आधार पर स्था धातु का णिजन्त रूप बनाओ।

6. 'मितांह्रस्व' सूत्र की सोदाहरण व्याख्या कीजिए।।

7. धातु रूप सिद्धि करें –

1) भावयति
2) अबीभवत्
3) स्थापयति
4) अतिष्ठिपत्
5) घटयति
6) ज्ञपयति
7) अजीघटत्

17.5 सनन्त प्रक्रिया

किसी कार्य को करने की इच्छा करने का अर्थ प्रकट करने के लिए धातु से 'सन्' प्रत्यय लगाया जाता है। अतः धातु का जो अर्थ है वह सनन्त होने पर उसी अर्थ की इच्छार्थक धातु बन जाती है। सन् प्रत्यय जुडी धातु तथा मूल धातु का कर्ता एक ही होना चाहिए। अर्थात् इच्छा करने वाला तथा जिसके लिए इच्छा की जावे, वह एक ही होना चाहिये।

जैसे – राम पढ़ना चाहता है – रामः पिपठिषति।

यहाँ राम स्वयं पढना चाहता है अतः उसके लिए सन् प्रत्यय का रूप पिपठिषति बनता है। यदि राम चाहता है कि सोहन पढ तो वहाँ सन् प्रत्यय का प्रयोग नहीं होगा।

17.5.1 सनन्त प्रक्रिया के प्रमुख सूत्र –

1. धातोः कमणः समानकतृकादिच्छायां वा –

जब इच्छा करने वाला तथा इच्छा का कम एक होता है अर्थात् जब इच्छा करने वाला स्वयं उस कार्य को करना चाहता है, तब धातु से सन् प्रत्यय किया जाता है। यथा– सः पिपठिषति वह पढना चाहता है।

2. सन्यङो –

सन् प्रत्ययान्त तथा यङ् प्रत्ययान्त धातु को द्वित्व किया जाता है।

यथा – पठ्+सन् – पठ् पठ् सन्

7.5.2 सनन्त धातु रूप सिद्धि :–

(1) पिपठिषति :–

पठ् धातु से 'धातोःकमणः..' सूत्र से सन् प्रत्यय	–	पठ्+सन्
'हलन्त्यम्' से सन् के न् का लोप	–	पठ्+स
'आर्धधातुकम् शेषः' से आर्धधातुक संज्ञा	–	
'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' से सन् को इट्	–	पठ्+इट्+स
अनुबन्ध लोप	–	पठ्+इ+स
'सन्यङो' से द्वित्व	–	पठ्+पठ्+इ+स
'सन्यन्तः' से अभ्यास को 'इ' हुआ	–	पि+पठ्+इ+स
धातु संज्ञा, तिप्, शप्, अनुबन्ध लोप	–	पिपठिस+अ+ति
'आदेश प्रत्यययोः' से षत्व		
तथा 'अतो गुणे' से पर रूप होकर	–	पिपठिषति

इति सिद्धम्

सूत्र की व्याख्या :–

1. **सः स्यार्धधातुके** – आर्धधातुक सकारादि प्रत्यय परे रहते पूर्व 'स्' को 'त्' आदेश हो जाता है। यथा जिघस्+स+ति जिघत्सति
2. **अज्झनगमां सनि** – अजन्त धातु, हन् धातु तथा अजादेश गम् धातु की उपधा को दीर्घ होता है, झलादि सन् प्रत्यय परे रहते।
3. **इको झल्** – इगन्त से परे झलादि सन् कित् होता है।
4. **सनिग्रह गुहोश्च** – ग्रह् धातु, गुह् धातु और उगन्त धातु से परे सन् को इट् नहीं होता।

सनन्त धातुरूप सिद्धि –

1. **जिघत्सति** – अत्तम् इच्छति – खाने की इच्छा करता है

'अद्' धातु से 'धाधोःकमण....' से सन् प्रत्यय	–	अद्+सन्
'लुङसनोर्घस्लृ' से सनन्त अद्		
धातु को घसलृ ;घस्द्ध आदेश	–	घस्+सन्
'सन्यङोः' से द्वित्व हुआ	–	घस्+घस्+सन्
'पूर्वोऽभ्यासः' से पूर्व की अभ्यास संज्ञा		
'हलादि शेषः' से 'घ' शेष	–	घ+घस्+सन्
'सन्यतः' से अभ्यास को इ आदेश	–	घि+घस्+स
'कुहोश्चुः से 'घ्' को झ् तथा		
'अभ्यासे चर्च' से झ् को ज्	–	जिघस्+स
'सःस्यार्धधातुके' से धस् के स् को त् आदेश	–	जिघत्स
'सनाद्यन्ताः धातवः' से धातु संज्ञा		
तिप्, शप्, अनुबन्धलोप	–	जिघत्स+शप्+तिप्
जिघत्स+अ+ति		
'अतो गुणे' से पररूप होकर	–	जिघत्सति

इति सिद्धम्

2. **चिकीर्षति** – कर्तुम् इच्छति

'कृ' धातु से 'धातोः कमण..' से सन्	–	कृ+सन्
'अज्झनगमां सनि' से ऋ को दीर्घ	–	कॄ+स
'ऋत् इद्धातोः' से ऋ को 'इर्'	–	किर्+स
'सन्यङोः' से द्वित्व	–	किर्+किर्+स
अभ्यास कार्य में 'हलादिशेषः'		
'कुहोश्चुः से	–	चि+किर्+स
'हलि च' से दीर्घ होकर	–	चिकीर्स
'आदेशः प्रत्यययोः' से षत्व	–	चिकीर्ष
धातु संज्ञा, तिप्, शप्, अनुबन्ध लोप होकर	–	चिकीर्ष+शप्+तिप्
		चिकीर्ष+अ+ति
अतो गुणे से पररूप होकर	–	चिकीर्षति

इति सिद्धम्

3. **बुभूषति** –

भ् धातु से 'धातोः ..' से सन्	–	भ्+सन्
सन्यङोः से द्वित्व	–	भ्+भ्+स
पूर्वोऽभ्यासः से पूर्व की अभ्यास संज्ञा		
ह्रस्वः से अभ्यास को ह्रस्व	–	भ+भ्+स
'अभ्यासे चर्च' से भ को ब्	–	बु+भ्+स
'आदेश प्रत्यययोः' से षत्व	–	बुभ्ष
'सनाद्यन्ताः धातवः' से धातुसंज्ञा		
'तिप्तस्...'तिप् प्रत्यय	–	बुभ्ष+तिप्
'तिङ्शित् सार्वधातुकम्' से सार्वधातुक संज्ञा		
'कतरिशप्' से शप्	–	बुभ्ष+शप्+तिप्
अनुबन्ध लोप होकर	–	बुभ्ष+अ+ति
अतो गुणे से पररूप	–	बुभ्षति

इति सिद्धम्

17.6 पारिभाषिक शब्दावली

व्याकरण – की परिभाषाएँ ''व्याक्रियन्ते शब्दा अनेनेति व्याकरणम्'' अर्थात् जिससे शब्दों का प्रकृति–प्रत्यय आदि रूप से विभाग किया जाता है, वह व्याकरण है।

धातु' – शब्द का अर्थ है– जिससे शब्दों की व्युत्पत्ति हो, वह मूल आधार।

स्वतन्त्रः कर्ता – क्रिया की उत्पत्ति में जो प्रधान रूप से विवक्षित हो, उसे कर्ता कहते हैं।

तत्प्रयोजको हेतुश्च – कर्ता के प्रयोजक को हेतु कहते हैं और उसकी हेतु तथा प्रेरक संज्ञा होती है।

17.7 अभ्यासार्थ प्रश्न

बोध प्रश्न

1. 'धातोः कमणः समानकर्तृकादिच्छायां वा' सूत्र की व्याख्या कीजिए
2. सन्यङोः को उदाहरण सहित समझाइये।
3. स': स्यार्धधातुके' का प्रयोजन सिद्ध करे।
4. 'अज्झनगमां सनि' सूत्र की सोदाहरण व्याख्या कीजिए।
5. 'इको झल्' सूत्र से क्या तात्पर्य है ?
6. 'पिपठिषति' धातु रूप की सूत्र निर्देश पूर्वक सिद्धि करो।
7. 'जिघत्सति' धातु रूप की सूत्र निर्देश पूर्वक सिद्धि करो
8. 'चिकीर्षति' धातुरूप की सूत्र निर्देश पूर्वक सिद्धि कीजिए।
9. बुभूषति – धातु रूप की सिद्धि कीजिए

17.8 सारांश

इस प्रकार इस इकाई में हमने तिङन्त बोध,परस्मैपदीप्रत्यय,आत्मनेपदीप्रत्यय,सामान्यधातुरूप, विचारविशेष धातुरूप विचार का ज्ञान प्राप्त किया । णिजन्त प्रक्रिया के अन्तर्गत णिजन्त प्रक्रिया के प्रमुख सूत्र एवं णिजन्त प्रक्रिया के उदाहरणों की रूपसिद्धि इत्यादि को जाना। इसी के साथ इस इकाई में हमने सनन्त प्रक्रिया,सनन्त, प्रक्रिया के प्रमुख सूत्र,सनन्त धातु रूप सिद्धि के विषय में विस्तृत जानकारी प्राप्त कर पायें हैं ।

17.9 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. लघुसिद्धांत कोमुदी,गोविन्द प्रसाद शर्मा, चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, 2014.
2. लघुसिद्धांत कौमुदी,श्री भीमसेन शास्त्री,चौखम्भा संस्कृत प्रतिष्ठान, नई दिल्ली, 2007.
3. लघुसिद्धांत कौमुदी,श्री महेष सिंह कुशवाहा, चौखम्भा संस्कृत प्रतिष्ठान, नई दिल्ली, 2012.
4. लघुसिद्धांत कौमुदी,श्री धरानंद शास्त्री,आयुर्वेद हिन्दी पुस्तक भण्डार, जयपुर, १९९९.
5. लघुसिद्धांत कौमुदी,डॉ0 अर्कनाथ चौधरी, जगदीश संस्कृत पुस्तकालय, जयपुर, 1997.

इकाई—18

संस्कृत व्याकरण— यङन्त, यङ्लुगन्त एवं नाम धातु प्रकरण

इकाई की रूपरेखा

18.0 उद्देश्य

18.1 प्रस्तावना

18.1.1 लघुसिद्धांत कौमुदी : एक परिचय

18.1.2 तिङन्त बोध

18.1.3 सामान्य धातु विचार

18.1.4 विशेष धातु विचार

18.2 यङन्त प्रकरण

18.2.1 यङन्त प्रकरण के प्रमुख सूत्र

18.2.2 यङन्त रूपसिद्धि

18.3 यङ्लुक् प्रकरण

18.3.1 यङ्लुक् प्रत्यय के प्रमुख सूत्र

18.3.2 शब्द रूप सिद्धि

18.4 नाम धातु प्रकरण

18.4.1 नाम धातु प्रयोग के प्रमुख सूत्र

18.4.2 क्वच् प्रत्ययान्त नाम धातु रूपों की सिद्धि

18.5 पारिभाषिक शब्दावली

18.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

18.7 सारांश

18.8 संदर्भ ग्रंथ सूची

18.0 उद्देश्य

संस्कृत एम.ए. पूर्वार्द्ध के चतुर्थ प्रश्न पत्र की इकाई 18 में लघुसिद्धान्त कौमुदी के अनुसार णिजन्त एवं सनन्त प्रक्रिया को निर्धारित किया गया है। इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप—

- यङन्त प्रकरण के प्रमुख सूत्रों की व्याख्या तथा यङन्त शब्दों की रूपसिद्धि कर पायेंगें ।
- यङ्लुक् प्रत्यय के प्रमुख सूत्रों की व्याख्या तथा यङ्लुक् शब्दों की रूपसिद्धि कर पायेंगें ।
- नाम धातु प्रकरण के प्रमुख सूत्रों की व्याख्या तथा क्वच् प्रत्ययान्त शब्दों की रूपसिद्धि कर पायेंगें ।

18.1 प्रस्तावना

"व्याक्रियन्ते विविच्यन्ते शब्दाः अनेनेति व्याकरणम्, जिसके द्वारा प्रकृति—प्रत्यय का विवेचन किया जाता है। यजुर्वेद में व्याकरण का अर्थ है कि प्रजापति ने शब्दरूपों में सत्य और अनृत का व्याकरण (विश्लेषण) किया। इस आधार पर सत्य में श्रद्धा और असत्य में अश्रद्धा की प्रतिष्ठा की। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने व्याकरण की अनेक परिभाषाएँ दी हैं।

व्याकरण की परिभाषाएँ – ''व्याक्रियन्ते शब्दा अनेनेति व्याकरणम्'' अर्थात् जिससे शब्दों का प्रकृति–प्रत्यय आदि रूप से विभाग किया जाता है, वह व्याकरण है।

इसी प्रकार ''लक्ष्यलक्षणे व्याकरणम्' अर्थात् लक्ष्य और लक्षण दोनों मिलकर व्याकरण होता है। शब्द लक्ष्य है और सूत्र लक्षण है। शब्द का प्रकृति–प्रत्यय विश्लेषण करने वाला शास्त्र व्याकरण शास्त्र है। अतः शब्द के निर्धारण में सूत्रों का निश्चित करना ही व्याकरण है।

18.1.1 लघुसिद्धांत कौमुदी : एक परिचय –

पाणिनि मुनि व्याकरण शास्त्र के प्रवर्तक आचार्य हुए, जिन्होंने अष्टाध्यायी में व्याकरणात्मक ज्ञान के लिए अपना एक क्रम रखा, जो विद्वानों के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं वैज्ञानिक क्रम था, परन्तु इस क्रम में सूत्रों का क्रम विषय–क्रम के अनुसार एक स्थान पर न होने के कारण व्याकरण ज्ञान के साधारण जिज्ञासु की कठिनाई को देखकर 'भट्टोजिदीक्षित' ने अष्टाध्यायी के सूत्रों को विषय क्रमानुसार व्यवस्थित करते हुए ''सिद्धांत कौमुदी'' की रचना की, जिसकी टीका (प्रौढ़मनोरमा) भो उन्होंने स्वयं लिखी।

'सिद्धांत कौमुदी' में अष्टाध्यायी के सभो सूत्रों का समावेश होने के कारण उसकी विशालता को देखते हुए भट्टोजिदीक्षित के शिष्य वरदराजाचार्य ने सरल रूप प्रस्तुत करने के लिए 'मध्यसिद्धान्तकौमुदी' रूप में संक्षेपण किया तथा बालकों को शीघ्र व्याकरण का बोध कराने के लिए बारह सौ अस्सी सूत्रों में ही सभो विषयों के मुख्य–मुख्य बिन्दु एकत्रित करके ''लघुसिद्धांत कौमुदी'' की रचना की। इस ग्रन्थ में विषय क्रम इस प्रकार है– संज्ञा प्रकरण– सन्धि प्रकरण' सुबन्त (अजन्त–हलन्त) प्रकरण– अव्यय प्रकरण– तिङन्त प्रकरण (दस लकारों में धातु रूप सिद्धि)– प्रक्रिया भाग– कृदन्त प्रकरण– कारक प्रकरण– समास प्रकरण– तद्धित प्रकरण– स्त्री प्रत्यय।

18.1.2 तिङन्त बोध

ये सभो लकार वर्तमान, भ्त, भविष्य आदि कालों के वाचक हैं अथवा विधेयादि के बोधक हैं।

प्रत्येक लकार में तीन पुरूष होते हैं, जिनके प्रत्येक के तीन–तीन वचन।

इस प्रकार प्रत्येक धातु के नौ रूप पाये जाते हैं। जिन धातुओं से ये विभक्तियाँ बनाई जाती हैं, वे भो दो प्रकार की होती हैं– परस्मैपद और आत्मनेपद।

सामान्यतः धातुओं से जिन प्रत्ययों को जोड़कर धातु रूप बनाये जाते हैं वे प्रत्यय 'तिङ्' प्रत्यय कहलाते हैं तथा उनसे युक्त धातु रूपों को 'तिड.न्त' कहा जाता है।

ये 'तिङ्' प्रत्यय परस्मैपद तथा आत्मेपद में मिलाकर 9+9 18 होते हैं, जिनका प्रारम्भ 'तिप्' के 'ति' से शुरू होकर समापन 'महिङ' के 'ङ्' पर होता है। इसीलिए इन्हें 'तिङ्' प्रत्यय (प्रत्याहार की परम्परा से) कहा जाता है

ये तिङ् प्रत्यय हैं –

परस्मैपदी प्रत्यय

	एकवचन	**द्विवचन**	**बहुवचन**
प्रथम पुरुष	तिप्	तस्	झि
मध्यम पुरुष	सिप्	थस्	थ
उत्तम पुरुष	मिप्	वस्	मस्

आत्मनेपदी प्रत्यय

	एकवचन	**द्विवचन**	**बहुवचन**
प्रथम पुरुष	त	आताम्	झ
मध्यम पुरुष	थास्	आथाम्	ध्वम्
उत्तम पुरुष	इड्	वहि	महिङ्

18.1.3 सामान्य धातु रूप विचार–

सामान्यतः धातु रूप बनाने मे धातु से तिप् आदि प्रत्यय लगाकर सामान्य क्रिया रूप बनाये जाते हैं। यथा–

भ्+तिप् भवति पठ्+तिप् पठति इत्यादि।

18.1.4 विशेष धातु रूप विचार –

प्रत्येक धातु का अपना एक निश्चित अर्थ होता है, जिसके साथ तिङ् प्रत्यय जोड़कर धातु रूप बनाया जाता है, परन्तु धातुरूप से जब कोई विशेष अभिप्राय लिया जाता है, तो उसके लिए
धातु के आगे विशेष प्रत्यय जोड़कर एक विशेष धातुरूप बनाया जाता है, तत्पश्चात् उससे 'तिङ्' प्रत्यय जोड़ते हुए धातुरूप बनाया जाता है और इस विधि को 'प्रक्रिया' के नाम से अभिहित किया जाता है। ये प्रक्रियाएँ अथवा प्रत्ययान्त धातुएँ चार प्रकार की होती हैं– णिजन्त/ण्यन्त,सनन्त, यङन्त और नामधातु।

18.2 यङन्त प्रकरण

किसी धातु से उसके पुनः पुनः होने अथवा अतिशय मात्रा में होना अर्थ अभोष्ट होता है तो उस धातु के आगे 'यङ्' प्रत्यय लगाया जाता है, तब वह धातु यङन्त धातु होकर उक्त अर्थ को प्रकट करती है। तदनन्तर उससे तिप्, शप् आदि लगाकर रूप सिद्ध किया जाता है।

18.2.1 यङन्त प्रकरण के प्रमुख सूत्र –

1. **धातोरेकाचो हलादेः क्रिया समभिहारे यङ् :–**

   धातु के पुनः–पुनः होने अथवा अतिशय रूप से होने के अर्थ में एक अच् (स्वर) वाली तथा हलादि (जिसके प्रारम्भ में व्यंजन हो) धातु से यङ् प्रत्यय किया जाता है। यथा बोभ्यते।

2. **गुणो यङ्लुको** :– यङ् प्रत्यय अथवा यङ्लुक् प्रत्यय परे रहते धातु के अभ्यास को गुण होता है। यथा– बोभ्यते – बोभ्याञ्चक्रे – अबोभ्यिष्ट

18.2.2 शब्दरूप सिद्धि –

1. **बोभूयते** :– पुनः पुनः भवति अतिशयेन भवति

भ् धातु से "धातोरेकाचो ...." से यङ् प्रत्यय	–	भ्+यङ्
हलन्त्यम् से ङ् लोप	–	भ्+य
सन्यङोः से द्वित्व	–	भ्+भ्+य
पूर्वोऽभ्यासः से पूर्व की अभ्यास संज्ञा, ह्रस्वः से		
भ् को भ	–	भ+भ्+य
अभ्यासे चर्च से भ को बु	–	बु+भ्+य
गुणो यङ्लुकोः से अभ्यास् को गुण	–	बोभ्य
सनाद्यन्ताः धातवः से बोभ्य की धातु संज्ञा		
"ङित् आत्मनेपदम्" से यङ् प्रत्यान्त		
बोभ्य धातु ङित् होने से आत्मनेपदी		
"त– आताम्– झ...." से त प्रत्यय	–	बोभ्य+त
"तिङ्शित् सार्वधातुकम्" से सार्वधातुक संज्ञा		
कतरि शप् से शप् प्रत्यय	–	बोभ्य+शप्+त
अनुबन्ध लोप से	–	बोभ्य+अ+त
अतो गुणे से पर रूप एकादेश से	–	बोभ्यत

''टित् आत्मनेपदानां टेरेः से त

प्रत्यय की टि को एत्व	–	बोभ्यते

इति सिद्धम्

बोभूयाञ्चक्रे – यङन्त भ् धातु, लिट्लकार, प्र.पु., एकवचन

भ् धातु से ''धातो..'' से यङ्	–	भ्+यङ्
अनुबन्ध लोप	–	भ्+य
''सन्यङोः'' से द्वित्व	–	भ्+भ्+य
अभ्यास कार्य –पूर्वोऽभ्यासः से		
पूर्व भ् की अभ्यास संज्ञा		
''अभ्यासे चर्च'' से भ् को बू	–	बू+भ्+य
'ह्रस्वः'' से भ् को बु	–	बु+भ्+य
''गुणो यङ्लुकोः'' से बु को गुण	–	बोभ्य
''सनाद्यन्ताः धातवः से धातु संज्ञा		
धातु संज्ञक बोभ्य से लिट् लकार	–	बोभ्य+लिट्
''कास्यनेकाच् आम् वक्तव्यः'' से आम्		
प्रत्यय का आगम	–	बोभ्य+आम्+लिट्
''आर्धधातुकं शेषः'' से अर्धधातुकसंज्ञा		
''अतो लोपः'' से बोभ्य में से य के अ का लोप	–	बोभ्य्+आम्+लिट्
''आमः'' से आम् के पश्चात् लिट् लोप	–	बोभ्याम्
''कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि'' से अनेकाच्		
बोभ्याम् धातु को कृ का अनुप्रयोग	–	बोभ्याम्+कृ
''त – आताम् झ..'' से त प्रत्यय	–	बोभ्याम्+कृ+त
''लिटस्तझयोरेशिरेच्'' से त को एश् आदेश	–	बोभ्याम्+कृ+एश्
''लिटिधातोरनभ्यासस्य'' से कृ को द्वित्व	–	बोभ्याम्+कृ+कृ+एश्
''पूर्वोऽभ्यासः'' से पूर्व कृ की अभ्यास संज्ञा		
''उरत् और उरणरपरः से ऋ को अर आदेश	–	बोभ्याम्+कर्+कृ+एश्
हलादि शेषः से कर् का क शेष	–	बोभ्याम+क+कृ+एश्
कुहोश्चुः से क को च	–	बोभ्याम्+च+कृ+एश्
अनुबन्ध लोप होकर श् लोप	–	बोभ्याम्+च+कृ+ए
''इकोयणचि'' से ऋ को र्	–	बोभ्याम्+च+क्र+ए
मोऽनुस्वारः से म् को अनुस्वार	–	बोभ्यां चक्रे
''अनुस्वारस्य ययि पर सवर्णः से		
अनुस्वार को परस्वर्ण ञ्	–	बोभ्याञ्चक्रे

इति सिद्धम्

अबोभूयिष्टः – लुङ्लकार में

भ् धातु से ''धातोरेकाचो ....'' से यङ् प्रतयय	–	भ्+यङ्
हलन्त्यम् से ङ् लोप	–	भ्+य
सन्यङोः से द्वित्त्व	–	भ्+भ+य

पूर्वोऽभ्यासः से पूर्व की अभ्यास संज्ञा, ह्रस्वः से		
भ् को भ	–	भ+भ्+य
अभ्यासे चर्च से भ को बु	–	बु+भ्+य
गुणो यङ्लुकोः से अभ्यास् को गुण	–	बोभ्य
सनाद्यन्ताः धातवः से बोभ्य की धातु संज्ञा		
''ङित् आत्मनेपदम्'' से यङ् प्रत्यान्त		
बोभ्य धातु ङित् होने से आत्मनेपदी		
''त– आताम्– झ....'' से त प्रत्यय	–	बोभ्य+त
''लुङ्लङ्लृक्ष्वडुदात्तः'' से लुङ्लकार		
च्लि लुङि से च्लि प्रत्यय.. में अट् का आगम	–	अट्+बोभ्य+त
च्लि को च्लेः सिच् से सिच् प्रत्यय	–	अट्+बोभ्य+सिच्+त
अनुबन्ध लोप करके		
आर्धधातुकं शेषः से आर्धधातुक संज्ञा		
आर्धधातुकस्येड् वलादेः से इट् का आगम	–	अ+बोभ्य+इट्+स्+त
हलन्त्यम् से इट् का ट् लोप	–	अ+बोभ्य+इ+स्+त
अतोलोपः से बोभ्य का अलोप	–	अ+बोभ्य्+इ+स्+त
आदेशः प्रत्यययो से मूर्धन्य	–	अबोभ्यिष्त
ष्टुना ष्टुः से त को ट	–	अबोभ्यिष्ट

इति सिद्धम्

सूत्र व्याख्या

1. **नित्यं कौटिल्ये गतौ** – गत्यर्थक धातु से कौटिल्य अर्थ में ही नित्य यङ् प्रत्यय होता है, क्रिया के पुनः पुनः होने अथवा अतिशयन प्रकट के लिए नहीं। यथा– वाव्रज्यते, वाव्रजाञ्चक्रे, वाव्रजिता
2. **दीर्घोऽकितः** – यङ् और यङ् लुक् प्रत्यय परे रहते कित् भिन्न अभ्यास को दीर्घ हो जाता है। यथा व व्रज्य का वाव्रज्य।
3. **यस्य हलः** – हल् तथा आर्धधातुक से परे यङ् के य का लोप हो जाता है।

शब्द सिद्धि –

1. **वाव्रज्यते** – व्रज्+लट्

व्रज् धातु से ''नित्यंकौटिल्य गतौ'' से यङ्	–	व्रज्+यङ्
हलन्त्यम् से ङ् लोप	–	व्रज्+य
सन्यङोः से द्वित्व	–	व्रज्+व्रज्+य
पूर्वोऽभ्यासः से पूर्व की अभ्यास संज्ञा	–	व्रज्+व्रज्+य
हलादिशेषः से व शेष	–	व+व्रज्+य
दीर्घोऽकितः से व को दीर्घ	–	वा+वज्+य वाव्रज्य
सनाद्यन्ताः धातवः से धातु संज्ञा	–	वाव्रज्य
ङित् आत्मनेपदम् से आत्मने पद प्रत्यय होंगे		
त–आताम्–झ..' से त प्रत्यय	–	वाव्रज्य+त
तिङ् शित् सार्वधातुकम् से सार्व.		

कतरि शप् से शप् आगम	–	वाव्रज्य+शप्+त
शप् का अनुबन्ध लोप	–	वाव्रज्य+अ+त
अतो गुणे से पररूप	–	वाव्रज्यत
टित् आत्मने पदानां टेरे से एत्व	–	वाव्रज्यते

इति सिद्धम्

2. वाव्रजाञ्चक्रे – व्रज्+यङ्+लिट्

नित्यं कौटिल्ये गतौ से व्रज् को यङ्प्रत्यय	–	व्रज्+यङ्
हलन्त्यम् से ङ् का लोप	–	व्रज्+य
सन्यङोः से द्वित्व	–	व्रज्+व्रज्+य
पूर्वोऽभ्यासः अभ्यास संज्ञा		
हलादि शेषः – व शेष	–	व+व्रज्+य
दीर्घोऽकितः से दीर्घ	–	वाव्रज्य
सनाद्यन्ताः धातवः से धातु संज्ञा		
लिट् लकार	–	वाव्रज्य+लिट्
आम् प्रत्यय (कास्यनेकाच् आम् वक्तव्यः से)	–	वाव्रज्य+आम्+लिट्
आर्ध धातुक संज्ञा	–	वाव्रज्य+आम्+लिट्
यस्य हलः से य का लोप	–	वाव्रज्+आम्+लिट्
		वाव्रजाम्+लिट्
आमः से लिट् का लोप	–	वाव्रजाम्
कृ का अनुप्रयोग	–	वाव्रजाम्+कृ
लिट् लकार में त प्रत्यय	–	वाव्रजाम्+कृ+त
त को एश् आदेश	–	वाव्रजाम्+कृ+एश्
एश् के श् का लोप	–	वाव्रजाम्+कृ+ए
लिटिधातोरनभ्यासस्य से द्वित्व	–	वाव्रजाम्+कृ+कृ+ए
पूर्व की अभ्यास संज्ञा	–	वाव्रजाम्+कृ+कृ+ए
उरत्, उरणरपरः से कृ को कर् आदेश	–	वाव्रजाम्+कर्+कृ+ए
हलादि शेषः से क शेष	–	वाव्रजाम्+क+कृ+ए
कुहोश्चुः से क को च	–	वाव्रजाम्+च+कृ+ए
इको यणचि से कृ को क्र	–	वाव्रजाम्+च+क्र्+ए
मोऽनुस्वारः से म को अनुस्वार	–	वाव्रजां+च+क्रे
अनुस्वारस्य ययि पर सवर्णः से		
अनुस्वार को ञ् आदेश	–	वाव्रजाञ्चक्रे

इति सिद्धम्

नोटः– विद्यार्थी सर्वत्र लिट् लकार में शब्द सिद्धि के लिए पूरे सूत्र बोभ्याञ्चक्रे की सिद्धि में से देख कर प्रयोग करें।

3. वाव्रजिता – व्रज्+लुट् लकार

व्रज् धातु से ''नित्यंकौटिल्ये गतौ'' से यङ्	–	व्रज्+यङ्
हलन्त्यम् से ङ् लोप	–	व्रज्+य

सन्यङोः से द्वित्व	–	व्रज्+व्रज्+य
पूर्वोऽभ्यासः से पूर्व की अभ्यास संज्ञा	–	व्रज्+व्रज्+य
हलादिशेषः से व शेष	–	व+व्रज्+य
दीर्घोऽकितः से व को दीर्घ	–	वा+वज्+य
		वाव्रज्य
सनाद्यन्ताः धातवः से धातु संज्ञा	–	वाव्रज्य
लुट्लकार में वाव्रज्य से त प्रत्यय	–	वाव्रज्य+त
स्य–तासी–लृलुटोः से लुट् के त को तास्	–	वाव्रज्य+तास्+त
आर्ध धातुकं शेषः से आर्ध धातुक संज्ञा		
आर्ध धातुकस्येड्वलादेः से इट् का आगम	–	वाव्रज्य+इट्+तास्+त
अट् के ट् का हलन्त्यम् से लोप	–	वाव्रज्य+इ+तास्+त
यस्य लोपः से यङ् का य लोप	–	वाव्रज्+इ+तास्+त
लुटः प्रथमस्य डारौरसः से त को डा आदेश	–	वाव्रजितास्+डा
''चुटू'' से डा के ड् का लोप	–	वाव्रजितास्+आ
डित् होने से तास् की भ संज्ञा	–	वाव्रजितास्++आ
टेः सूत्र से तास् के आस् का लोप	–	वाव्रजित्+आ
		वाव्रजिता

इति सिद्धम्

सूत्र की व्याख्या

रीगृदुपधस्यच :– जिस धातु की उपधा में ऋ है, उसमें यङ् और यङ्लुक् प्रत्यय परे रहते अभ्यास को रीक् का आगम होता है।

यथा – वरीवृत्यते, वरीवृताञ्चक्रे, वरीवर्तिता

शब्दसिद्धि –

वरीवृत्यते –

वृत् धातु से ''धातो....'' से यङ्	–	वृत्+यङ्
हलन्त्यम् से ङ लोप	–	वृत्+य
सन्यङोः से द्वित्व	–	वृत्+वृत्+य
पूर्वोऽभ्यासः से पूर्व की अभ्यास संज्ञा		
हलादि शेषः से अभ्यास के वृत् का व शेष	–	व+वृत्+य
''रीगृदुपधस्य च'' से रीक् का आगम	–	व+रीक्+वृत्+य
हलन्त्यम् से क् का लोप	–	व+री+वृत्+य
''सनाद्यन्ताः धातवः'' से धातु संज्ञा	–	वरीवत्य
ङित्–आत्मनेपदम् से यङ् प्रत्ययान्त आत्मनेपदी	–	वरीवृत्य
त–आताम्– झ.'' से त प्रत्यय	–	वरीवृत्य+त
तिङ्शित् सार्वधातुकम् से सार्व. संज्ञा	–	वरीवृत्य+त
कतरि शप् से शप् आगम	–	वरीवृत्य+शप्+त
अनुबन्ध लोप – शप् का अ शेष	–	वरीवृत्य+अ+त
अतो गुणे से पररूप	–	वरीवृत्य+त

टित् आत्मने पदानां टेरे से त को एत्व	–	वरीवृत्यते

इति सिद्धम्

वरीवृताञ्चक्रे – वृत् धातु लिट्लकार		
वृत् धातु से "धातो...." से यङ्	–	वृत्+यङ्
हलन्त्यम् से ङ् लोप	–	वृत्+य
सन्यङोः से द्वित्व	–	वृत्+वृत्+य
पूर्वोऽभ्यासः से पूर्व की अभ्यास संज्ञा		
हलादि शेषः से अभ्यास के वृत् का व शेष	–	व+वृत्+य
"रीगृदुपधस्य च" से रीक् का आगम	–	व+रीक्+वृत्+य
हलन्त्यम् से क् का लोप	–	व+री+वृत्+य
"सनाद्यन्ताः धातवः" से धातु संज्ञा	–	वरीवृत्य
वरीवृत्य से लिट् लकार	–	वरीवृत्य+लिट्
वरीवृत्य को आम् प्रत्यय	–	वरीवृत्य+आम्+लिट्
आमः से लिट् का लोप	–	वरीवृत्य+आम्
यस्यहलः से य का लोप	–	वरीवृत्+आम् वरीवृताम्
वरीवृताम् को लिट् में त प्रत्यय	–	वरीवृताम्+त
कृ का अनुप्रयोग	–	वरीवृताम्+कृ+त
त को एश् आदेश	–	वरीवृताम्+कृ+एश्
कृ को लिट् लकार में द्वित्व	–	वरीवृताम्+कृ+कृ+एश्
पूर्व की अभ्यास संज्ञा		
उरत्, उरणरपरः से कृ को कर्	–	वरीवृताम्+कर्+कृ+एश्
हलादि शेषः से कर् का क शेष	–	वरीवृताम्+क+कृ+एश्
कुहोश्चुः से क को च होने पर	–	वरीवृताम्+च+कृ+एश्
इको यणचि से कृ को क्र् होने पर	–	वरीवृताम्+च+क्र्+एश्
हलन्त्यम् से एश् का श् लोप	–	वरीवृताम्+च+क्र्+ए
मोऽनुस्वारः से म् को अनुस्वार	–	वरीवृतां+च+क्रे
अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः से		
अनुस्वार को ञ् आदेश	–	वरीवृताञ्चक्रे

इति सिद्धम्

वरीवर्तिता :– वृत्+लुट्लकार		
वृत् धातु से "धातो...." से यङ्	–	वृत्+यङ्
हलन्त्यम् से ङ् लोप	–	वृत्+य
सन्यङोः से द्वित्व	–	वृत्+वृत्+य
पूर्वोऽभ्यासः से पूर्व की अभ्यास संज्ञा		
हलादि शेषः से अभ्यास के वृत् का व शेष	–	व+वृत्+य
"रीगृदुपधस्य च" से रीक् का आगम	–	व+रीक्+वृत्+य
हलन्त्यम् से क् का लोप	–	व+री+वृत्+य
"सनाद्यन्ताः धातवः" से धातु संज्ञा	–	वरीवृत्य

वरीवृत्य से लुट् लकार में त प्रत्यय	–	वरीवृत्य+त
स्यतासी – लृलुटोः से तास् का आगम	–	वरीवृत्य+तास्+त
आर्धधातुकस्येड् वलादेः से इट् आगम	–	वरीवृत्य+इट्+तास्+त
इट् का ट् लोप	–	वरीवृत्य+इ+तास्+त
यस्य हलः से य लोप	–	वरीवृत्+इ+तास्+त
वृत् के ऋ को गुण	–	वरीवर्त्+इ+तास्+त
लुटः प्रथमस्य डा–रौ–रसः से त को डा	–	वरीवर्ति+तास्+डा
चुटू से डा के ड् लोप का लोप	–	वरीवर्ति+तास्+आ
डित् होने से तास् की टि ;आस्द्ध का लोप	–	वरीवर्ति+त्+आ
		वरीवर्तिता

इति सिद्धम्

सूत्र की व्याख्याः–

1. **क्षुभ्नादिशु च** :– क्षुभ्नादि गण में पठित धातु के न को रकार परक होने पर भो णत्व नहीं होता। यथा– नरीनृत्यते, जरीगृह्यते।

शब्द सिद्धि

1. **नरीनृत्यते** :–

नृत् धातु से ''धातोरेकाचो..'' से यङ्	–	नृत्+यङ्
हलन्त्यम् से ङ् लोप	–	नृत्+य
सन्यङोः से द्वित्व हुआ	–	नृत्+नृत्+य
पूर्वोऽभ्यासः से अभ्यास संज्ञा		
''उरत्, उरण् रपरः से नृत् के ऋ को अर्	–	नर्त्+नृत्+य
हलादि शेषः से न शेष रहा	–	न+नृत्+य
''रीगृदुपधस्य च से अभ्यास को रीक्	–	न+रीक्+नृत्+य
हलन्त्यम् से क् लोप	–	न+री+नृत्+य
		नरीनृत्य
सनाद्यताः धातवः से धातु संज्ञा		
आत्मनेपद में त प्रत्यय	–	नरीनृत्य+त
सार्वधातुक संज्ञा, शप् आगम	–	नरीनृत्य+शप्+त
हलन्त्यम् से प् लोप, लशक्वतद्धिते से श् का लोप	–	नरीनृत्य+अ+त
अतो गुणे से पररूप	–	नरीनृत्य+त
टित् आत्मनेपदानां टेरे से एत्व	–	नरीनृत्यते

इति सिद्धम्

2. जरीगृह्यते – ग्रह् धातु से यङ्

''धातोरेकाचो..'' से ग्रह् धातु को यङ्	–	ग्रह्+यङ्
हलन्त्यम् से ङ् का लोप	–	ग्रह्+य
ङित् होने के कारण ग्रह् को गृह् आदेश	–	गृह्+य
सन्यङोः से द्वित्व	–	गृह+गृह्+य
अभ्यास कार्य		

उरत्, उरण् रपरः से ऋ को अर्	–	गरह्+गृह्+य
हलादि शेषः से ग शेष	–	ग+गृह्+य
कुहोश्चुः से ग को ज आदेश	–	ज+गृह्+य
रीगृदुपधस्य च से अभ्यास को रीक् का आगम	–	ज+रीक्+गृह्+य
हलन्त्यम् से क् का लोप	–	जरी+गृह्+य
		जरीगृह्य
''सनाद्यन्ताः ....'' से धातु संज्ञा		
आत्मनेपद में त प्रत्यय	–	जरीगृह्य+त
सार्वधातुक संज्ञा, शप् का आगम	–	जरीगृह्य+शप्+त
अनुबन्ध लोप	–	जरीगृह्य+अ+त
अतो गुणे से पररूप	–	जरीगृह्य+त
टित् – आत्मनेपदानां टेरे से त को एत्व	–	जरीगृह्यते

इति सिद्धम्

18.3 यङ्लुक् प्रकरण

यङ्लुक् प्रकरण में आये यङ्लुक् प्रत्यय में दो शब्द हैं 'यङ्' और लुक्।

यहाँ यङ् प्रत्यय से तात्पर्य पूर्व में स्पष्ट किये जा चुके (पुनः पुनः अतिशयेन वा) पुनः पुनः अथवा

अत्यधिक मात्रा में होने के अर्थ में होता है। प्रत्यय का –अच्' प्रत्यय परे रहते अथवा कभो–कभो अच् प्रत्यय के अभाव में भो लोप हो जाता है। यङ्लुक् में यङ् प्रत्यय का लोप होने पर भो अर्थ वही यङ् प्रत्यय के समान रहता है यथा बोभाति।

18.3.1 यङ्लुक प्रत्यय के प्रमुख सूत्र

1. **यङोऽचि च** – कहीं अच् प्रत्यय परे रहते और कहीं अच् प्रत्यय के बिना भो यङ् प्रत्यय का लोप हो जाता है। लोप होने पर भो यङ्लुक् प्रत्ययान्त धातु का अर्थ ''पुनः पुनः होना तथा अत्यधिक मात्रा में होना'' होता है। यथा बोभाति।
2. **यङो वा** – यङलुगन्त धातु से परे इहादि पित् सार्वधातुक को ईट् का आगम होता है, विकल्प से। अर्थात् आगम होने पर बोभवीति रूप बनता है तथा आगम के अभाव में बोभाति रूप बनता है।

18.3.2 शब्दरूपसिद्धि

1. **बोभोति**– पुनः पुनः भवति

भ् धातु से ''धातोरेकाचो......''

सूत्र से यङ् प्रत्यय	–	भ्+यङ्
यङोऽचि च से यङ् का लोप	–	भ्
सन्यङो से द्वित्व हुआ	–	भ् भ्
गुणो यङ् लुकोः से अभ्यास को गुण	–	भो भ्
अभ्यासे चर्च सूत्र से भो को बो आदेश	–	बो भ्
सनाद्यन्ताः धातवः से धातु संज्ञा		
तिप्–तस्–झि..... से तिप्	–	बोभ्+तिप्
अनुबन्ध लोप	–	बोभ्+ति
तिङ शित् सार्वधातुकम् से सार्वधातुक संज्ञा		

कतरि शप् से शप्	–	बोभ्+शप्+ति
हलन्त्यम् से प् लोप तथा		
लशक्वतद्धिते से श् का लोप	–	बोभ्+अ+ति
आदिप्रभतिभ्यः शपः से शप् लोप	–	बोभो + ति
		बोभोति

इति सिद्धम्

विकल्प से ईट् होने पर बोभवीति –

2. **बोभवीति** – पुनः पुनः अतिशयेन वा भवति

भ् धातु से ''धातोरेकाचो......''		
सूत्र से यङ् प्रत्यय	–	भ्+यङ्
यङोऽचि च से यङ् का लोप	–	भ्
सन्यङो से द्वित्व हुआ	–	भ् भ्
गुणो यङ् लुकोः से अभ्यास को गुण	–	भो भ्
अभ्यासे चर्च सूत्र से भो को बो आदेश	–	बो भ्
सनाद्यन्ताः धातवः से धातु संज्ञा		
तिप्–तस्–झि..... से तिप्	–	बोभ्+तिप्
अनुबन्ध लोप	–	बोभ्+ति
तिङ शित् सार्वधातुकम् से सार्वधातुक संज्ञा		
कतरि शप् से शप्	–	बोभ्+शप्+ति
हलन्त्यम् से प् लोप तथा		
लशक्वतद्धिते से श् का लोप	–	बोभ्+अ+ति
आदिप्रभतिभ्यः शपः से शप् लोप	–	बोभो + ति
''यङो वा' से ईट् का आगम	–	बोभो+ईट्+ति
अनुबन्ध लोप	–	बोभो+ई+ति
एचोऽयवायावः से अव् आदेश	–	बोभव्+ई+ति
		बोभवीति

इति सिद्धम्

3. **बोभूतः** – यङ्लुगन्त भ् धातु प्र0 प0, द्वि0 व0

भ् धातु से ''धातोरेकाचो......''		
सूत्र से यङ् प्रत्यय	–	भ्+यङ्
यङोऽचि च से यङ् क लोप	–	भ्
सन्यङो से द्वित्व हुआ	–	भ् भ्
गुणो यङ् लुकोः से अभ्यास को गुण	–	भो भ्
अभ्यासे चर्च सूत्र से भो को बो आदेश	–	बो भ्
सनाद्यन्ताः धातवः से धातु संज्ञा		
तिप्–तस्–झि..... से तस्	–	बोभ्+तस्
हलन्त्यम् से स् का लोप प्राप्त		
परन्तु तस् के ङित्वत् होने से स् लोप निषेध	–	बोभ्+तस्

तिङ् शित् सार्वधातुकम् से सार्वधातुक संज्ञा		
कतरि शप् से शप्	–	बोभ्+शप्+तस्
अनुबन्ध लोप	–	बोभ्+अ+तस्
आदिप्रभतिभ्यः शपः से शप् लोप	–	बोभ्+तस
स् को रुत्व, रुत्व को विसर्ग	–	बोभ्तः

इति सिद्धम्

4. **बोभुवति**– यङन्त भ् धातु, प्र0 पु0 बहुवचन

भ् धातु से ''धातोरेकाचो......''		
सूत्र से यङ् प्रत्यय	–	भ्+यङ्
यङोऽचि च से यङ् क लोप	–	भ्
सन्यङो से द्वित्व हुआ	–	भ् भ्
गुणो यङ् लुकोः से अभ्यास को गुण	–	भो भ्
अभ्यासे चर्च सूत्र से भो को बो आदेश	–	बो भ्
सनाद्यन्ताः धातवः से धातु संज्ञा		
तिप्–तस्–झि..... से झि प्रत्यय	–	बोभ्+झि
सार्वधातुक संज्ञा, शप् प्रत्यय	–	बोभ्+शप्+झि
आदिप्रभतिभ्यः शपः से शप् लोप	–	बोभ्+झि
अदभ्यस्तात् से झ को अत् आदेश	–	बोभ्+अत्+इ
अचिश्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङो से ऊ को उवङ्	–	बोभ् ;उवङ्द्ध+अति
		बोभ+उवङ्+अति
		बोभ+उव्+अति
		बोभ्वति

इति सिद्धम्

शेष सिद्धियाँ विद्यार्थी अभ्यास के लिए अन्य प्रक्रियाओं के आधार पर करें।

18.4 नाम धातु प्रकरण

नाम धातु क्रिया– एक परिचय

जब किसी संज्ञा आदि के पश्चात् कोई प्रत्यय जोड़कर उसे धातु बना लिया जाता है, तब उसे नाम धातु कहा जाता है। संज्ञा अर्थात् नाम। नाम को धातु बनाना नाम धातु होता है।

नाम धातु का प्रयोग प्रायः लट् लकार में होता है। यद्यपि उसके रूप सभो लकारों में चल सकते हैं।

नाम धातु के भिन्न–भिन्न विशेष अर्थ होते हैं। नाम धातु बनाने के लिए क्यच्, काम्यच् तथा क्विप् आदि प्रत्यय जोड़े जाते हैं।

18.4.1 नाम धातु प्रयोग के प्रमुख सूत्र –

1. **सुप आत्मनः क्यच्**– जिस वस्तु की अपने लिए इच्छा की जावे, उस वस्तुवाची शब्द से क्यच् प्रत्यय जोड़ा जाता है।

यथा– आत्मनः पुत्रमिच्छति पुत्रीयति।

2. **सुपोधातुप्रातिपदिकयोः**– धातु एवं प्रातिपादिक से सुप् का लोप हो जाता है।

3. **क्यचि च**– क्यच् प्रत्यय परे रहते अ वर्ण को ईत् आदेश हो जाता है।

18.4.2 क्यच् प्रत्ययान्त नाम धातु रूपों की सिद्धि –

1. **पुत्रीयति** – आत्मनः पुत्रमिच्छति

पुत्रम् शब्द से सुप आत्मनः क्यच् सूत्र से क्यच् प्रत्यय	पुत्रम्+क्यच्
हलन्त्यम् से च् का, लशक्वतद्धिते से क् का लोप	पुत्रम्+य
सनाद्यन्ताः धातव से धातु संज्ञा	पुत्रम्+य
सुपोधातुप्रातिपदिकयोः से पुत्रम् से अम् (सुप् प्रत्यय) का लोप	पुत्र+य
'क्यचि च' से पुत्र के अ को ई	पुत्रीय
पुनः धातु संज्ञा, तिप् प्रत्यय करके	पुत्रीय+तिप्
हलन्त्यम् से प् लोप	पुत्रीय+ति
''सार्वधातुक संज्ञा, शप् प्रत्यय	पुत्रीय+शप्+ ति
हलन्त्यम् से प् लोप तथा लशक्वतद्धिते से श् लोप	पुत्रीय+अ+ति
अतो गुणे से पररूप	पुत्रीयति।

इति सिद्धम्

2. **राजीयति**– आत्मनः राजानमिच्छति

राजानम् से ''सुप आत्मनः क्यच्'' से क्यच्	राजानम्+क्यच्
	राजन्+अम्+क्यच्
अनुबन्ध लोप	राजन्+अम्+य
सनाद्यन्ताः थातव से धातु संज्ञा	
सुपोधातु प्रातिपादिकयोः से सुप् (अम्) लोप	राजन्+य
नलोपो प्रातिपदिकान्तस्य से राजन् का न् लोप	राज+य
क्यचि च से अ को ई	राजीय
धातु संज्ञा, तिप् प्रत्यय	राजीय+तिप्
सार्वधातुक संज्ञा– शप् प्रत्यय	राजीय+शप्+तिप्
शप्, तिप् का अनुबन्ध लोप	राजीय+अ+ति
अतोगुणे से पररूप आदेश	राजीयति

इतिसिद्धम्

3. **गीर्यति** – गिरम् आत्मनः इच्छति

गिरम् से सुप. ..... से क्यच् प्रत्यय	गिरम्+क्यच् अनुबन्ध लोप
	गिरम्+य
सनाद्यन्ताः...... से धातु संज्ञा	
सुपोधातु...... से सुप् (अम्) लोप	गिर्+य
हलि च से दीर्घ	गीर्+य
	= गीर्य
धातु संज्ञा, तिप् प्रत्यय	गीर्य+तिप्
सार्वधातुक संज्ञा, शप् प्रत्यय	गीर्य+शप्+तिप्
अनुबन्ध लोप	गीर्य+अ+ति
अतो गुणे से पर रूप	गीर्यति

इति सिद्धम्

4. **पूर्यति** – आत्मनः पुरम् इच्छति

पुरम् से सुप.... से क्यच्	पुर्+अम्+क्यच्
अनुबन्ध लोप	पुर्+अम्+य
सनाद्यन्ताः...... से धातु संज्ञा	
सुपोधातु...... से सुप् (अम्) लोप	पुर्+य
हलि च से दीर्घ	पूर्+य
	= पूर्य
धातु संज्ञा, तिप् प्रत्यय	पूर्य+तिप्
सार्वधातुक संज्ञा, शप् प्रत्यय	पूर्य+शप्+तिप्

अनुबन्ध लोप पूर्य+अ+ति
अतो गुणे से पर रूप पूर्यति

इति सिद्धम्

अन्य सूत्रों की व्याख्या –

1. **क्यस्य विभाषा** – हल् से परे क्यच् और क्यङ् प्रत्यय का लोप हो जाता है, यदि आर्ध धातुक प्रत्यय परे हो तो।
   यथा समिधिता तथा समिध्यिता
   रूपसिद्धि –
   समिध्यिता – समिधमिच्छति

समिधम् से सुप....... से क्यच् समिध्+अम्+क्यच्
अनुबंध लोप समिध्+अम्+य
सनाद्यन्ताः...... से धातु संज्ञा
सुपो..... से सुप् (अम्) लोप समिध्+य
= समिध्य

लुट् लकार में तिप् समिध्य+तिप्
स्यतासीलृलुटोः से तास् प्रत्यय समिध्य+तास्+तिप्
आर्धधातुकं शेषः से आर्धधातुक संज्ञा
आर्धधातुकस्येड् वलादेः से इट्– समिध्य+इट्+तास्+तिप्
अनुबन्ध लोप समिध्य+इ+तास्+तिप्
लुटः प्रथमस्य डा–रौ–रसः से तिप् को डा समिध्य+इ+तास्+डा
चुटू से ड् लोप समिध्य+इ+तास्+आ
डित् होने से तास् की टि (आस्) का लोप समिध्य+इ+त्+आ
अतो लोपः से समिध्य के अ का लोप समिध्यिता

इति सिद्धम्

विकल्प से समिधिता
क्यस्य विभाषा से समिध्य का यलोप होकर समिध्+इ+ता
= समिधिता रूप बनेगा।

अन्य सूत्र की व्याख्या –

काम्यच्च – क्यच् प्रत्यय की परिस्थिति में ही अर्थात् इच्छा का कम और इच्छा का कर्ता एक होने पर क्यच् के समान काम्यच् प्रत्यय भो होता है।
यथा पुत्रकाम्यति।

शब्द धातुरूप सिद्धि –

पुत्रकाम्यति – आत्मनः पुत्रम् इच्छति
पुत्रम् शब्द से काम्यच् च सूत्र से काम्यच् प्रत्यय पुत्रम्+काम्यच्
सनाद्य...... से धातु संज्ञा पुत्र+अम्+काम्यच्
सुपोधातुप्रातिपदिकयोः से सुप् ;अम्द्ध लोप पुत्र+काम्यच्
अनुबंध लोप पुत्र+काम्य
= पुत्रकाम्य

धातु संज्ञा, तिप् प्रत्यय पुत्रकाम्य+तिप्
सार्वधातुक संज्ञा, शप् प्रत्यय पुत्रकाम्य+शप्+तिप्
अनुबन्ध लोप पुत्रकाम्य+अ+ति
अतो गुणे से पररूप पुत्रकाम्यति

इति सिद्धम्

पुत्रकाम्यिता – आत्मनः पुत्रम् इच्छति
पुत्रम् शब्द से काम्यच् च सूत्र से काम्यच् प्रत्यय पुत्रम्+काम्यच्
सनाद्य...... से धातु संज्ञा पुत्र+अम्+काम्यच्
सुपोधातुप्रातिपदिकयोः से सुप् ;अम्द्ध लोप पुत्र+काम्यच्

अनुबंध लोप	पुत्र+काम्य = पुत्रकाम्य
धातु संज्ञा, तिप् प्रत्यय	पुत्रकाम्य+तिप्
स्यतासी लृलुटोः से लुट् लकार में तास् का आगम	पुत्रकाम्य+तास्+तिप्
आर्धधातकं शेषः से आर्धधातुकसंज्ञा	
आर्धधातुकस्येड् वलादेः से इट् का आगम	पुत्रकाम्य+इट्+तास्+ति
अनुबंध लोप	पुत्रकाम्य+इ+तास्+ति
लुटः प्रथमस्य डा–रौ–रसः से तिप् को डा आदेश	पुत्रकाम्य+इ+तास्+डा
चुटू से ड् का लोप	पुत्रकाम्य+इ+तास्+आ
टेः से तास् की टि लोप	पुत्रकाम्य+इ+त्+आ
अतोलोपः से काम्य के य के अ का लोप	पुत्रकाम्य् इ ता = पुत्रकाम्यिता

इति सिद्धम्

अन्य सूत्र की व्याख्या –

उपमानादाचारे – उपमान वाची कम के उपपद रहते व्यवहार–आचार अर्थ में क्यच् प्रत्यय होता है अर्थात् ''के समान आचरण करता है'' यह अर्थ निकलता हो तो भो काम्यच् प्रत्यय किया जाता है। यथा ''पुत्रीयति छात्रम्'' अर्थात् छात्र के प्रति पुत्र के समान आचरण करता है। छात्र को पुत्र के समान मानता है।

शब्दरूप सिद्धि

पुत्रीयति– पुत्रम् इव आचरति छात्रम्

पुत्रम् शब्द से सुप आत्मनः क्यच् सूत्र से क्यच् प्रत्यय	पुत्रम्+क्यच्
हलन्त्यम् से च् का, लशक्वतद्धिते से क् का लोप	पुत्रम्+य
सनाद्यन्ताः धातवः से धातु संज्ञा	पुत्रम्+य
सुपोधातु प्रातिपदिकयोः से पुत्रम् से अम् (सुप् प्रत्यय) का लोप	पुत्र+य
'क्यचि च' से पुत्र के अ को ई	पुत्रीय
तिप् प्रत्यय करके	पुत्रीय+तिप्
हलन्त्यम् से प् लोप	पुत्रीय+ति
''सार्वधातुक संज्ञा, शप् प्रत्यय	पुत्रीय+शप्+ ति
हलन्त्यम् से प् लोप तथा लशक्वतद्धिते से श् लोप	पुत्रीय+अ+ति
अतो गुणे से पररूप	पुत्रीयति।

इति सिद्धम्

विष्णूयति– विष्णुम् इव आचरति द्विजम्

उपमानादाचारे सूत्र से विष्णुम् से क्यच	विष्णुम्+क्यच्
अनुबन्ध लोप	विष्णु+अम्+य
सनाद्यन्ताः ...... से धातु संज्ञा	
सुपोधातु...... से सुप् (अम्) लोप	विष्णु+य
उ को दीर्घ (अकृत्..से)	विष्णूय
धातु संज्ञा, तिप् प्रत्यय	विष्णूय+तिप्
सार्वधातुक संज्ञा, शप् प्रत्यय	विष्णूय+शप्+तिप्
अनुबन्ध लोप	विष्णूयति

इति सिद्धम्

क्विप् प्रत्यय विधायक वार्तिक –

सर्वप्रातिपदिकेभ्यः क्विब्वा वक्तव्यः– आचार (व्यवहार अर्थ में सभो प्रातिपदिकों से क्विप् प्रत्यय होता है।) क्विप् का सर्वापहारी लोप होता है अर्थात् क्विप् प्रत्यय में– क्विप् के प् का हलन्त्यम से लोप, क् का लशक्वतद्धिते से लोप, व का वेरपृक्तस्य से तथा इ का उपदेशेऽजनुनासिकित् से लोप होता है। अतः एक बार क्विप् प्रत्यय लगाया जाता है और फिर उसका लोप कर दिया जाता है।

शब्दसिद्धि –

कृष्णति – कष्णः इव आचरित

कृष्णम् से ''सर्वप्राति0....'' वार्तिक से क्विप्–	कृष्ण+अम्+क्विप्
क्विप् का सर्वापहारी लोप करके	कृष्ण+अम्
सनाद्यन्ता..... से धातु संज्ञा, तिप् प्रत्यय–	कृष्ण+अम्+तिप्
सुपोधातु0 से सुप् (अम्) लोप	कृष्ण+ति
धातु संज्ञा, शप् प्रत्यय–	कृष्ण+शप्+ति
अनुबन्ध लोप	कृष्ण+अ+ति
अतो गुणे से पररूप	कृष्णति

इतिसिद्धम्

स्वति – स्व इव आचरति

सर्व प्राति0..... वार्तिक से क्विप् प्रत्यय–	स्व+क्विप्
क्विप् का सवापहारी लोप	स्व
धातु संज्ञा, तिप् प्रत्यय	स्व+तिप्
कतरि शप् से शप् प्रत्यय	स्व+शप्+ति
अतोगुणे से पररूप	स्वति

इति सिद्धम्

सस्वौ – स्व इव आचरति

सर्वप्राति0..... से क्विप्	स्व+क्विप्
सर्वापहारी लोप	स्व
सनाद्य0...... धातु संज्ञा	
लिट् लकार– तिप् प्रत्यय	स्व+तिप्
परस्मैपदानां णल्–अतुस्0.. से तिप् को णल् आदेश	स्व+णल्
ल् का हलन्त्यम् से, ण् का चुटू से लोप	स्व+अ
लिटिधातोरनभ्यासस्य से स्व को द्वित्व	स्व+स्व+अ
हलादि शेषः से स शेष	स+स्व+अ
आत औ णलः से णल् के अ को औ	स+स्व+औ
वृद्धिरेचि से वृद्धि एकादेश	सस्वौ

इति सिद्धम्

अन्य सूत्र की व्याख्या –

अनुनासिकस्य क्विझलोः क्ङिति– अनुनासिकान्त की उपधा को क्विप् या झलादि कित् प्रत्यय परे हो तो दीर्घ आदेश होता है।

शब्दरूप सिद्धि–

इदामति– इदम् इव आचरित	इदम्+क्विप्
सर्वापहारी लोप	इदम्
धातु संज्ञा, तिप्, शप्, उपधादीर्घ	इदाम्+शप्+तिप्
अनुबन्ध लोप	इदाम्+अ+ति
	इदामति

इति सिद्धम्

राजानति– राजा इव आचरित

राजन् + क्विप्–	राजन्+क्विप्
सर्वापहारी लोप–	राजन्
उपधादीर्घ	राजान्
धातुसंज्ञा, शप्, तिप्, अनुबन्ध लोप–	राजान्+अ+ति
	राजानति

इति सिद्धम्

पथीनति– पन्था इव आचरति–	पथिन्+क्विप्

सर्वापहारी लोप, धातु संज्ञा, तिप्, शप्, उपधादीर्घ करक पथीनति

इति सिद्धम्

अन्य सूत्रों की व्याख्या–

कष्टाय क्रमणे– चतुर्थ्यन्त पद से उत्साह अर्थ में क्यङ् प्रत्यय होता है। यथा–कष्टायते।

शब्द–वैरकलहाभ्रकण्वमेधेभ्यः करणेः– कमवाचक शब्द–वैर–कलह–अभ–कण्व–मेघ शब्द से करोति अर्थ में क्यङ् प्रत्यय होता है।

यथा – शब्दायते, वैरायते, कलहायते, अभायते, कण्वायते आदि।

कष्टायते– कष्टाय क्रमते

कष्टाय क्रमणे से कष्टाय (कष्ट ङे) से क्यङ् प्रत्यय	कष्ट+ङे+क्यङ्
अनुबन्ध लोप	कष्ट+ङे+य
धातु संज्ञा, सुप् ;ङेद्ध लोप	कष्ट+य
उपधा दीर्घ	कष्टाय
आत्मने पद में त प्रत्यय, शप् प्रत्यय	कष्टाय+शप्+त
अनुबन्ध लोप	कष्टाय+अ+ति
टित् आत्मनेपदानां टेरे से एत्व	कष्टाय+ अ+ते
अतो गुणे से पररूप	कष्टायते

इति सिद्धम्

शब्द रूपसिद्धि–

शब्दायते – शब्दं करोति

शब्दम् से शब्द0...... से क्यङ्	शब्द+अम्+क्यङ्
धातु संज्ञा, सुप् (अम्) लोप–	शब्द+क्यङ्
अनुबन्ध लोप	शब्द+य
अकृत्0....... से उपधा दीर्घ	शब्दाय
धातु संज्ञा, आत्मनेपद में त प्रत्यय, शप्	शब्दाय+शप्+त
अनुबन्ध लोप	शब्दाय+अ+त
टित् आत्मनेपदानां टेरेः से एत्व	शब्दाय+अ+ते
अतोलोपः से पररूप	शब्दायते

इति सिद्धम्

18.5 पारिभाषिक शब्दावली

व्याकरण – की परिभाषाएँ ''व्याक्रियन्ते शब्दा अनेनेति व्याकरणम्'' अर्थात् जिससे शब्दों का प्रकृति–प्रत्यय आदि रूप से विभाग किया जाता है, वह व्याकरण है।

लक्ष्य और लक्षण – इसी प्रकार ''लक्ष्यलक्षणे व्याकरणम्' अर्थात् लक्ष्य और लक्षण दोनों मिलकर व्याकरण होता है। शब्द लक्ष्य है और सूत्र लक्षण है। शब्द का प्रकृति–प्रत्यय विश्लेषण करने वाला शास्त्र व्याकरण शास्त्र है।

भट्टोजिदीक्षित के शिष्य वरदराजाचार्य ने सरल रूप प्रस्तुत करने के लिए **''लघुसिद्धांत कौमुदी''** – 'मध्यसिद्धान्तकौमुदी' रूप में संक्षेपण किया तथा बालकों को शीघ्र व्याकरण का बोध कराने के लिए बारह सौ अस्सी सूत्रों में ही सभी विषयों के मुख्य–मुख्य बिन्दु एकत्रित करके ''लघुसिद्धांत कौमुदी'' की रचना की।

तिङ.न्त' – सामान्यतः धातुओं से जिन प्रत्ययों को जोड़कर धातु रूप बनाये जाते हैं वे प्रत्यय 'तिङ्' प्रत्यय कहलाते हैं तथा उनसे युक्त धातु रूपों को 'तिङ.न्त' कहा जाता है।

ये 'तिङ्' प्रत्यय परस्मैपद तथा आत्मेपद में मिलाकर 9+9 18 होते हैं,

यङन्त – किसी धातु से उसके पुनः पुनः होने अथवा अतिशय मात्रा में होना अर्थ अभीष्ट होता है तो उस धातु के आगे 'यङ्' प्रत्यय लगाया जाता है, तब वह धातु यङन्त धातु होकर उक्त अर्थ को प्रकट करती है।

नाम धातु – जब किसी संज्ञा आदि के पश्चात् कोई प्रत्यय जोड़कर उसे धातु बना लिया जाता है, तब उसे नाम धातु कहा जाता है। संज्ञा अर्थात् नाम। नाम को धातु बनाना नाम धातु होता है।

18.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

बोध प्रश्न 1

1. नाम धातु से क्या तात्पर्य है?
2. क्यच् प्रत्यय किन–किन अर्थों में लगाया जाता है?
3. सुप् प्रत्ययों में कितने प्रत्यय बताये गये हैं?
4. नाम धातु रूपसिद्धि में सुप् का लोप कब किया जाता है और कौन से सूत्र से?
5. क्यच् और क्यङ् का लोप कब किया जाता है?
6. काम्यच् प्रत्यय किस अर्थ में लगाया जाता है?
7. उपमानादाचारे सूत्र से क्या तात्पर्य है?
8. कष्टाय क्रमणे सूत्र का अर्थ बताते हुए रूप सिद्ध कीजिए?
9. क्विप् प्रत्यय क्यों लगाया जाता है तथा उसके विधान का वार्तिक लिखकर समझाइये?
10. क्विप् प्रत्यय के लोप करने वाले रूपों को लिखकर समझाइये?
11. अधोलिखित शब्दरूपों की सूत्र निर्देशपूर्वक सिद्धि कीजिए–

1.	पुत्रीयति	2.	राजीयति
3.	पुत्रकाम्यति	4.	पुत्रकाम्यिता
5.	विष्णूयति	6.	स्वति
7.	सस्वौ	8.	कृष्णति
9.	इदामति	10.	राजानति
11.	पथीनति	12.	शब्दायते

13. कष्टायते

बोध प्रश्न 2

प्र0 1 यङन्त से क्या तात्पर्य है, स्पष्ट करो।

प्र0 2 ''धातोरेकाचो क्रिया समभिहारे यङ्'' सूत्र की सोदाहरण व्याख्या कीजिए।

प्र0 3 गुणो यङ्लुको सूत्र के प्रयोग का क्या प्रयोजन है ?

प्र0 4 दीर्घोऽकितः सूत्र से किसे दीर्घ किया जाता है ?

प्र0 5 यस्य हलः से किस का लोप होता है ?

प्र0 6 रीगृदुपधस्य च से रीक् का प्रयोग कब होता है?

प्र0 7 क्षुभ्नादिषु च सूत्र से किन–किन धातुओं की रूपसिद्धि की गई है?

प्र0 8 यङलुक् प्रत्यय कहाँ लगाया जाता है?

प्र0 9 यङो वा सूत्र से क्या तात्पर्य है? सोदाहरण बतावें।

प्र0 10 सूत्र निर्देशपूर्वक निम्न शब्द रूप सिद्ध कीजिए –

18.7 सारांश

इस प्रकार इस इकाई में हमने लघुसिद्धान्त कौमुदी के अनुसार णिजन्त एवं सनन्त प्रक्रिया का अध्ययन किया । इस इकाई में हमने यङन्त प्रकरण, यङ्लुक् प्रत्यय,नाम धातु प्रकरण के प्रमुख सूत्रों की व्याख्या की । यङ्लुक् तथा क्वच् प्रत्ययान्त शब्दों की रूपसिद्धि कर का ज्ञान प्राप्त किया ।

18.8 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. लघुसिद्धांत कौमुदी,गोविन्द प्रसाद शर्मा, चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, 2014.
2. लघुसिद्धांत कौमुदी,श्री भीमसेन शास्त्री,चौखम्भा संस्कृत प्रतिष्ठान, नई दिल्ली, 2007.
3. लघुसिद्धांत कौमुदी,श्री महेष सिंह कुशवाहा, चौखम्भा संस्कृत प्रतिष्ठान, नई दिल्ली, 2012.
4. लघुसिद्धांत कौमुदी,श्री धरानंद शास्त्री,आयुर्वेद हिन्दी पुस्तक भण्डार, जयपुर, १९९९.
5. लघुसिद्धांत कौमुदी,डॉ0 अर्कनाथ चौधरी, जगदीश संस्कृत पुस्तकालय, जयपुर, 1997.

इकाई -19

महाभाष्य- पस्पशान्हिक

इकाई की रुपरेखा

19.0 उद्देश्य
19.1 प्रस्तावना
19.2 शब्द की परिभाषा
19.3 वर्णोपदेश का प्रयोजन
19.4 शब्द एवं अर्थ का सम्बन्ध
19.5 व्याकरण के अध्ययन के उद्देश्य
19.6 व्याकरण की परिभाषा
19.7 साधु शब्द के प्रयोग का परिणाम
19.8 व्याकरण की पद्धति
19.9 पारिभाषिक शब्दावली
19.10 अभ्यासार्थ प्रश्न
19.11 सारांश
19.12 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

19.0 उद्देश्य

हम एम० ए० संस्कृत उत्तरार्द्ध के चतुर्थ पाठ्यक्रम भारतीय काव्यशास्त्र एवं व्याकरण (MASA-04) की इकाई संख्या 19 का अध्ययन करने जा रहें हैं। उक्त इकाई का अध्ययन करने के पश्चात हम निम्नलिखित तथ्यों का *ज्ञान कर पायेंगें* –

- व्याकरण शास्त्र की दीर्घ परम्परा का ज्ञान।
- शब्द किसे कहते है ? शब्द के सन्दर्भ में विविध मत क्या है ? इसका ज्ञान।
- शब्द तथा अर्थ दोनों के मध्य नित्य अनित्य अथवा संयोग किस तरह का सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध का ज्ञान।
- व्याकरण किसे कहते है तथा व्याकरण का अध्ययन क्यों किया जाए ? इस परिभाषा एवं उद्देश्य का ज्ञान।
- यदि हम विशुद्ध (साधु) शब्द का प्रयोग करेंगें तो इसका क्या परिणाम होगा ? इस तथ्य का ज्ञान।
- किस प्रकार सूत्र, वार्तिक, भाष्य, टीका, उपटीकाओं के रूप में व्याकरणशास्त्र अपनी परिपूर्णता को प्राप्त हुआ है ? इस पद्धति का ज्ञान।

19.1 प्रस्तावना

"मुखं व्याकरणं स्मृतम्" व्याकरण वेदपुरूष का मुख है। व्यक्रियन्ते-व्युत्पाद्यन्ते शब्दा अननेति शब्दज्ञानजनकं व्याकरणम्- जिससे साधु शब्दों का ज्ञान होता है, उसको 'व्याकरण' कहते है। इसी का दूसरा नाम ''शब्दानुशासनं भी है। व्याकरणशास्त्र के आदि प्रवक्ता ब्रह्मा ने बृहस्पति को तथा बृहस्पति ने इन्द्र को व्याकरण का उपदेश दिया। पाणिनि से पूर्व अपिशलि, कश्यप, गार्ग्य, गालव, चाक्रवर्मण, भारद्वाज, शकटायन, शाकल्य, सेनक और स्फोटायन- ये दस व्याकरणाचार्य है। पाणिनिकृत व्याकरण सुप्रसिद्ध है। पाणिनि-व्याकरण का स्वरूप पाणिनि, कात्यायन और पतंजलि-इन मुनित्रय द्वारा सुनिश्चित हुआ है। महाभाष्य महर्षि पतंजलि द्वारा रचित है। पतंजति ने पाणिनि के 'अष्टाध्यायी' के कुछ चुने हुए सूत्रों पर भाष्य लिखा था, जिसे 'व्याकरण महाभाष्य' का नाम दिया गया। 'महाभाष्य' वैसे तो व्याकरण का ग्रंथ माना जाता है, किन्तु इसमें कहीं-कहीं राजाओं-महाराजाओं एवं जनतंत्रों के घटनाचक्र का विवरण भी मिलता हैं। **महाभाष्य** के वर्णन से पता चलता है कि पुष्यमित्र ने किसी ऐसे विशाल यज्ञ का आयोजन किया था, जिसमें अनेक पुरोहित थे और जिनमें पतंजलि भी शामिल थे। वे स्वयं ब्राह्मण याजक थे और इसी कारण से उन्होंने क्षत्रिय याजक पर कटाक्ष किया है- यदि भवद्विध: क्षत्रियं याजयेत्।[2]पुष्यमित्रों यजते, याजका: याजयति। तत्र भवितव्यम् पुष्यमित्रो याजयते, याजका: याजयंतीति यज्वादिषु चाविपर्यासो वक्तव्य:। इससे पता चलता है कि पतंजलि का आभिर्भाव कालिदास के पूर्व व पुष्यमित्र के राज्य काल में हुआ था। 'मत्स्य पुराण' के अनुसार पुष्यमित्र ने 36 वर्षों तक राज्य किया था। पुष्यमित्र के सिंहासन पर बैठने का समय 185 ई. पू. है और 36 वर्ष कम कर देने पर उसके शासन की सीमा 149 ई. पू. निश्चित होती है। गोल्डस्टुकर ने महाभाष्य का काल 140 से 120 ई. पू. माना है। डॉक्टर भांडारकर के अनुसार पतंजलि का समय 158 ई. पू. के लगभग है, पर प्रोफ़ेसर वेबर के अनुसार इनका समय कनिष्क के बाद, अर्थात् ई. पू. 25 वर्ष होना चाहिए। डॉक्टर भांडारकर ने प्रोफ़ेसर वेबर के इस कथन का खंडन कर दिया है। बोथलिंक के मतानुसार पंतजलि का समय 2000 ई. पू. हैइस मत का समर्थन मेक्समूलर ने भी किया है। कीथ के अनुसार पतंजलि का समय 140-150 ई. पू. है। बहुसंख्य भारतीय व पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार पतंजलि का समय 150 ई. पू. है, पर युधिष्ठिर मीमांसकजी ने ज़ोर देकर बताया है कि पतंजलि विक्रम संवत से दो हज़ार वर्ष पूर्व हुए थे। इस सम्बन्ध में अभी तक कोई निश्चित प्रमाण प्राप्त नहीं हो सका है, पर अंत:साक्ष्य के आधार पर इनका समय निरूपण कोई कठिन कार्य नहीं है। यहाँ पतंजलिकृत 'महाभाष्य' के पस्पशान्हिक से शब्द की परिभाषा, शब्द और अर्थ का सम्बन्ध, व्याकरण के अध्ययन के उद्देश्य, व्याकरण की परिभाषा, साधु शब्द के प्रयोग का परिणाम और व्याकरण की पद्धति वर्णित है।

19.2 शब्द की परिभाषा

'शब्दयते इति शब्दः' - 'शब्द' धातु से घञ् प्रत्यय होकर 'शब्द' रूप निस्पन्न हुआ है। 'शब्द' का प्रयोग अनेक रूपों में हुआ है। 'शब्द' ही एक ऐसा तत्व है जो समस्त् जगत् को एकात्मकता के सूत्र में बांधे हुए है। महाभाष्यकार पतंजलि ने शब्दका अनुशासन ही व्याकरण का विषय कहा है। उनके अनुसार शब्द और अर्थ में अभेद रूप व्यवहृत होता है। जैसे-

'अथ गौरित्यत्र कः शब्दः'- यहाँ गौ के शब्द-निर्णय के प्रसंग में यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि 'गौः' इस ज्ञान में शब्द किसे कहा जाय? प्रश्नकर्ता का अभिप्राय यह है कि 'अयं गौः' =यह गौ है- इस प्रत्यक्ष ज्ञान के विषय-व्यक्ति, गुण, क्रिया और स्वयं गौ (जाति) ये चारों होते है। इन चारों में शब्द किसे कहा जाय?

प्रश्न का उपपादन करने वाला 'गौ' ज्ञान में विषय रूप से आने वाले व्यक्ति आदि का क्रमशः निर्देश करता हुआ पुनः प्रश्न करता है-किं यत्तत्सास्नालाङ्गूलककुदखुरविषाण्यर्थरूपं स शब्दः' अर्थात् जो गलकम्बल, पूँछ, ककुद (डील), खुर और सींग से युक्त जो पदार्थ अर्थात् पशु व्यक्ति है , क्या वहीं शब्द है? इस पर सिद्धान्ती कहता है-नेत्याह। द्रव्यं नाम तत्। शब्द नहीं, वह तो द्रव्य है।

इस पर प्रश्न करने वाला पुनः पूछता कि यदि गलकम्बलादिमान् पदार्थ शब्द न होकर द्रव्य है तो 'तदिडितं चेष्टितं निमिषितमिति स शब्दः' अर्थात् उस शक्ति का अपने शरीर-व्यापार द्वारा अभिप्रायों का संकेत करना, चलना-फिरना, आँखों का व्यापार आदि शब्द है? इस पर सिद्धान्ती कहता है- नेत्याह। क्रिया नाम-सा। नहीं, यह तो क्रिया-व्यापार है।

इस पर प्रश्नकर्ता पुनः करता है कि यदि उस गौ व्यक्ति के अभिप्राय-संकेतादि क्रिया व्यापार है तब उस गौ व्यक्ति का जो शुक्लत्व, नीलत्व, कृष्णत्व, कपिलत्व और कपोतत्व आदि वर्ण है, क्या वह शब्द है। ' यत्तर्हि तच्छुक्लो नीलः कपिलः कपोत इति स शब्दः? इस पर सिद्धान्ती कहता है कि 'नेत्याह। गुणों नाम सः।' गौ व्यक्ति के शुक्लत्व नीलत्व आदि शब्द नहीं है, क्योंकि वह श्रोत्र से इतर चक्षु इन्द्रिय से वैद्य हैं अतः वह शब्द न होकर गुण रूप ही है।

इस पर प्रश्नकर्ता पुनः पूछता है कि उस गौ व्यक्ति के नील शुक्ल आदि शब्द न होकर गुण है - यत्तर्हि तद्भिन्नेष्वभिन्नं छिन्नेष्वछिन्न् सामान्यभूतं, स शब्दः- अर्थात् उस गौ व्यक्ति का सभी गौवों में सदा रहने वाला एकमात्र गोत्व, जो कि अलग-अलग गौ व्यक्तियों में सामान्य रूप से देखा जाता है, तथा छिन्न-भिन्न होने पर भी जो स्वयं अच्छिन्न रहता है, वह सामान्य ही शब्द है? इस पर सिद्धान्ती कहता है नही, वह तो आकृति (जाति) है- 'नेत्याह। आकृतिर्नाम सा।

तो फिर शब्द किसको कहा जाय? 'येनोच्चारितेन सास्नालाङ्गूलककुदखुरविषाणिनां सम्प्रत्ययो भवति स शब्दः अर्थात् जिसके उच्चारित किये जाने पर गलकम्बल, पूँछ, ककुद, खुर और सींग वाले पशुव्यक्ति का ज्ञान होता है, वहीं 'शब्द'। सिद्धान्ती द्वितीय समाधान प्रस्तुत करते हुए कहता है कि 'अथवा प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनिः शब्द इच्युच्यते। तद्यथा शब्दं कुरू, मा शब्दं कार्षीः, शब्दकार्ययं माणवक इति ध्वनिं कुर्वन्वमुच्यते। तस्मात् ध्वनिः शब्दः'। अर्थात् लोक व्यवहार करने वालों में पदार्थ के बोधक रूप से प्रसिद्ध वर्णरूप जो ध्वनि समुदाय है, वहीं 'षब्द' है। जैसा कि ध्वनि करते हुए लड़के को उद्देश्य करके कहा जाता है-शब्द करो, शब्द मत करो, वह लड़का बारम्बार शब्द को करने वाला है। अतः वर्णोच्चारण रूप ध्वनि ही शब्द है।

19.3 वर्णोपदेश का प्रयोजन

अब यह विचार्य है कि वर्णो का उपदेश किस लिए किया गया है। 'किमर्था वर्णानामुपदेशः'। क्योंकि व्याकरण का उद्देश्य वर्णो के साधुत्व का प्रतिपादन करना है। परन्तु वर्णोपदेश से किसी भी शब्द का साधुत्व प्रतिपादित नहीं होता। अतएव अइउण् आदि चौदह माहेश्वर सूत्रों का उपदेश किस लिए

किया गया, यह प्रश्न उपस्थित किया गया है। भाष्यकार ने वर्णोपदेश के तीन प्रयोजन उपस्थापित किये है-

(1) वृत्तिसमवायार्थ उपदेशः (2) अनुबन्धकरणार्थः (3) इष्टबुद्ध्यर्थः।

(1) इसमें से प्रथम प्रयोजन 'वृत्तिसमवायार्थ उपदेशः' का अर्थ है- 'वृत्तये समवायो वृत्तिसमवायः'। वृत्त्यर्थो या समवायो वृत्तिसमवायः। वृत्तिप्रयोजनो वा समवायो वृत्तिसमवायः। अर्थात् वृत्ति समवाय के लिए वर्णो का उपदेश किया जाता है। 'वृत्तिसमवाय' का अर्थ है- वृत्ति के लिए समवाय, अथवा जिसका फल वृत्ति है वह समवाय अथवा जिसका प्रयोजन वृत्ति है वह समवाय।

'वृत्तये समवायः' से तात्पर्य है कि ' लाघवेन शास्त्रवृत्तये' अर्थात् लाघव से शास्त्र में रूचि-प्रवृत्ति हो सके, यहीं वर्ण समाम्नास का प्रयोजन है। वर्ण-समाम्नाय करने पर अच् आदि संज्ञाओं की प्राप्ति हो सकेगी- तत्श्च लाघवेन शब्दानुशासनम्।

द्वितीय विग्रह- 'वृत्त्यर्थो वा समवायः' का अभिप्राय है कि इ, उ, ऋ, ऌ के स्थान पर य्, व्, र्, ल् हों- ऐसा विस्तृत वर्णन के स्थान पर लघु रूप में ' इको यणचि ' कहने मात्र से शास्त्र-प्रवृत्ति हो सकती है। अतः यह द्वितीय विग्रह उपस्थित किया गया है।

तृतीय विग्रह- 'वृत्तिप्रयोजनो वा समवायः' का तात्पर्य है कि ' ण्' आदि की इत् संज्ञा करके प्रत्याहारों की सिद्धि की जाती है अतः यह भी लाघव से शास्त्रप्रवृत्ति के लिए उपयोगी है।

संक्षेप में प्रकृत वार्तिक 'वृत्तिसमवायार्थ उपदेशः' का तात्पर्य है कि शास्त्र की प्रवृत्ति के लिए वर्णो का एक क्रम से उच्चारण किया जाता है। यह वर्णापदेश का प्रथम प्रयोजन है।

(2) वर्णोपदेश का द्वितीय प्रयोजन है - 'अनुबन्धकरणार्थश्र' अर्थात् अनुबन्ध लगाने के लिए वर्णो का उपदेश करना चाहिए क्योंकि आचार्य का निश्चय है कि मैं अनुबन्ध लगाऊँगा। परन्तु बिना वर्णो का उपदेश किये अनुबन्धों का लगाना सम्भव नहीं, क्योंकि अनुबन्धों के लगाने में वणों का पहले उच्चारण किया जाना नितान्त आवश्यक है। अ, इ, उ, के उपदेश किये जाने पर ही उसके आगे 'ण्' रूप चिन्ह लगाना सम्भव रहता अन्यथा असम्भव ही था। अतः जो यह वर्णो का उपदेश है, सो एक तो शास्त्र की प्रवृत्ति के लिए किसी विशेष क्रम से वर्णो के ज्ञानार्थ है, द्वितीय अनुबन्धों के लगाने के लिए है। शास्त्र की प्रवृत्ति के लिए जो समवाय और अनुबंधों का लगाना है। सो दोनों बातें प्रत्याहार के लिए उपयोगी होती है। प्रत्याहारवृत्ति अर्थात् शास्त्रों की प्रवृत्ति के लिए है-

अनुबन्धकरणार्थश्र वणानामुपदेशः- अनुबन्धानासङ्क्ष्यामिति। नह्यनुपदिष्य वर्णाननुबन्धाः शक्या आसङ्क्तुम्। स एष वर्णानामुदेशो वृत्तिसमवायार्थश्रानुबन्धकरणार्थश्र। वृत्तिसमवायश्रानुबन्धकरणं च प्रत्याहारार्थम्। प्रत्याहारो वृत्यर्थः।

(3) इष्टबुद्ध्यर्थश्च वर्णानामुपदेशः - ' इष्टान् वर्णान् भोत्स्यामहे इति। नह्यनुपदिष्य वर्णानिष्टा वर्णाः शक्या विज्ञातुम्।

वैयाकरणों को जैसा वर्णोच्चारण अभिलषित है वैसे ही उच्चारण वाले वर्णो के बोधन के लिए भी वर्णो का उपदेश किया जाता है। आचार्य का निश्चय है कि हम इष्ट वर्णो का ज्ञान सभी जिज्ञासुओं को करा देगें। और बिना वर्णो के उपदेश के इष्ट वर्णो का ज्ञान संभव नहीं। अतः इष्ट-बोधन के लिए वर्णो का उपदेश किया गया है। इस पर आक्षेप करते हुए कहते है कि इष्टबुद्धयर्थश्चेति चेदुदात्तानुदात्तस्वरितानुनासिकदीर्घप्लुता नाप्युपदेशः । पूर्वपक्षी का कहना है कि वर्णोपदेश में केवल ह्रस्व अचों का ही उपदेश किया गया है। परन्तु इष्ट वर्णो के साथ उदात्त, अनुदात्त, स्वरित अनुनासिक, दीर्घ एवं प्लुत वर्णो का भी उपदेश करना चाहिए, क्योकि इन गुणों वाले वर्णो का भी संग्रह किया गया है।

महर्षि पतंजलि ने इसके समाधानार्थ वार्तिक को प्रस्तुत किया- 'आकृत्युपदेशात् सिद्धम्' अर्थात् अ वर्ण के द्वारा उपदेश के अवर्ण में रहने वाली जाति का उपदेश किया गया है। अतः अत्व जाति के उपदेश होने से अ वर्ण के सभी 18 प्रकार के 'अ' वर्णो का ग्रहण =उपदेश हो जाएगा। इसी प्रकार ई वर्ण की आकृति से सभी प्रकार के ई तथा उत्व जाति के उपदेश से सभी प्रकार के उ वर्णों का उपदेश हो जायेगा।

19.4 शब्द एवं अर्थ का सम्बन्ध

शब्द और अर्थ का सम्बन्ध यदि नित्य और लौक प्रसिद्ध है तो शास्त्र का आरम्भ व्यर्थ ही है, और यदि वह सम्बन्ध सिद्ध नहीं है तो शास्त्र का अनुशासन हो ही नही सकता है। अतएव यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि शब्दानुशासन किस अभिप्राय को लेकर प्रवृत्त हुआ है, अर्थात् शब्द को नित्य अथवा अनित्य मानकर लिखा गया है?

उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर देते हुए पतंजलि कहते है- 'सिद्धे शब्देऽर्थे सम्बन्धे चेति।' अर्थात् शब्द, अर्थ तथा उनके परस्पर सम्बन्ध को नित्य मानकर शब्दानुशासन प्रवृत्त हुआ है। उपर्युक्त वार्तिक में 'सिद्ध' शब्द का क्या अर्थ है- अथ सिद्धशब्दस्य कः पदार्थः'। इसके उत्तर में भाष्यकार कहते है कि - 'नित्यपर्यायवाची सिद्धशब्दः।। कथं ज्ञायते? यत्कूटस्थेष्वविचालिषु भावेषु वर्तते।'यहाँ सिद्ध शब्द नित्य शब्द का पर्यायवाची है, क्योकि यह प्रायः अविनाशी तथा नित्य अवस्थित भावों को अभिव्यक्त करने के लिए प्रयुक्त होता है। जाति-स्फोट अथवा व्यक्ति-स्फोट रूप शब्द नित्य है। यथा- सिद्धा द्यौः, सिद्धा पृथिवी, सिद्धमाकाशमिति =स्वर्ग सिद्ध है, पृथिवी सिद्ध (नित्य) है, आकाश सिद्ध है।

इस पर प्रतिपक्षी आक्षेप होता है कि 'ननु च भोः कार्येष्वपि वर्तते तद्यथा-सिद्ध ओदनः, सिद्ध सूपः, सिद्धा यवागूरिति।' अर्थात् सिद्ध शब्द का प्रयोग तो अनित्य वस्तुओं के साथ भी होता है। यथा- चावल सिद्ध शब्द का प्रयोग तो अनित्य वस्तुओं के साथ भी होता है। यथा- चावल सिद्ध है, दाल सिद्ध है, यवागु (खिचड़ी) सिद्ध है। अतः कार्य (पदार्थो) में यदि सिद्ध शब्द का व्यवहार पाया जाता है, तब नित्य शब्द के ही पर्याय रूप में सिद्ध शब्द का ग्रहण क्यों माना जाय? कार्य अर्थ में जो (यवागु आदि) सिद्ध शब्द है, उसी का ग्रहण क्यों न माना जाय? इसके लिए कुछ समाधान दिये गये है-

प्रथम हेतु - संग्रहे तावत्कार्यप्रतिद्वन्द्विभावान्मन्यामहे नित्यपर्यापवाचिनो ग्रहणमिति। क्योकि व्याडि कृत संग्रहग्रंथ में 'कार्य' अर्थ से विपरीत अर्थ के बोधन के लिए 'सिद्ध' शब्द के प्रयुक्त होने के कारण हम ऐसा मानते है कि वहाँ 'नित्य' के अर्थ में ही 'सिद्ध' शब्द का ग्रहण किया गया है।

द्वितीय हेतु-'अथवा सन्त्येकपदान्यत्यवधारणानि।' अथवा कहीं-कहीं केवल एक ही पद के रखने पर भी निश्चय अर्थ का ज्ञान हो जाता है। यथा- 'अब्भक्षो वायुभक्ष' अर्थात्- पानी ही पीता है, केवल वायु ही का भक्षण करता है। इसी प्रकार यहाँ भी सिद्ध शब्द से जो सिद्ध है, साध्य नही, उसी का ग्रहण होता है।

तृतीय हेतु -'अथवा पूर्वपदलोपोऽत्र द्रष्टव्यः'। 'सिद्धे' इस पद में पूर्वपद का लोप मानना चाहिए। यहाँ वस्तुतः अत्यन्त सिद्ध को 'सिद्ध' उसी प्रकार कहते है जिस प्रकार देवदत्त के स्थान पर 'दत्त' तथा सत्यभामा के स्थान पर 'भामा' का प्रयोग होता है।

चतुर्थ हेतु-'व्याख्यानतो विषेषप्रतिपत्तिर्न हि सन्देहादलक्षणम्'। अर्थात् अर्थ करते समय 'अमुक' अर्थ लिया जाय कि अमुक अर्थ' .... इस प्रकार के तात्पर्य- सन्देह उपस्थित होने पर आचार्या द्वारा किये गये विशेष अर्थ के बोधन कराने वाले विवरणों से अर्थ का निश्चय किया जाता है। इस प्रकार के शब्दों का व्याख्यान करके उनके विशिष्ट और प्रासंगिक अर्थ को ग्रहण करना चाहिए। सन्देह मात्र के ही उत्पन्न होने पर कोई लक्षण अलक्षण नहीं बन जाता । प्रमाणान्तर से उसके विशिष्ट अर्थ का विनिश्चय करना चाहिए।

शब्दार्थ सम्बन्ध की नित्यता बतलाने के उपरान्त भाष्यकार ने प्रश्नकर्ता की ओर से प्रश्न उपस्थित किया कि 'शब्द का सम्यग्ज्ञान अभ्युदयकारक है अथवा सम्यक् प्रयोग । इनमें से यदि ज्ञान पक्ष को स्वीकार कर लिया जाय तो साधु शब्द के ज्ञान से अधर्म की प्राप्ति होनी चाहिए और इससे बहुत अधिक अधर्म होने लगा । क्योंकि असाधु शब्द बहुत अधिक है और साधु शब्द थोड़े। एक-एक साधु शब्द के बहुत से असाधु शब्द संभव है। यथा- ' गौ' इस साधु शब्द के गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिका आदि अनेक अपभ्रंश हैऔर पुनः - ' तेऽसुरा हेलयो हेलय इति कुर्वन्तः पराबभुवुः ' - के रूप में श्रुति भी शब्द के प्रयोग में ही धर्म प्राप्ति की बात स्वीकार करती है। इस प्रकार ज्ञान मात्र से धर्म प्राप्ति की बात वेद विरूद्ध भी है। अतः शब्द के ज्ञान मात्र से अभ्युदय रूप धर्म की प्राप्ति सभ्भव नहीं हो सकती। तो फिर प्रयोग से अभ्युदय रूप धर्म की प्राप्ति हो सकती है। शब्द प्रयोग से धर्म प्राप्ति यदि सम्भव हो तो सभी प्रयोग मात्र से अभ्युदय से युक्त हो जावेंगे, भले ही उन्होंने व्याकरण-शास्त्र का अध्ययन किया हो या नही। ऐसी परिस्थिति में वैयाकरण और अवैयाकरण दोनों के द्वारा किये गये प्रयोग समान रूप से फलवान् होंगे। कुछ लोग व्यवहार में प्रत्युत्पन्नमतित्व के अभाव में प्रयोग में प्रौढ़ नहीं हो पाते, अन्य लोग व्याकरण का अध्ययन किये बिना ही व्यवहार से शब्द ज्ञान करके उनके प्रयोग में अधिक कुशल हो जाते है। प्रयोग पक्ष में भी धर्म प्राप्ति की बात को स्वीकार नहीं किया जा सकता।

इस प्रश्न के समाधानार्थ भाष्यकार कहते है-

'शास्त्रपूर्वके प्रयोगेऽभ्युदयस्तत्तुल्यं वेदशब्देन'- अर्थात् वेद के शब्द के समान शास्त्रपूर्वक प्रयोग में अभ्युदय है। शास्त्रज्ञानपूर्वक जो शब्दों का प्रयोग करता है, वह अभ्युदय से युक्त होता है। 'तत्तुल्यं वेदशब्देनेति' का अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार वेद शब्द नियमपूर्वक अध्ययन किये गये फलवान्

होते है, उसी प्रकार से जो शास्त्रपूर्वक शब्दों का प्रयोग करता है, वह अभ्युदय से युक्त होता है। वेद का अध्ययन भी ज्ञानपूर्वक ही करने का विधान है-

अविदित्वा ऋषिं छन्दो दैवतं योगमेव च।
योऽध्यापयेज्जपेद् वापि पापीयांजायते तु सः।।

अथवा फिर ऐसा हो कि 'शब्द के ज्ञान में ही धर्म है-'अथवा पुनरस्तु-ज्ञान एव धर्म इति। अभी जो कहा गया कि यदि ज्ञान में धर्म है तो अपशब्द के ज्ञान से अधर्म भी है। वस्तुतः यह दोष नहीं है, अपितु अपशब्द ज्ञान शब्द ज्ञान में उपाय ही है। क्योंकि जिसे अपशब्द विषयक ज्ञान है, उसे ही साधु विषयक ज्ञान भी है। तो इस प्रकार ' ज्ञान से धर्म होता है' ऐसा कहने वाले को अर्थतः यह प्राप्त हो जाता है कि अपशब्दज्ञानपूर्वक शब्द ज्ञान से धर्म होता है।

उपर्युक्त सिद्धान्त को महाभाष्यकार कूपखानक न्याय का उदाहरण देकर प्रतिपादित करते है कि जिस प्रकार कुआँ खोदने वाला कुआँ खोदता हुआ यद्यपि कीचड़ और धूल से ढक जाता है फिर भी वह कुएँ में, जल निकल आने पर उसी जल से स्नान करके पुनः निर्मल हो जाता है और उससे उसका वह मलिनता रूप दोष पूर्णतया दूर कर दिया जाता है। साथ ही उसे बहुत अधिक पुण्य भी प्राप्त होता है। इसी प्रकार से यहाँ भी यद्यपि अपशब्द के योग होता है। पुनः प्रश्न होता है कि यह कैसे ज्ञात हो कि शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य है? तो उत्तर है कि यह सम्बन्ध लोकव्यवहार से जाना जाता है।

लोकतोऽर्थप्रयुक्ते शब्दप्रयोगे शास्त्रेण धर्मनियमः।

'शास्त्र लोक से अनुप्राणित होता है अथवा लोक शास्त्र से अनुशिष्ट'- इसी प्रश्न को प्रकट करके महाभाष्यकार ने उत्तर दिया कि शब्द, अर्थ और उसके संबंध की नित्यता का प्रमाण लोक व्यवहार है। क्योकि लोक में अर्थ को बुद्धि का विषय बनाकर ही प्रयोग करने वाले शब्दों का प्रयोग करते है, वे इन शब्दों की निष्पत्ति के निमित्त से कोई यत्न नहीं करते। अतः लोक प्रधान है, शास्त्र गौण। इसकी सिद्धि के लिए महाभाष्यकार एक आख्यान प्रस्तुत करते है कि कुम्भ को चाहने वाला व्यक्ति जिस प्रकार कुम्भकार के पास जाकर कुम्भ = घट को ले आता है, उसी प्रकार शब्द को चाहने वाला वैयाकरणों के कुल में जाकर शब्दों के निर्माण की याचना नहीं करता अपितु वह अपनी इच्छा से लोक में प्रचलित शब्दों का ग्रहण करके प्रयोग करने लगता है। भाष्यकार पूर्वपक्षी के मत को प्रकट करते है कि-

'यदि तर्हि लोक एषु प्रमाणं, किं शास्त्रेण क्रियते?' अर्थात्- यदि शब्द की नित्यता मे लोक प्रमाण है तो शास्त्र की क्या उपयोगिता? क्योंकि लोक ही जब सर्वोपरि है, जो वह करेगा वहीं उचित एवं प्रामाणिक माना जायेगा, तो इतने बड़े व्याकरण-शास्त्र की क्या प्रासंगिकता है? पूर्वपक्षी की इस शंका के समाधानार्थ यह वार्तिक प्रस्तुत करते है-

धर्माय नियमो धर्मनियमः, धर्मार्थो वा नियमो धर्मनियमः, धर्मप्रयोजनो वा नियमो धर्मनियमः।

1. धर्माय नियमः- यद्यपि लोक से अर्थो एवं शब्दों का ज्ञान हो जाता है, तथापि लोक में साधु एवं असाधु दोनों प्रकार के शब्द का प्रयोग किया जाता है। अतः व्याकरण शास्त्र धर्म के लिए साधु शब्दों का नियमन करता है और अधर्म से रक्षा के लिए असाधु शब्दों का प्रतिषेध। इसलिए शास्त्र धर्म के लिए नियम करता है।

2. धर्मार्थो नियमः- अर्थात् यज्ञ में असाधु शब्दों का प्रयोग न हो क्योकि उस यज्ञ में 'नानृतं वदेत' इस वेदवाक्य के अनुसार वैगुण्य होना माना गया है अतः जो साधु निर्माण रूपी जो नियम है, वह धर्मः यज्ञादि के लिए है। अतः यह शास्त्र- नियम धर्मार्थ है।

3. धर्म प्रयोजनों नियमः- धर्म के प्रयोजन के लिए नियम। अर्थात् धर्म के प्रयोजन से कहा गया नियम, क्योकि साधु शब्द के प्रयोग से पुण्य होता है। 'एकः शब्द सम्यक् ज्ञातः........ के अनुसार तो व्याकरण के नियम से साधु शब्दों का ज्ञान होगा तथा उसका प्रयोग करने पर पुण्य भी मिलेगा। इसी प्रकार य़द्यपि शब्द एवं अपशब्द दोनों से ही अर्थ का अभिधान हो सकता है, तदापि व्याकरणशास्त्र इस प्रकार से धर्मनियम करता है कि साधु शब्दों से ही अर्थ का कथन हो, असाधु शब्दों से नही।

19.5 व्याकरण के अध्ययन के उद्देश्य

व्याकरण के अध्ययन के क्या प्रयोजन (हेतु अथवा लाभ) है? इस प्रश्न का उत्तर है कि 'रक्षोहागमलध्वसन्देहाः प्रयोजनम् अर्थात् वेदों की रक्षा, ऊह = विभक्तियों के परिवर्तनादि, आगम = विधायक शास्त्र, लाघव = सुगमता तथा संदेहनिवृत्ति- ये ही शब्दशास्त्र के अध्ययन के प्रयोजन है।

(1) रक्षा- रक्षार्थ वेदानामध्येयं व्याकरणम्। लोपागमवर्णविकारज्ञो हि सम्यग्वेदान् परिपालयिष्यतीति। अर्थात् वेदों की रक्षा के लिए व्याकरण का अध्ययन करना चाहिए । क्योंकि जिस व्यक्ति को लोप, आगम और वर्णो के विकारों का ज्ञान है, वह वेदों की रक्षा ठीक प्रकार से कर सकता है। भाव यह है कि लोक में लोप, आगम और आदेशों को न देखकर जब वह वेद में उन्हे देखेगा तो वह भ्रान्त हो जायेगा और लोक का अनुसरण करके वैदिक शब्दों को भी लोकवत् पढ़ने की चेष्टा करेगा। यथा-देवा अदुह्र- यहाँ 'र्' का आगम 'त' के स्थान पर हुआ है। लोक में 'अदुहत' ऐसा प्रयोग होता है तथा 'मध्या कर्तोर्विततं संजभार- यहाँ 'ह्' के स्थान पर 'भ्' आदेश हुआ है। लोक में 'संजहार' रूप प्रसिद्ध है। प्रदीप वृत्ति में कैयट लिखते है- ''लोके लोपाद्यदृष्टं वेदे दृष्टवा भ्राम्ये अवैयाकरणः। वैयाकरणस्तु न भ्राम्यति वेदार्थं चाध्यवस्यति।''

(2) ऊह- ऊहः खल्वपि । न सर्वैलिंडैर्नच सर्वाभिर्विभक्तिभिर्वेदे मंत्रा निगदिताः। ऊह अर्थात् विभक्तियों का विपरिणाम भी शब्दशास्त्र के अध्ययन का प्रयोजन है। क्योकि वैदिक मंत्रों में प्रयुक्त शब्द सभी लिंग एवं विभक्तियों में नहीं है। जबकि यज्ञ में प्रवृत्त हुए पुरूष को उन मंत्रों में यथोचित लिंगों तथा विभक्तियों में बदलना होता है। परन्तु व्याकरण न जानने वाला उन्हें उचित रीति से नहीं बदल सकता। एतदर्थं व्याकरण का अध्ययन आवश्यक है। यथा- देवीरापः शुद्धाः स्थ में स्त्रीलिंग- शुद्धाः के स्थान पर देवाऽऽज्य शुद्धमसि इस मंत्र में आज्य शब्द के साथ अन्वित होने के कारण 'शुद्धम्' इस प्रकार नपुंसक लिंग में विपरिणाम होगा।

(3) आगम-आगमः खल्वपि। ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षड्गों वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्चेति। अर्थात् निश्चय वेद भी व्याकरण के अध्ययन का कारण है। ' ब्राह्मण को बिना कारण (लाभ आदि प्रयोजन-रहित) की अपेक्षा किये छः अंगों (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरूक्त, छन्द और ज्योतिष) से युक्त वेद को पढ़ाना चाहिए और आत्मसात् करना चाहिए ।ऐसी श्रुति की आज्ञा

है। वेद के उन छः अंगों में व्याकरण-शास्त्र प्रधान अंग है। अतः प्रधान में किया गया प्रयत्न फलदायक होता है। अतः शब्दशास्त्र का अध्ययन करना चाहिए।

(4) लाघव-लघ्वर्थ चाध्येयं व्याकरणम्। ब्राह्मणेनावश्यं शब्दा ज्ञेया इति। न चान्तरेण व्याकरणं लघुनोपायेन शब्दाः शक्या ज्ञातुम्। अर्थात् शब्दों के ज्ञान में सुगमता के लिए व्याकरण का अध्ययन करना चाहिए तथा ब्राह्मण को शब्दों का ज्ञान अवश्य प्राप्त करना चाहिए। व्याकरण को छोड़ और किसी लघु उपाय से शब्द जाने नहीं जा सकते। यथा- राम के प्रकृति प्रत्ययादि का ज्ञान होने पर बालक आदि सभी तत्सदृश शब्दों का स्वतः ही ज्ञान हो जाता है। अतः लाघव के लिए शब्द-शास्त्र का अध्ययन आवश्यक है।

(5) असन्देह- असन्देहार्थं चाध्येयं व्याकरणम् अर्थात् संदेह की निवृत्ति के लिए व्याकरणाध्ययन आवश्यक है। क्योकि 'स्थूलपृषतीमाग्निवारूणीमनड्वाहीमालभेत इति'। इस श्रुति में 'स्थूलपृषती' के अर्थ में संदेह उत्पन्न होता है कि इस शब्द का अर्थ मोटी और बिन्दुओं वाली गौ,यह माना जाय अथवा जिस गौ के शरीर पर मोटे-बिन्दु अर्थात् छींटे हैं वह?

जो पुरूष व्याकरणच्युत होगा वह स्वर से 'स्थूलपृषती' शब्द के अर्थ का निर्णय नहीं कर सकता, जबकि वैयाकरण स्वर देखकर भी अर्थ का निर्णय करता है। यदि 'स्थूलपृषती' में पूर्वपद स्थूल का प्रकृति स्वर है, तब यहाँ बहुब्रीहि समास होगा, यदि समास का अन्त्य अच् उदात्त है तो यह तत्पुरूष है। इस प्रकार महर्षि पतंजलि ने व्याकरण-अध्ययन के पाँच प्रमुख प्रयोजन- बतलाये। तदुपरान्त महर्षि शब्दानुशासन के त्रयोदश अन्य गौण प्रयोजनों का उल्लेख महाभाष्य में करते है। उन्हीं गौण प्रयोजनों के प्रतीक इस प्रकार है-

(1) तेऽसुराः- ''तेऽसुरा हेलयो हेलय इति कुर्वन्तः पराबभूवुः। तस्मात् ब्राह्मणेन न म्लेच्छितवै नापभाषितवै, म्लैच्छो ह वा एष यदपषब्दः।'' म्लेच्छा मा भूमेत्यध्येयं व्याकरणम्।

अर्थात् 'वे प्रसिद्ध दैत्य थे' किन्तु 'हे अरयः हे अरयः' अर्थात् 'हे शत्रुओं हे शत्रुओं' के स्थान पर वह 'हेलयः हेलयः' इस प्रकार यज्ञस्थल में उच्चारण करते थे। अतः वे पराभव को प्राप्त हुये। अतः ब्राह्मण को म्लेच्छन अर्थात् अपशब्द भाषण नहीं करना चाहिए। क्योंकि यह अपशब्द है। जो म्लेच्छ रूप से प्रसिद्ध है।

व्याकरणिक प्रक्रिया से भ्रष्ट होना ही अपशब्दत्व है और यहीं अपशब्द का प्रयोग म्लेच्छन है। असुर ''हेलयो हेलयः' इस प्रकार अपशब्दों का प्रयोग करते हुये पराजित हो गये। क्योंकि 'हेलयः' प्रयोग में 'हैहेप्रयोगे हैहेयोः' इस सूत्र से प्लुत और 'प्लुत प्रगृह्या अचि नित्यम्' इस सूत्र से प्रकृतिभाव करना चाहिए था, सो नहीं करना म्लेच्छन हुआ।

द्वितीय म्लेच्छन 'सर्वस्य द्वे' इस सूत्र से जहाँ पद का द्वित्व किया जाना था, परन्तु असुरों के कथन में सम्पूर्ण वाक्य ही द्विरूक्त है। तथा तृतीय म्लेच्छन जिह्वा दोष के कारण 'र' के स्थान 'ल' का उच्चारण है। अतः उनका प्रयोग दुष्ट है इन दुष्ट प्रयोगों से बचने के लिये हमें व्याकरण-शास्त्र का अध्ययन करना चाहिए।

(2) दुष्टः शब्दः-

''दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।

स् वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोपराधात्।। इति।"
दुष्टाछब्दान् मा प्रयुक्ष्महीत्यध्येयं व्याकरणम्।।

अर्थात् स्वरदोष अथवा वर्णदोष से दोषयुक्त अर्थात् अशुद्ध शब्द जिस अर्थ को बताने के लिए प्रयुक्त हुआ है, उससे भिन्न अर्थ का प्रतिपादन करता हुआ, अभिमत अर्थ का कथन नहीं करता, और केवल इतना ही नहीं वरन् वह अशुद्ध शब्द वज्र बनकर उसी प्रकार यजमान को मार देता है जिस प्रकार इन्द्र शत्रु (वृत्र) स्वर के अपराध के कारण मारा गया था। दोषयुक्त शब्दों का प्रयोग हम न करें एतदर्थ हमें शब्द शास्त्र का अध्ययन करना चाहिए।

'दुष्टः शब्दः' इस प्रतीक से यहीं प्रयोजन है।

ऐसी कथा है कि त्वष्टा के पुत्र विश्वरूप् का वध इन्द्र के द्वारा हुआ। प्रतिशोध की भावना से त्वष्टा ने इन्द्र को मारने के लिए अभिचार याग किया। उसमें उसने 'स्वाहेन्द्रशत्रुर्वर्धस्व' अर्थात् 'हे अग्निदेव' तुम इस प्रकार वृद्धि को प्राप्त होओं कि तेरी ज्वालाओं से उत्पन्न हुआ असुर (वृत्र) इन्द्रशत्रु अर्थात् इन्द्र को मारने वाला है- इस मंत्र का पारायण किया। परन्तु विवक्षित अर्थ की प्राप्ति तब ही हो सकती थी जब 'इन्द्रशत्रु' शब्द को तत्पुरूष समास बनाकर अन्तोदात्त पढ़ा जाता। परन्तु त्वष्टा ने प्रमादपूर्वक पूर्वपद के प्रकृति स्वर से युक्त पढ़ दिया, जिससे यह बहुब्रीहि समास हो गया, जिसका अर्थ हुआ कि 'हे अग्नि तू इन्द्र है नाशक जिसका ऐसे रूप वाला होता हुआ बढ़' । फलतः वृत्र उत्पन्न होते ही, इन्द्र के द्वारा मार डाला गया। अतः हम दुष्ट शब्दों का प्रयोग न करें, इसलिए व्याकरण-शास्त्र का अध्ययन करना आवश्यक है।

(3) यदधीतम्

" यदधीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते।
अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित्।।"
तस्मादनर्थकं माधिगीष्महीत्यध्येयं व्याकरणम्।।

तृतीय 'यदधीतम्' से सूचित प्रयोजन को महर्षि पतंजलि बतलाते है कि जिसका अध्ययन तो किया गया, परन्तु उस पाठ के स्वरादि के संस्कारों का ज्ञान नहीं हुआ अर्थात् उसके अर्थो का परिज्ञान नहीं हो पाया। फलतः जो पाठमात्र से बार-बार उच्चारित होता रहा। उसके अध्ययन उसी प्रकार निष्फल हुआ जिस प्रकार सूखा काष्ठ अग्नि के अभाव के कारण प्रकाशमान नहीं होता।

अतः बिना अर्थ के जाने हम पाठ न करें, एतदर्थ व्याकरण शास्त्र का अध्ययन परमावश्यक है।

उपर्युक्त कारिका में ' अधीतं' पद का सम्बन्ध शब्दात्मक ज्ञान से है तथा 'अविज्ञातं' पर का संबंध अर्थात्मक ज्ञान की हीनता से है।शब्दात्मक ज्ञान प्राप्त करके यदि अर्थ- ज्ञान को नहीं जाना जाय तो वह शब्द - ज्ञान उसी प्रकार निष्फल होता है यथा अग्निहीन सूखा-काष्ठ। अतः शब्द-ज्ञान के साथ अर्थज्ञान परमावश्यक और प्राधान्य है।

"स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्।
योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधुतपाप्मा।।"

यह श्रुतिवाक्य भी अर्थज्ञानपूर्वक शब्दाध्ययन का आदेश देता है।

अतः हमकों व्याकरण- शास्त्र का अध्ययन करना चाहिए, जिससे हमारा अध्ययन भी अनर्थक न हो। क्योंकि व्याकरण के द्वारा ही हम शब्द के 'प्रकृति-प्रत्यय-विभाग को जानकर अर्थप्राप्ति कर सकते है।

(4) यस्तु प्रयङ्क्ते

" यस्तु प्रयङ्क्ते कुशलो विशेषे शब्दान् यथावद् व्यवहारकाले।
सोऽनन्तमाप्नोति जयं परत्र वाग्योगविद् दुष्यति चापशब्दैः।"

अर्थात् शब्दों का व्यवहार करते समय जो कुशल व्यक्ति अर्थविशेष में शब्दों का प्रयोग ठीक प्रकार से करता है क्योंकि एक शब्द जो कि व्यक्ति, स्थान अथवा अवसर आदि निमित्तों को लेकर किसी अर्थ में प्रयुक्त होता हुआ उचित होता है, तो वहीं शब्द किसी अन्य निमित्त को लेकर अनुचित भी होता है। अतः कुशल व्यक्ति शब्दों के प्रयोग विशेष में कुशल व्यवहार के समय उन्हें ठीक-ठीक प्रयोग करता है। वह शब्दार्थ सम्बन्ध जानने वाला परलोक में अनन्त उत्कर्ष को प्राप्त होता है और अपशब्दों से पाप का भागी होता है।

इस पर पूर्वपक्षी कहता है कि 'दोषी कौन होता है'। सिद्धान्ती उत्तर देता है कि 'वाग्योगविदेव' अर्थात् 'जो शब्दों के अर्थविशेष में योग का जानने वाला विद्वान है'। पुनः पूर्वपक्षी कहता है 'ऐसा कैसे जाना'? सिद्धान्ती उत्तर देता है कि 'यो हि शब्दाजानात्यपशब्दानप्यसौ जानाति। यथैव शब्दज्ञाने धर्मः, एवमशब्दज्ञानेऽप्यधर्मः।'' अर्थात्' जो साधु शब्दों को जानता है, वहीं अपशब्दों = असाधु शब्दों को भी जानता है। जिस प्रकार शब्द-ज्ञान में धर्म =पुण्य माना जाता है, वैसे ही अपशब्दों के ज्ञान में अधर्म = पाप होता है। वस्तुतः पाप की ही प्राप्ति अधिक होती है। क्योंकि संख्या में साधु शब्द कम और अपशब्द अधिक है। एक-एक साधु शब्द के अनेक असाधु शब्द होते है। यथा- 'गौ' (साधु) शब्द में - 'गावी', 'गोणी', 'गोता' तथा 'गोपोतलिकां' आदिक अनेक असाधु प्रयोग होते है।

इस पर पूर्वपक्षी कहता है कि 'अथ योऽवाग्योगविद्, अज्ञानं तस्य शरणम्' अर्थात् ' जो शब्द प्रयोगवत्ता नहीं है उसको तो उसका अज्ञान ही बचाता है।' सिद्धान्ती कहता है यह कथन ठीक नहीं। अज्ञान में भी ब्राह्मण की हत्या कर दे अथवा सुरा का पान कर ले, तो भी वह पतित होता ही है। तो ' सोऽनन्तमाप्नोति जयं परत्र वाग्योगविद् दुष्यति चापशब्दैः'- यहाँ 'दुष्यति' का कर्ता कौन है? निश्चित ही 'अवाग्योगविद्', क्योकि जो वाग्योविद् = शब्दार्थ का सम्बन्ध जानने वाला है उसका विशिष्ट ज्ञान ही रक्षक है।

प्रश्नकर्ता पूछता है कि यह श्लोक कहाँ पढ़ा? समाधाता कि 'भ्राज नामक श्लोक है जहाँ'। इस पर पूर्वपक्षी कहता है कि 'क्या श्लोक भी प्रमाण हो गये?' तो निम्न श्लोक भी प्रमाण होने योग्य है-

यदुदुम्बरवर्णानां घटीनां मण्डलं महत्।
पीतं न गमयेत् स्वर्गं कि तत् क्रतुगतं नयेत्।।

इस पर समाधानकर्ता कहता है कि यह वाक्य प्रमाण नहीं है। क्योकि यह प्रमत्त से उच्चरित हुआ है। जो वाक्य प्रमत्त द्वारा उच्चरित नहीं हो, वह प्रमाण होता है।

(5) अविद्वांसः

अविद्वांसः प्रत्यभिवादे नाम्नो ये न प्लुतिं विदु।
कामं तेषु तु विप्रोष्य स्त्रीष्विवायमहं वदेत्।।
अभिवादे स्त्रीवन्मा भूमेत्यध्येयं व्याकरणम्।।

'अविद्वांसः- इस प्रयोजन को महर्षि पतंजलि स्पष्ट करते है कि जो अवैयाकरण प्रत्यभिवादन में नामों मे प्लुत करके उच्चारण करना नहीं जानते है, उनके विषय में प्रवास से लौटने के बाद 'यह मैं आ गया' ऐसा उसी प्रकार कहे जैसे परदेश से लौटने पर स्त्रियों के विषय में कहा जाता है। अतः प्रणाम करते समय जैसा स्त्रियों के विषय में कहा जाता है, वैसा हमारे लिए प्रयुक्त न हो इसके लिए हमें व्याकरण- शास्त्र का अध्ययन करना चाहिए।

आचार्य पाणिनि ने उपर्युक्त ' प्रयोजन' को 'प्रत्यभिवादेऽशुद्रे' सूत्र से सिद्ध किया है। उनके अनुसार शुद्रविषयक प्रत्यभिवादन से अन्यत्र वाक्य की टि को प्लुत होता है। पाणिनिकाल में नमस्कार करने वाले को गुरूजन नाम का उच्चारण कर और उस नाम के अन्तिम स्वर को प्लुत कर आशीर्वाद दिया करते थे, यथा- आयुष्मानेधि देवदत्त३। अवैयाकरण नाम के अन्त मे प्लुत करने मे समर्थ नहीं हो सकता था। अतः सभ्य समाज में उसको सम्मान की प्राप्ति नहीं होती थी।

(6) विभक्तिं कुर्वन्ति

'याज्ञिकाः पठन्ति-प्रयाजाः सविभक्तिकाः कार्या इति। न चान्तरेण व्याकरणं प्रयाजाः सविभक्तिकाः शक्याः कर्तुम्'

अर्थात्-'विभक्ति का प्रयोग करके उच्चारण किया जाय। क्योकि याज्ञिक कहते है कि प्रयाज मंत्रों का उच्चारण समुचित विभक्त्यन्त करके करना चाहिए। परन्तु व्याकरण के ज्ञान के बिना प्रयाजों को विभक्तियुक्त नहीं किया जा सकता। अतः व्याकरण का अध्ययन करना परमावश्यक है।

जब किसी कारण कर्मच्छेद हो जाय तो पुनराधेय इष्टि की आवश्यकता होती है। अतः भाष्यकार ने पुनराधेयेष्टि की इतिकर्तव्यता के विषय मे यह प्रयोजन कहा है।

(7) यो वा इमाम्

'यो वा इमाम् पदषः स्वरशोऽक्षरशश्च वाचं विदधाति स आर्तित्वजीनों भवति। आर्तित्वजीनाः स्यामेत्यध्येयं व्याकरणम्।'

अर्थात् जो इस वेदरूप वाणी के प्रत्येक पद, स्वर तथा अक्षर के विषय में ठीक-ठीक उच्चारण करता है वह आर्तित्वजीन अर्थात् यजमान तथा याजक बनता है। हम भी ऋत्विक्-प्राप्ति का अधिकारी यजमान अथवा ऋत्विक् कर्म कराने का अधिकारी याजक बनें, एतदर्थ व्याकरण-शास्त्र का अध्ययन आवश्यक है।

(8) चत्वारि

'चत्वारि श्रृंङ्ग त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभे रोरवीति महो देवो मर्त्यां आविवेश।।'

अर्थात् इसके चार सींग है, तीन चरण है, दो सिर है, और सात हाथ है। तीन स्थानों में बँधा हुआ वृषभ बड़ा शब्द करता है कि- यह महान् (शब्द रूपी) देवता मृत्यलोक के प्राणियों में प्रविष्ट हुआ। इसके चार सींग चार प्रकार के पद समूह- नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात है। इसके तीन पाद ही तीन काल- भूत, भविष्य, वर्तमान है। इसके दो सिर ही शब्द के दो स्वरूप-नित्य तथा कार्य है। तथा इसके सात हाथ ही प्रथमा,द्वितीया आदि सप्त विभक्तियाँ है। यह छाती, कण्ठ और सिर तीन स्थानों से बँधा हुआ है। कामनाओं की पूर्ति करने के कारण यह वृषभ है। 'रोरवीति का अर्थ है-'शब्द करता है। यह कैसे? क्योकि 'रू' धातु का अर्थ है 'शब्द करना'। 'महा देवः' इत्यादि का अर्थ है- (वह) महान् देवरूप शब्द मरण स्वभाव वाले मनुष्यों के भीतर प्रवेश किए हुए है। महान् देव अर्थात् शब्द से अपना तादात्मय हो, एतदर्थ व्याकरण शास्त्र का अध्ययन करना चाहिए। अन्य व्याख्यानकर्ता के मत को स्पष्ट करते हुये महाभाष्यकार ने अन्य ऋचा का उल्लेख किया है-

'चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदु र्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेंङ्यन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति।।'

अर्थात् 'शब्द के निश्चित चार पद (स्थान) है, इन चारों पदों को संयमित चित्त वाले विप्र ही जान पाते है। अज्ञान रूपी गुहा में इसके तीन भाग कोई चेष्टा नहीं करते है। मनुष्यों में जो चतुर्थ स्थान है वह वाणी (शब्द) का चतुर्थ भाग है।

(9) उत त्वः

'उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः श्रृण्वन्न श्रृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्व विसस्त्रे जायवे पत्य उषती सुवासाः।।'

अर्थात् अवैयाकरण वाणी को देखा हुआ भी नहीं देख पाता, उसी प्रकार वह वाणी को सुनता हुआ भी नहीं सुन पाता। किन्तु जिस प्रकार (ऋतु स्नाता) भार्या सुन्दर वस्त्रों से सजी होने पर भी अपने पति को अपना शरीर प्रकट कर देती है, इसी प्रकार वाणी वैयाकरण के सन्मुख अपने स्वरूप को प्रकट कर देती है। वाणी अपने स्वरूप को हमारे प्रति प्रकट करें, इसलिये व्याकरण का अध्ययन करना चाहिए।

उपर्युक्त ऋचा की व्याख्या करते हुये भाष्यकार कहते है कि- 'उत त्वः अपि खल्वेकः पश्यन्नपि न पश्यति वाचम्। अपि खल्वेकः श्रृण्वुन्नपि न श्रृणोत्येनामिति'। अर्थात् अवैयाकरण वाणी को देखता हुआ भी देख नहीं पाता अर्थात् उसके यर्थाथ स्वरूप को जान नहीं पाता तथा सुनकर भी वाणी को सुन नहीं पाता जैसे पशु-पक्षियों का सुनना निरर्थक ही होता है। जबकि वाणी को समझने वाले वैयाकरण के समक्ष स्वयं वाणी अपने आपको उसी प्रकार प्रकट कर देती जिस प्रकार कोई कामिनी स्त्री पति के प्रसन्नार्थ सुन्दर वस्त्रों से सुसज्जित शरीर को प्रस्तुत कर देती है।

(10) सक्तुमिव

'सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।
अत्रा सखाय सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधिवाचि।।'

जिस प्रकार सत्तुओं को छलनी के द्वारा छानकर परिष्कृत किया जाता है वैसे ही भद्र पुरूष अपनी बुद्धि के बल से वाणी का व्याकरण =विश्लेषणदि करते है वहाँ समान ख्याति वाले मनुष्य आपस में सायुज्य का अनुभव करते है। क्योकि इनकी वाणी में कल्याणयुक्त लक्ष्मी (स्वप्रकाश ब्रह्म स्वरूप) बहुत अधिक निवास करती है।

प्रस्तुत मंत्र व्याकरण के मोक्षजनकत्व का ज्ञापक है। इसकी व्याख्या करते हुये महर्षि पतंजलि कहते है- 'सक्तु:-सचतेर्दुर्धावो भवति, कसतेर्वा विपरीताद्विकसितो भवति'। सक्तु शब्द 'सच्' धातु से निष्पन्न हुआ है। 'सच् = चिपकना'। अतः सत्तु का छानना=शोधन करना कठिन कार्य है। अथवा 'कस' धातु में वर्ण विपर्यय करके 'सक्तु' शब्द निष्पन्न होता है। इसका अर्थ हुआ 'विकसित होने वाला'।

'तितऊ-परिवपनं भवति -ततवद्वा तुन्नवद्वा' अर्थात् 'विस्तार युक्त' वा 'बहुत छिद्रों से युक्त' होने से उसको तितउ कहा जाता है। यह वह वस्तु है जिससे किसी का शोधन किया जाय। 'धीर' = जो व्याकरण विषयक ध्यान में निमग्न रहता है। जो मानस ज्ञान के द्वारा केवल साधु शब्दों का प्रयोग करते है तथा अपशब्दों का परिहार करते है। अतः उनकी शब्द एवं अर्थ के मध्य एकत्व भावना रहती है अर्थात् उन्हें ब्रह्म ज्ञान हो चुका है।

जिज्ञासु प्रश्न करता है-वहाँ शब्द -अर्थ के मध्य जो सायुज्य की भावना होती है वह कहाँ होती है? इसका समाधान करते है-जो दुर्गम (मोक्ष) क मार्ग है, जिसको ज्ञान से प्राप्त किया जा सकता है तथा वह वेद रूपी वाणी का विषय है। वहाँ, पुनः प्रश्न करता है-'वे कौन है? उत्तर=वैयाकरण। वे समान ज्ञान किस प्रकार प्राप्त करते है? 'भद्रैषां लक्ष्मीर्निहितिावाचि' क्योकि इनकी वाणी मे कल्याणमयी लक्ष्मी निहित होती है। लक्ष्मी को लक्ष्मी इसलिए कहते है क्योकि वह लक्षण करती है, चमकती है अथवा अधिकार वाली होती है। हमारी वाणी में भी लक्षण करने वाली, चमकती हुयी तथा चमकती हुयी तथा अधिकार वाली लक्ष्मी निहित हो, एतदर्थ व्याकरण-शास्त्र का अध्ययन करना चाहिए।

(11) सारस्वतीम्

" आहिताग्निरपशब्दं प्रयुज्य प्रायश्चित्तीयां
सारस्वतीमिष्टिं निर्वपेद्"। प्रायश्चित्तीया मा भूमेत्यध्येयं व्याकरणम्।।"

''सारस्वतीम्' - इस प्रतीक द्वारा सूचित प्रयोजन पर विचार करते हुए महाभाष्यकार कहते है कि 'यजुर्वेदी लोग कहते है- जो अग्नि की स्थापना कर उसका पालन करते है, वे यदि असाधु शब्दों का प्रयोग करें तो प्रायश्चित के निमित्त सरस्वती देवता के लिए इष्टि-याग करें। हम प्रायश्चित के योग्य न हों इसलिए हमें व्याकरण पढ़ना चाहिए।

(12) दशम्यां पुत्रस्य

'दशम्युत्तरकालं पुत्रस्य जातस्य विदध्याद्

घोषवदाद्यन्तरन्तः स्थमवृद्धं त्रिपुरूषानूकमनरिप्रतिष्ठितम्।'

याज्ञिक लोग पढ़ते है-''पुत्र के जन्म के दसवें दिन के बाद ग्यारवें दिन नामकरण करना चाहिए। नाम का प्रथम अक्षर घोष वर्ण वाला हो, मध्य में अन्तःस्थ वर्ण वाला हो और वृद्धि स्वर (आ, ऐ, औ) से युक्त न हो तथा जो पिता के तीन पूर्व पुरूषों के नाम का स्मरण कराता हो और जो शत्रु के नाम के रूप में प्रसिद्ध न हो। नाम दो अथवा चार अक्षर वाला हो तथा वह कृदन्त हो, तद्धितान्त न हो । व्याकरण के अध्ययन के बिना कृत् तथा तद्धित प्रत्ययों का ज्ञान नहीं हो सकता। अतः व्याकरण-शास्त्र का अध्ययन करना चाहिए।

(13) सुदेवो असि

'सुदेवो असि वरूण यस्य ते सप्त सिन्धवः।
अनु क्षरन्ति काकुदं सूर्म्यं सुषिरामिव।।'

तेरहवें प्रतीक 'सुदेवो असि' से स्पष्ट प्रयोजन को महाभाष्यकार बताते है कि तू शोभन देव है। जिस प्रकार भीतर से खोखली सुन्दर लौह प्रतिमा में प्रवेश कर, उसके मल को जलाकर आग उसे शुद्ध कर डालती है, उसी प्रकार तुझ से सात नदियों की भांति सात विभक्तियाँ तालु देश में पहुँचकी उसे प्रकाशित करती है।

इसकी व्याख्या करते हुए महर्षि पतंजलि कहते है-

'सुदेवो असि वरूण सत्यदेवाऽसि। यस्य ते सप्त सिन्धवः सप्त विभक्तयः'। अनुक्षरन्ति काकुदम् तालु। काकुजिह्वा, सास्मिन्नुद्यत इति काकुदम्। सूर्म्यं सुषिरामिव। तद्यवा शोभनामूर्ति सुषिरामग्निरन्तः प्रविष्य दहति, एवं ते सप्त सिन्धवः सप्त विभक्तयस्ताल्वनुक्षरन्ति। तेनासि सत्यदेवः। सत्यदेवाः स्यामेत्यध्येयं व्याकरणम्।

19.6 व्याकरण की परिभाषा

प्रश्न होता है कि 'व्याकरण इस शब्द का क्या अर्थ है। इसके समाधानार्थ भाष्यकार उत्तर देते है- 'सूत्रम्'। परन्तु 'सूत्र' में व्याकरणत्व स्वीकार करने पर दो आपत्तियाँ उपस्थित होती है-

1. **सूत्रे व्याकरणे षष्ठ्यर्थोऽनुपपन्नः-** षष्ठी विभक्ति का प्रयोग वहीं उपपन्न हो सकता है, जहाँ दो पृथक् वस्तुओं का निर्देश करना हो, क्योंकि विभक्ति दो पदार्थो का सम्बन्ध बताने में ही प्रयुक्त होती है। परन्तु व्यवहार में सूत्र और व्याकरण इन दोनों ही पदो के द्वारा शास्त्र का प्रतिपादन किया जाता है। उपर्युक्त वार्तिक में यदि व्याकरण का अर्थ सूत्र मानते तो 'व्याकरण का सूत्र' इस वाक्य में षष्ठी का अर्थ नहीं बनेगा। क्योकि व्याकरण और सूत्र में अभेद होने से सूत्र से पृथक् व्याकरण क्या होगा जिस व्याकरण का वह सूत्र माना जाय?

2. **शब्दाप्रतिपत्तिः-** यदि व्याकरण शब्द का अर्थ सूत्र मान लें तो सूत्र से हम शब्द का ज्ञान करते है-ऐसा नहीं कहा जा सकता है, क्योकि हम व्याकरण से शब्दो का ज्ञान करते है। केवल मात्र सूत्र को ही व्याकरण मानने पर शब्दों का सम्यक् प्रतिपादन नहीं हो सकता, प्रत्युत उदाहरण, प्रत्युदाहरण तथा सूत्रान्तरों में श्रूयमाण पदों का अध्याहार कर सूत्र के सम्पूर्ण अर्थ को स्पष्ट करके ही शब्द प्रतिपत्ति सम्भव हो सकती है।

पक्षान्तर उपस्थित करने वाला कहता है कि यदि व्याकरण पद का अर्थ सूत्र मानने में दोष है तो शब्द में व्याकरणत्व स्वीकार हो-एवं तर्हि शब्दः। परन्तु व्याकरणत्व को शब्द में स्वीकार करने में दो समस्यायें है-

(1) यदि शब्दो व्याकरणं ल्युडर्थो नोपपद्यते-व्याक्रियन्ते शब्दा अनेनेति व्याकरणं। नहि शब्देन किंचित् व्याक्रियते।-यदि व्याकरण शब्द का अर्थ 'शब्द' माना जाय तो ल्युट् प्रत्यय का अर्थ नहीं बनता है। 'व्याकरण' शब्द 'वि' और र्'आ' उपसर्ग 'कृ' से ल्युट प्रत्यय करके निष्पन्न होता है। व्याकरण से शब्दों का प्रकृति विभागादि किया जाता है, परन्तु यह विभाग शब्दों से नहीं, सूत्रों की सहायता से ही निष्पन्न होता है।

(2) भवे च तद्धितः-'तत्र भवः' और 'तेन प्रोक्तम्' से होने वाले तद्धित प्रत्ययों का अर्थ भी इससे उपपन्न नहीं हो पाता। व्याकरण में होने वाला योग वैयाकरण कहा जाता हैं, परन्तु यह योग शब्द से नही, सूत्र से होता है। इसी प्रकार 'तेन प्रोक्तम्' से 'पाणिनि' शब्द से तद्धित अण् प्रत्यय करने पर पाणिनीय शब्द सिद्ध होता है। परन्तु पाणिनि ने शब्दों का आख्यान् नहीं किया प्रत्युत उत्सर्ग और अपवाद रीति से सूत्रों का अन्वाख्यान किया है। अतः शब्द को व्याकरण का वाचक नहीं कहा जा सकता।

अब पुनः प्रश्न उपस्थित होता है कि 'भवे' और प्रोक्तादयश्च तद्धिताः' ये दो पृथक् वार्तिक आचार्य ने क्यों कहे है? क्या 'प्रोक्तादयश्च तद्धिताः' इस एक ही वार्तिक के उच्चारण से 'भव' अर्थ में जो तद्धित प्रत्यय होता है, उसकी भी अनुपत्ति नहीं हो जायेगी?

उक्त प्रश्न का परिहार करते है कि आचार्य लोग एक सूत्र का निर्माण कर पुनः उसका प्रत्यावर्तन नहीं करते।

प्रथम आचार्य (पाणिनि) ने 'भवे च तद्धितः' इस सूत्र का पाठ किया। तदनन्तर विचार किया कि प्रोक्त आदि अर्थ में किये जाने वाले प्रत्यय भी नहीं बनेंगे। अतः उन्होने 'प्रोक्तादयश्र तद्धिताः' इस वार्तिक को लिखा।

पूर्वोक्त प्रथम आक्षेप-जो व्याकरण का अर्थ 'शब्द' ले तब वैयाकरण शब्द मे ल्युट प्रत्यय का अर्थ नहीं बनता यह कोई दोष नहीं है। केवल करण और अधिकरण में ही ल्युट का विधान नहीं है पुनः प्रश्न होता है कि-'किन अर्थो में विधान होता है 'कृत्यल्युटो बहुलम्' यह सूत्र करणाधिकरण के अतिरिक्त अन्य अर्थो में भी ल्युट प्रत्यय का विधान करता है। यथा-प्रस्कन्दनम् और प्रपतनम्। पुनश्च शब्दों के द्वारा भी शब्दों का व्याकरण होता है। यथा गौः शब्द के उच्चारण से अश्व, गर्दभ आदि सभी की निवृति हो जाती है। परन्तु 'भव' और 'प्रोक्तादि' अर्थो में तद्धित प्रत्ययों की अनुपपत्ति की बात अवश्य उचित है, अतः इस दृष्टि से शब्द को व्याकरण मानना अनुचित ठहरता है। यदि ऐसी बात है तो- सूत्र और शब्द दोनों में ही व्याकरणत्व का निरास करके सम्प्रत्ति सिद्धान्त के रूप में इन दोनों को युगपद् 'व्याकरण' संज्ञा से अभिहित किया गया है-'लक्ष्यलक्षणे व्याकरणम्' = 'लक्ष्य और लक्षण - दोनों का समुदाय व्याकरण है। लक्ष्य क्या है और लक्षण क्या है? 'शब्दो लक्ष्यः, सूत्रं लक्षणम्' = शब्द लक्ष्य है और सूत्र लक्षण है।

उक्त समाधान का खण्डन करने वाला कहता है कि समुदाय में प्रवृत्त 'व्याकरण' शब्द अवयव में उपपन्न नहीं हो सकता। केवल सूत्रों को पढ़ने वाले को भी वैयाकरण कहना इष्ट है। समाधानकर्ता

कहता है कि यह कोई दोष नहीं है। क्योकि समुदायवाचक शब्द अवयव अर्थ में भी प्रयुक्त पाये जाते है यथा-पूर्वे पांचालाः, उत्तरे पंचालाः, तैलं भुक्तम्, घृतं भुक्तम्, शुक्लो नीलः कपिलः कृष्ण इति। इस प्रकार समुदाय में प्रयुक्त 'व्याकरण' शब्द उसके अवयव में भी प्रयुक्त होता है। जिस प्रकार वन के एक भाग के पुष्पित होने पर भी 'पुष्पितं वनं, तथा पट के एक भाग के शुक्ल होने पर भी 'शुक्लः पटः' आदि रूप उपपन्न होते है।

'अथवा पुनरस्तु सूत्रम्'- अथवा 'व्याकरण' शब्द का अर्थ 'सूत्र' ही रहे तो भी कोई हानि नहीं है, क्योकि राहु और राहु के शिर में तात्विक भेद न होने पर भी जिस प्रकार से शब्द और अर्थ मे जो भेद होता है, उस भेद के कारण 'राहु का सिर' इसमें भी भेद का व्यवहार मान लिया जाता है। उसी प्रकार से सूत्र और व्याकरण में भी संबंध की कल्पना करके षष्ठी विभक्ति का उपपादन किया जा सकता है।

द्वितीय दोष का स्मरण कराते हुए कहते है कि यदि व्याकरण का अर्थ सूत्र मान लें तो सूत्र से हम शब्द का ज्ञान करते है, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि लोगों को सूत्रों से ही शब्दों का ज्ञान नहीं होता अपितु व्याख्यान सहित सूत्र से भी होता है। और जो सूत्र के अतिरिक्त उदाहरण, प्रत्युदाहरण आदि रूप व्याख्यान से युक्त होने पर ही शब्द प्रतिपत्ति की बात कही गयी थी वह भी उपयुक्त नहीं है, क्योकि यह सब मन्दबुद्धि वाले जिज्ञासु के विचार से है। वस्तुतः शब्दों का ज्ञान सूत्र से ही होता है। चूंकि सूत्र से ही शब्दों का ज्ञान होता है अतः जो सूत्र से विरूद्ध बात कहता है। वह स्वीकार के योग्य नहीं है।

19.7 साधु शब्द के प्रयोग का परिणाम

महर्षि पतंजलि यह निर्दिष्ट करते है कि यह 'शब्दानुशासन किस प्रकार करना चाहिए। क्या साधु शब्दों का उपदेश किया जाय, अथवा अपशब्दों का या दोनों (साधु, असाधु) का उपदेश करना चाहिए। किं शब्दोपदेशः कर्तव्य, आहोस्विदपशब्दोपदेशः, आहोस्विदुभयोपदेश इति?

उपर्युक्त प्रश्न का समाधान करते हुए महाभाष्यकार कहते है-'अन्यतरोपदेशेन कृतं स्यात्। तद्यथा-भक्ष्यनियमेनाभक्ष्यप्रतिषेधो गम्यते।' ' पंच पंचनखा भक्ष्याः' इत्युक्ते एतद्- अतोऽन्येभक्ष्या इति।' अर्थात् किसी एक के उपदेश के द्वारा अन्य कार्य सिद्धि हो सकती है। जैसे भक्ष्य पदार्थ का नियम करने से, अभक्ष्य पदार्थो का निषेध स्वतः हो जाता है। अथवा ' पाँच पंचनख' (खरहा, साही, खड्गी, कछुआ, एवं गोधा) प्राणियों का भक्षण करना चाहिए।'........ ऐसा कहने मात्र से इनके अन्य प्राणियों के भक्षण का प्रतिषेध स्वतः हो जाता है। जिस प्रकार-'अभक्ष्यो ग्राम्य कुक्कुटः अभक्ष्यो ग्राम्य सूकरः' = 'ग्राम्य मुर्गा अभक्ष्य है तथा ग्राम्य सूअर अभक्ष्य है'....... कहने पर अरण्य मुर्गा तथा सुअर भक्ष्य है, यह नियम ध्यान में आ जाता है।

इसी प्रकार 'यदि तावच्छब्दोपदेशः क्रियते, गौरित्येतस्मिन्नुपदिष्टे गम्यत, एतद्-गाव्यादयोऽपशब्दा इति।' यदि साधु शब्दों का उपदेश किया जाय तो 'गौः' इस साधु शब्द के उच्चारण से स्वयं सिद्ध हो जाता है कि 'गावी' आदि अपशब्द है। और यदि अपशब्दों =असाधु शब्दों का उपदेश किया जाय तो 'गावी' मात्र के उच्चारण करने पर ज्ञान हो जाता है कि 'गौः' आदि साधु शब्द है।

इस पर जिज्ञासु प्रश्न पूछता है कि - 'किं पुनरत्र ज्यायः? इन दोनों में किसका प्रतिपादन करना चाहिए।'लघुत्वाच्छब्दोपदेषः' = भाष्यकार कहते है कि लाघव के कारण साधु शब्दों का प्रतिपादन

करना श्रेयस्कर है, क्योकि लोक में साधु शब्द अतिशय लघु है तथा असाधु शब्द का उपदेश विस्तार से होता है, क्योकि एक-एक शब्द के अनेक अपभ्रंश होते है, यथा- गौः शब्द के गावी, गौवी, गोता, गोपीतलिका इत्यादि अपभ्रंश होते है। इष्ट प्राप्तिजनक शब्दों का भी इस प्रकार अन्वाख्यान=अनुशासन हो जाता है-'इष्टान्वाख्यानं खल्वपि भवति।' अतः लाघव के कारण साधु शब्दों का उपदेश करना चाहिए।

19.8 व्याकरण की पद्धति

व्याकरण -शास्त्र का जितना विस्तृत और सूक्ष्म अध्ययन संस्कृत भाषा में हुआ है, उतना अन्य किसी भी भाषा में नहीं। व्याकरण को साड्ढ वेद का मुख बताया गया है। वैदिक युग में ही शब्द की मीमांसा की ओर भारतीय मनीषियों की बुद्धि दौड़ती रही है। उच्चारण पर विचार करने वाले वेदांग 'शिक्षा' के प्रतिपादन के लिए 'प्रातिशाख्यों' की रचना हुई। इसके उपरान्त यास्क मुनि ने शब्दनिरूक्ति-सम्बन्धी महत्वपूर्ण ग्रंथ 'निरूक्त' प्रस्तुत किया। यास्क ने ही सर्वप्रथम शब्दों के चतुर्विध विभाजन (नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात) को स्थापित किया है और यह सिद्ध करने का स्तुत्य प्रयास किया कि सारे शब्दों का आधार धातु-समूह ही है। इन्हीं सिद्धान्तों पर पाणिनि की अष्टाधायी एवं आधुनिक निरूक्ति- विज्ञान अधिकतर आश्रित है। यास्क का समय अनुमान से 800 वर्ष ईसा पूर्व है। यास्क के परवर्ती और पाणिनि के पूर्ववर्ती आचार्यो का उल्लेख - मात्र मिलता है। उनकी कृतियाँ विस्मृति में विलीन हो चुकी है। आापिशील, काशकृत्स्न, शाकटायन, इन्द्र प्रभूति विभिन्न वैयाकरणों का उल्लेख पाणिनि की अष्टाध्यायी में तथा बाद की टीकाओं में मिलता है। इनमें ऐन्द्र व्याकरण का एक प्रतिष्ठित सम्प्रदाय बहुत दिनों तक रहा। इसका अनुसरण कलापव्याकरण ने किया है। तैत्तिरीयसंहिता के अनुसार ऐन्द्र व्याकरण ही सर्वप्रथम व्याकरण है। डाक्टर बर्नेल ने इस मत की पुष्टि करने के लिए प्राचीनतम तामिल व्याकरण तोल्कापियम् की ऐन्द्र व्याकरण से समानता दिखलायी है और यह मत स्थापित किया है कि ऐन्द्र व्याकरण ही सर्वप्रथम है और इसका अनुकरण करके ही कातन्त्र तथा अन्य व्याकरणों की रचना हुई है। वररूचि और व्याडि इसी व्याकरण के सम्प्रदाय के थे। ऐन्द्र व्याकरण की मुख्य विशेषता यह है कि इसकी परिभाषाएँ पाणिनि की परिभाषाओं की तरह जटिल और प्रौढ़ नहीं है। सम्भवतः ऐन्द्र के बाद कम से कम दो और सम्प्रदाय पाणिनि के पूर्व प्रवत्रित हुए- ऐसा आधुनिक विचारकों का अनुमान है।

पाणिनि अत्यन्त संक्षिप्त रूप में एक विस्तृत भाषा का अति सुसंयत और सुदृढ़ व्याकरण लिखने के लिए संसार में विख्यात हो गये है। उनके ग्रन्थ में वैज्ञानिक विवेचना की परिपूर्णता तथा शैली की अनुपमता दोनों इस तरह मिली हुई है कि संसार की किसी अन्य भाषा में इसके जोड़ का इस विषय पर अन्य कोई भी ग्रंथ नहीं है। बहुत वाद-विवाद के उपरान्त डाक्टर वासुदेवशरण अग्रवाल ने पाणिनि का समय 500 ई.पू. और 400 वर्ष ई. पू. के बीच निश्चित किया है। मैक्समूलर ने इनकी तिथि 350 वर्ष ई. पू. निर्धारित की थी।

इनका ग्रन्थ अष्टाध्यायी लगभग 4000 सूत्रों से निर्मित है और आठ अध्यायों में विभाजित है। प्रत्येक अध्याय में चार पाद है। (पाँच सूत्रों को छोड़कर शेष) प्रथम अध्याय में व्याकरण शास्त्र सम्बन्धी संज्ञायें तथा परिभाषाएँ है। दूसरे अध्याय में समासों का विस्तृत विवेचन तथा कारक की व्याख्या है। तीसरे अध्याय मे तथा आठवें कृदन्त प्रकरण है। चौथे और पाँचवे मे तद्धित प्रकरण है तथा इसके

पश्चात् छठे और सातवें में तिङ् सुप् प्रत्ययों से सम्बन्धित प्रक्रिया का विवेचन है। आठवें में सन्धि-प्रकरण भी है। पाणिनि ने अत्यन्त श्रृंखलाबद्ध और संश्लिष्ट विधि से व्याकरण की बिखरी हुई सामग्री को सफलता के साथ एकत्र किया है। पाणिनि का ध्यान इस प्रकार इस प्रयास में संक्षेपातिशय पर बहुत केन्द्रित रहा है। इसलिए अष्टाध्यायी का दुर्गम होना स्वाभाविक है।

संक्षेप करने में प्रधान हेतु सम्भवत कंठाग्र कराना और लेखन - सामग्री की प्रचुरता के अभाव ही रहे होंगे | इस संक्षेप के लिए पाणिनि को मुख्य रूप से छः साधनों का आश्रय लेना पढ़ा है – (1) प्रत्याहार , (2) अनुबंध, (3) गण, (4) संज्ञाएँ (घ, षट, श्लु, टी, घु, प्रभृति), (5) अनुवृति , (6) जगह –जगह कई सूत्रों के लागू होने वाले स्थानों के लिए पूर्वत्रा·सिद्धम (8|2|1) सदृश नियमों (परिभाषाओं) की स्थापना |

इसके अतरिक्त पाणिनि की अष्टाधायी को समझाने के लिए टीकाकारों ने ज्ञापक सूत्रों को अलग से ढूँढ निकाला है तथा सूत्रों में योगविभाग करके कुछ स्पष्ट न कही गयी बातों कों भी शामिल किया है |पाणिनि ने संस्कृत को जीवित (बोलचाल की) भाषा के रूप में लिया है | उन्होंने लोक, वेद, की भाषा संस्कृत ही बताई है | लोक की संस्कृत कों 'भाषा' तथा वेद की संस्कृत को 'छंदस्' शब्द का प्रयोग करते है | भाषा- शब्द का अर्थ ही है जिसे लोग भाषित करें या बोलें | इसके प्रमाण में हम केवल दो चार युक्तियाँ यहाँ प्रसंगवश दे देते है | पहले तो वैदिक भाषा कों अपवाद के रूप में ग्रहण करना इसी तथ्य की ओर सकेंत करता है की पाणिनि के सामने वर्तमान भाषा छांदस् भाषा से कुछ आगे चली आयी थी, पर अभी बहुत दू नही हुई थी, अन्यथा वैदिक भाषा का वे अलग से व्याकरण अवश्य लिखते | दूसरे, स्तम्बशक्तोरिन् (3।2।24), हरतेर्दृतिनाथयोः पशौ (3।2।25), व्रीहिशाल्योर्ढक् (5।2।2), नते नासिकायाः संज्ञाया टीर्ट टीटनाटज्भ्रटचः (5।2।31), कृ´ॎ द्वितीय-तृतीय-शम्बबीजात्कृषौ (5।4।58) प्रभृति सामान्य कृषक- जीवन से ही सम्बन्ध रखने वाले सूत्रों की रचना स्पष्ट सही सिद्ध करती है कि जिस भाषा का विश्लेषण पाणिनी कर रहे है, वह बोलचाल की भाषा है। तीसरे, गढपाठों मे आये हुये नाम इतने विचित्र और अनजान से लगते है कि किसी को यह स्वप्न में भी विचार नहीं हो सकता कि ये शब्द स्टैण्डर्ड भाषा के होगें। उदाहरणार्थ गुहुलु, आलिगु, कहुषय, नवाकु, वटाकु, ब्रह्मस्क, शिग्रु, कहोढ प्रभृति।

पाणिनी के लगभग 1250 सूत्रों पर आलोचनात्मक दृष्टि से वररूचि=कात्यायन ने 4000 वार्तिकों की रचना की है। 700 से अधिक सूत्रों की उन्होने बिना उनमें कोई दोष दिखाये सुन्दर व्याख्या की है, करीब 10 सूत्रों को व्यर्थ बताया है, तथा लगभग 540 सूत्रों में परिवर्तन एवं परिष्करण किया है। कात्यायन पाणिनि के प्रति उचित श्रद्धा भी यत्र-तत्र प्रदर्शित करते है। परन्तु उन्होंने अनेक स्थलों पर पाणिनि को समझने में ही भूल की है और कहीं- कहीं वे अनुचित आलोचना भी कर गये है। इस अनौचित्य की ओर महाभाष्यकार पतंजलि ने हमारा ध्यान आकृष्ट किया है। कात्यायन के वात्रिक श्लोक और गद्य दोनों में है। वे दक्षिणात्य थे जैसा 'प्रियतद्धिता दाक्षिणातयाः' महाभाष्य के इस वाक्य से प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त कात्यायन वाजसनेयी प्रातिशाख्य के भी प्रणेता है। वररूचि का समय 400 वर्ष ई. पू. और 300 ई. पू. के बीच में पढ़ता है।

पाणिनीय व्याकरण के अध्ययन के प्रथम युग का अन्त पतजंलि के महाभाष्य ही में होता है तथा पाणिनि के स्थान को दृढ़ बनाने में कात्यायन और पतजंलि ने अपूर्व परिश्रम किया है। इसलिए परवर्ती वैयाकरण ने इन तीनों को 'मुनित्रय' के नाम से पुकारा है। पतजंलि के समय (दूसरी शताब्दी

ई. पू.) के बारे में अत्यन्त दृढ़ प्रमाण उन्हीं के ग्रन्थ में मिले है। 'पुष्यमित्रं याजयामः', 'अरूणद्यवनः साकेतम्', 'अरूणद्यवनो मध्यमिकाम्' इन तीनों उद्धरणों से इतना निश्चित होता है कि पुष्यमित्र (शुंगराजा) के समय में सम्भवतः उसी के दरबार में पतजंलि विराजमान थे तथा उनके समय में मिनेण्डर (मिलिन्द) ने अयोध्या और मध्यमिका पर आक्रमण किया था। वह गोनर्द (सम्भवतः वर्तमान गोंडा जिला) के निवासी थे तथा उनकी माता का नाम गोणिका था शंका समाधान, आदि को अत्यन्त रोचक रूप में देते हुए और बहुतेरे घरेलु दृष्टान्तों के द्वारा विषय का सुगमता से प्रतिपादन करते हुए तथा साथ ही साथ अपने समय की सामाजिक, धार्मिक, ऐतिहासिक, भौगोलिक और साहित्यिक सब प्रकार की प्रवृत्तियों का अत्यन्त मनोरक परिचय देते हुए, पतजंलि ने महाभाष्य के रूप में एक अपूर्व रचना की है। इसके जोड़ का संस्कृत में और कोई भी ग्रन्थ नहीं है। पतजंलि की शैली के प्रवाह की बराबरी केवल श्रीशंकराचार्य का शारीरिक भाष्य करता है।

पतजंलि के बाद सातवीं शताब्दी तक दार्शनिक विचारधारा का सर्वत्र अधिक जोर रहा। अतः व्याकरण शास्त्र की मीमांसा कुछ समय के लिए बन्द्-सी हो गई। सातवीं शताब्दी में जयादित्य और वामन द्वारा अष्टाध्यायी पर एक सरल और सर्वागीण वृत्ति (टीका) 'काशिका' लिखी गयी। जयादित्य का समय सन् 660 ई. है। इस काशिका पर भी उपटीकाएँ, 'न्यास' जिनेन्द्रबुद्धि द्वारा और 'पद-मंजरी' हरदत्त द्वारा लिखर गयी। इसी समय के आस-पास व्याकरण का दार्शनिक विवेचन महाभाष्य के टीकाकार भर्तृहरि ने 'वाक्यपदीय' लिखकर किया, जिसमें आगम, वाक्य और प्रकीर्ण इन तीन कांडों में कारिकाओं में अत्यन्त जटिल प्रश्न सुलझाये गये हैं और स्फोटवाद तथा 'शब्द से ही संसार के विवर्तित होने' का सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है। चीनी यात्री इत्सिंग के अनुसार भर्तृहरि की मृत्यु सन् 650 ई. में हुई थी। महाभाष्य पर काश्मीरी पंडित कैयट ने सन् 1100 ई. के लगभग 'प्रदीप' नाम की बहुत सुन्दर टीका लिखी। काव्यप्रकाशकार मम्मटाचार्य के भाई कहे जाते हैं।इस समय तक संस्कृत केवल अध्ययन-अध्यापन की भाषा रह गयी थी। अतः व्याकरण में मौलिक ग्रन्थों के लिखने का यों ही अवसर नहीं रह गया। इसके अतिरिक्त केवल बाल की खाल निकालने और नैयायिक समालोचना करने की ही प्रथा चल पड़ी पड़ी थी। अतः पाणिनीय व्याकरण के अध्ययन की भी दृष्टि बदली, उनके क्रम में क्रान्तिकारी परिवर्तन होने लगे। अब विषय -विभाग के आधार अध्टाध्यायी के सूत्रों की व्याख्या की जाने लगी। विमल सरस्वती ने सन् 1350 ई. में रूप-माला' और रामचन्द्र ने 15 वीं शताब्दी ई. में 'प्रक्रिया- कौमुदी' इसी दृष्टिकोण से लिखी। परन्तु इस श्रेणी में सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रथं की रचना सन् 1630 ई. के लगभग प्रख्यात् विद्वान् भट्ठोजि दीक्षित ने 'सिद्धान्त -कौमुदी' के नाम से की। इसकी महत्ता केवल इसकी टीकाओं की अनन्त श्रृंखलाओं से अथवा पाणिनीय व्याकरण की सबसे अधिक प्रचलित पाठ्य-पुस्तक होने से नहीं है। इसका महत्व इसलिए इतना अधिक है कि इस ग्रंथ में मुनित्रय के सिद्धान्तों के सांगोपांग समन्वय के साथ अन्य वैयाकरणों तथा अन्य पद्धतियों से भी सार ग्रहण किया गया है और नवोदित पद्धतियों की आलोचना इतनी सफलतापूर्वक की गयी है कि इस ग्रंथ ने अध्ययन के क्षेत्र से पाणिनि की अष्टाध्यायी के क्रम को तो निकाल ही दिया है, साथ ही साथ बोपदेव के 'मुग्धबोध', शर्ववर्मा के 'कातंत्र' तथा चन्द्रगोमी के 'चान्द्रर' प्रभृति व्याकरणों को भी बाहर कर दिया। भट्टोजी रामचन्द्र शेष की चलाई नयी परम्परा के धुरीण है। यह रंगोजि दीक्षित के पुत्र थे । अष्टाध्यायी पर 'शब्द-कौस्तुभ' नाम की विस्तृत पर स्वयं 'प्रौढ़-मनोरमा' नाम की टीका लिखी तथा पाणिनि की अष्टाध्यायी पर 'शब्द-कौस्तुभ' नाम की विस्तृत व्याख्या की। भट्ठोजि के भतीजे कोण्डभट्ट ने 'वाक्यविन्यास' और दार्शनिक विवेचन-सम्बन्धी 'वैयाकरण-भूषण' नामक

पुस्तक लिखी। भट्टोजि के गुरू-भाई पंडितराज जगन्नाथ ने ''प्रौढ़ मनोरमा' पर 'मनोरमाकुच-मर्दिनी' नामक आलोचनात्मक टीका लिखी है।

इनके अनन्तर व्याकरण के क्षेत्र में सबसे उज्जवल, चमकने वाले सितारे तथा अनेक शास्त्रों पर समान अधिकार रखने वाले, प्रखर मेधावी नागेशभट्ट का नाम आता है। धर्म- शास्त्र, साहित्य, योग आदि के अतिरिक्त व्याकरण-शास्त्र मे स्वतंत्र ग्रन्थों का प्रणयन इस विश्रुत विद्वान की लेखनी से हुआ। इनमें शब्द-रत्न (प्रौढ़-मनोरमा पर टीका), विषमी (शब्दकौस्तुभ की टीका), वैयाकरण - सिद्धान्त-मंजूषा, शब्देन्दु-शेखर और परिभाषेन्दुशेषर बहुत अधिक प्रसिद्ध है। नागेशभट्ट ने गंगेश उपाध्याय द्वारा प्रवृत्त्रित नव्यन्याय की प्रतिपादन- शैली में गंभीर और सूक्ष्म विचार प्रकट किये है।

सिद्धान्त - कौमुदी का संक्षेप बालकों की सुविधा के लिए लघु-सिद्धान्त-कौमुदी तथा मध्य-सिद्धान्त-कौमुदी के रूप में वरदराचार्य ने किया। लघु- कौमुदी का प्रचार बहुत हुआ है।

यहाँ हम संक्षेप में अन्य पद्धतियों का भी उल्लेख मात्र कर रहे है। 470 ई. के लगभग बौद्ध पंडित चन्द्रगोमी ने बहुत कुछ पाणिनि के आधार पर ब्राह्मण प्रभाव से बचते हुए बौद्धों के लिए चान्द्रव्याकरण बनाया। इसमें 3100 के लगभग सूत्र है। इसके पहिले ही शिववर्मा ने ऐन्द्र व्याकरण के आधार पर कातन्त्र- व्याकरण की रचना सम्भवतः ईसा की प्रथम शताब्दी में की थी। जैनेन्द्र-व्याकरण छठी तथा शाकटायन शब्दानुशासन 8वीं, हेमचन्द्र का शब्दानुशासन 12वीं, सारस्वत-व्याकरण, बोपदेव का मुग्ध-बोध, जौमर-व्याकरण 13 वीं तथा सौपù 14वीं शताब्दीं में लिखे गये। इनमें प्रायः पाणिनि के संशोधन एवं सरलीकरण का प्रयास हुआ है तथा बहुतों ने न्यूनतम सूत्रों की संख्या के लिए जी-जान से कोशिश की है। मुग्धबोध में 1200, तथा सारस्वत में केवल 700 सूत्र है। ये ही दो प्रचलित भी हुए है। बोपदेव वैष्णव थे अतः उनका व्याकरण वैष्णव रंग में रँगा हुआ है। इसीलिए उनके व्याकरण का अभी तक बंगाल में (चैतन्य महाप्रभु के कार्यक्षेत्र में) बहुत प्रचार है। सारस्वत-व्याकरण पर सत्रहवीं सदी में रामाश्रम ने सारस्वत-चन्द्रिका नामक टीका लिखी और वह भी कुछ समय पूर्व तक काशी के क्षेत्र में बहुत प्रचलित रही है। अन्यों का प्रभुत्व बहुत पूर्व से ही हट चुका है।

व्याकरण - शास्त्रों को अच्छी तरह अल्पकाल में समझने के लिए वैज्ञानिक विधि यह है कि संज्ञाओं, प्रत्याहारों तथा अन्य पूर्वोल्लिखित साधनों का सम्यक् ज्ञान करना चाहिए। इसके पश्चात् किस तरह प्रत्यय जुड़ते है और किस प्रकार का सूत्र से दूसरे सूत्र में अनुवृत्ति की जाती है , इसे समझने का प्रयत्न करना चाहिए। प्रत्यय लगने की विधि इस प्रकार है- (1) प्रत्यय में पहले यह देखना चाहिए कि कितना अंश जुड़ने के उपयोग में आने वाला है, जैसे- ण्यत् प्रत्यय में चुटू सूत्र से आदि में आने वाला ण् तथा हलन्त्यम् सूत्र से त् लुप्त हो जाते है। केवल य भर बच रहता है। (2) पुनः यह देखना चाहिए कि इस प्रत्यय को पहले जुड़ना है या पीछे या बीच में। इस सम्बन्ध में एक ही नियम है प्रत्ययः (3।1।1) परश्च (3।1।2) अर्थात् प्रत्यय सदा बाद में ही जुड़ते है- (केवल तद्धित का एक प्रत्यय बहुत ऐसा है जो ईषदसमाप्ति अर्थ में शब्द के पहिले जुड़ता है, जैसे बहुतृण आदि)। (3) फिर यह देखना चाहिए कि जिसमें प्रत्यय को जुड़ना है, उसमे अनुबन्ध के कारण किस विकार का होना आवश्यक है, जैसे अचोञ्णिति

(7।2।115) अर्थात् ञित् तथा णित् प्रत्यय बाद में रहने पर पूर्व में आने वाले अजन्त अंग के स्वर की वृद्धि हो जाती है। इस सूत्र के अनुसार 'ह' के आगे 'ण्यत्' आने पर 'हृ' के ऋ में वृद्धि होकर 'आर्'

हो जाता है। (4) और अन्त में, अर्थ समझने के लिए 'किस हेतु से प्रत्यय लगा है' इसे समझना चाहिए।

19.9 पारिभाषिक शब्दावली

व्याकरण - व्यक्रियन्ते-व्युत्पाद्यन्ते शब्दा अननेति शब्दज्ञानजनकं व्याकरणम्- जिससे साधु शब्दों का ज्ञान होता है, उसको 'व्याकरण' कहते है।

शब्द - वर्णोच्चारण रूप ध्वनि ही शब्द है

वृत्तिसमवाय - वृत्तिसमवाय' का अर्थ है- वृत्ति के लिए समवाय, अथवा जिसका फल वृत्ति है वह समवाय अथवा जिसका प्रयोजन वृत्ति है वह समवाय।

सिद्ध शब्द - 'नित्यपर्यायवाची सिद्धशब्दः।। कथं ज्ञायते? यत्कूटस्थेष्वविचालिषु भावेषु वर्तते।'यहाँ सिद्ध शब्द नित्य शब्द का पर्यायवाची है, क्योकि यह प्रायः अविनाशी तथा नित्य अवस्थित भावों को अभिव्यक्त करने के लिए प्रयुक्त होता है।

उह - विभक्तियों के परिवर्तनादि को ऊह कहते है । वैदिक मंत्रों में प्रयुक्त शब्द सभी लिंग एवं विभक्तियों में नहीं है। जबकि यज्ञ में प्रवृत्त हुए पुरूष को उन मंत्रों में यथोचित लिंगों तथा विभक्तियों में बदलना होता है इसे ऊह कहते है।

आगम = विधायक शास्त्र अर्थात् वेद को आगम कहते है ।

साधु – व्याकरणिक प्रक्रिया से बना शुद्ध शब्द साधु शब्द कहलाता है । जैसे गौ ।

असाधु – लोक व्यवहार में वाक् सुख के लिए साधु शब्दों के लिए अपभ्रंश जो प्रयोग किए जाते हैं इसे असाधु शब्द कहते है । 'गौ' (साधु) शब्द के - 'गावी', 'गोणी', 'गोता' तथा 'गोपोतलिकां' आदिक अनेक असाधु प्रयोग होते है ।

सूत्र – अल्पाक्षर, असन्दिग्ध, सारयुक्त, चारों से व्याप्त करने वाले, अनिन्दनीय कथन सूत्र कहलाता है । ''सारस्वतीम्' - इस प्रतीक द्वारा सूचित प्रयोजन पर विचार करते हुए महाभाष्यकार कहते है कि 'यजुर्वेदी लोग कहते है- जो अग्नि की स्थापना कर उसका पालन करते है, वे यदि असाधु शब्दों का प्रयोग करें तो प्रायश्चित के निमित्त सरस्वती देवता के लिए इष्टि-याग करें।

सक्तु- सचतेदुर्धावो भवति, कसतेर्वा विपरीताद्विकसितो भवति'। सक्तु शब्द 'सच्' धातु से निष्पन्न हुआ है। 'सच् = चिपकना'। अतः सत्तु का छानना=शोधन करना कठिन कार्य है। अथवा 'कस' धातु में वर्ण विपर्यय करके 'सक्तु' शब्द निष्पन्न होता है। इसका अर्थ हुआ 'विकसित होने वाला'।

तितऊ - तितऊ-परिवपनं भवति -ततवद्वा तुन्नवद्वा' अर्थात् 'विस्तार युक्त' वा 'बहुत छिद्रों से युक्त' होने से उसको तितउ कहा जाता है। यह वह वस्तु है जिससे किसी का शोधन किया जाय।

धीर = जो व्याकरण विषयक ध्यान में निमग्न रहता है। जो मानस ज्ञान के द्वारा केवल साधु शब्दों का प्रयोग करते है तथा अपशब्दों का परिहार करते है। अतः उनकी शब्द एवं अर्थ के मध्य एकत्व भावना रहती है अर्थात् उन्हें ब्रह्म ज्ञान हो चुका है।

19.10 अभ्यासार्थ प्रश्न

अति लघुत्तरात्मक प्रश्न –

1. शब्द किसे कहते है ?
2. असाधु शब्द के उदाहरण दिजिए ?
3. व्याकरण की क्या परिभाषा है ?
4. सक्तुमिव को स्पष्ठ किजिए ?

5. रक्षा प्रयोजन को संक्षेप में बताईये ?
6. सिद्धान्तकौमुदी के लेखक कौन है ?

लघुत्तरात्मक प्रश्न –

1. शब्द और अर्थ के मध्य किस प्रकार का सम्बन्ध है ? स्पष्ठ किजिए ?
2. साधु शब्द के प्रयोग के क्या परिणाम है ?
3. लक्ष्य- लक्षणे व्याकरणं उक्त पंक्ति को स्पष्ठ किजिए ?
4. व्याकरण की पद्धति पर एक लेख लिखिए ?

निबन्धात्मक प्रश्न –

1. व्याकरण के क्या प्रयोजन है ? वर्णन किजिए ?
2. वर्णोपदेश किसे कहते है ? वर्णोपदेश के प्रयोजनों का वर्णन किजिए ?

19.11 सारांश

इस प्रकार उक्त इकाई के अध्ययन के अन्तर्गत हमने जाना कि शब्द वह होता जिससे किसी विषय की प्रतीति होती है। व्याकरण शास्त्र ने वर्णों का उपदेश लघुता के लिए किया है। व्याकरणिक प्रक्रिया से निष्पन्न शद्ध शब्द साधु शब्द होता है तथा लोक व्यवहार में वाक् सुख के लिए साधु शब्दों के लिए अपभ्रंश जो प्रयोग किए जाते हैं इसे असाधु शब्द कहते है। शब्द साधु तथा असाधु दोनो प्रकार के होते है। परन्तु साधु शब्दों के प्रयोग से अभ्युदय होता है। व्याकरण के पांच मुख्य प्रयोजन है – १. रक्षा २, ऊह ३. आगम ४. लघुता ५. असन्देह। अन्त में इकाई में हमने व्याकरण की पद्धति का अध्ययन किया कि किस प्रकार सूत्र वार्तिक भाष्य टीका उपटीकाओं के रूप में व्याकरणशास्त्र अपनी परिपूर्णता को प्राप्त हुआ है।

19.12 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. महाभाष्य(प्रथम संस्करण), व्याख्या० युधिष्ठिर मीमांसक, रामलालकपूर ट्रस्ट, बहालगढ, 1979.
2. व्याकरण महाभाष्य (प्रथम आह्निक त्रय), अनु० चारुदेव शास्त्री, मोतीलाल बनारसी दास नई दिल्ली, 1962.
3. Rajarama, Pandit, Mahabhashya: Patañjali's great Commentary on the grammatical Sutras of panini, the Bavarian State Library, Trübner, 1872.
4. Kielhorn, F.,The Vyakarana-mahabhashya of Patanjali, Goverment Central Book Depot, Bombay, 1885.

इकाई–20

भावकर्म, कर्मकर्तृक एवं लकारार्थ प्रक्रिया

इकाई की रूपरेखा

20.0 उद्देश्य
20.1 प्रस्तावना
20.2 इकाई की पृष्ठभूमि
 20.2.1 भावकर्म
 20.2.2 कर्मकर्तृक
 20.2.3 लकारार्थ
20.3 भावकर्मक प्रक्रिया
20.4 कर्मकर्तृक प्रक्रिया
20.5 लकारार्थ प्रक्रिया
20.6 पारिभाषिक शब्दावली
20.7 अभ्यासार्थ प्रश्न
20.8 सारांश
20.9 संदर्भ ग्रंथ सूची

20.0 उद्देश्य

स्नातकोत्तर पूर्वार्द्ध के चतुर्थ पत्र (भारतीय काव्यशास्त्र एवं व्याकरण) में लघु सिद्धांत कौमुदी के प्रक्रिया भाग की इस इकाई भावकर्मक, कर्मकर्तृक एवं लकारार्थ प्रक्रिया का परिचय प्रस्तुत किया गया है। इस इकाई के अध्ययन के बाद आप :

- भावकर्मक ,कर्मकर्तृक एवं लकारार्थ प्रक्रिया के रूप एवं नियमों को जान सकेंगे।
- इस प्रक्रिया भाग का प्रयोग सम्यक् प्रकार से कर सकने में समर्थ हो सकेंगे।
- भावकर्मक, कर्मकर्तृक एवं लकारार्थ प्रक्रिया विशेष के रूपों से परिचित हो पायेंगे ।
- उपर्युक्त प्रक्रियाओं का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।

20.1 प्रस्तावना

संस्कृत भाषा के स्नातकोत्तर IV(5) की इकाई 20 के अन्तर्गत आप भावकर्मक, कर्मकर्तृक एवं लकारार्थ प्रक्रिया भागों का परिचय प्राप्त कर रहे हैं। प्रक्रिया प्रकरण में ये प्रक्रियाएँ तिङन्त प्रकरण के अन्तर्गत आती हैं। संस्कृत में दो प्रकार के पद होते हैं। सुबन्त एवं तिङन्त । धातु आदि में लगने वाले तिङ् प्रत्यय से निष्पन्न शब्द तिङन्त कहलाते हैं।

ये तिङ् प्रत्यय अठारह होते हैं– नौ परस्मैपद के तथा नौ आत्मनेपद के प्रत्यय होते हैं। धातुओं के प्रकारों में सकर्मक, अकर्मक तथा द्विकर्मक एवं सेट्, अनिट् तथा वेट् और परस्मैपद, आत्मनेपद तथा उभयपद का महत्त्व है। संस्कृत भाषा में वाच्य तीन प्रकार के होते हैं– कतृवाच्य ,कर्मवाच्य तथा भाववाच्य ।

कर्तृवाच्य– इसमें कर्ता मुख्य होता है। कर्ता में प्रथमा, कर्म में द्वितीया तथा कर्ता के पुरुष, लिंग और वचन के अनुसार क्रिया होती है। जैसे – रामः ग्रन्थं पठति । रामः ग्रन्थं पठतु आदि।

कर्मवाच्य– सकर्मक धातु से ही कर्मवाच्य होता है। इसमें कर्म की प्रधानता होती है। कर्ता में तृतीया, कर्म में प्रथमा तथा कर्म के लिंग, विभक्ति और वचन के अनुसार क्रिया का निर्धारण होता है। कर्मवाच्य में लट्, लोट्, लङ् तथा लिङ् लकारों में धातुओं के अन्त में यक् ;यद्ध प्रत्यय लगता है। धातु आत्मनेपद के समान चलती है। जैसे–

पठ् + यक् + लट्

प्रथम पुरुष –	पठ्यते	पठ्येते	पठ्यन्ते
मध्यम पुरुष –	पठ्यसे	पठ्येथे	पठ्यध्वे
उत्तम पुरुष –	पठ्ये	पठ्यावहे	पठ्यामहे

पठ + यक् + लोट्

प्रथम पुरुष –	पठ्यताम्	पठ्येताम्	पठ्यन्ताम्
मध्यम पुरुष –	पठ्यस्व	पठ्येथाम्	पठ्यध्वम्
उत्तम पुरुष –	पठ्यै	पठ्यावहै	पठ्यामहै

उदाहरण वाक्य–

कर्तृवाच्य	**कर्मवाच्य**
रामः ग्रन्थं पठति	रामेण ग्रन्थः पठ्यते।
सः द्वे गीते गायति	तेन द्वे गीते गीयेते।
वयं ग्रन्थान् लिखामः	अस्माभिः ग्रन्थाः लिख्यन्ते।
रामः ग्रन्थं पठतु	रामेण ग्रन्थः पठ्यताम्।
अहं चलचित्रम् अपश्यम्	मया चलचित्रम् अदृश्यत।
त्वं पुस्तकानि लेखिष्यसि	त्वया पुस्तकानि लेखिष्यन्ते।
गीता भोजनं पचेत्।	गीतया भोजनं पच्येत।

भाववाच्य– अकर्मक धातुओं से भाववाच्य होता है। भाववाच्य में कर्ता में तृतीया विभक्ति होती है। क्रिया में प्रथमपुरुष एकवचन अथवा नपुंसकलिंग एकवचन होता है। यथा– तेन भूयते। मया भवितव्यम्।

20.2 इकाई की पृष्ठभूमि

20.2.1 भावकर्म– लकारों का प्रयोग तीन अर्थों में होता है– कर्ता, कर्म और भाव में । सकर्मक धातुओं से लकार कर्मवाच्य और कतृवाच्य के अर्थ में तथा अकर्मक धातुओं से लकार भाववाच्य और कर्तृवाच्य के अर्थ में होते हैं। तिङन्त प्रकरणों में भ्वादिगण से लेकर परस्मैपद प्रकरण तक सकर्मक तथा अकर्मक दोनों प्रकार के धातुओं से लकारो का प्रयोग केवल कर्त्ता अर्थ में ही बतलाये गए थे। अब अकर्मक और सकर्मक धातुओं से भाववाच्य में तथा कर्मवाच्य में लकारों का प्रयोग एवं इनकी प्रक्रियाओं को दिखाने के लिये जिस प्रकरण को प्रारम्भ किया जाता है। उस प्रकरण को भावकर्मक – प्रक्रिया कहते हैं।

20.2.2 कर्मकर्तक– जिस समय सुगमता का अतिशय बोधन करने के लिए कर्त्ता में रहने वाले व्यापार की विवक्षा न हो तब अपने व्यापार की स्वतन्त्रता के कारण अन्य कारक भी कर्तृसंज्ञा को प्राप्त होते हैं अर्थात् जब करण या अधिकरण आदि को कर्ता बनाया जाता है तब कुछ विशेष परिवर्तन नहीं होता, साधारणतया उनको कर्ता मानकर उनमें लकारों का विधान कर प्रयोग निष्पन्न कर लेते हैं, परन्तु जब कर्म को कर्ता बनाने की आवश्यकता होती है तब प्रक्रियाओं, विशेष नियमों एवं परिवर्तनों को करना पड़ता है। इन्हीं नियमों एवं परिवर्तनों से युक्त प्रकरण का नाम कर्मकर्तृप्रक्रिया है। यथा– असिश्छिनत्ति (तलवार काटती है), फलं पच्यते (फल पकता है) यहाँ तलवार करण है और फल कर्म है, परन्तु इनमें वक्ता की कर्तृविवक्षा है। अतः इनका करणादि के रूप में प्रयोग न कर कर्तृरूप में प्रयोग किया जाता है।

20.2.3 लकारार्थ प्रक्रिया– संस्कृत में 10 लकार होते हैं– लट् (वर्तमान काल अर्थ में) लिट् (परोक्षभूत काल अर्थ में) लुट् (अनद्यतन भविष्यत काल अर्थ में) लृट् (सामान्य भविष्यत काल अर्थ में) लेट् (मात्र वेद में प्रयुक्त होता है) लोट् (आज्ञा अर्थ में) ङित् लकार–लङ् (अनद्यतनभूत काल अर्थ में) लिङ् (विधि आदि अर्थ में) आशीर्लिङ्

(आशीर्वाद के अर्थ में) लुङ् (सामान्यभूत काल अर्थ में) लृङ् (क्रियातिपत्ति अर्थ में) प्रयुक्त होते हैं। धातुओं में लगने वाले सार्वधातुक एवं आर्धधातुक प्रत्यय दो प्रकार के होते हैं। लट्, लोट्, लङ् तथा लिङ् लकार में लगने वाले प्रत्यय सार्वधातुक होते हैं शेष लकारों के प्रत्यय आर्धधातुक होते ह। संस्कृत धातुओं को दस गणों में विभाजित किया गया है, ये धातुएँ अपने–अपने गणों के विकिरण के साथ युक्त हो प्रयुक्त होते हैं। तिङन्त प्रक्रिया के अन्तर्गत 'वर्तमाने लट्' आदि सूत्रों के द्वारा लकारों के उपर्युक्त सामान्य अर्थों को बताया जा चुका है। अब उनके कुछ विशेष अर्थ बतलाने के लिए जिस प्रकरण का आरम्भ किया जा रहा है। उस प्रकरण का नाम लकारार्थ प्रक्रिया है।

20.3 भावकर्मक प्रक्रिया

लः कर्मणि च भावे चाऽकर्मकेभ्यः सूत्र में लकारों के तीन अर्थ बताये गये थे– कर्त्ता, कर्म और भाव। सकर्मक धातुओं से लकार कर्म और कर्ता में तथा अकर्मक धातुओं से लकार भाव और कर्ता अर्थ में विधान किये गये थे। इससे पूर्व सकर्मक तथा अकर्मक दोनों से अब तक लकार केवल कर्ता अर्थ में दिखाए गए थे। अब अकर्मकों से भाव अर्थ में और सकर्मकों से कर्म अर्थ में लकारों के प्रयोग के लिये भावकर्मर्क–प्रक्रिया नामक यह प्रकरण प्रारम्भ किया जाता है। इस प्रकरण में लकारों का प्रयोग भाव अर्थ में तथा कर्म अर्थ में प्रयुक्त होगा ।

सूत्र – भाव–कर्मणोः ।।

वृत्ति – लस्यात्मनेपदम्।

अर्थ – भाव और कर्म में हुए लकार के स्थान में आत्मनेपद प्रत्यय हो।

व्याख्या – भाववाच्य और कर्मवाच्य में लकार के स्थान पर आत्मनेपद का ही विधान किया जाता है। धातु चाहे आत्मनेपदी हो या परस्मैपदी या उभयपदी। भाववाच्य और कर्मवाच्य में आत्मनेपद का ही प्रयोग होता है।

सूत्र – सार्वधातुके यक् ।।

वृत्ति – धातोर्यक् भावकर्मकवाचिनि सार्वधातुके।।

अर्थ – भाव या कर्म के वाचक सार्वधातुक परे होने पर धातु से यक् (य) प्रत्यय होता है।

व्याख्या – धातु से परे यक् प्रत्यय का विधान किया जाता है। यक् में ककार इत्संज्ञक होकर लुप्त हो जाता है, 'य' यह सस्वर शेष रहता है। यक् में ककार जोडने का प्रयोजन गुण–वृद्धि का निषेध करना तथा सम्प्रसारण करना है।

उदाहरण– 'भूयते' में यक् के कित्त्व के कारण आर्धधातुकगुण का निषेध हो जाता है। मृज्यते में 'मृजेर्वृद्धिः' से वृद्धि का निषेध हो जाता है। इज्यते में यक् के कित्त्व के कारण यज् धातु के यकार को –'वचिस्वपियजादीनां क्ङिति, से सम्प्रसारण हो जाता है।

भाववाच्य को स्पष्ट करते हैं–

भावः क्रिया, सा च भावार्थक–लकारेणाऽनूद्यते– युष्मदस्मद्भ्यां सामानाधिकरण्याऽभावात् प्रथमः पुरुषः । तिङ्वाच्यक्रियाया अद्रव्यरूपत्वेन द्वित्वाद्यप्रतीतेर्न द्विवचनादि। किन्त्वेकवचनमेवोत्सर्गतः त्वया मयाऽन्यैश्च भूयते। बभूवे।।

अर्थ – धातु के अर्थ क्रिया को 'भाव' कहते हैं। भावार्थक लकार उसी धात्वर्थ का अनुवाद करता है। भाववाच्य में लकार की युष्मद् और अस्मद् के साथ समानाधिकरणता नहीं होती अतः प्रथम पुरुष का प्रयोग होता है।

भाव अद्रव्य होता है, उस में द्वित्व आदि की प्रतीति नहीं होती इसलिये भाववाच्य में द्विवचन और बहुवचन नहीं होते । केवल एकवचन का ही प्रयोग होता है, क्योंकि वह औत्सर्गिक (उत्सर्गसिद्ध) होता है । यथा – त्वया भूयते , मया भूयते, अन्यैश्च भूयते आदि।

व्याख्या – भाववाच्य में लकार द्वारा धातु का अर्थ कहा जाता है। कर्ता या कर्म का नहीं । धातु जिस क्रिया को कहता है लकार भी उसी क्रिया को कहता है। भाववाच्य में लकार का वाच्य धातु प्रोक्त क्रिया होती है, युष्मद् या अस्मद् नहीं । अतः मध्यम पुरुष तथा उत्तम पुरुष के अविषय में केवल प्रथम पुरुष का ही प्रयोग होता है।

लट्– भूयते की रूपसिद्धि–

भू धातु से लट् लकार की विवक्षा में **वर्तमाने लट्** से लट्	भू + लट्
भावकर्मकणोः से भू धातु से तङ् प्रत्यय का विधान	भू + लट्
तिप्तस्– आदि सूत्र से प्रथम पुरुष एकवचन विवक्षा में	भू + त
तिङ्शित्सार्वधातुकर्म् से सार्वधातुकसंज्ञा	भू + त
सार्वधातुके यक् से यक् विकिरण/	भू + यक् + त
अनुबंध लोप करने पर	भू + य + त
आर्धधातुकं शेषः से यक् की आर्धधातुक संज्ञा	
सार्वधातुकार्धधातुकयोः से गुण का निषेध हो जाता है	
टित् आत्मने पदानां टेरे से टि को एत्व करने पर	भू + य + ते

= भूयते रूप सिद्ध होता है।

लिटि– बभूवे ।

सूत्र– स्य–सिँच्–सीयुट्–तासिषु भावकर्मकणोरुपदेशेऽज्झन–ग्रह–दृशां वा चिण्वदिट् च।।

वृत्ति – उपदेशे योऽच् तदन्तानां हनादीनां च चिणीव अङ्गकार्यं वा स्यात् स्यादिषु भावकर्मकणोर्गम्यमानयोः, स्यादीनामिडागमश्च। चिण्वद्भावपक्षेऽयमिट्। चिण्वद्भावाद् वृद्धिः–भाविता, भविता । भाविष्यते, भविष्यते । भूयताम्। अभूयत। भूयेत। भाविषीष्ट, भविषीष्ट।।

अर्थ – भाव या कर्म गम्यमान हो तो उपदेश में जो अच् तदन्त धातुओं को तथा हन्, ग्रह् और दृश् धातुओं को स्य– सिँच्–सीयुट्–तास् परे होने पर विकल्प से चिण्वत् कार्य होते हैं अतः लुट्, लृट्, आशीर्लिङ् तथा लुङ् इन लकारों के दो–दो रूप बनेंगे एक चिण्वत् पक्ष में तथा दूसरा चिण्वत् के अभाव पक्ष में । स्य आदियों को चिण्वत् पक्ष में इट् का भी आगम हो जाता है।

चिण्वत्भाव से तात्पर्य है कि जैसे चिण् के परे होने पर जो अंगकार्य होते हैं वह स्य आदि के परे भी होंगे । चिण् प्रत्यय के णित् होने से भाव एवं कर्म में निम्न चार प्रकार के अंगकार्य होते हैं–

1. चिण् प्रत्यय के परे **अचो ञ्णिति या अत उपधायाः** से णिन्निमित्तक वृद्धि होती है। जैसे– ग्रह् + इट् + स्य + ते ग्राहिष्यते।
2. चिण् प्रत्यय के परे **आतो युक् चिण्कृतोः** सूत्र से आदन्त धातुओं को युक् का आगम होता है। जैसे– दा + इट् + स्यते दा+ युक् + इट् + स्यते दायिष्यते ।
3. चिण् प्रत्यय के परे **हो हन्तेञ्णिन्नेष** से हन् धातु के हकार को घकार होता है। जैसे–हन् + इट् + स्यते घन् + इ + स्यते घान + इ + स्यते घानिष्यते ।
4. चिण् प्रत्यय के परे **चिण्णमुलोर्दीर्घोऽन्यतरस्याम्** से मित् अंग की उपधा को वैकल्पिक दीर्घ होता है । ये सारे स्य आदियों में भी होंगे । जैसे– शम् + इट् + स्यते शामिष्यते, शमिष्यते।

   जैसे– लुट् – भाविता, भविता। लृट् – भाविष्यते, भविष्यते। लोट् – भूयताम्। लङ् – अभूयत। विधिलिङ् – भूयेत। आशीर्लिङ् – भाविषीष्ट, भविषीष्ट।।

लुट् – भाविता, भविता की रूपसिद्धि– भू धातु से लुट् लकार की विवक्षा में अनद्यतने लुट् से लुट् भू + लुट् भाव–कर्मणोः से भू धातु से तङ् प्रत्यय का विधान भू + लुट् तिप्तस्– आदि सूत्र से प्रथम पुरुष एकवचन विवक्षा में भू + त आर्धधातुकं शेषः से आर्धधातुकसंज्ञा स्यतासि लृलुटोः से तास् प्रत्यय करने पर भू + तास् + त स्य–सिँच्–सीयुट्–तासिषु भावकर्मकणोरुपदेशेऽज्झन–ग्रह–दृशां वा चिण्वदिट् च सूत्र से चिण्वद् इट् से इट् भू + इट् + तास् + त अचो ञ्णिति से वृद्धि करने पर भौ + इतास् + त औ को आव् आदेश करने पर लुटः प्रथमस्य डारौरसः से त को डा आदेश टि लोप भाविता रूप सिद्ध होता है। जिस पक्ष में चिण्वद् इट् नहीं होता है उस पक्ष में आर्धधातुकस्येड वलादेः से वलादि लक्षण इट् होकर आर्धधातुक गुण एवं अवादेश करने से भविता प्रयोग बनता है।

लुङ् – अभावि की रूपसिद्धि– 'भू धातु लुङ् लकार प्रथम पुरुष एकवचन में अडागम, त, च्लि करने पर अभू + च्लि + त' यहाँ पर भाव का वाचक 'त' शब्द परे विद्यमान है। अतः प्रकृतसूत्र से च्लि के स्थान पर चिण् आदेश होकर– अभू + (चिण्) इ + त। चिण् के णित्त्व के कारण अचो ञ्णिति से वृद्धि तथा एचोऽयवायावः से औकार को आव् आदेश हो जाता ह– अभावि + त। अब चिणो लुक् से 'त' प्रत्यय का लुक् करने पर अभावि प्रयोग सिद्ध होता है।

लृट् – भाविष्यते, भविष्यते की रूपसिद्धि– भू + स्य + ते स्य–सिँच्–सीयुट्–तासिषु भावकर्मकणोरुपदेशेऽज्झन–ग्रह–दृशां वा चिण्वदिट् च सूत्र से चिण्वद् इट् से इट् भू + इट् + स्य + ते अचो ञिणति से वृद्धि करने पर भौ + इस्य + त् औ को एचोऽयवायावः से आव् आदेश करने पर भाविष्यते रूप सिद्ध होता है । चिण्वद् इट् के अभाव पक्ष में आर्धधातुकस्येड् वलादेः से वलादि लक्षण इट् होकर आर्धधातुक गुण एवं अवादेश करने से भविष्यते प्रयोग बनता है।

लोट् – भूयताम् की रूपसिद्धि– भू धातु से लोट् लकार की विवक्षा में भू + लोट् धातु से तङ् तिप्तस्– आदि सूत्र से प्रथम पुरुष एकवचन विवक्षा में त सार्वधातुकसंज्ञा सार्वधातुके यक् से यक् विकिरण भू + यक् + त, त को आम् आदेश करने पर भूयताम् प्रयोग बनता है एवं लङ् लकार में अभ्यत, विधिलिङ् में भूयेत, आशीर्लिङ् में सीयुट् होने से चिण्वद् इट् हो अचो ञ्णिति से वृद्धि करने पर तथा एचोऽयवायावः से औ को आव् आदेश करने पर– भाविषीष्ट, भविषीष्ट की रूपसिद्धि।।

सूत्र – चिण्भाव–कर्मणोः ।।

वृत्ति – च्लेश्चिण् स्याद् भावकर्मकवाचिनि तशब्दे पर। अभावि । अभाविष्यत, अभविष्यत।

अर्थ – भाववाचक या कर्मवाचक 'त' शब्द परे हो तो च्लि के स्थान पर चिण् आदेश हो जाता है। चिण् में चकार–णकार की इत्संज्ञा हो लोप हो जाता है। 'इ' मात्र शेष रहता है।

लुङ्– अभावि की रूपसिद्धि– अभावि भू धातु से लुङ् लकार च्लि प्रत्यय अट् का आगम करने पर अ + भू + च्लि + त इस स्थिति में च्लेः सिँच् का अपवाद चिण्भावकर्मकणोः से च्लि के स्थान पर चिण् आदेश होने पर अभू + इ + च्लि + त चिण् के णित्त्व के कारण अचो ञ्णिति से वृद्धि तथा एचोऽयवायावः से औ को आव् आदेश करने पर अभावि + त चिणो लुक् से त का लोप करने पर अभावि प्रयोग सिद्ध होता है।

लृङ्.–अभाविष्यत, अभविष्यत की रूपसिद्धि– में चिण्वद् + इट् हो जाता है– अभाविष्यत । पक्ष में वलादिलक्षण इट् होकर गुण और अवादेश हो जाते हैं– अभविष्यत ।

भाववाच्य में किसी भी धातु के प्रथम पुरुष एकवचन में हो रूप चलते हैं। भू धातु के दश लकारों के रूप यथा— लट्— भूयते। लिट्— भाविता,भविता। लृट्— भाविष्यते,भविष्यते। लोट्—भूयताम्। लङ्— अभूयत। विधिलिङ्— भूयेत । आशीर्लिङ्— भाविषीष्ट, भविषीष्ट। लुङ्— अभावि। लृङ्— अभाविष्यत, अभविष्यत।

कर्मवाच्य को स्पष्ट करते हैं —

अकर्मकोऽप्युपसर्गवशात् सकर्मकः। अनुभूयते आनन्दश्चैत्रेण त्वया मया च। अनुभूयेते। अनुभूयन्ते। त्वम् अनुभूयसे। अहमनुभूये। अन्वभावि। अन्वभाविषाताम्, अन्वभविषाताम्।।

व्याख्या — अकर्मक धातु भी उपसर्गयोग के कारण कई बार सकर्मक हो जाती है। जैसे 'भू' धातु का अर्थ है— होना, इस अर्थ में यह अकर्मक है, परन्तु 'अनु' उपसर्ग लगाने से इसका अर्थ 'अनुभव करना— महसूस करना' हो जाता है। अब यह सकर्मक है । अकर्मकों से भाववाच्य और सकर्मकों से कर्मवाच्य में लकार होता है यह स्पष्ट है। अनु उपसर्गपूर्वक भू धातु से सकर्मकत्वात् कर्म में लट् आदि की उत्पत्ति होती है। जब लकार कर्म में आता है तब कर्म के उक्त होने से उसमें प्रथमा विभक्ति आती है। किञ्च कर्म के एक—द्वि—बहु वचनों के अनुसार तङ् में भी वचन होता है। इसलिये भाववाच्य में जहाँ प्रत्येक लकार के केवल प्रथम पुरुष के एकवचन में ही रूप बनत हैं वहाँ कर्मवाच्य में प्रत्येक लकार के पुरुषों में सब वचनों में रूप बनते हैं। जैसे— मया आनन्दोऽनुभूयते। आवाभ्याम् आनन्दोऽनुभूयते। अस्माभिः आनन्दोऽनुभूयते।

भाववाच्य और कर्मवाच्य की प्रक्रिया में प्रायः कोई भेद नहीं होता है, दोनों ही वाच्य में यक् का आगम, चिण्वद् भाव + इट् तथा आत्मनेपद समान रूप से होते हैं। इन दोनों में जहाँ भाववाच्य की क्रिया में केवल प्रथम पुरुष के एकवचन में ही रूप बनते हैं वहाँ कर्मवाच्य में सब पुरुषों के सब वचनों में रूप चलते हैं।

लट्	**एकवचन**	**द्विवचन**	**बहुवचन**
प्रथम पुरुष	अनुभूयते	अनुभूयेते	अनुभूयन्ते
मध्यम पुरुष	अनुभूयसे	अनुभूयेथे	अनुभूयध्वे
उत्तम पुरुष	अनुभूये	अनुभूयावहे	अनुभूयामहे

लिट्	**एकवचन**	**द्विवचन**	**बहुवचन**
प्रथम पुरुष	अनुबभूवे	अनुबभूवाते	अनुबभूविरे
मध्यम पुरुष	अनुबभूविषे	अनुबभूवाथे	अनुबभूविढ्वे, अनुबभूविध्वे
उत्तम पुरुष	अनुबभूवे	अनुबभूविवहे	अनुबभूविमहे

लुट्	**एकवचन**	**द्विवचन**	**बहुवचन**
प्रथम पुरुष	अनुभाविता	अनुभावितारौ	अनुभावितारः
	अनुभविता	अनुभवितारौ	अनुभवितारः
मध्यम पुरुष	अनुभावितासे	अनुभावितासाथे	अनुभाविताध्वे
	अनुभवितासे	अनुभवितासाथे	अनुभविताध्वे
उत्तम पुरुष	अनुभाविताहे	अनुभावितास्वहे	अनुभावितास्महे
	अनुभविताहे	अनुभवितास्वहे	अनुभवितास्महे

लृट्	**एकवचन**	**द्विवचन**	**बहुवचन**
प्रथम पुरुष	अनुभाविष्यते	अनुभाविष्येते	अनुभाविष्यन्ते
	अनुभविष्यते	अनुभविष्येते	अनुभविष्यन्ते

मध्यम पुरुष	अनुभाविष्यसे	अनुभाविष्येथे	अनुभाविष्यध्वे
	अनुभविष्यसे	अनुभविष्येथे	अनुभविष्यध्वे
उत्तम पुरुष	अनुभाविष्ये	अनुभाविष्यावहे	अनुभाविष्यामहे
	अनुभविष्ये	अनुभविष्यावहे	अनुभविष्यामहे
लोट्	**एकवचन**	**द्विवचन**	**बहुवचन**
प्रथम पुरुष	अनुभूयताम्	अनुभूयेताम्	अनुभूयन्ताम्
मध्यम पुरुष	अनुभूयस्व	अनुभूयेथाम्	अनुभूयध्वम्
उत्तम पुरुष	अनुभूयै	अनुभूयावहै	अनुभूयामहै
लङ्	**एकवचन**	**द्विवचन**	**बहुवचन**
प्रथम पुरुष	अन्वभूयत	अन्वभूयेताम्	अन्वभूयन्त
मध्यम पुरुष	अन्वभूयथाः	अन्वभूयेथाम्	अन्वभूयध्वम्
उत्तम पुरुष	अन्वभूये	अन्वभूयावहि	अन्वभूयामहि
विधिलिङ्	**एकवचन**	**द्विवचन**	**बहुवचन**
प्रथम पुरुष	अनुभूयेत	अनुभूयेयाताम्	अनुभूयेरन्
मध्यम पुरुष	अनुभूयेथाः	अनुभूयेयाथाम्	अनुभूयेध्वम्
उत्तम पुरुष	अनुभूयेय	अनुभूयेवहि	अनुभूयेमहि
आशीर्लिङ्	**एकवचन**	**द्विवचन**	**बहुवचन**
प्रथम पुरुष	अनुभाविषीष्ट	अनुभाविषीयास्ताम्	अनुभाविषीरन्
	अनुभविषीष्ट	अनुभविषीयास्ताम्	अनुभविषीरन्
मध्यम पुरुष	अनुभाविषीष्ठाः	अनुभाविषीयास्थाम्	अनुभाविषीध्वम्
	अनुभविषीष्ठाः	अनुभविषीयास्थाम्	अनुभविषीध्वम्
उत्तम पुरुष	अनुभाविषीय	अनुभाविषीवहि	अनुभाविषीमहि
	अनुभविषीय	अनुभविषीवहि	अनुभविषीमहि
लुङ्	**एकवचन**	**द्विवचन**	**बहुवचन**
प्रथम पुरुष	अन्वभावि	अन्वभाविषाताम्	अन्वभाविषत
	अन्वभवि	अन्वभविषाताम	अन्वभविषत
मध्यम पुरुष	अन्वभाविष्ठाः	अन्वभाविषाथाम	अन्वभाविध्वम्
	अन्वभविष्ठाः	अन्वभविषाथाम	अन्वभविध्वम्
उत्तम पुरुष	अन्वभाविषि	अन्वभाविष्वहि	अन्वभाविष्महि
	अन्वभविषि	अन्वभविष्वहि	अन्वभविष्महि
लृङ्	**एकवचन**	**द्विवचन**	**बहुवचन**
प्रथम पुरुष	अन्वभाविष्यत	अन्वभाविष्येताम्	अन्वभाविष्यन्त
	अन्वभविष्यत	अन्वभविष्येताम्	अन्वभविष्यन्त
मध्यम पुरुष	अन्वभाविष्यथाः	अन्वभाविष्येथाम्	अन्वभाविष्यध्वम्
	अन्वभविष्यथाः	अन्वभविष्येथाम्	अन्वभविष्यध्वम्
उत्तम पुरुष	अन्वभाविष्ये	अन्वभाविष्यावहि	अन्वभाविष्यामहि
	अन्वभविष्ये	अन्वभविष्यावहि	अन्वभविष्यामहि

भावकर्म के णिजन्त क्रियारूप –

भू धातु से हेतुमति च सूत्र द्वारा हेतुमत् अर्थ में णिच् का विधान कर णकार–चकार की इत्संज्ञा लोप, णित्त्वाद् वृद्धि तथा आव् आदेश करने पर भावि णिजन्त रूप बनता है। सनाद्यन्ताः धातवः से धातु संज्ञा होकर सकर्मक होने से भावि से कर्मणि लकार होंगे। इसकी प्रक्रिया निम्नानुसार है–

लट्	**एकवचन**	**द्विवचन**	**बहुवचन**
प्रथम पुरुष	भाव्यते	भाव्येते	भाव्यन्ते
मध्यम पुरुष	भाव्यसे	भाव्येथे	भाव्यध्वे
उत्तम पुरुष	भाव्ये	भाव्यावहे	भाव्यामहे

लिट्	**एकवचन**	**द्विवचन**	**बहुवचन**
प्रथम पुरुष	भावयाञ्चक्रे	भावयाञ्चक्राते	भावयाञ्चक्रिरे
मध्यम पुरुष	भावयाञ्चक्रिषे	भावयाञ्चक्राथे	भावयाञ्चक्रिध्वे
उत्तम पुरुष	भावयाञ्चक्रे	भावयाञ्चक्रिवहे	भावयाञ्चक्रिमहे

लुट्	**एकवचन**	**द्विवचन**	**बहुवचन**
प्रथम पुरुष	भाविता	भावितारौ	भावितारः
मध्यम पुरुष	भावितासे	भावितासाथे	भाविताध्वे
उत्तम पुरुष	भाविताहे	भावितास्वहे	भावितास्महे

लृट्	**एकवचन**	**द्विवचन**	**बहुवचन**
प्रथम पुरुष	भाविष्यते	भाविष्येते	भाविष्यन्ते
मध्यम पुरुष	भाविष्यसे	भाविष्येथे	भाविष्यध्वे
उत्तम पुरुष	भाविष्ये	भाविष्यावहे	भाविष्यामहे

लोट्	**एकवचन**	**द्विवचन**	**बहुवचन**
प्रथम पुरुष	भाव्यताम्	भाव्येताम्	भाव्यन्ताम्
मध्यम पुरुष	भाव्यस्व	भाव्येथाम्	भाव्यध्वम्
उत्तम पुरुष	भाव्यै	भाव्यावहै	भाव्यामहै

लङ्	**एकवचन**	**द्विवचन**	**बहुवचन**
प्रथम पुरुष	अभाव्यत	अभाव्येताम्	अभाव्यन्त
मध्यम पुरुष	अभाव्यथाः	अभाव्येथाम्	अभाव्यध्वम्
उत्तम पुरुष	अभाव्ये	अभाव्यावहि	अभाव्यामहि

विधिलिङ्	**एकवचन**	**द्विवचन**	**बहुवचन**
प्रथम पुरुष	भाव्येत	भाव्येयाताम्	भाव्येरन्
मध्यमपुरुष	भाव्येथाः	भाव्येयाथाम्	भाव्येध्वम्
उत्तम पुरुष	भाव्यय	भाव्येवहि	भाव्येमहि

आशीर्लिङ्	**एकवचन**	**द्विवचन**	**बहुवचन**
प्रथम पुरुष	भाविषीष्ट	भाविषीयास्ताम्	भाविषीरन्
मध्यम पुरुष	भाविषीष्ठाः	भाविषीयास्थाम्	भाविषीध्वम्
उत्तम पुरुष	भाविषीय	भाविषीवहि	भाविषीमहि

लुङ्	**एकवचन**	**द्विवचन**	**बहुवचन**

प्रथम पुरुष	अभावि	अभाविषाताम्	अभाविषत
मध्यम पुरुष	अभाविष्ठाः	अभाविषाथाम्	अभाविध्वम्
उत्तम पुरुष	अभाविषि	अभाविष्वहि	अभाविष्महि
लृङ्	**एकवचन**	**द्विवचन**	**बहुवचन**
प्रथम पुरुष	अभाविष्यत	अभाविष्येताम्	अभाविष्यन्त
मध्यम पुरुष	अभाविष्यथाः	अभाविष्येथाम्	अभाविष्यध्वम्
उत्तम पुरुष	अभाविष्ये	अभाविष्यावहि	अभाविष्यामहि

भावकर्म के सन्नन्त क्रियारूप –

भू धातु से ''धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायां वा'' सूत्र से इच्छा अर्थ में सन् प्रत्यय कर सन्यङोः से द्वित्व आदि करने पर बुभूष यह सन्नन्त रूप निष्पन्न होता है। सनाद्यन्ताः धातवः से धातु संज्ञा होती है अकर्मक धातु होने से लकार कर्ता या भाव में होंगे । भाववाच्य में किसी भी धातु के प्रथम पुरुष एकवचन में ही रूप चलते हैं। जैसे लट् लकार प्रथम पुरुष एकवचन कर्ता में बुभूषति, भाव में बुभूष्यते। बुभूष धातु के दश लकारों में प्रथम पुरुष एकवचन के रूप यथा– लट–बुभूष्यते। लिट्– बुभूषांचक्रे । लुट्– बुभूषिता । लृट् – बुभूषिष्यते । लोट् – बुभूष्यताम्। लङ्– अबुभूष्यत। विधिलिङ् – बुभूष्येत। आशीर्लिङ् – बुभूषिषीष्ट । लुङ् – अबुभूषि। लृङ् – अबुभूषिष्यत ।

भावकर्म के यङन्त क्रियारूप –

भू धातु से क्रिया समभिहार म ''धातोरेकाचो हलादेः क्रिया समभिहारे यङ्'' सूत्र से यड्. प्रत्यय तथा द्वित्वादि कार्य करने पर बोभूय (बार बार होना या अतिशय होना) यङन्त रूप बनता है। बोभूय यह एक अकर्मक धातु है। सनाद्यन्ताः धातवः से धातु संज्ञा होकर बोभूय धातु से कर्तृवाच्य तथा भाववाच्य में लकार होते हैं।

भावप्रयोग में बोभूय धातु के दश लकारों में प्रथम पुरुष एकवचन के रूप जैसे– लट्– बोभूय्यते । लिट्– बोभूयांचक्रे । लुट्– बोभूयिता । लृट्– बोभयिष्यते। लोट्– बोभूय्यताम्। लङ्– अबोभूय्यत। विधिलिङ्– बोभूय्येत। आशीर्लिङ् –बोभूयिषीष्ट। लुङ् – अबोभूयि । लृङ् – अबोभूयिष्यत।

भावकर्म के यङ्लुगन्त क्रियारूप –

भू धातु से क्रिया समभिहार में ''धातोरेकाचो हलादेः क्रिया समभिहारे यङ्'' सूत्रसे यङ् प्रत्यय करने पर ''यङोऽचि च'' से उस यङ् का प्रत्यय लक्षण उसे यङ् मानकर द्वित्वादि कार्य करने पर बोभू (बार बार होना या अतिशय होना) यह यङ्लुगन्त रूप बनता है। बोभू यह एक अकर्मक धातु है। ''सनाद्यन्ता धातवः'' से धातु संज्ञा होकर बोभूय धातु से कर्तृवाच्य तथा भाववाच्य में लकार होते हैं।

भावप्रयोग में बोभू धातु के दश लकारों में प्रथम पुरुष एकवचन के रूप जैसे – लट्– बोभूयते। लिट्– बोभवांचक्रे। लुट्– बोभाविता , बोभविता । लृट् – बोभाविष्यते, बोभविष्यते । लोट्– बोभूयताम्। लङ् – अबोभूयत। विधिलिङ् – बोभूयेत। आशीर्लिङ् – बोभाविषीष्ट, बोभविषीष्ट। लुङ् – अबोभावि । लृङ् – अबोभाविष्यत, अबोभविष्यत ।।

यङन्त एवं यङ्लुगन्त धातुएँ अपने मूल धातु की तरह हो सकर्मक या अकर्मक होती हैं। चूँकि भू धातु अकर्मक है अतः उससे निष्पन्न यङन्त बोभूय एवं यङ्लुगन्त बोभू भी अकर्मक के रूप में ही प्रयुक्त होगें। यदि कोई धातु सकर्मक है तो उससे निष्पन्न यङन्त एवं यङ्लुगन्त पद भी सकर्मक ही होगा।

भावकर्म के अन्तर्गत कुछ विशिष्ट सूत्रों का प्रयोग –

सूत्र – तनोतेर्यकि ।।

वृत्ति – आकारान्तादेशो वा स्यात् । तायते, तन्यते।।

अर्थ – यक् परे होने पर तन् धातु के नकार को विकल्प से आकार आदेश हो ।

व्याख्या – यक् परे होने पर तन् धातु के स्थान पर विकल्प से आकार आदेश हो। अलोऽन्त्य परिभाषा से तन् के नकार को ही आकार आदेश होता है। यथा– तन् + य (क्) + त यहाँ यक् परे है अतः प्रकृतसूत्र से तन् के नकार को विकल्प से आकार आदेश होकर सवर्ण दीर्घ तथा टि को एत्व करने से तायते प्रयोग सिद्ध होता है। विकल्प पक्ष में तन्यते रूप भी बनता है।

सूत्र – तपोऽनुतापे च ।।

वृत्ति – तपश्च्लेश्चिण् न स्यात् कर्मकतरि अनुतापे च। अन्वतप्त पापेन ।

अर्थ – कर्मकर्ता में अथवा पश्चाताप अर्थ में तप् धातु से परे च्लि को चिण् नहीं होता ।

व्याख्या – तप् धातु से परे च्लि के स्थान पर चिण् नहीं होता कर्मकर्ता में अथवा पश्चाताप में । जैसे – अन्वतप्त पापेन।

सूत्र – आतो युक् चिण्कृतोः।।

वृत्ति – आदन्तानां युगागमः स्याच्चिणि ञ्णिति कृति च । दायिता–दाता । दायिषीष्ट–दासीष्ट। अदायि । अदायिषाताम् (अदिषाताम्)। भज्यते।

सूत्र – भञ्जेश्च चिणि।।

वृत्ति – नलोपो वा स्यात् । अभाजि, अभञ्जि। लभ्यते।

अर्थ – चिण् परे हो तो भञ्ज् धातु के नकार का विकल्प से लोप हो।

यथा – भञ्ज् धातु लुङ् लकार प्रथम पुरुष एकवचन में अभञ्ज् + इ +त यहाँ चिण् परे है अतः प्रकृत सूत्र से भञ्ज् के नकार का विकल्प से लोप हो जाता है। उपधा वृद्धि, चिणो लुक् से त लुक् करने पर अभाजि। न लोप के अभाव में, चिणो लुक् से त लुक् करने पर अभञ्जि । अभाजि, अभञ्जि । अभङ्क्षाताम्। अभ्रङ्क्षत ।

सूत्र – विभाषा चिण्णमुलोः।।

वृत्ति – लभेर्नुमागमो वा स्यात् । अलम्भि, अलाभि।

अर्थ– चिण् या णमुल् परे होने पर लभ् धातु को विकल्प से नुम् का आगम हो ।

यथा – अलभ् + इ + त यहां चिण् परे है अतः प्रकृतसूत्र से लभ् को नुम् का वैकल्पिक आगम होकर नकार को अनुस्वार तथा अनुस्वार को परसवर्ण करने पर अलम्भ् + इ + त अब चिणो लुक् करने से अलम्भि प्रयोग सिद्ध होता है । नुम् के अभाव पक्ष में उपधा वृद्धि होकर , त लुक् हो अलाभि रूप सिद्ध होता है।

संस्कृत व्याकरण में कुछ द्विकर्मक धातुओं के कर्म वाच्य का निर्धारण इस प्रकार किया गया है–

गौणे कर्मणि दुह्यादेः, प्रधाने नी–हृ–कृष्–वहाम्

अर्थात् दुह् आदि धातुओं के गौण (अप्रधान) कर्म में तथा नी, हृ, कृष् और वह् धातुओं के प्रधान कर्म में लकार हुआ करते हैं। जिस कर्म में लकार होगा वह कर्म उक्त हो जायेगा तब उस में प्रथमा विभक्ति आयेगी । दूसरा कर्म अनुक्त होने से उसमें द्वितीया विभक्ति रहेगी। उदाहरण यथा–

कर्तृवाच्य	**कर्मवाच्य**
(सः) गां दोग्धि पयः ।	(तेन) गौर्दुह्यते पयः।

(सः) बलिं याचते वसुधाम्	(तेन) बलिर्याच्यते वसुधाम्।
(सः) तण्डुलानोदनं पचति।	(तेन) तण्डुला ओदनं पच्यन्ते।
(राजा) गर्गान् शतं दण्डयति।	(राज्ञा) गर्गाः शतं दण्ड्यन्ते।
(गोपः) व्रजमवरुणद्धि गाम्।	(गोपेन) व्रजोऽवरुध्यते गाम्।
(सः) माणवकं पन्थानं पृच्छति।	(तेन) माणवकं पन्थानं पृच्छ्यते।
(वटुः) वृक्षमवचिनोति फलानि।	(वटुना) वृक्षो अवचीयते फलानि।
(गुरुः) माणवकं धर्मं ब्रूते।	(गुरुणा) माणवकं धर्मं उच्यते।
(गुरुः) माणवकं धर्मं शास्ति।	(गुरुणा) माणवकं धर्मं शिष्यते।
(सः) शतं जयति देवदत्तम्।	(तेन) शतं जीयते देवदत्तः।
(सः) सुधां क्षीरनिधिं मथ्नाति।	(तेन) सुधां क्षीरनिधिर्मथ्यते।
(चौरः) देवदत्तं शतं मुष्णाति।	(चौरेण) देवदत्तः शतं मुष्यते।

प्रधाने कर्मणि

(सः) ग्रामम् अजां नयति।	(तेन) ग्रामम् अजा नीयते।
(सः) ग्रामम् अजां हरति।	(तेन) ग्रामम् अजा ह्रियते।
(सः) ग्रामम् अजां कषति।	(तेन) ग्रामम् अजा कर्ष्यते।
(सः) ग्रामम् अजां वहति।	(तेन) ग्रामम् अजा उह्यते।

20.4 कर्मकर्तृक प्रक्रिया

संस्कृतव्याकरणानुसार जब करण या अधिकरण आदि को कर्त्ता बनाया जाता है तब कुछ विशेष परिवर्तन नहीं होता, साधारणतया उनको कर्त्ता मानकर उनमें लकारों का विधान कर सरलता से प्रयोग निष्पन्न हो जाते हैं, परन्तु जब कर्म को कर्त्ता बनाया जाता है तब उसमें कहीं–कहीं विशेष परिवर्तन होता है। इसी को बताने के लिये कर्मकर्तृ प्रक्रिया का यह प्रकरण प्रारम्भ किया जाता है। विवक्षातः कारकाणि भवन्ति (कारक वक्ता की इच्छा के अधीन होते हैं) यह स्पष्ट ही है। कभी–कभी वक्ता प्रयोजनवशात् करण, कर्म आदियों को भी कर्त्ता बना कर प्रयुक्त करता है। यथा– असिश्छिनत्ति (तलवार काटती है), अग्निः पचति (आग पकाती है), काष्ठं भिद्यते (लकडी टूटती है), फलं पच्यते (फल पकता है), स्थाली पचति (बटलोई पकाती है)। यहां तलवार और अग्नि वस्तुतः करण हैं, काष्ठ और फल कर्म हैं तथा स्थाली अधिकरण है, परन्तु इनमें वक्ता की कर्तृ विवक्षा है। अतः इनका करणादि – रूपेण प्रयोग न कर कर्तृरूपेण प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार की विवक्षा में प्रायः सौकर्यातिशय (अत्यन्त आसानी) आदि का द्योतित कराना ही प्रयोजन होता है। असिश्छिनत्ति में वक्ता को तलवार की धार के तेज होने से काटने में आसानी को द्योतित कराना अभीष्ट है। यही अग्निः पचति में अभीष्ट है। काष्ठं भिद्यते में 'लकड़ी की शुष्कता के कारण उसके तोड़ने में कठिनाई का न होना' वक्ता को विवक्षित है। स्थाली पचति में बटलोई के पेंदे के पतलेपन के कारण पाक में अत्यन्त असानी का होना वक्ता को अभीष्ट है। इस प्रकार के प्रयोग संस्कृत भाषा में भो उपलब्ध होते हैं।

यदा कर्मैव कर्तृत्त्वेन विवक्षितं तदा सकर्मकाणामपि अकर्मकत्वात् कृर्तरि भावे च लकारः।।

अर्थ – जब वक्ता को कर्म ही कर्तृत्त्वेन कहना अभीष्ट होता है तो सकर्मक धातुएँ भी (प्रायः) अकर्मक बन जाती हैं। तब अकर्मक होने से उन धातुओं से कर्त्ता और भाव में लकार होते हैं।

व्याख्या – कई बार वक्ता अत्यन्त आसानी को प्रकट करने के लिये कर्म को भी कर्त्ता बना कर प्रयोग किया करता है। ऐसी स्थिति में सकर्मक धातु भी अकर्मक हो जाती है। यथा– काष्ठं भिद्यते (लकड़ी अपने आप टूटती है)। यहाँ भिद् धातु जो सकर्मक हुआ करती

है। सकमक अवस्था में इसका अर्थ होता था– तोड़ना। अब इसका अर्थ हो गया है– टूटना। अकर्मक धातुओं से ''लः कर्मणि च भावे चाऽकर्मकेभ्यः'' सूत्र के अनुसार कर्त्ता और भाव में लकार हुआ करते हैं, तो यहाँ भी धातु से कर्त्ता और भाव में लकार होंगे।

सूत्र – कर्मवत् कर्मणा तुल्यक्रियः ।।

वृत्तिः– कर्मस्थया क्रियया तुल्यक्रियः कर्त्ता कर्मवत् स्यात् । कार्यातिदेशोऽयम्। तेन यगात्मनेपदचिण्चिण्वदिटः स्युः। पच्यते फलम्। भिद्यते काष्ठम्। अपाचि । अभेदि। भावे तु भिद्यते काष्ठेन ।।

अर्थः– कर्म में स्थित क्रिया के साथ तुल्य क्रिया वाला कर्त्ता कर्मवत् हो । यह कार्यातिदेश है अतः कर्मवाच्य में यक् आत्मनेपद, चिण् और चिण्वदिट् कार्य यहाँ भी हो जाते हैं।

व्याख्या :– कर्मणा के कर्मशब्द से व्याख्यान द्वारा यहाँ कर्मस्थ क्रिया का ग्रहण अभीष्ट है। तुल्या क्रिया यस्य स तुल्य क्रियः, बहु0। कर्मस्थ क्रिया के साथ तुल्य क्रिया वाला कर्त्ता कर्मवत् होता है। तात्पर्य यह है कि कर्म के कर्त्ता बनने के पूर्व जो क्रिया कर्म में स्थित होती है यदि वही क्रिया अब कर्मकर्तृ प्रक्रिया के कर्त्ता में स्थित हो तो कर्त्ता कर्मवत् हो जाता है।

यथाः–	**कर्त्ता**	**कर्म**	**क्रिया**	**कर्मकर्तृ**	**क्रिया**
	कालः	फलं	पचति –	फलं	पच्यते
	देवदत्तः	काष्ठं	भिनत्ति–	काष्ठं	भिद्यते

इत्यादियों में पच् धातु की विक्लेदन क्रिया तथा भिद् धातु की द्वैधीभाव क्रिया जो कर्म में स्थित है वही क्रिया कर्मकर्तृ प्रक्रिया के फलं पच्यते तथा काष्ठं भिद्यते वाक्यों के कर्त्ता में भी विद्यमान है, उस में कुछ अन्तर नहीं आया अतः यहां का कर्त्ता कर्मवत हो जायेगा। कर्त्ता को अतिदेश करने का अभिप्राय यह है कि कर्म अर्थात् कर्मवाच्य में जो कार्य हुआ करते हैं वे अब कर्मकर्तृप्रक्रिया में कर्म के कर्त्ता बन जाने पर भी होगें । कर्मवाच्य में आत्मनेपद, यक्, चिण् तथा चिण्वदिट् – ये कार्य सुप्रसिद्ध हैं, वे अब कर्मकर्तृ प्रक्रिया म भी होने लगेंगे। सारतः कर्मकर्त्ता का कर्त्ता कर्मवाच्य के समान कार्यभाक् हो जायेगा। कर्मकर्तृक प्रक्रिया का उदाहरण मुण्डकोपनिषद् के इस श्लोक में अच्छी तरह से देखा जा सकता है–

भिद्यत हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे पराऽवरे।।

यहाँ ध्यातव्य है कि केवल उसी क्रिया का कर्त्ता कर्मवद्भाव को प्राप्त होता है जिस क्रिया के कर्म में स्थित होने पर कर्म में स्पष्टतया कुछ विकार प्रतीत होता है । जैसे पच् के कर्म पके हुए चावलों और भिद् के कर्म चीरी हुई लकड़ियों को देख कर स्पष्ट प्रतीत होता है कि इनमें पाक व भेदन क्रिया का असर हुआ है। अतः इन धातुओं के कर्म के कर्त्ता बनने पर कर्मस्थक्रिया होने से कर्मवद्भाव हो जाता है – ओदनः पच्यते, फलं पच्यते, काष्ठं भिद्यते आदि।

परन्तु गम्, दृश्, ज्ञा आदि कर्तृस्थक्रिया धातुओं के कर्म में इस प्रकार का कोई स्पष्ट विकार दिखाई नहीं देता। अतः इन धातुओं के कर्म के कर्त्ता बनने पर भी कर्मवद्भाव नहीं होता शुद्ध कर्तृप्रक्रियावत् रूपसिद्धि होती है। यथा–

ग्रामः स्वयमेव गच्छति (ग्राम स्वयं ही जाता है)

घटः स्वयमेव पश्यति (घड़ा स्वयं ही दिखाई देता है)

श्लोकार्थः स्वयमेव जानाति (श्लोक का अर्थ स्वयमेव ज्ञात होता है)।

20.5 लकारार्थ प्रक्रिया

तिङन्तप्रकरण के आरम्भ में वर्तमाने लट् आदि सूत्रों के द्वारा लकारों के सामान्य अर्थ बताये जा चुके हैं। अब उत्सर्गापवादपूर्वक उनके कुछ विशेष अर्थ बतलाने के लिए यह प्रकरण प्रारम्भ किया जा रहा है–

सूत्र – अभिज्ञावचने लृट्।।

वृत्ति – स्मृतिबोधिन्युपपदे भूताऽनद्यतने धातोर्लृट्। लङोऽपवादः। वस निवासे। स्मरसि कृष्ण! गोकुले वत्स्यामः । एवं बुध्यसे, चेतयसे इत्यादि प्रयोगेऽपि।।

अर्थ – स्मृतिबोधक पद समीप हो तो भूत अनद्यतन में लृट् लकार होता है।

व्याख्या – (अभिज्ञावचने) स्मृतिबोधक पद निकट पढ़ा हो तो भूत अनद्यतन अर्थ में धातु से लृट् लकार का प्रयोग हो जाता है। भूत अनद्यतन अर्थ में लृट् द्वारा लङ् का विधान है, यह उस सूत्र का अपवाद है। उदाहरण यथा–

स्मरसि कृष्ण! गोकुले वत्स्यामः (हे कृष्ण! तुम्हें याद है कि हम गोकुल में रहते थे)। यहाँ 'स्मरसि' यह स्मृति–बोधक पद निकट पढा है अतः अनद्यतने लङ् से प्राप्त लङ् का बोध कर प्रकृतसूत्र से भूतानद्यतन में लट् हो गया है। वस निवासे (रहना भ्वा0 परस्मै0 अनिट्) धातु के लृट् में स्य प्रत्यय करने पर सः स्यार्धधातुके से धातु के सकार को तकार आदेश हो जाता है – वत्स्यति, वत्स्यतः, वत्स्यन्ति आदि । यहाँ उत्तम पुरुष के बहुवचन में वत्स्यामः का प्रयोग किया गया है।

सूत्र – न यदि ।।

वृत्ति – यद्योगे उक्तं न। अभिजानासि कृष्ण ! यद्वने अभुञ्ज्महि।।

अर्थ – 'यद्' शब्द के योग में स्मृतिबोधक पद के निकट रहने पर भी भूतानद्यतन अर्थ में लृट् नहीं होता।

व्याख्या – (यदि अभिज्ञावचने) 'यद्' शब्द से युक्त स्मृतिबोधक पद निकट पढ़ा हो तो भूत अनद्यतन अर्थ में धातु से परे लृट् (न) नहीं होता। यह पूर्वसूत्र का निषेध करता है। अतः लृट् से मुक्त होने पर 'अनद्यतने लङ् द्वारा औत्सर्गिक लङ् हो जाता है। यथा–

अभिजानासि कृष्ण ! यद् वने अभुञ्ज्महि (कृष्ण ! क्या तुम्हे याद है कि हमने वन में खाया था)। यहाँ 'यद्' शब्द का योग है अतः 'अभिजानासि' इस स्मृतिबोधक पद के उपपद रहते हुए भी प्रकृतसूत्र से पूर्वप्राप्त लृट् का निषेध हो जाता है। तब 'अनद्यतन लङ् से लङ् होता है। 'अभुञ्ज्महि' यह भक्षणार्थक भुज् धातु के आत्मनेपद लङ् के उत्तम पुरुष का बहुवचन है। यहां भुजोऽनवने सुत्र से आत्मनेपद हुआ है।

सूत्र– लट् स्मे।।

वृत्ति – लिटोऽपवादः । यजति स्म युधिष्ठिरः।।

अर्थ – 'स्म' शब्द उपपद हो तो भूतानद्यतन परोक्ष अर्थ में धातु से परे लट् प्रत्यय होता है।

व्याख्या – 'स्म' शब्द का योग हो तो भूत अनद्यतन परोक्ष अर्थ में वर्तमान धातु से लट् प्रत्यय होता है। भूतानद्यतन परोक्ष अर्थ में परोक्षे लिट् प्राप्त था उस का यह अपवाद है। यथा–

यजति स्म युधिष्ठिरः (युधिष्ठिर यज्ञ करते थे)। यहां 'स्म' शब्द का योग है, अतः भूतानद्यतन परोक्ष अर्थ में परोक्षे लिट् से प्राप्त लिट् का बाध कर प्रकृतसूत्र से लट् हो गया है। यहां आत्मनेपद का प्रयोग होता तो अच्छा था।

सूत्र – वृर्त्तमानसामीप्ये वृर्त्तमानवद्वा।।

वृत्ति – वर्तमाने ये प्रत्यया उक्तास्ते वर्तमानसामीप्ये भूते भविष्यति च वा स्युः। कदाऽऽगतोऽसि? अयमागच्छामि; अयमागमं वा। कदा गमिष्यसि ? एष गच्छामि; गमिष्यामि वा।।

अर्थ – वर्तमान काल में जो प्रत्यय जिस–जिस अर्थ में कहे गये हैं वे प्रत्यय वर्तमान काल के समीपवर्ती भूत और भविष्यत् काल में विकल्प से हों।

व्याख्या – वर्तमानकाल के समीप भूत और भविष्यत् काल में वर्तमान काल की तरह प्रत्यय ;वाद्ध विकल्प से हो जाते हैं।

भूतकाल में यथा– किसी ने पूछा – कदाऽऽगतोऽसि? (तुम कब आये?) भूतकाल में प्रश्न है । उत्तर मिलता है– अयम् आगच्छामि (यह मै आ रहा हूँ)। उत्तर वर्त्तमानकाल में दिया गया है। कारण कि यह भूतकाल वर्तमानकाल के निकटवर्ती है अतः भूतकाल में भी प्रकृत सूत्र की सहायता से वर्तमाने लट् द्वारा भविष्यतकाल में भी लट् का प्रयोग किया गया है। 'वा' कहने से लृट् का भी प्रयोग होगा – एष गमिष्यामि (मैं अभी जाऊँगा)।

इसी प्रकार वर्तमानकालिक शतृ, शानच्, इष्णुच् आदि प्रत्ययों के विषय में भी समझना चाहिये – देवदत्त! कदाऽऽगतः? आगच्छन्तमेव मां विद्धि । यज्ञदत्त! कदा गमिष्यसि ? गच्छन्तमेव मां विद्धि।

वर्तमानकाल की समीपता में ही यह सूत्र प्रवृत्त होता है विप्रकृष्टता में नहीं । यथा – कदाऽऽगतो भवान्? अस्मान्मासात् पूर्वस्मिन् मासे आगच्छम्। कदा गमिष्यति भवान् पाटलिपुत्रम् ? वर्षेण गमिष्यामि ।

सूत्र – हेतुहेतुमतोर्लिङ् ।।

वृत्तिः– वा स्यात्। कृष्णं नमेच्चेत् सुखं यायात् । कृष्णं नंस्यति चेत् सुखं यास्यति । भविष्यत्येवेष्यते– नेह, हन्तीति पलायते।।

अर्थ – हेतुहेतुमद्भाव अर्थात् कारणकार्यभाव में धातु से विकल्प से लिङ् हो। भविष्यत्येवेष्यते– इस सूत्र की भविष्यतकाल में ही प्रवृत्ति अभीष्ट है।

व्याख्या – कारण को हेतु तथा कार्य को 'हेतुमत्' कहते हैं। हेतु और हेतुमत् अर्थात् कारणकार्य– भाव के द्योत्य होने पर भविष्यतकाल में धातु से परे विकल्प से लिङ् लकार हो जाता है। लिङ् के अभाव में भविष्यत्सामान्य में लृट् शेषे च से लृट् हो जायेगा। उदाहरण यथा–

कृष्णं नमेच्चेत् सुखं यायात् ;यदि वह कृष्ण को नमस्कार करेगा तो सुख पायेगाद्ध। यहाँ 'कृष्ण को नमस्कार करना' हेतु तथा 'सुख का पाना' हेतुमत् अर्थात् कार्य है। अतः हेतुहेतुमद्भाव में नम् और या दोनों धातुओं से लिङ् होकर यह वाक्य निष्पन्न हुआ है। पक्ष में भविष्यत्सामान्य में लृट् का प्रयोग होगा – कृष्णं नंस्यति चेत् सुखं यास्यति।

20.6 पारिभाषिक शब्दावली

अकर्मक– जिन धातुओं के साथ कर्म नहीं लगता है ऐसे धातु को अकर्मक कहते हैं। फलसमानाधिकरणव्यापारवाचकत्वम् अकर्मकत्वम्। अर्थात् जब धातु का फल और व्यापार अलग अलग हो तो उसे अकर्मक कहते हैं।

आत्मनेपद– आत्मने हितम् आत्मनेपदम् अर्थात् वह पद जिसका फल अपने (स्वयं) के लिए होता है। आत्मनेपद की धातुओं के साथ आत्मनेपद बोधक प्रत्यय होते हैं।

इट्– जिन धातुओं में इट् होता है वे सेट् और जिन में नहीं होता है वे अनिट् कहलाती ह। यह इट् का आगम धातु और प्रत्यय के बीच में होता है। विशेषतः वलादि आर्धधातुक प्रत्ययों को इट् का आगम होता है। आर्धधातुकस्येड् वलादेः। अर्थात् आर्धधातुक प्रत्ययों के परे रहते ही इट् का आगम होता है। इट् का इ शेष रहता है – पठिष्यति, पठितुम्।

कर्मकर्तृक– जब कर्म को कर्ता बनाने की आवश्यकता होती है तब प्रक्रियाओं, विशेष नियमों एवं परिवर्तनों को करना पड़ता है। इन्हीं नियमों एवं परिवर्तनों से युक्त प्रकरण का नाम कर्मकर्तृप्रक्रिया है।

कर्मवत्– कर्मस्थ क्रिया के साथ तुल्य क्रिया वाला कर्त्ता कर्मवत् होता है। तात्पर्य यह है कि कर्म के कर्त्ता बनने के पूर्व जो क्रिया कर्म में स्थित होती है यदि वही क्रिया अब कर्मकर्तृ प्रक्रिया के कर्त्ता में स्थित हो तो कर्त्ता कर्मवत् हो जाता है।

कर्तृवाच्य– इसमें कर्ता मुख्य होता है। कर्ता में प्रथमा, कर्म में द्वितीया तथा कर्ता के पुरुष लिंग और वचन के अनुसार क्रिया होती है। जैसे – रामः ग्रन्थं पठति । रामः ग्रन्थं पठतु आदि।

कर्मवाच्य– सकर्मक धातु से ही कर्मवाच्य होता है। इसमें कर्म की प्रधानता होती है। कर्ता में तृतीया कर्म में प्रथमा तथा कर्म के लिंग, विभक्ति और वचन के अनुसार क्रिया का निर्धारण होता है। कर्मवाच्य में लट्, लोट्, लङ् तथा लिङ् लकारों में धातुओं के अन्त में यक् (य) प्रत्यय लगता है। धातु आत्मनेपद के समान चलती है। जैसे –रामेण ग्रन्थः पठ्यते।

भावकर्म– अकर्मक धातुओं से भाव अर्थ में और सकर्मक धातुओं से कर्म अर्थ में लकारों के प्रयोग को भावकर्म कहते हैं।

भाववाच्य– अकर्मक धातुओं से भाववाच्य होता है। भाववाच्य में कर्ता में तृतीया विभक्ति होती है। क्रिया में प्रथमपुरुष एकवचन अथवा नपुंसकलिंग एकवचन होता है। यथा– तेन भूयते। मया भवितव्यम्।

लकारार्थ– तिङन्त प्रक्रिया के अन्तर्गत वर्तमाने लट् आदि सूत्रों के द्वारा लकारों के सामान्य अर्थों को बताया जाता है। उनके कुछ विशेष अर्थ बतलाने के लिए जिस प्रकरण को आरम्भ किया जाता है। उसे लकारार्थ प्रक्रिया कहते हैं।

20.7 अभ्यासार्थ प्रश्न

बोध प्रश्न

1. क) (✓) ख) (X) ग) (X) घ) (✓) ङ) (✓)
2. प्रथम पुरुष – पठ्यते पठ्येते पठ्यन्ते
   मध्यम पुरुष – पठ्यसे पठ्येथे पठ्यध्वे
   उत्तम पुरुष – पठ्ये पठ्यावहेपठ्यामहे
3. क) (X) ख) (✓)ग) (X) घ) (X) ङ) (✓)
4. क) (✓) ख) (✓)ग) (✓) घ) (X) ङ) (X)

प्रश्न 6. निम्न प्रश्नों में से सही के आगे (✓) तथा असत्य के आगे (X अंकित करें ।

(क) स्मृति बोधक शब्द के परे अनद्यतन भूत में लृट् लकार होता है। ( )

(ख) अनद्यतन भूतकाल के अर्थ में धातु से लङ् लकार होता है। ( )

(ग) यदि शब्द से युक्त स्मृतिबोधक शब्दपरे अनद्यतन भूत में लृट होता है। ( )

(घ) स्म शब्द से युक्त भूतानद्यतन परोक्ष अर्थ में लट् लकार होता है। ( )

(ङ) हेतुहेतुमद्भाव में विकल्प से लिङ् लकार होता है । ( )

अभ्यास–

प्रश्न 7. अभिज्ञावचने लृट् सूत्र को सोदाहरण स्पष्ट करें।

20.8 सारांश

धातुओं के प्रकारों में सकर्मक, अकर्मक तथा द्विकर्मक एवं सेट्, अनिट् तथा वेट् और परस्मैपद, आत्मनेपद तथा उभयपद का महत्त्व है। संस्कृत भाषा में वाच्य तीन प्रकार के होते हैं– कर्तृवाच्य ,कर्मवाच्य तथा भाववाच्य । कर्तृवाच्य– इसमें कर्ता मुख्य होता है। कर्ता में प्रथमा, कर्म में द्वितीया तथा कर्ता के पुरुष, लिंग और वचन के अनुसार क्रिया होती है।

जैसे – रामः ग्रन्थं पठति । रामः ग्रन्थं पठतु आदि। कर्मवाच्य– सकर्मक धातु से ही कर्मवाच्य होता है। इसमें कर्म की प्रधानता होती है। कर्ता में तृतीया कर्म में प्रथमा तथा कर्म के लिंग, विभक्ति और वचन के अनुसार क्रिया का निर्धारण होता है। कर्मवाच्य में लट्, लोट्, लङ् तथा लिङ् लकारों में धातुओं के अन्त में यक् (य) प्रत्यय लगता है। धातु आत्मनेपद के समान चलती है। भाववाच्य– अकर्मक धातुओं से भाववाच्य होता है। भाववाच्य में कर्ता में तृतीया विभक्ति होती है। क्रिया में प्रथम पुरुष एकवचन अथवा नपुंसकलिंग एकवचन होता है। यथा– तेन भूयते। मया भवितव्यम्। भावकर्म– लकारों का प्रयोग तीन अर्थों में होता है– कर्ता, कर्म और भाव में । सकर्मक धातुओं से लकार कर्मवाच्य और कर्तृवाच्य के अर्थ में तथा अकर्मक धातुओं से लकार भाववाच्य और कर्तृवाच्य के अर्थ में होते हैं। तिङन्त प्रकरणों में भ्वादिगण से लेकर परस्मैपद प्रकरण तक सकर्मक तथा अकर्मक दोनों प्रकार के धातुओं से लकारों का प्रयोग केवल कर्त्ता अर्थ में ही बतलाये गए थे। अब अकर्मक और सकर्मक धातुओं से भाववाच्य में तथा कर्मवाच्य में लकारों का प्रयोग एवं इनकी प्रक्रियाओं को दिखाने के लिये जिस प्रकरण का प्रारम्भ किया जाता है। उस प्रकरण को भावकर्म – प्रक्रिया कहते हैं। कर्मकर्तृक– जिस समय सुगमता का अतिशय बोधन करने के लिए कर्त्ता में रहने वाले व्यापार की विवक्षा न हो तब अपने व्यापार की स्वतन्त्रता के कारण अन्य कारक भी कर्तृसंज्ञा को प्राप्त होते हैं अर्थात् जब करण या अधिकरण आदि को कर्ता बनाया जाता है तब कुछ विशेष परिवर्तन नहीं होता, साधारणतया उनको कर्ता मानकर उन में लकारों का विधान कर प्रयोग निष्पन्न कर लेते हैं, परन्तु जब कर्म को कर्ता बनाने की आवश्यकता होती है तब प्रक्रियाओं, विशेष नियमों एवं परिवर्तनों को करना पड़ता है। इन्हीं नियमों एवं परिवर्तनों से युक्त प्रकरण का नाम कर्मकर्तृप्रक्रिया है। यथा– असिश्छिनत्ति (तलवार काटती है), फलं पच्यते (फल पकता है) यहाँ तलवार करण है और फल कर्म है, परन्तु इनमें वक्ता की कर्तृविवक्षा है। अतः इनका करणादि के रूप में प्रयोग न कर कर्तृरूप में प्रयोग किया जाता है। लकारार्थ– संस्कृत में 10 लकार होते हैं– लट् (वर्तमान काल अर्थ में) लिट् (परोक्षभूत काल अर्थ में) लुट् (अनद्यतन भविष्यत काल अर्थ में) लृट् (सामान्य भविष्यत काल अर्थ में) लेट् (मात्र वेद में प्रयुक्त होता है) लोट् (आज्ञा अर्थ में) ङित् लकार–लङ् (अनद्यतनभूत काल अर्थ में) लिङ् (विधि आदि अर्थ में) आशीर्लिङ् (आशीर्वाद के अर्थ में) लुङ् (सामान्यभूत काल अर्थ में) लृङ् (क्रियातिपत्ति अर्थ में) प्रयुक्त होते हैं। धातुओं में लगने वाले सार्वधातुक एवं आर्धधातुक प्रत्यय दो प्रकार के होते हैं। लट्, लोट्, लङ् तथा लिङ् लकार में लगने वाले प्रत्यय सार्वधातुक होते हैं शेष लकारों के प्रत्यय आर्धधातुक होते हैं। संस्कृत धातुओं को दस गणों में विभाजित किया गया है, ये धातुएँ अपने–अपने गणों के विकिरण के साथ युक्त हो प्रयुक्त होते हैं। तिङन्त प्रक्रिया के अन्तर्गत वर्तमाने लट् आदि सूत्रों के द्वारा लकारों के उपर्युक्त सामान्य अर्थों को बताया जा चुका है। अब उनके कुछ विशेष अर्थ बतलाने के लिए जिस प्रकरण का आरम्भ किया जा रहा है। उस प्रकरण का नाम लकारार्थ प्रक्रिया है।

20.9 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. लघुसिद्धांत कौमुदी, गोविन्द प्रसाद शर्मा, चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, 2014.
2. लघुसिद्धांत कौमुदी, श्री भीमसेन शास्त्री,चौखम्भा संस्कृत प्रतिष्ठान, नई दिल्ली, 2007.
3. लघुसिद्धांत कौमुदी, श्री महेष सिंह कुशवाहा, चौखम्भा संस्कृत प्रतिष्ठान, नई दिल्ली, 2012.
4. लघुसिद्धांत कौमुदी, श्री धरानंद शास्त्री,आयुर्वेद हिन्दी पुस्तक भण्डार, जयपुर, १६६६.
5. लघुसिद्धांत कौमुदी, डॉ0 अर्कनाथ चौधरी, जगदीश संस्कृत पुस्तकालय, जयपुर, 1997.

इकाई – 21

वाक्यपदीयम (ब्रह्मकाण्ड)

21.0 उद्देश्य
21.1 प्रस्तावना
21.2 वाक्यपदीय के अनुसार शब्दब्रह्म का स्वरूप
21.3 वाक्यपदीय में प्रतिपादित व्याकरण प्रयोजन
21.4 वाक्यपदीय में प्रतिपादित शब्दार्थसम्बन्ध
21.5 वाक्यपदीय के अनुसार शब्द में ग्राह्यत्व-ग्राहकत्व रूप शक्ति निरूपण
21.6 स्फोटरूप शब्द का अर्थ एवं स्व स्वरूप (शब्दस्वरूप) उभय प्रकाशकत्व
21.7 अखण्ड स्फोट स्वरूप शब्द एवं नित्य भेद में काल भेद एवं वृत्ति भेद की प्रतीति औपाधिक
21.8 वाक्यपदीय के अनुसार ध्वनिभेद, स्वरूप एवं स्फोट बोध में कारण ध्वनि
21.9 वाक्यपदीय के अनुसार शब्द की अभिव्यक्ति में ध्वनिकार्यविषयक विभिन्न मतों की समीक्षा
21.10 वाक्यपदीय के अनुसार–स्फोट एवं ध्वनि में व्यङ्ग्य–व्यञ्जकभाव का समन्वय
21.11 वाक्यपदीय में वर्णित शब्द विषयक विभिन्न मत
21.12 वाक्यपदीय में वर्णित वैयाकरणसिद्धान्तानुसार शब्द की व्यापकता
21.13 व्याकरण मोक्ष का साधन
21.14 वाक्यपदीय के अनुसार शास्त्र की सार्थकता में प्रमाण
21.15 वेदमूलक अनादि-आगम व्याकरण का प्रामाण्य
21.16 शब्द का जगत्कारणत्व के विषय में आचार्य भर्तृहरि का मत
21.17 निर्विकल्प ज्ञान (शब्द का विषय वने ज्ञान) के व्यवहार योग्य नहीं होनें में भर्तृहरि का मत
21.18 वाक्यपदीयकार के मत में प्रमाण
21.19 पारिभाषिक शब्दावली
21.20 अभ्यासार्थ प्रश्न
21.21 सारांश
21.22 सन्दर्भग्रन्थसूची

21.0 उद्देश्य

किसी भी प्राणी के आत्मिक एवं मानसिक व्यवहार को व्यक्त करने के लिए एकमात्र साधन शब्द होता है। अतः शब्द से ही संसार की व्यावहारिक प्रक्रिया चलती है। यह शब्द क्या है, इसकी अभिव्यक्ति होती है या उत्पत्ति ? अर्थ के साथ शब्द का या शब्द के साथ अर्थ का अथवा परस्पर दोनों का क्या सम्बन्ध है, इस प्रकार शब्द विषयक सभी प्रकार के तथ्यात्मक ज्ञान के साथ आचार्य भर्तृहरि द्वारा वाक्यपदीय में प्रतिपादित शब्दार्थविषयकसिद्धान्तों का ज्ञान प्राप्त करना प्रकृतपाठ्यशीर्षक का मुख्य उद्देश्य है। जिसके अन्तर्गत निम्न उद्देश्य समाहित है -

1. शब्द के लक्षणों की जानकारी प्राप्त करना।
2. विभिन्न दार्शनिकों के मत में शब्द के स्वरूप को जानना।
3. शब्द के नित्य, अनित्य विषयक सिद्धान्तों का ज्ञान प्राप्त करना।

4. शब्द, अर्थ एवं दोनों के परस्पर सम्बन्ध के विषय में जानना।
5. शब्द एवं ध्वनि के स्वरूप को जानना।
6. ध्वनि एवं शब्द में अन्तर का ज्ञान प्राप्त करना।
7. ध्वनि के भेद एवं शब्द के साथ उसका सम्बन्ध ज्ञात करना।
8. शब्द प्रतिपादक व्याकरण में शब्द-स्फोट की जानकारी प्राप्त करना।
9. स्फोट के भेद एवं मुख्य स्फोट का ज्ञान प्राप्त करना।
10. शब्द की व्यापकता और शब्दज्ञान का महत्त्व आदि को समझकर उचित शब्दों के प्रयोग की योग्यता उत्पन्न करना आदि।

21.1 प्रस्तावना

व्याकरण शब्दों का प्रतिपादक एवं निर्वचन करने वाला शास्त्र है जिससे यथार्थ स्वरूप ज्ञान एवं उसके उचित प्रयोग से सभी अभीष्ट (इच्छित) व्यावहारिक कार्य सम्भव होता है। सम्पूर्ण जगत् का व्यवहार शब्द से ही चलता है। अतःशब्द के स्वरूप उत्पत्ति एवं उसके प्रयोग प्रक्रिया के विषय में स्वाभाविक जिज्ञासा होती है। भारतीय दार्शनिक परम्पराओं में व्याकरणदर्शन की विशेष परम्परा है जिसमें शब्द विषयक समस्त सिद्धान्तों का निर्वचन किया गया है। व्याकरण के दार्शनिक सैद्धान्तिक ग्रन्थों में आचार्य भर्तृहरि द्वारा विरचित वाक्यपदीयम्, अन्यतमग्रन्थ है एवं जो प्रमाण के रूप में सभी विद्वानों द्वारा समादृत है। अतः वाक्यपदीय में प्रतिपादित विषयों का ज्ञान अपेक्षित है जिसमें वाक्यपदीय का प्रथम काण्ड जो ब्रह्मकाण्ड के नाम से प्रसिद्ध है विशेष रूप से ध्यातव्य है, जिसका स्वरूप निम्नरूप से है -

वाक्यपदीय ब्रह्मकाण्ड में प्रतिपादित प्रमुख विषयों का संक्षिप्त वर्णन -

आचार्य भर्तृहरि रचित वाक्यपदीय (ब्रह्मकाण्ड) विशुद्ध व्याकरणागम का दर्शन ग्रन्थ है, जो कारिका एवं वृत्ति से युक्त है। इसमें तीन काण्ड हैं (i) ब्रह्म काण्ड (ii) वाक्य काण्ड (iii) पदकाण्ड। ग्रन्थ के नामकरण के आधार पर **"वाक्यं च पदं च इति वाक्यपदे ते अधिकृत्य कृतो ग्रन्थो वाक्यपदीयम्"** इस व्युत्पत्ति के अनुसार इसमें वाक्यकाण्ड एवं पदकाण्ड के द्वारा यथाक्रम वाक्य एवं पद विचार प्रधान विवेच्य विषय है किन्तु प्रथम काण्ड ब्रह्मकाण्ड मुख्यतः जिसे **आगम काण्ड** कहा जाता है वाक्यपदीय का आधार काण्ड है, इसमें शब्द को ब्रह्म के रूप में स्वीकार किया गया है। जिसके अनुसार शब्द ही ब्रह्म है जो अनादिनिधन = उत्पत्ति विनाश से रहित, अक्षर, जगत् कारण नित्य और चेतन है। यही शब्दब्रह्म अपनी स्वतन्त्र शक्ति कालशक्ति के द्वारा समस्त जगत् की उत्पत्ति तथा अभिव्यक्ति को नियन्त्रित करता है। इस शब्द ब्रह्म के स्वरूप का ज्ञान एवं प्राप्ति का मुख्य उपाय वेद है, जो एक होनें पर भी कालान्तर में विभिन्न रूपों में अभ्यस्त होनें के कारण अनेक रूपों में विभक्त हो गया। उस वेद के अनेक अंग एवं उपाङ्ग हैं जिसमें व्याकरण को वेद का प्रधान अङ्ग मुखरूप में स्वीकार किया गया है। शब्द ब्रह्म का साक्षात्कार कराने एवं मोक्ष की प्राप्ति का प्रधान साधन होने के कारण व्याकरण को मोक्ष का **आञ्जस मार्ग** कहा गया है। शब्दानुशासन होनें कारण इसमें शब्दार्थ सम्बन्ध का प्रतिपादन करते हुए शब्द, अर्थ और दोनों के बीच के सम्बन्ध की नित्यता तथा उनके साधुत्व रूप को जानने के लिए प्रकृति-प्रत्यय आदि की कल्पना को सिद्धान्तित किया गया है। शब्द के दो भेद कहे गये हैं जिसमें प्रथम है व्यञ्जकशब्द जो स्फोटनाम के आन्तरिक शब्द की अभिव्यक्ति का कारण है, जो वैखरी रूप है एवं दूसरा व्यङ्ग्य शब्द स्फोट है, जो वैखरी से

अभिव्यक्त होकर अर्थ बोध कारण है। इस नित्य स्फोट के एक होने पर भी विवर्त रूप में उसके वर्ण पद वाक्य जाति व्यक्ति अखण्डपद, अखण्ड जाति के रूप में विभिन्न भेद माने गये हैं। इसी प्रकार ध्वनि के भेद, प्राकृत एवं वैकृतध्वनि का स्वरूप, प्राकृतध्वनि एवं काल का स्फोट में आरोप, वृत्तिभेद में कारण वैकृतध्वनि आदि का विशुद्ध विवेचन ब्रह्मकाण्ड में है। इसके साथ-साथ स्फोट और ध्वनि का स्वरूप परिचय, शब्द के विषय में मुख्य रूप से शिक्षाकार, जैनियों एवं महाभाष्कार के मतों का विवेचन, सर्वत्र वाग्-रूपता का अनुगमन, शब्द की व्यापकता और उसका पुराणप्रसिद्ध परमात्मात्व की स्थापना, वेदमूलक होनें से व्याकरण का प्रामाण्य जैसे विषयों का सिद्धान्ततः निरूपणकिया गया है। इस प्रकार ब्रह्मकाण्ड, वाक्यपदीय का उपोद्धात, प्रस्तावना एवं वैयाकरणों के अन्यतम सिद्धान्तों का प्रतिपादक काण्ड है।

21.2 वाक्यपदीय के अनुसार शब्दब्रह्म का स्वरूप

शब्दानुशासनशास्त्र व्याकरण में शब्दब्रह्म को जगत् का निमित्त एवं उपादान कारण कहा गया है , शब्द ब्रह्म ही प्राप्य एवं उपास्य ब्रह्म है। अतः आचार्य भर्तृहरि वाक्यपदीय के प्रथम काण्ड, ब्रह्मकाण्ड की प्रथम कारिका में शब्द ब्रह्म की स्थापना तथा उसके स्वरूप का वर्णन करते हुए कहते हैं –

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः[1] ।।

ब्रह्म अनादिनिधन अर्थात् जन्म और निधन (विनाश) से रहित है, अतः नित्य है, अक्षर अर्थात् व्यापक है, वह श्रुतियों में प्रसिद्ध शब्दस्वरूप है जिससे वाच्य-अर्थरूप में सम्पूर्ण जगत्-संसार विवर्त अर्थात् जन्म स्थिति लय विकार से युक्त प्रतिभासित हो रहा है।

तात्पर्य है कि जो उत्पन्न तथा विनष्ट नहीं होता और जिसके आगे पीछे उत्पन्न होनें का क्रम भी नहीं है, जो वर्णों का कारण होते हुए भी अविद्यारूपी बाह्य अर्थों की वासना से घट पटादि अर्थ (कर्म) रूप में भासित होता है, जो शब्द एवं अर्थ उभयरूप है जिससे जगत् की समस्त प्रक्रिया उत्पत्ति एवं व्यवहार रूप में चलती है वही ब्रह्म शब्दब्रह्म के रूप में प्रतिष्ठित है।

इस प्रकार वह **ब्रह्म एक है – अद्वितीय है, सत्य ज्ञान-स्वरूप है, देशकाल और वस्तु परिच्छेदों से रहित अनन्त है अर्थात् नित्य और व्यापक है, वही जगत् का विवर्तोपादान कारण है, प्रत्यक् चैतन्य से अभिन्न ज्ञानस्वरूप और शब्दात्मक है।**

21.3 वाक्यपदीय में प्रतिपादित व्याकरण प्रयोजन

भगवान् पतञ्जलि ने महाभाष्य में व्याकरण अध्ययन के मुख्य पांच प्रयोजन बताये हैं जो क्रमशः रक्षा, ऊह, आगम, लघु एवं असन्देह है। आचार्य भर्तृहरि ने महाभाष्योक्त उन मुख्य पांच प्रयोजनों के अतिरिक्त एक और प्रयोजन बताया है **मोक्षप्राप्ति** जो व्याकरण का परम प्रयोजन है।

ब्रह्मकाण्ड में ग्यारहवीं कारिका से तेरहवीं कारिका तक रक्षा-ऊह-आगम-लघु-असन्देह रूप पाँचों प्रयोजनों का तथा चौदहवीं कारिका में मोक्ष (अपवर्ग) प्राप्ति रूप परमप्रयोजन का निर्वचन है। रक्षा, ऊह और आगम इन तीन प्रयोजनों का निर्वचन करते हुए कहते हैं -

---

[1] ब्र. काण्ड 1

आसन्नं ब्रह्मणस्तस्य तपसामुत्तमं तपः ।
प्रथमं छन्दसामङ्गं प्राहुर्व्याकरणं बुधाः[2]।।

अर्थात् वेदज्ञ ऋषियों ने व्याकरण को शब्दात्मक वेदरूप ब्रह्म का निकटतम साक्षात् उपकारक एवं सभी तपों में श्रेष्ठतम तप तथा अपौरुषेय वेदों का मुखरूप प्रधान अङ्ग कहा है । यह साक्षात् उपकारक रक्षा-ऊह-आगम-लघु एवं असन्देह रूप में होनें से ये प्रयोजनरूप हैं।

वेदों के मुखरूप प्रधान अङ्ग होनें के कारण इस व्याकरण अध्ययन का प्रथम प्रयोजन है **– वेदों की रक्षा । वेदों की रक्षा व्याकरण से ही सम्भव** है क्योंकि व्याकरण के द्वारा वाक्यों में पद विभाग का, पदों में प्रकृति-प्रत्यय के विभाग का निर्धारण तथा उदात्त आदि स्वरों के अनुसार शब्दविशेष का किसी अर्थ विशेष में साधुत्व ज्ञान किया जाता है जिससे वेद के यथार्थ का ज्ञान प्राप्तकर तदनुरूप प्रयोग से वेद की रक्षा होती है । **अतः वेदों की रक्षा अर्थात् साधुत्व ज्ञानपूर्वक प्रयोग करने के लिए व्याकरण अध्ययन आवश्यक है ।**

व्याकरण का दूसरा प्रयोजन है- ऊह (तर्क)– यज्ञों में अंगभूत-द्रव्यों एवं देवताओं के अनुरूप मन्त्रविशेष का प्रयोग होता है जिसके अनुसार मन्त्रों में लिङ्ग विभक्ति वचन का ऊह (तर्क-कल्पना) करके परिवर्तन किया जाता है और शब्द प्रयोग में इस प्रकार का परिवर्तन वैयाकरण ही करने में समर्थ होता है । अतः व्यवहार काल में ऊह (यथास्थल अनुरूप शब्दों के प्रयोग) के लिए व्याकरण अध्ययन आवश्यक है ।

तृतीय प्रयोजन है आगम–आगम शास्त्रों का अध्ययन निष्कारण भी करना **चाहिये यह वेद का आदेश है ।** आगमशास्त्र- अदृष्ट पुण्य फल के साधक होते हैं, व्याकरण तो ऐसा आगमशास्त्र है जो दृष्ट-अदृष्ट, प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष, ऐहिक-पारलौकिक उभयविध फलों का साधक है । यह शब्दों का ज्ञान कराकर, उसके सही प्रयोग के द्वारा उभयविध फलों को प्राप्त कराता है । अतः **आगम शास्त्र** के रूप में भी व्याकरण का अध्ययन करना चाहिये ।

चतुर्थ प्रयोजन लाघव - व्याकरणाध्ययन के लघु (लाघव) रूप चतुर्थ प्रयोजन का विवेचन करते हुए आचार्य भर्तृहरि कहते हैं –

प्राप्तरूप विभागाया यो वाचः परमो रसः ।
यत्तत्पुण्यतमं ज्योतिस्तस्य मार्गोऽयमाञ्जसः[3] ।।

तात्पर्य है कि जो क्रम रहित पश्यन्ती वाग्रूपी शब्दतत्त्व, वर्ण पद और वाक्य के रूप में विभक्त हुआ हैऔर जो साधु असाधु सभी शब्दसमुदाय रूप वैखरी वाणी का परमसार अर्थात् उत्तम रसरूप है, जो स्व-पर (स्वयं एवं दूसरों) को प्रकाशित करने वाला ज्योतिस्वरूप है और श्रुति प्रसिद्ध पुण्य का जनक (देने वाला) तथा स्वयं अतिशय पुण्य रूप है, उस शब्दसमुदाय कासामान्यविशेष लक्षण के द्वारा साधुत्व ज्ञान कराने का सबसे लघु उपाय अर्थात् नैसर्गिक तथा सरलतम एक मात्र मार्ग यह व्याकरण है । अतः लाघव के लिए व्याकरण अध्ययन करना चाहिये ।

पञ्चम प्रयोजनहै असन्देह –महाभाष्योक्त **असन्देहार्थञ्चाध्येयं व्याकरणम्–**अर्थात् सन्देह के अभाव के लिए व्याकरण पढ़ना चाहिये इस पञ्चम (पांचवे) प्रयोजन का प्रतिपादन करते हुए आचार्य भर्तृहरि कहते हैं–

[2] ब्र.काण्ड 11
[3] ब्र.काण्ड 12

अर्थप्रवृत्तितत्त्वानां शब्दा एव निबन्धनम्।
तत्त्वावबोधः शब्दानां नास्ति व्याकरणादृते[4] ।।

किसी भी कार्य व्यवहार में प्रवृत्ति का ज्ञान कराने वाला शब्द ही होता है क्योंकि **घटम् आनय पटं नय,** घड़ा लाओ, वस्त्र ले जाओ इत्यादि शब्द को ही सुनकर व्यवहार (प्रयोग) हो सकता है अतः प्रवृत्ति का मूल कारण शब्द ही है और शब्दों के यथार्थ स्वरूप का सम्यग् ज्ञान व्याकरण को छोड़कर अन्य किसी उपाय से नहीं होता। अतः सन्देह रहित (असन्देहात्मक) ज्ञान के लिए व्याकरण ही एकमात्र उपाय होनें से असन्देहार्थ व्याकरण अध्ययन करना चाहिये।

इस प्रकार सरलव्यवहार का निबन्धन (बोधक) जो शब्दतत्त्व है उसके साधुस्वरूप का व्युत्पादक और ज्ञापक होनें के कारण व्याकरण सभी विद्याओं में प्रधान है ।

व्याकरण का परमप्रयोजन- मोक्षप्राप्ति –

आचार्य भर्तृहरि महाभाष्यप्रतिपादित व्याकरण के मुख्य पाँच प्रयोजनों को बताकर मोक्षप्राप्ति रूप व्याकरण का परमप्रयोजन बताते हैं–

तद् द्वारमपवर्गस्य वाङ्मलानां चिकित्सितम्।
पवित्रं सर्वविद्यानामधिविद्यं प्रकाशते[5] ।।

यह व्याकरण अपवर्ग (मोक्ष) का द्वार है अर्थात् मोक्ष रूपी फल का साधक पुण्यरूप-अपूर्व है क्योंकि यह वाणी के अपभ्रंश रूप मलों का निवारण व प्रक्षालन कर वाणी का संस्कार करता है अर्थात् वाणी को शुद्ध करता है। अत एव यह सभी विद्याओं के शब्द-शरीर को शुद्ध एवं पवित्र करने वाला तथा स्वयं पवित्र है। यह सभी को प्रकाशित करता है और स्वयं भी प्रकाशित होता है। तात्पर्य है कि व्याकरण केवल शक्तिग्रह के लिए ही नहीं अपितु ब्रह्म साक्षात्कार के लिए भी उपयुक्त है। व्याकरण के द्वारा ही वैखरी, मध्यमा और पश्यन्ती वाक् का ज्ञान होता है। **पश्यन्ती ही परा वाक् रूप में ब्रह्म है**। अतः ब्रह्म ज्ञान (मोक्ष) रूप परमपद प्राप्ति का कारण व्याकरण भी है।

मोक्षो नाम **–अज्ञानबन्धदु:खान्मुक्तिः ।अज्ञानबन्धनजन्यदु:ख से मुक्ति ही**मोक्ष है जो कि ब्रह्म और स्वात्मा के अभेदज्ञान से प्राप्त होता है – ब्रह्मात्मैक्य दर्शन से भेदज्ञान नष्ट हो जाता है फलतः ब्रह्मस्वरूप में स्वात्मा का प्रवेश हो जाता है अर्थात् ब्रह्मस्वरूपता की प्राप्ति हो जाती है। अर्थात् आत्मा का ब्रह्मस्वरूप में प्रवेश ही मोक्ष है। व्याकरण इस आत्मा को ब्रह्मस्वरूप प्राप्त करानेवाला द्वार है, व्याकरण का ही यह व्यापार है कि साधुशब्द के विवेक ज्ञान से अनादिनिधन अक्रम-अखण्ड शब्दतत्त्वरूप-ब्रह्म का दर्शन, अज्ञानकृत भेदबुद्धि का उच्छेद कर अभेद ज्ञान से ब्रह्मरूपता की प्राप्ति कराता है। अतः व्याकरणाध्ययन का भी परमप्रयोजन मोक्ष प्राप्ति ही है।

21.4 वाक्यपदीय में प्रतिपादित शब्दार्थसम्बन्ध

वैयाकरण के मत में शब्द, अर्थ एवं शब्दार्थदोनों में रहने बाला सम्बन्ध ये तीनों हीं नित्य हैं। भगवान् महाभाष्यकार पतञ्जलि इसे "सिद्धे शब्दार्थ सम्बन्धे" वार्तिक के द्वारा कहते हैं कि **-शब्दो नित्यः अर्थो नित्यः तयोः यः सम्बन्धः सोऽपि नित्यः** । इसी प्रकार सूत्रकार पाणिनि, वार्तिककार कात्यायन ने भी शब्द, अर्थ और इसके सम्बन्ध को नित्य कहा है। आचार्य भर्तृहरि शब्दार्थसम्बन्ध को नित्य बताते हुए कहते हैं कि –

[4] ब्र.काण्ड 13
[5] ब्र.काण्ड14

नित्याः शब्दार्थसम्बन्धास्तत्राम्नाताः महर्षिभिः।
सूत्राणामनुतन्त्राणां भाष्याणाञ्चप्रणेतृभिः[6] **॥**

अर्थात्- सूत्र, वार्तिक और भाष्य के प्रणेता क्रमशः पाणिनि, कात्यायन और पतञ्जलि महर्षियों ने शब्द-अर्थ और उनके शक्तिरूप सम्बन्ध को नित्य कहा है।

तात्पर्य है कि जैसे चक्षुः घ्राण आदि इन्द्रियों का अपने विषय रूप, गन्ध आदि के साथ ग्राह्य-ग्राहक, प्रकाश्य-प्रकाशकभाव योग्यता रूप स्वाभाविक अनादि सम्बन्ध है जो कि नियत है, नित्य है, वैसे ही घट-पट आदि शब्दों का अर्थों के साथ वाच्य-वाचकभाव अथवा बोध्य-बोधकभावरूप अनादियोग्यता सम्बन्ध नियत है। किसी की विवक्षा के अधीन किया गया नहीं है। इसी दृष्टि से पाणिनि, कात्यायन, पतञ्जलि तीनों महर्षियों ने शब्द अर्थ सम्बन्ध तीनों को नित्य माना है।

सर्वप्रथम शब्दार्थसम्बन्ध के नित्यत्व विषय में प्रमाण है पाणिनि का –**"तदशिष्यं संज्ञाप्रमाणत्वात्"** यह सूत्र। इसका अर्थ है कि प्रकृतिवद्लिङ्ग और संख्या का विधायक "लुपि युक्तवत्" यह सूत्र नहीं बनाना चाहिये, क्योंकि संज्ञा शब्द ही स्वयं लिङ्ग और संख्या का बोध करानें में समर्थ है। अर्थात् पञ्चालानां क्षत्रियाणां निवासो जनपदइस अर्थ में, **"तस्य निवासः"** इस सूत्र से अण् प्रत्यय और**"जनपदे लुप्"** इस सूत्र से अण् प्रत्यय का लुप् होकर"लुपि युक्तवत्" इस सूत्र से प्रकृतवल्लिङ् संख्याविधान करके बहुवचन में पञ्चाला व्यक्तिवचने प्रयोग बनता है। यहाँ यह कथन है कि प्रकृतिलिङ्गसंख्या का बोधक **"लुपि युक्तवत्"** तद् = वह (सूत्र) अशिष्यम् – नहीं करना चाहिये, संज्ञानां प्रमाणत्वात् अर्थात् संज्ञा शब्द का स्वयं लिङ्गसंख्या के बोध होने के कारण। तात्पर्य है कि जैसे अप्-दार-अपत्य आदि शब्द अवयवार्थ के ज्ञान के विना ही रूढि संज्ञा होने से लिङ्ग-संख्या-कारक युक्त वस्तु का ज्ञान कराता है क्योंकि उनका अर्थ से स्वाभाविक-नित्य सम्बन्ध है, शब्द भी नित्य है, उसमें भी किसी अवयव के योग का ज्ञान नहीं होता, ऐसे ही प्रकृति प्रत्यय-अवयव के ज्ञान के विना पञ्चाल आदि शब्द भी संज्ञा होने से ही जनपद का ज्ञान करा सकता है। लुपि युक्तवद् सूत्र नहीं बनाना चाहिये यह व्यवस्था शब्द के नित्यत्व होनें से ही सम्भव है जो "तदशिष्य संज्ञाप्रमाणत्वात्" के द्वारा आचार्य सूचित करते हैं। इस प्रकार सभी शब्द कथन मात्र से ही लिङ्ग संख्या कारक विशिष्ट किसी द्रव्य का बोधक होता है। अतः लुपि युक्तवत् इन वचनों की आवश्यकता नहीं है। प्रकृति-प्रत्यय-अवयव विभाग कल्पित है। इससे यह सिद्ध होता है कि शब्द-अर्थ सम्बन्ध सभी नित्य है। शब्दार्थ सम्बन्ध में कात्यायन का**"सिद्धे शब्दार्थ सम्बन्धे"** यह वार्तिक तथा इसके उपर पतञ्जलि का भाष्य भी स्पष्टरूप से प्रमाण है।

21.5 वाक्यपदीय के अनुसार शब्द में ग्राह्यत्व-ग्राहकत्व रूप शक्ति का निरूपण

शब्दलक्षण के प्रसङ्ग में "गौरित्यत्र कः शब्दः" इस प्रतीक के द्वारा महाभाष्यकार भगवान् पतञ्जलि दो लक्षण प्रस्तुत किये हैं – 1. येनोच्चारितेन सास्नालाङ्गूलककुद्खुर-विषाणिनां संप्रत्ययो भवति **स शब्दः। अथवा 2. प्रतीत** पदार्थको लोके **ध्वनिः शब्द इत्युच्यते** इति। भाष्य के इस निर्देश के अनुसार आचार्य भर्तृहरि शब्द का द्विविध स्वरूप बताते हैं –

[6] ब्र. का. 23

द्वावुपादानशब्देषु शब्दौ शब्दविदो विदुः।
एको निमित्तं शब्दानामपरोऽर्थे प्रयुज्यते[7]॥

अर्थात् शब्दविदः – शब्द को जानने वाले वैयाकरण, उपादानशब्देषु = वाचकशब्देषु, अर्थबोध के कारण शब्द के विषय में, द्वौ शब्दौ विदुः **–दो प्रकार केशब्द मानते हैं,** पहला शब्द का निमित्त आर्थात् व्यञ्जक शब्द, जो स्फोटनामक आन्तरिकव्यङ्ग-शब्द की अभिव्यक्ति का कारण है एवं**वैखरीध्वनिरूप** है, **दूसरा– व्यङ्ग्य स्फोट**शब्द जो वैखरी से अभिव्यक्त होकर अर्थ बोध का कारण है।

तात्पर्य है कि भाष्यनिर्देशानुसार अर्थ का वाचक शब्द दो प्रकार का होता है जिसमें **प्रथमवह** जो श्रोत्र (कर्णेन्द्रिय) का विषय "वैखरीवाणी" बाह्य ध्वनिरूप है एवं कण्ठताल्वादि स्थानों में वक्ता के प्रयत्नजन्य वायु के अभिघात से उत्पन्न क ख आदि वर्णो के पूर्वपर क्रम से पद-वाक्य के रूप में प्रयुक्त होता है जिसको लोक में सभी "शब्द" कहते हैं तथा न्यायदर्शन मे जिसे शब्द कहा गया है। वैयाकरण के मत में वह स्फोटक का व्यञ्जक है और स्फोट के अभिव्यंजन व प्रकाशन से वह भी परम्परया अर्थ का वाचक है।

दूसरा शब्द वह है जो हृदय देश में स्थित "मध्यमावाणी" नादरूप है। वह श्रोत्र का विषय नहीं है, वह उपांशु जप में योगी को ध्यान से गम्य होता है। वस्तुतः यह स्वयं वर्ण पद आदि क्रमविभाग से रहित अखण्ड है किन्तु जैसे दर्पण स्फटिक आदि में रक्त –पीत-हरित पुष्पों के प्रतिबिम्ब क्रम से वह स्फटिक वैसा ही प्रतिभासित होता है, उसी प्रकार वैखरी के वर्ण आदि क्रम रूप से प्रतिबिम्बित होकर वर्ण पद आदि क्रमवाला प्रतिभासित होता है, यही इसकी अभिव्यक्ति है। फलतः स्फोट नियमतः व्यञ्जक ध्वनि के रूप से प्रतिबिम्बित ही प्रकाशित होता है। **अतः श्रोत्र-ग्राह्य ध्वनि, स्फोट का व्यञ्जक तथा स्फोट, व्यङ्ग्य माना गया है**। यह नित्य सिद्ध नादात्मक स्फोट ही शक्ति का आश्रय तथा साक्षात् अर्थ का वाचक होता है।

यहाँ विशेष रूप से यह ध्यातव्य है कि – एक ओर हृदय देश में स्थित स्वप्रकाशज्ञानस्वरूप अखण्डस्फोट, व्यञ्जकध्वनि के वर्ण पद आदि रूप से प्रतिबिम्बित होता है, **तो दूसरी** ओर शब्द बोध्यअर्थ का आकार भी प्रतिबिम्बित होता है। फलतः शब्द में अर्थ संक्रान्त होकर शब्दरूपता को ग्रहण कर लेता है, जिससे शब्द अर्थ दोनों का तादात्म्य होता है, क्योंकि शब्द अर्थ दोनों ही मूलतः बौद्ध है, ज्ञानरूप है। अत एव शब्द, अर्थ दोनों का एकाकार व्यवहार होता है, यह शब्द का तादात्म्य सम्बन्ध भी है। इस प्रकार उपादान शब्द के द्वारा यहाँ दोनों प्रकार के शब्दों का ग्रहण होता है - बाह्य वर्णपदाद्यात्मक ध्वनिरूप व्यञ्जक शब्द और आन्तरशब्द जो ध्वनि से अतिरिक्त स्वयं क्रम रहित (अक्रम) होने पर भी व्यञ्जकधर्म के उपराग से क्रम प्राप्त (सक्रम) प्रतिभासमान् स्फोट रूप व्यङ्ग्य शब्द है। ये दोनों प्रकार के शब्द व्याकरण के प्रतिपाद्य विषय हैं।

वाक्यपदीय के अनुसार शब्द में ग्राह्यत्व-ग्राहकत्व रूप शक्ति निरूपण –

एक ही शब्द उपाधिभेद से संज्ञा और संज्ञी हो सकता है, विशेषण-विशेष्य उभयविध रूप में प्रयुक्त हो सकता है जिसे बताकर शब्द की ग्राह्यत्व और ग्राहकत्व इन दो शक्तियों का निरूपण करते हैं–

ग्राह्यत्वं ग्राहकत्वं च द्वे शक्ती तेजसो यथा।
तथैव सर्वशब्दानामेते पृथगिव स्थिते[8]॥

---

[7] ब्र. का. 44

[8].ब्र. काण्ड 55

अर्थात् जैसे तेज (प्रकाश) की ग्राह्यत्व (स्वयं प्रकाश्यत्व) और ग्राहकत्व (अन्य-वस्तुओं का प्रकाशकत्व) ये दो शक्ति हैं वैसे ही सभी शब्दों की ग्राह्यत्व एवं ग्राहकत्व दो शक्ति है जो वस्तुतः एक होने पर भी पृथक् जैसी रहती है।

तात्पर्य है कि सूर्य आदि का प्रकाश स्वयं को प्रकाशित करने के साथ साथ अन्य सभी वस्तुओं को प्रकाशित करता है। अत एव वह स्वयं स्व से प्रकाश्य होनें से ग्राह्य एवं सभी अन्य वस्तुओं का प्रकाशक होनें से ग्राहक भी होता है। वस्तुतः सूर्य आदि तेज पदार्थ तो स्वयं प्रकाशरूप है प्रकाश्य नहीं, किन्तु चाक्षुष-प्रत्यक्ष में प्रकाशसहकारी कारण होता है अत एव जब चक्षुरिन्द्रिय से रूपवान् वस्तुओं का प्रत्यक्ष होता है तब प्रकाश चक्षुरिन्द्रिय का अञ्जन के समान संस्कारक व अनुग्राहक बनकर चाक्षुष (नेत्र द्वारा प्राप्त) ज्ञान का साधक होनें से ग्राहक होता है, इसके साथ ही प्रकाश स्वयं भी चक्षु से अन्धकारादि भिन्न वस्तुओं से व्यावृत्तरूप ज्ञान का विषय होता है जिससे वह ग्राह्य भी माना जाता है। ऐसे ही **शब्द स्वयं ग्राह्य और अर्थ का ग्राहक** भी है। उच्चारित शब्द स्वयं स्व से ग्राह्य होकर अर्थ का बोधक व ग्राहक होता है। उच्चारित "घट" आदि शब्द घ् अ ट् अ इस आनुपूर्वी से भिन्न पट आदि अन्य शब्दों से व्यावृत्त (अलग) रूप गृहीत होनें पर ही श्रोता को नियत अर्थ का बोधक होता है। अत एव शब्द में ग्राह्यत्व और ग्राहकत्व उभयविध शक्ति स्पष्ट है। वस्तुत ये दोनों शक्ति शब्द से तथा परस्पर वस्तुतः अभिन्न है, भिन्न नहीं किन्तु व्यवहार में भिन्न सी प्रतीत होती है जैसे अग्नि में प्रकाशकत्व और दाहकत्व ये दोनों शक्ति अग्नि से तथा परस्पर भी अभिन्न रहने पर भी प्रकाश और दाहकार्य के भेद से भिन्न व्यवहृत होती है।

इस प्रकार कार्यभेद से शक्ति का तथा शक्ति के आश्रय का कल्पित भेद व्यवहार भले ही हो वस्तुतः अर्थभेद से शक्ति भेद अथवा शक्तिभेद से शब्द का भेद नहीं है।

21.6 स्फोटरूप शब्द का अर्थ एवं स्व स्वरूप (शब्दस्वरूप) उभय प्रकाशकत्व –

आचार्य पाणिनि ने **"स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा"** सूत्र के द्वारा शब्द के स्वरूप का भी ग्रहण होने का संकेत दिया है। इस सूत्र में **स्व** पद अपने शब्दस्वरूप का एवं **रूप** पद अर्थ का वाचक है। इस प्रकार शब्द से अर्थ के साथ शब्दस्वरूप भी प्रकाशित होता है। आचार्य भर्तृहरि इसे ज्ञानदृष्टान्त के द्वारा स्पष्ट करते हैं –

आत्मरूपं यथा ज्ञाने ज्ञेय रूपं च दृश्यते।
अर्थरूपं तथा शब्दे स्वरूपं च प्रकाशते[9]**।।**

अर्थात् जैसे ज्ञान में अपना स्वरूप और ज्ञेयविषय का स्वरूप दोनों ही प्रकाशित होता है वैसे शब्द में अर्थ का स्वरूप और अपना वर्ण, पद रूप भी प्रकाशित होता है।

तात्पर्य है कि – स्वयं प्रकाशमान ही ज्ञान विषय को प्रकाशित करता है. अप्रकाशमान ज्ञान ज्ञेय विषय को प्रकाशित नहीं कर सकता है। स्वप्रकाश होने से ही ज्ञान होने पर ज्ञान के स्वरूप के विषय में कभी किसी को यह सन्देह नहीं होता कि मुझे ज्ञान है या नहीं इसलिए ज्ञान स्वयं-स्व का विषय होता है क्योंकि वह स्वप्रकाशस्वरूप है, वह कभी भी अप्रकाशमान नही रहता। तभी तो वह ज्ञान कालन्तर में स्मृति रूप में परिणत होता है। ज्ञान के समान ही शब्द भी जब अर्थ को प्रकाशित करता

[9] ब्र. का. 50

है तब अर्थ के साथ साथ अपने वर्ण पद आदि स्वरूप को भी प्रकाशित करता है, अपने स्वरूप को प्रकाशित किये विना कभी अर्थ को प्रकाशित नहीं करता है, क्योंकि शब्दस्वरूप से बोधित अर्थ और अर्थ से आलिङ्गित ही शब्द है, परस्पर दोनों का तादात्म्य है। फलतः शब्द का अभिधेय जहाँ जाति व्यक्ति आदि होते हैं वहाँ स्वयं शब्द भी शब्द का अभिधेय होता है। अत एव शब्द भी शाब्दबोध का विषय होता है। शब्द, अर्थ दोनों समान रूप में शब्द से प्रकाशित होते हैं। इतना अवश्य है कि उनका विशेष्य-विशेषणभाव प्रकरणानुसार विवक्षा के अधीन होता है।

यहाँ अवधेय यह है कि शब्दों का शब्द और अर्थ में खण्डशः शक्ति है दोनो का विशेष्य-विशेषण भाव के रूप में प्रयोग विवक्षानुसार होता है, कहीं अर्थ विशेष्य और शब्द विशेषण होता है तो कहीं शब्द विशेष्य और अर्थ विशेषण होता है। जहाँ अर्थ में कार्य सम्भव होता वहाँ अर्थ विशेष्य जैसे "गाम् आनय"। जहाँ अर्थ का बाध होता वहाँ शब्द विशेष्य होता जैसे- व्याकरण आदि में **"गोपयसोर्यत्"** सूत्र से गो तथा पय (दुग्ध) आदि अर्थ से यत् प्रत्यय का विधान असम्भव होनें यहॉ प्रत्यय शब्द से ही होता है। ऐसे स्थलों में **"स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा"** इस सूत्र के अनुसार संज्ञाविधि से भिन्न प्रत्यय आदेश आदि विधि के विषय में शब्द विशेष्य होता है तथा अर्थ शब्द का विशेषण होता है।

21.7 अखण्ड स्फोट स्वरूप शब्द एवं नित्य भेद में काल भेद एवं वृत्ति भेद की प्रतीति औपाधिक –

वैयाकरण परम्परा में **भाट्टमीमांसक तथा उनके अनुगामी वैयाकरणों में** कौण्डभट्ट आदि के मत में वर्ण-पद-वाक्य रूप ही नित्यशब्द अभिमत है, जिसको कौण्डभट्ट स्फोट कहते हैं और उसे क्रमिक वर्णस्फोट, पदस्फोट और वाक्यस्फोट की संज्ञा देते हैं। कैयट तथा उनके पक्षधर नागेश आदि भाष्यसम्मत तथा भर्तृहरि द्वारा सिद्धान्तित ध्वनिरूप वर्ण आदि से भिन्न तथा ध्वनि से अभिव्यङ्ग्य मध्यमा वाक्स्वरूप को स्फोटात्मक अखण्ड शब्द मानते हैं।

आचार्य भर्तृहरि भी भाष्यसम्मत अखण्ड स्फोटरूप को ही शब्द को मानते हैं तथा पद में वर्णविभाग तथा वाक्य में पदविभाग का निषेध करते हैं। उनका कथन है कि-

पदे न वर्णा विद्यन्ते वर्णेष्ववयवा न च।
वाक्यात् पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कश्चन[10]॥

अर्थात् जैसे अकार ककार ऋकार औकार आदि वर्णों में जो अवयव के सदृश रेफ अ इ आदि प्रतीत होते हैं अवयव नहीं है, वैसे ही पदों में जो वर्णों की प्रतीति होती है वह भी भ्रम ही है वे पदों के अवयव नहीं है और वाक्यों में भी जो अलग-अलग पदों की प्रतीति होती है वे वाक्यों के अवयव नहीं है क्योंकि वाक्यों से अलग पदों की कोई सत्ता नहीं है। तात्पर्य है कि वाक्य में भी पदविभाग नहीं है।

अभिप्राय यह है कि जैसे अकार ककार आदि वर्ण का अवयव भेद नहीं होनें से अपने रूप में अखण्ड एक है, ऐसे ही पद तथा वाक्य में भी अवयव भेद नहीं रहने से वस्तुतः अपने रूप में अखण्ड है, एक है। यद्यपि "ऋ लृ" आदि वर्णों में क्रमशः रेफ लकार आदि अवयव वर्णों का आभास होता है परन्तु

---

[10] ब्र. का. 73

उनमें वस्तुतः कोई अवयव वर्ण नहीं है, इसी प्रकार पद में अनेक वर्ण तथा वाक्य में अनेक पद अवयव सदृश प्रतीत होते है, किन्तु वस्तुतः वे उनके अवयव नहीं है। जैसे प्रत्येक वर्ण अखण्ड है ऐसे पद और वाक्य वस्तुतः अखण्ड है।

इसमें इतना अवश्य है कि – वाक्य के ज्ञान के लिए उसमें अवयवरूप पदों की तथा पद के ज्ञान के लिए उसमें अवयवरूप वर्णों की कल्पना उपायरूप में की जाती है । शास्त्रीय प्रक्रिया तथा लोकव्यवहार के निर्वाह के लिए अपोद्धार द्वारा अखण्डवाक्य में अवयवरूप पद विभाग तथा पद में अवयवरूप वर्णविभाग किया जाता है जिससे रूढि होकर वाक्य में पदों की, पदों में वर्ण की अवयवरूप में प्रतीति होती है। अतः वस्तुतत्त्व सिद्धान्त रूप में अवयवभेद पूर्वापरक्रम भेद से रहित "शब्द" स्वतः अखण्ड है। वाक्य से पद का, पद से वर्ण का भेद उपाधि कल्पित है। शब्द में कत्व, खत्व आदि जो भी धर्म भेद लक्षित होते हैं वे उसके नहीं है, अपितु अभिव्यञ्जक जो ध्वनि अथवा ध्वनि के कारण वायुसंयोग है, उनके धर्म है जो कि व्यङ्ग्य शब्द में प्रतिभासित होते हैं जैसे कि स्फटिक में गुलाब आदि पुष्प की लालिमा प्रतिबिम्बरूप में प्रतिभासित होती है।

नित्य स्फोट में कालभेद एवं वृत्तिभेद की प्रतीति-औपाधिक –

व्याकरण में शब्द अर्थ और उसके सम्बन्ध को नित्य माना गया है। नित्य शब्द में काल कृत भेद नहीं होता है, पुनः उसमें ह्रस्वदीर्घादि-द्रुतादिवृत्तियों का बोध कैसे होता है, यदि इसमें कालकृत भेद है तो शब्द नित्य नहीं हैं ऐसी आशङ्का में वाक्यपदीयकार कहते हैं

स्फोटस्याभिन्नकालस्य ध्वनि कालानुपातिनः ।
ग्रहणोपाधिभेदेन वृत्तिभेदं प्रचक्षते[11] ।।

अर्थात् यह स्फोट रूपी शब्द कालकृतपरिच्छेद से रहित है अतः नित्य है क्योंकि कालिकसम्बन्ध से नित्य कहीं नहीं रहता है । तथापि स्फोट को व्यक्त करने वाली ध्वनि में कालिक सम्बन्ध होने से स्फोट के ग्रहण(बुद्धि या व्यञ्जक ध्वनि) रूपी उपाधियों के भेद से द्रुतमध्य विलम्बित या ह्रस्व दीर्घप्लुत आदि वृत्ति भेद माने जाते है । अतः नित्य स्फोटशब्द में कालकृतभेद द्रुतादिह्रस्व-दीर्घादिभेद औपाधिक प्रतीति मात्र है।

तात्पर्य है कि जैसे नित्य होने से आत्मा का कालपरिमाण नहीं है, ऐसे ही नित्यशब्द स्फोट का कोई कालपरिमाण नहीं है, वह अपने स्वरूप से एकमात्रा द्विमात्रा आदि कालभेद से तथा द्रुतविलम्बित स्थिति रूप वृत्तिभेद से रहित है यह सत्य है परन्तु उपाधिकल्पित कालभेद तथा वृत्तिभेदवाला भी होता है, क्योंकि अपने व्यञ्जक ध्वनि के रूप में प्रतिबिम्बित ही स्फोट की उपलब्धि होती है, शुद्धरूप में नहीं । फलतः ध्वनि और स्फोट का भेद कभी परिलक्षित नहीं होनें से दोनों का अभेद आरोपित हो जाता है, ध्वनि के अभिन्न रूप में स्फोट का ज्ञान होता है। जितनी मात्रा में जब तक ध्वनि की स्थिति होती है उतनी मात्रा में तभी तक स्फोट की उपलब्धि उसी रूप में होती है। अतः ध्वनि के जो ह्रस्व-दीर्घप्लुतरूप एकमात्रा-द्विमात्रा, त्रिमात्रा कालभेद है, वे सब स्फोट के कालभेद व्यवहृत होते हैं, साथ ही ध्वनि के जो अल्पकाल-दीर्घकाल स्थिति के भेद से वृत्ति भेद हैं वे भी स्फोट कहे जाते हैं और वे औपाधिक हैं।

---

[11]ब्र.काण्ड 75

21.8 वाक्यपदीय के अनुसार ध्वनिभेद, स्वरूप एवं स्फोट बोध में कारण ध्वनि

स्फोटरूपी नित्य शब्द में कालकृतादि भेद की प्रतीति औपाधिक है जो कालकृतध्वनि के भेद से परिलक्षित होता है। नित्य शब्द में कालभेद का प्रयोजक ध्वनि **प्राकृतध्वनि** है। प्राकृतध्वनि का जो काल है वह नित्यशब्द में आरोपित हो जाता है और व्यवहारपरम्परा से रूढ होकर वही शब्द का काल कहा जाता है। इस प्रकार नित्य शब्द में कालभेद का प्रयोजक प्राकृतध्वनि को बताते हुए आचार्य भर्तृहरि का कथन है कि-

स्वभावभेदान्नित्यत्वे ह्रस्वदीर्घप्लुतादिषु ।
प्राकृतस्य ध्वनेः कालः शब्दस्येत्युपचर्यते[12] ।।

अर्थात् शब्द के नित्य होनें पर भी प्राकृतध्वनि का जो स्वाभाविक ह्रस्व दीर्घ प्लुतादि का भेद है उसका आरोप नित्य शब्द में किया जाता है जो शब्द के भेद के रूप में व्यवहृत होता। वस्तुतः वह शब्द का आरोपित भेद है वास्तविक नहीं।

ध्वनि, प्राकृत एवं वैकृत के भेद से दो प्रकार का है। इन दोनों के स्वरूप का वर्णन करते हुए वाक्यपदीयकार भर्तृहरि कहते हैं-

वर्णस्य ग्रहणे हेतुः प्राकृतो ध्वनिरुच्यते ।
वृत्तिभेदे निमित्तत्वं वैकृतः प्रतिपद्यते[13] ।।

अर्थात् वर्णरूप स्फोट के ज्ञान में जो हेतु (कारण) ध्वनि है वह **प्राकृत ध्वनि** कहा जाता है तथा द्रुतविलम्बित आदि वृत्तिभेद में **जो ध्वनि निमित्त कारण** होता है, वह वैकृतध्वनि कहा जाता है।

तात्पर्य यह है कि विवक्षा प्रयत्न के कारण कण्ठ आदि स्थानों में विलक्षण वायु के अभिघात से उत्पन्न **प्राकृतध्वनि** ह्रस्वदीर्घ आदि बाह्य नानावर्णरूप है उससे अत्यन्त पृथक् नित्यशब्द-स्फोट आन्तर है किन्तु वह प्राकृतध्वनि व्यंजक उपाधि होकर स्फोट को अपने नाना वर्ण रूप से उपरञ्जित (अपने स्वरूप में परिवर्तित) करता है जिसके परिणामस्वरूप प्राकृत ध्वनि का जो नाना वर्णरूप है वह स्फोट में अभिव्यक्त होकर स्फोट का स्वरूप बन जाता है। इस प्रकार वर्णरूप स्फोट के ज्ञान में कारण होता है – **प्राकृतध्वनि**। साथ ही प्राकृतध्वनि अपने स्वरूप से विषयरूप में भी वर्ण स्फोट के ज्ञान में कारण होता है।

इससे विलक्षण है – वैकृतध्वनि। यह स्फोट का स्वरूपोपधायक अर्थात् व्यंजक नहीं है, किन्तु अभिव्यक्त स्फोट की चिरकाल वा अचिरकाल तक स्थिति का प्रयोजक है, कोई एक ही शब्द को जल्दबाजी (क्षणभर) में बोलता है तो दूसरा कोई देर (बिलम्ब से) बोलता है, उसमें शब्द का स्वरूप भेद का व मात्रारूप काल भेद होता है। शब्द की अभिव्यक्ति के पश्चात् उसकी अल्पकाल या अधिककाल तक स्थिति का उपलब्धिरूप जो द्रुत मध्य विलम्बित वृत्तियाँ है, उनके भेद का निमित्तकारण वैकृत ध्वनि है, जो कि स्फोट की अभिव्यक्ति के पश्चात् होने से स्थिति प्रयोजक होता है, स्वरूप भेद प्रयोजक नहीं।

इस प्रकार – प्राकृत एवं वैकृत ध्वनि में स्फोट का ग्राहक हेतु प्राकृत ध्वनि एवं द्रुतादिबिलम्बित स्थिति का प्रयोजक वैकृतध्वनि होता है।

[12] ब्र. काण्ड 76
[13] ब्र.काण्ड 77

21.9 वाक्यपदीय के अनुसार शब्द की अभिव्यक्ति में ध्वनिकार्यविषयक विभिन्न मतों की समीक्षा –

शब्द की अभिव्यक्तिवादियों के अनुसार – शब्द की अभिव्यक्ति में ध्वनि अभिव्यञ्जक होता है, अभिव्यञ्जक का तात्पर्य है, आवरणभङ्ग या विशेष आधान या संस्कार विशेष के द्वारा सिद्धवस्तुओं का ज्ञान कराने बाला। ध्वनि किस प्रकार से शब्द का अभिव्यञ्जक होता है, अर्थात् कैसे होता है ध्वनि के द्वारा वर्ण का संस्कार के विषय में प्रसिद्ध **तीन मतों** का उपस्थापन करते हुए आचार्य भर्तृहरि कहते हैं कि-

इन्द्रियस्यैव संस्कारः शब्दस्यैवोभयस्य वा।
क्रियते ध्वनिभिर्वादास्त्रयोऽभिव्यक्तिवादिनाम्।।

अर्थात् ध्वनि के द्वारा किसका संस्कार किया जाता है जिससे शब्दप्रकाशित होता है, इस विषय में अभिव्यक्तिवादियों के तीन मत है (1) ध्वनि के द्वारा इन्द्रिय का ही संस्कार होता है, (2) ध्वनि से केवल शब्द का संस्कार किया जाता है, (3) ध्वनि से इन्द्रिय और शब्द दोनों का संस्कार किया जाता है।

तात्पर्य है कि नित्य शब्दवादी ध्वनि को शब्द का व्यञ्जक मानते हैं अर्थात् बाह्य ध्वनि से आन्तर शब्द की अभिव्यक्ति मानते हैं। शब्द की अभिव्यक्ति प्रक्रिया में तीन मत है –

(1) प्रथम मत के अनुसार कण्ठ आदि स्थानों में वायु के आघात से उत्पन्न ध्वनि श्रोत्रेन्द्रिय का अतिशयाधान रूप संस्कार करता है। अर्थात् श्रोत्र में शब्द के ग्रहण का जो सामर्थ्य विशेष है, उसके अवरोध को दूर कर ध्वनि अपने रूप में आन्तर शब्द का सन्निकर्ष (सामीप्य) स्थापित करता है। इस प्रकार ध्वनि के सन्निकर्ष से अवरोधमुक्त व संस्कृत श्रोत्रेन्द्रिय से शब्द का ज्ञान होता है। यह **शब्द स्फोट है।**

(2) दूसरा मत है कि – ध्वनि के संसर्ग से केवल शब्द का संस्कार होता है अर्थात् स्फोट रूप आन्तरध्वनि के उपराग से व्यक्त वर्णक्रमरूप को प्राप्त करता है जिससे प्राप्त संस्कार वह व्यक्त शब्द श्रोत्र के ग्रहण का विषय होता है, क्योंकि उद्भूत् विषय ही इन्द्रिय का विषय होता है, अव्यक्त "सूक्ष्म" नहीं है। अतः ध्वनि से शब्द का ही संस्कार होता है।

(3) तीसरा मत समन्वयवादी सिद्धान्त है कि ध्वनि श्रोत्रेन्द्रिय और शब्द दोनों का संस्कार व उपकार करता है। ध्वनि के व्यङ्ग्य व्यञ्जक भाव सम्बन्ध से व्यक्त आन्तरशब्द ध्वनि के रूप में श्रोत्र के साथ सन्निकर्ष पाकर श्रोत्र में अतिशयाधान से श्रोत्र का संस्कार करता है, साथ ही ध्वनि अपने संसर्ग से आन्तर शब्द को व्यक्त रूप देकर शब्द का भी संस्कार करता है। ध्वनि से अभिव्यक्त शब्द ही श्रोत्र का विषय होता है।

सिद्धान्त के रूप में– श्रोत्रेन्द्रिय का संस्कार है, ध्वनिरूप से शब्द के सन्निकर्ष से श्रोत्र में होने वाला अतिशयविशेष, वह न होने पर दूर व्यवहित उच्चारित शब्द का देशान्तर में स्थित व्यक्ति को ज्ञान नहीं होता है। विषय का संस्कार है - प्रकृत में शब्द की अभिव्यक्ति, वह नहीं होनें पर अव्यक्त आन्तरशब्द का ज्ञान कभी किसी को नहीं होता है। अतः सिद्धान्ततः नित्यशब्दवादी ध्वनि अभिव्यक्तिवादी वैयाकरणों के मत में श्रोत्रेन्द्रिय और उसका विषय-शब्द दोनों का संस्कार ध्वनि से होता है।

21.10 वाक्यपदीय के अनुसार–स्फोट एवं ध्वनि में व्यङ्ग्य–व्यञ्जकभाव का समन्वय

समान अधिकरण (देश) में स्थित घट और दीपक का परस्पर व्यङ्ग्यव्यञ्जक भाव देखे जाते हैं न कि अन्य देश में स्थित घट एवं दीपक का अर्थात् अन्य घर में स्थित दीपक के द्वारा किसी अन्य घर में स्थित घट की अभिव्यक्ति (दर्शन-ज्ञान) नहीं होता अतः दोनों भिन्न स्थान वालों में परस्पर व्यङ्ग्य व्यञ्जक भाव नहीं होता है ऐसे ही तालु ओष्ठ आदि व्यापार से प्रकाश्यमान श्रोतदेश में स्थित ध्वनि के द्वारा हृदय देश में स्थित शब्द का अभिव्यङ्ग्य होना अर्थात् ध्वनि एवं स्फोटशब्द में व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव होना कैसे संभव है, इस जिज्ञासा के समाधान में वाक्यपदीयकार दोनों में व्यङ्ग्यव्यञ्जक भाव का उपपादन करते हुए कहते हैं कि –

देशादिभिश्च सम्बन्धो दृष्टः कायवतामिह।
देशभेदविकल्पेऽपि न भेदो ध्वनिशब्दयोः[14] ।।

अर्थात् **इह=** इस लोक में **कायवताम्=** विग्रहधारी (मूर्त्तिमान, मूर्तस्वरूप वाला) वस्तुओं का देश विशेष से सम्बन्ध देखा गया है विग्रहरहित अमूर्त वस्तु का नहीं। शब्द और ध्वनि अमूर्त है, इसका देशभेद मान लेने पर भी इनका वास्तविकदेश भेद नहीं है अपितु दोनों का एक ही आकाशदेश है। यदि हृदयाकाश से श्रोत्राकाश को भिन्न भी मानें फिर भी इनका देशभेद नहीं होता क्योंकि ध्वनि श्रोत्रदेश से हृदयदेश में पहुँच जाता है । अतः एक ही देश में वर्तमान होने से दोनों का व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव उपपन्न होता है।

अभिप्राय यह है कि – जो परिमित सावयव मूर्तवस्तु है, उसका किसी देश विशेष से सम्बन्ध होता है । समानदेश में वर्तमान वस्तुओं का समानाधिकरण व्यवहार होता है, भिन्नदेशस्थ वस्तुओं का व्यधिकरण व्यवहार होता है, क्योंकि वस्तु जब किसी एकदेश में रहता है तो दूसरे देश में नहीं रहता। घट और प्रदीप आदि मूर्तवस्तु है, उनका समान अधिकरण होने पर व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव-प्रकाश्य-प्रकाशकभाव होता है भिन्न अधिकरण होने पर नहीं होता। किन्तु ध्वनि और शब्द दोनों अमूर्त अपरिच्छिन्न वस्तु है, इनका किसी देश विशेष से सम्बन्ध ही नहीं होता ऐसी स्थिति में उनका एक अधिकरण अथवा भिन्न अधिकरण में सम्बन्ध की चर्चा ही अनुपपन्न है, उनका वैयधिकरण्य मानकर व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव शङ्का ही निर्मूल है। हॉ, स्थूलदृष्टि से दोनों का हृदय तथा श्रोत्र रूप देश भेद मान लिया जाय तब भी श्रोत्र देश में स्थित ध्वनि बीचितरङ्गन्याय से देशान्तर में गमनशील होनें से हृदयदेश में पहुँचकर समानाधिकरण हो जाता है जिससे घट और प्रदीप के समान उनका व्यङ्ग्यव्ञ्जकभाव सम्पन्न होता है।

वस्तुतः ध्वनि से आन्तरशब्द की अभिव्यक्ति प्रतिबिम्बाधान रूप है, प्रदीप घट के समान नहीं। बिम्बप्रतिबिम्बभावरूप व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव तो भिन्नदेशस्थ का भी होता है। अतिदूरस्थ-सूर्य-चन्द्र-मण्डल नदी-तालाब, कूप आदि नाना अधिकरणों में प्रतिबिम्बरूप में अभिव्यक्ति होती है तथा सागर अथवा जलाशय रूप एक अधिकरण में सुदूरवर्ती अपरिगणित ध्वनि यदि स्फोट रूप एक आन्तर शब्द में प्रतिबिम्बित होकर अपने से स्फोटात्मक शब्द की अभिव्यक्ति करते हैं तो कोई अनुपपति नहीं है।

[14]. ब्र. काण्ड 97

21.11 वाक्यपदीय में वर्णित शब्द विषयक विभिन्न मत

शब्द स्वरूप के विषय में विद्वानों में मतभेद है। इस मतभेद का कारण है शब्द की प्रतीति में होने वाले कारण को अलग-अलग मानना। कारण में भेद होनें के कारण वैखरी शब्द का स्वरूप भी अलग-अलग माना जाता है। अतः शब्द के विषय में प्रसिद्ध मतों का उल्लेख करते हुए आचार्य भर्तृहरि कहते हैं –

वायोरणूनां ज्ञानस्य शब्दत्वापत्तिरिष्यते।
कैश्चिद्दर्शनभेदो हि प्रवादेष्वनवस्थितिः[15]॥

अर्थात् कोई आचार्य शब्द को वायु का परिणाम मानते है, कोई अणु का परिणाम तो कोई ज्ञान का परिणाम। किसी के मत विशेष में कोई स्थिरता वा सीमा नियत न होनें से दर्शनों का यह मतभेद है। तात्पर्य है कि उपादानकारण और कार्य का अभेद होनें से जिनके मत में वैखरी शब्द का कारण वक्ता का **प्राणवायु** है - उनके मत में **शब्द वायुरूप** है। जिसके मत में शब्द का कारण **अणुरूप सूक्ष्म** शब्द है – उनके मत में **शब्द अणुरूप** है एवं जिनके मत में शब्द का कारण **वक्ता का ज्ञान** है – उनके मत में **शब्द ज्ञान रूप** है। इस प्रकार प्रवक्ता की अपनी-अपनी अभिरुचि के विकल्पमूलक होनें से दर्शन के भेद से शब्दविषयक मत भी भिन्न-भिन्न प्रकार के हैं, विशेषतः उपर्युक्त तीन मत (1) शब्द वायुरूप है, (2) शब्द अणुरूप है, (3) शब्द ज्ञानरूप है। वाक्यपदीय में विशेष रूप से विवेचनीय है –

(1) **शब्द वायुरूप है**–वायु के शब्दस्वरूप होने के विषय में उसकी प्रक्रिया बताते हुए भर्तृहरि कहते है –

लब्धक्रियः प्रयत्नेन वक्तुरिच्छानुवर्तिना।
स्थानेष्वभिहतो वायुः शब्दत्वं प्रतिपद्यते[16]॥

अर्थात् वक्ता की इच्छा के अनुरूप होने वाले प्रयत्न से प्रेरणा कर स्पन्दित एवं कण्ठतालु आदि तत्तत् स्थानों में अभिहत वायु शब्दस्वरूप को ग्रहण कर लेता है, अर्थात् वायु शब्दरूप में परिणत हो जाता है।

तात्पर्य है कि वक्ता लोक में जिस अर्थ का बोध करना चाहता है, वह उस अर्थ के वाचक शब्द का प्रयोग करना चाहता है, उस इच्छा से उसका प्रयत्न भी वैसा ही होता जिससे विवक्षित शब्द ही प्रकट हो अन्य नहीं। अतः उसके प्रयत्न विशेष से अपेक्षितमात्रा में उत्पन्न वायु उपर उठकर वर्ण विशेष के जन्म के कारण तत्तत् स्थानों में टकराता है, जिससे वायु विवक्षित वर्णात्मक व्यक्त शब्दरूप में परिणत हो जाता है इस प्रक्रिया के अनुसार **वायु का परिणाम शब्द वायुरूप है। यह मत विशेषतः शिक्षाकार** नैयायिक-वैशेषिकों का है किन्तु स्फोट से भिन्न उसका व्यञ्जक प्राकृतध्वनिरूप वैखरी के विषय में वैयाकरणों को भी अभिमत है- नित्यशब्द स्फोट के विषय में नहीं। विभिन्न प्रयत्नरूप कारणों के सामर्थ्य से वेग और प्रचय (घनीभाव) स्वभाववाला वायु एक होने पर भी कण्ठतालु आदि स्थानों में अभिहत होने के कारण क ख आदि सारभूत वर्णरूप में स्थान भेद से परस्पर विभक्त हो जाती है। अर्थात् वायु का एक घनीभूत रूप भी नाना स्थानों में विभक्त होकर मूर्त रूप में अनेक वर्णरूप हो जाता है जो एक दूसरे से भिन्न है। इस प्रकार एक ही वायु की नाना वर्णरूप परिणाम की प्रक्रिया होती है।

---

[15]. ब्र. काण्ड 108

[16]. ब्र. काण्ड 109

(2) द्वितीय मत के अनुसार शब्द अणुओं का परिणाम है जिसके स्वरूप एवं प्रक्रिया को बताते हुए आचार्य भर्तृहरि कहते हैं–

अणवः सर्वशक्तित्वाद् भेदसंसर्गवृत्तयः ।
छायाऽऽतपतमः शब्दभावेन परिणामिनः[17] ।।

विभाग एवं संयोग धर्म से युक्त अणुओं में सभी प्रकार के कार्यों को उत्पन्न करने वाली एक शक्ति है जो विभक्त होनें पर छाया, आतप और अंधकार के रूप में तथा संयुक्त होनें पर शब्द रूप में परिणत हो जाती है। अतः शब्द अणु का परिणाम है।

अभिप्राय यह है कि – वक्ता के हृदयाकाश में अथवा बाह्य महाकाश में जो शब्द अत्यन्त सूक्ष्मतम रूप में विद्यमान रहता है, वे ही वक्ता के विवक्षाप्रयत्न आदि निमित्तविशेष की प्रेरणा से संयुक्त वा संचित होकर स्थूलरूप धारण कर परस्पर विरोधी छाया-आतप्-तमस् आदि के रूप में विभिन्न शब्दरूपों में परिणत हो जाता है, जो कान से सुना जाने योग्य एवं बाह्य वैखरी शब्दरूप में कहे जाते हैं। यद्यपि कारण रूप वह सूक्ष्म अणु शब्द एकजातीय होता है तथापि उसमें पृथक् विलक्षण कार्यों की उत्पत्ति करने की सर्वविध शक्ति रहने से विरुद्धार्थ भी तत्तत् सभी शब्दों के रूप में परिणत हो जाता है और विवक्षा प्रयत्न आदि के नहीं होने पर पुनः क्रमशः स्थूल प्रचित शब्द अणुरूप सूक्ष्म हो जाता है। यह **सूक्ष्मतम शब्द** ही यहाँ अणु शब्द से विवक्षित है न कि न्यायशास्त्र परिभाषित परमाणु अथवा सांख्य परिभाषित तन्मात्राएँ। शब्द परक प्रकरण होने से शब्द विषयक अणुरूप और उसी का स्थूल रूप यहाँ ग्राह्य है। यह मत विशेष रूप में जैन मतानुनायियों के द्वारा स्वीकृत है।

अणु के शब्दरूप परिणाम होने की प्रक्रिया बताते हुए भर्तृहरि कहते हैं कि–

स्वशक्तौ व्यज्यमानायां प्रयत्नेन समीरिताः ।
अभ्राणीव प्रचीयन्ते शब्दाख्याः परमाणवः[18] ।।

अर्थात् जब कोई किसी अर्थ को बताने की इच्छा करता हैं, उस इच्छा से होनें वाले शब्द प्रयोग की इच्छा से आन्तरिक प्रयत्न से प्रेरित होकर अनुरूप सूक्ष्मशब्द अपनी शक्ति की अभिव्यक्ति होने पर उन उन स्थूल वर्ण के रूप में वैसे ही एकत्रित हो जाता है जैसे वर्षाकाल में परमाणुरूप मेघ एकत्रित हो जाता है।

(3) **शब्द ज्ञानरूप है** अर्थात् शब्द का कारण वक्ता का ज्ञान है, इस तृतीयमत का उपपादन करते हुए कहते हैं कि –

अथेदमान्तरं ज्ञानं सूक्ष्मवागात्मना स्थितम् ।
व्यक्तये स्वस्य रूपस्य शब्दत्वेन विवर्तते[19] ।।

अर्थात् – यह अर्थविषयक आन्तरज्ञान जो कि सूक्ष्मरूप से अन्तःकरण में विद्यमान रहता है अपने रूप को बाहर प्रकट करने के लिए स्थूलशब्दरूप हो जाता है।

तात्पर्य है कि यथार्थ ज्ञान वाला आप्तवक्ता पुरुष अपने हृदय में विद्यमान उस ज्ञान को जब दूसरों को प्रकट करना चाहता है तब वह शब्द का प्रयोग करना चाहता है उस आप्त वक्ता का जो ज्ञान है वह एक ओर जहाँ अर्थविषयक होनें से अर्थस्वरूप है, दूसरी ओर वह ज्ञान अर्थवाचक शब्द विषयक होने से सूक्ष्म शब्दस्वरूप भी है। फलतः **शब्द, अर्थ और ज्ञान** ये तीनों परस्पर अभिन्नरूप है,

---

[17]. ब्र. काण्ड 111

[18]. ब्र. काण्ड 112

[19]. ब्र. काण्ड 113

परस्पर तादात्म्यापन्न है। यहाँ तक कि विशेषण, विशेष्य और उनके संसर्ग से शून्य जो निर्विकल्पक ज्ञान है वे भी शब्दविषयक शब्दात्मक होते हैं, तभी तो व्यवसायात्मक घटज्ञान और पटज्ञान का शब्दभेद से परस्पर भेद सिद्ध होता है। ज्ञान को शब्दात्मक माने विना ज्ञान का परस्पर भेद हो ही नहीं सकता है। अतः जगत् के स्रष्टा परमात्मा अथवा आप्त वक्ता के हृदय में विद्यमान जो अर्थविषयक सूक्ष्मशब्दात्मक ज्ञान है वही जगत् की सिसृक्षादशा में अथवा आप्त पुरुष की विवक्षादशा में प्रयत्न आदि निमित्त बल से तत्तद् अर्थ से अभिन्न स्थूलरूप बाह्य शब्द का स्वरूप ग्रहण कर लेता है। यह सूक्ष्म आन्तरज्ञान का बाह्य स्थूल शब्दरूप ग्रहण होना ही **"अतात्विक अन्यथाभावरूप"** विवर्त है। **"आख्यातोपयोगे"** इस सूत्र के भाष्य से संमत यह ज्ञान का शब्दभाव ही वैयाकरणों का इष्टतम सिद्धान्त है। अतः वैयाकरणों के मत में **ज्ञान ही शब्द है** अर्थात् शब्द ज्ञानरूप है।

इस सूक्ष्मशब्दरूप ज्ञान का स्थूलशब्दस्वरूप ग्रहण करने की प्रक्रिया इस प्रकार है –

स मनोभावमापद्य तेजसा पाकमागतः।
वायुमाविशति प्राणमथासौ समुदीर्य्यते[20] ॥

अर्थात् वह ज्ञान रूप सूक्ष्म शब्द विवक्षा संकल्परूप में मन का स्वरूप ग्रहण करके जठराग्नि के तेज से स्थूल शब्दरूप ग्रहण की परिपाकावस्था को प्राप्त कर प्राणवायु में समाविष्ट हो जाता है, इसके अनन्तर वह कण्ठस्थान से ऊपर मूर्ध आदि स्थानों में पहुँचकर शब्दरूप ग्रहण कर उच्चारित होकर बाहर प्रकट होता है जोकि श्रोताओं के द्वारा सुना जाता है। यह प्रक्रिया **आत्मा बुद्धया समेत्यर्थान् मनो युक्ते विवक्षया इत्यादिपाणिनिदिशा** संमत है।

इस प्रकार उपर्युक्त तीनों मतों में तृतीयमत वैयाकरणसिद्धान्तित मत है।

21.12 वाक्यपदीय में वर्णित वैयाकरणसिद्धान्तानुसार शब्द की व्यापकता -

सभी प्रकार के पदार्थ और सर्वविधज्ञान शब्द से अनुगत है। अर्थात् प्राणी के समस्त ज्ञान शब्द से जुड़े हुए है, ऐसा कोई ज्ञान नहीं है जो विना शब्द के अनुगम (शब्दविषयक ज्ञान के विना) होता है। इस प्रकार शब्द की व्यापकता के विषय मे आचार्य भर्तृहरि का कथन है कि –

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते ॥

अर्थात् **लोके** = व्यवहार में, ऐसा कोई **प्रत्यय**-ज्ञान नहीं है जो शब्द के विना हो अर्थात् जिसका विषय शब्द न हो अथवा शब्द को विषय नहीं बनाता हो सभी ज्ञान शब्द से विधा हुआ (मिला हुआ) सा भासित होता है।

तात्पर्य यह है कि जैसे माला में मणि या पुष्प आदि धागे से गुथे या धागे से पिरोये ग्रन्थि के रूप में एकाकार भासित होता है अथवा व्यञ्जन वर्णों में स्वर मिलकर एकाकार प्रतीत होता है उसी प्रकार व्यवहार काल में "प्रत्यक्ष, अनुमान या शब्द ज्ञान" सभी शब्द से अनुगत व अनुविद्ध प्रतीत होता है। शब्द से रहित केवल ज्ञान व्यवहार योग्य नहीं होता है। चक्षु आदि इन्द्रिय का घट-पट आदि विषय से सन्निकर्ष (सम्बन्ध) होनें पर घट पट इत्याकारक वस्तु मात्र का जो ज्ञान किसी को होता है वह ज्ञान स्वयं के अनुभूति का विषय होता है, वह परसंवेद्य (दूसरे के लिए जानने योग्य) नहीं होता क्योंकि वह किसी शब्द विशेष से लोक व्यवहार योग्य नहीं है, वह अव्यपदेश्य एवं निर्विकल्पक

[20]. ब्र. काण्ड 114

होता है। यद्यपि यही वस्तुस्थिति है तथापि वक्ता को प्राथमिक जो घट-पट इत्याकारक वस्तुमात्र का ज्ञान होता है, वह भी अव्यक्त-अनाख्येय-सूक्ष्म रूप से संवलित व सम्बन्ध ही रहता है क्योंकि ज्ञान का आकार – प्रकार घट – पट आदि सूक्ष्म अव्यक्त शब्द रूप ही है। यदि ऐसा नहीं हो अर्थात् उसमें सूक्ष्म रूप से शब्द का रूप अनुप्रविष्ट नहीं हो तो घट से पट का, पट से घट का ज्ञान जो अलग – विलक्षण माना जाता है वह शब्द का भेद विषय के विना कैसे होगा। अतः यह मानना होगा कि वक्ता का जो इन्द्रियसन्निकर्ष जन्य प्राथमिक विभिन्न अर्थज्ञान होता है, जोकि अव्यपदेश्य – अनाख्येय निर्विकल्पक रूप है वह भी सूक्ष्म – अव्यक्त शब्द से मिश्रित होनें से ही घट-पट शब्द से अलग होता है और वक्ता के द्वारा वह शब्दानुगम ज्ञान जब दूसरे के लिए प्रयुक्त होता है तब वह ज्ञान सक्रम एवं व्यक्त शब्द से अनुबिद्ध रहता है। दोनों में इतना अन्तर अवश्य होता है कि दूसरों को शब्द से उपदेशित ज्ञान सक्रम व्यक्त शब्द से अनुविद्ध रहता है, जबकि वक्ता का स्वसंवेद्य प्राथमिक ज्ञान अव्यक्तरूप में सूक्ष्म शब्द रूप से संवलित एकात्मक रहता है वहाँ भेद ज्ञान नहीं रहता है। व्यपदेश्य सविकल्पक ज्ञान में शब्द का भेद भी परिलक्षित होता है।

अतः निष्कर्ष है कि निर्विकल्पक या सविकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान तथा अनुमान, उपमान, शाब्द सभी ज्ञान शब्द से अनुविद्ध होते हैं।

21.13 व्याकरण मोक्ष का साधन –

सर्वं शब्देन **भासते=**सभी पदार्थ, जड़ – चेतन – जीव – ब्रह्म सभी शब्द के द्वारा ही भासित होता है, सभी का अस्तित्व बोधक **शब्द** ही है, सभी में शब्दमिश्रित है और व्यकारण साध्य शब्द संस्कार से शुद्ध अखण्ड शब्द का ज्ञान, अन्तःकरण में स्वयं ज्योतिस्वरूपब्रह्म के साथ अभेदभावना से भेदग्रन्थि का उच्छेद कराकर तादात्म्यरूप सायुज्य (मोक्ष) प्राप्ति कराने का साधन **व्याकरण** है, इसे आचार्य भर्तृहरि ने निम्नकारिका के द्वारा स्पष्ट किया है –

तस्माद्यः शब्दसंस्कारः सा सिद्धिः परमात्मनः।
तस्य प्रवृत्तितत्त्वज्ञस्तद् ब्रह्मामृतमश्नुते[21] **॥**

अर्थात् **तस्मात्** शब्द का ब्रह्मात्मरूप होनें के कारण **यः शब्दसंस्कारः साधु–** असाधु – शब्द में, ध्वनि स्फोट में विवेक के द्वारा शुद्धशब्द की भावना अर्थात् आत्मारूप शुद्ध परब्रह्म परस्वरूप निश्चय तथा परमात्मा की प्राप्ति का उपाय (साधन) **शब्दसंस्कार** है जो व्याकरणसाध्य है। अतः व्याकरण मोक्ष का साधन है।

तात्पर्य है कि शब्द ब्रह्मात्मरूप है और उस शब्द का संस्कार कराने वाला व्याकरण सिद्ध रूप है, यही व्याकरण उस परमात्मा नित्य शब्दब्रह्म की सिद्धि का उपाय है। एवं उसकी प्रवृत्ति को जानने वाला ही अमृतब्रह्म को प्राप्त करता है।

व्याकरण शास्त्र द्वारा शब्दव्युत्पत्ति की प्रक्रिया के ज्ञान से जो विवेक ज्ञान प्राप्त कर साधुशब्दों का ही प्रयोग करता है तज्जन्य पुण्य से उस वक्ता का अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है जिसके माध्यम से वह वक्ता अपने निर्मल अन्तःकरण में वैखरीवाक् स्वरूप से अतिरिक्त अखण्ड शुद्ध शब्द ब्रह्म का आत्मारूप में प्रत्यक्षदर्शन करता है तथा उसके सभी व्यवहारिक भेदज्ञान मिट जाते हैं, अन्ततः वह अमृतत्व की प्राप्ति कर ब्रह्मत्व को प्राप्त करता है। अतः व्याकरण मोक्ष करा ने वाला साधन है।

[21]. ब्र.काण्ड 133

21.14 वाक्यपदीय के अनुसार शास्त्र की सार्थकता में प्रमाण –

श्रुति (वेद) स्मृति आदि में प्रतिपादित धर्म का ज्ञान आचारपरम्परा से लोक में सम्भव है इसके लिए शास्त्र आवश्यक नहीं है, ऐसे भी कपिल आदि मुनि हुए हैं जो जन्म से ही ज्ञानवान् हुए वे धर्म अधर्म निर्णय में स्वतः प्रमाण हैं, उनके लिए भी शास्त्रों की परमावश्यकता नहीं है, इस प्रकार की आशङ्का को ध्यान में रखते हुए शास्त्र की सार्थकता सिद्ध करते हुए आचार्य भर्तृहरि कहते हैं–

ज्ञाने स्वाभाविके नार्थः शास्त्रैः कश्चन विद्यते ।
धर्मो ज्ञानस्य हेतुश्चेत्तत्राम्नायो निबन्धनम्[22] ।।

अर्थात् जन्मकाल से ही स्वाभाविक ज्ञान वाले पुरुष विशेष के लिए यद्यपि शास्त्रों का कोई प्रयोजन इस जन्म में नहीं है तथापि उस स्वाभाविक ज्ञान का कारण यदि पूर्वजन्म के धर्मविशेष को माना जाय, तब भी ज्ञान कारण वाले उस धर्म का उपदेश करने वाला वेदमूलक शास्त्र ही होगा, क्योंकि शास्त्र से ही धर्म का अनुशासन होता है। अत एव पूर्वकृत धर्मजन्य स्वाभाविक ज्ञान में भी परम्परा कारण वेदमूलक शास्त्र ही सिद्ध होता है और साधारण लोगों के ज्ञान का तो एकमात्र शास्त्र ही उपाय है। अतः शास्त्र की सार्थकता तो सिद्ध ही है। साक्षात् या परम्परा सबको समानरूप में शास्त्र की आवश्यकता है। हाँ, इतना अन्तर अवश्य होगा कि – स्वाभाविक ज्ञान का हेतु पूर्वकृत धर्म ही निमित्त है अतः स्वाभाविक ज्ञानी को आधुनिक स्मृतिशास्त्र की अपेक्षा नहीं, किन्तु जनसाधारण को तो श्रुति-स्मृति उभयविधशास्त्र की आवश्यकता है। शिष्टों का आचार तो शास्त्र का ज्ञापक मात्र है। सदाचार शास्त्र का पोषक प्रमाण है। सदाचार से अनुपलब्ध मूलभूत शास्त्र का ही अनुमान होता है। अतः शास्त्र की सार्थकता सदा रहती है।

21.15 वेदमूलक अनादि-आगम व्याकरण का प्रामाण्य –

स्मृति आदि धर्म में प्रमाण होनें पर भी व्याकरण की प्रामाणिकता कैसे? साथ ही इसे धर्ममूलक कैसे स्वीकार किया जा सकता है, इस आशंका को ध्यान में रखकर वाक्यपदीयकार, समाधान करते हैं –

साधुत्वज्ञानविषया सैषा व्याकरणस्मृतिः ।
अविच्छेदेन शिष्टानामिदं स्मृतिनिबन्धनम्[23] ।।

अर्थात् यह व्याकरण भी स्मृति ही है जिसका विषय शब्दों के साधुत्व का ज्ञान कराना है, प्राचीन शिष्ट आचार्यों से अनादि परम्परा से चली आ रही व्याकरण परम्परा का स्मरण करते हुए पाणिनीयव्याकरणस्मृति की रचना है। अतः अविच्छिन्न (निरन्तर) परम्परामूलक होनें से यह व्याकरण अनादि है आगम है एवं सर्वथा प्रमाण है।

तात्पर्य है कि – प्रकृतिप्रत्यय के व्युत्पादन द्वारा शब्द के साधुत्व का निर्वचन व्याकरण का मुख्यलक्ष्य है। अर्थविशेष में शब्दविशेष के साधुत्व का निरूपण पाणिनीय व्याकरण में हीं सर्वप्रथम नहीं हुआ है अपितु इसके पूर्व से ही अनादिपरम्परा से उपनिबद्ध अन्य व्याकरण भी प्रवर्तित होते रहे हैं साथ ही शिष्टों के साधुशब्द प्रयोग की अविच्छिन्न परम्परा से पूर्वव्याकरण स्वरूप का अनुगम कर अपूर्व अपनी प्रतिभा से आचार्य पाणिनि ने सकल लक्ष्य का संग्राहक अद्भुत् अष्टाध्यायी नामक व्याकरणस्मृति का निबन्धन किया है। अतः यह भी स्मृति है और वेदमूलक होनें के कारण प्रमाण है

[22].ब्र. काण्ड 136
[23].ब्र. काण्ड 143

। जैसा कि भाष्यकार ने भी कहा है - **लोकतोऽर्थप्रयुक्ते शब्दप्रयोगे शास्त्रेण धर्मनियमः** और भी, वेदवाक्यों का अन्वाख्यान परक होने से वेदाङ्गों में मुख्य अङ्ग मुख, व्याकरण को कहा ही गया है। वर्णसमाम्नायमूल बाले इस व्याकरण का साक्षात् प्रामाण्य ही नहीं अपितु इसे प्रमाणों का भी प्रमाण कहा जाता है।

21.16 शब्द का जगत्कारणत्व के विषय में आचार्य भर्तृहरि का मत-

वाक्यपदीयकार ने **अनादिनिधनं ब्रह्म यतः सर्वं स्फोटरूपं जगदेतद्धवर्तते** इस प्रतिज्ञावाक्य के द्वारा शब्द ब्रह्म को जगत् का कारण बताया इस विषय में विभिन्न मतों की समीक्षा करके अन्ततः अपने प्रतिज्ञा सिद्धान्त को प्रस्तुत कारिका द्वारा सिद्ध करते हुए आचार्य भर्तृहरि कहते हैं कि-

शब्देष्वेवाश्रिता शक्तिर्विश्वस्यास्य निबन्धिनी।
यन्नेभः प्रतिभात्मायं भेदरूपः प्रतीयते[24] ।।

अर्थात् नामरूपात्मक दृश्यमान इस प्रत्यक्ष जगत् के जन्म आदि की बीजशक्ति आन्तर (त्रिविध) सूक्ष्म शब्दों में ही अधिष्ठित है, जिससे प्रणीत व उद्भावित (प्रकाशित) यह अनादिवासनामूलक भेदस्वरूप अर्थव्यवहार प्रतीत (अनुभव) का विषय होता है,वस्तुतः भेद नहीं है।

तात्पर्य कि मूल नाभि और हृदय देश में स्थिति क्रमशः परा पश्यन्ती मध्यमा नामक त्रिविध सूक्ष्म शब्दों में विवर्तनामरूप वह शक्ति है जिससे वे सूक्ष्मशब्द घट,पट आदि विभिन्न अनेक स्थूल शब्दों और अर्थों के रूप में विवर्तित होकर जगत् के प्रमाता प्रमाण एवं प्रमेयरूप भेदव्यवहार का कारण होते हैं, यह भेद व्यवहार अनादि जगत् में प्रवाहरूप से पूर्वपूर्व अनुभवजन्य वासना से प्रवर्तित होता आ रहा है।

निष्कर्ष यह है कि - अक्रम अखण्ड ज्ञानरूप शब्दब्रह्म जगत् का अधिष्ठान तत्व है, अर्थात् वह जगद्विवर्त का उपादान कारण है। घकार, टकार आदि वर्णो का भेद तथा अनेक क्रमभेद के घट, पट आदि पदों का भेद व वाक्यभेद और उनका अर्थभेद ये सभी शब्द की विवर्तनारूप विक्षेपशक्ति से भासित होते हैं, वस्तुतः भेदों की यथार्थ सत्ता नहीं है, एक अद्वितीय ब्रह्मरूप शब्द ही परमार्थ तत्त्व है ।।

21.17 निर्विकल्प ज्ञान (शब्द का विषय वने ज्ञान) के व्यवहार योग्य नहीं होनें में भर्तृहरि का मत –

शब्द से अनुगत हुए विना ज्ञान कभी व्यवहार योग्य नहीं होता है इसे सिद्ध करते हुए आचार्य भर्तृहर का कथन है कि –

वाग् रूपता चेदुत्क्रामेदवबोधस्य शाश्वती।
न प्रकाशः प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमर्शिनी।।

अर्थात् विषय के आकार से निश्चित स्वरूप वाले यह घट है, यह पट है इस प्रकार का जो सविकल्प ज्ञान है, उसमें अविच्छिन्न नित्यस्वरूप भूत जो शब्दरूपता है, वह यदि ज्ञान में उड़कर कहीं चली जाय या लुप्त हो जाय तो प्रकाशरूप जो ज्ञान है वह वाग्रूपता के विना अर्थात् शब्द से विषय का प्रकाश हुए विना, विषयहीन ज्ञान व्यवहार में कभी प्रकाशित नहीं हो सकेगा क्योंकि ज्ञान की वह

24. .ब्र. काण्ड 119

शब्दरूपता ही विषय के उपस्थापन और अवधारण के द्वारा ज्ञान के नियतस्वरूपता को बताती है। अतः शब्द रूपता के विना ज्ञान व्यवहारयोग्य नहीं है।

तात्पर्य है कि जैसे तृण काष्ठ आदि इन्धन के सन्निधान में ही अग्नि का दाहकत्व के साथ प्रकाशकत्व स्वरूप पाया जाता है, अथवा यह कहा जाय कि अग्नि का दाहकत्व और प्रकाशकत्व ये दोनों समन्वित रूप हैं ऐसे ही ज्ञान का शब्दरूपत्व और प्रकाशकत्व ये दोनों समन्वित तथा समनियत स्वरूप है।

जैसे अन्तर्यामी रूप में अग्नि विश्व में सर्वत्र अन्तगर्भित रहने पर भी इन्धन से संयोग के विना दाहकार्य के अभाव में प्रकाश नहीं होनें से व्यवहार का विषय नहीं होता है, ऐसे ही अन्तर्यामी रूप में ज्ञान अन्तःकरण में विद्यमान रहने पर भी शब्द के विना अर्थ की उपस्थिति के अभाव में बाहर प्रकाशित नहीं होनें से व्यवहार योग्य नहीं होता है। लोकव्यवहार में तो शब्द के ज्ञान व्यवहार काल में सविकल्पकरूप है जो कि आख्येय तथा व्यपदेश्य है। वस्तुतः वैयाकरण मत में आन्तरनिर्विकल्पक ज्ञान भी नियमतः सूक्ष्म स्वप्रकाश शब्दरूप ही रहता है।

21.18 वाक्यपदीयकार के मत में प्रमाण -

वाक्यपदीय में प्रमाणविषयक विवेचन के आधार पर ऐसा प्रतीत होता है कि वाक्यपदीयकार – प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द (आगम) अभ्यास और अदृष्ट ये 5 (पाँच) प्रमाण मानते हैं।

1. **प्रत्यक्ष**–भर्तृहरि के अनुसार प्रत्यक्ष दो प्रकार का है (1) लौकिक (2) अलौकिक। लौकिक – प्रत्यक्ष जन-सामान्य का है और अलौकिक प्रत्यक्ष ऋषियों का जो विना इन्द्रिय की सहायता से ही होता है जिसे लोक उसे अपने प्रत्यक्ष से कम नहीं समझते हैं।

इस विषय में आचार्य भर्तृहरि कहते हैं –

यो यस्य स्वमिव ज्ञानं दर्शनं नाभिशङ्कते।
स्थितं प्रत्यक्षपक्षे तं कथमन्यो निवर्तयेत्॥

अर्थात् जो स्वयं द्रष्टा अपने प्रत्यक्ष ज्ञान की सत्यता के समान ही दूसरे किसी द्रष्टा के भी प्रत्यक्ष ज्ञान की सत्यता में कोई सन्देह नहीं करता है। उसे सत्य ही मानता है।

(2) **अनुमान** – प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अनुमान प्रमाण कि सिद्धि के लिए वाक्यपदीयकार ने विशेष उपाय तो नहीं बताया है किन्तु उसका खण्डन भी नहीं किया है। अतः **अप्रितिषिद्धं ह्यनुमतं भवति**इस न्याय के अनुसार अनुमान प्रमाण भी अभीष्ट प्रतीत होता है।

(3) **शब्द – (आगम)**– आचार्य भर्तृहरि के अनुसार आगम (शब्द) सभी प्रमाणों में श्रेष्ठ है। साधु-असाधु के प्रयोग विषयक धर्म-अधर्म के निर्णय में आगम ही प्रमाण है, आगम निरपेक्ष केवल तर्क नहीं। इसी को अपनी कारिका के द्वारा स्पष्ट करते हुए आचार्य भर्तृहरि कहते है –

न चागमादृते धर्मस्तर्केण व्यवतिष्ठते।
ऋषीणामपि यज्जज्ञानं तदाप्यागमहेतुकम्॥

अर्थात् आगम प्रमाण के बिना केवल तर्क के द्वारा धर्मविषयक निर्णय नहीं हो सकता है। ऋषियों का भी सूक्ष्म धर्म आदि विषयक जो ज्ञान है, वह भी आगमप्रमाण मूलक है। अतः धर्माधर्म निर्णय के लिए भी आगम ही प्रमाण है। इस प्रकार इनके मत में आगम प्रमाण की प्रधानता है।

(4) **अभ्यास –** भर्तृहरि ने वाक्यपदीय के 35 वीं कारिका में अभ्यास नाम के प्रमाण की चर्चा करते हुए कहा कि – जो मणि आदि के मूल्य के तारतम्य का ज्ञान है वह दूसरों को बताया नहीं जा सकता किन्तु अभ्यास से ही होता है कि इन्हें अभ्यास प्रमाण भी स्वीकृत है।

(5) **अदृष्ट –** वाक्यपदीय की 36 वीं कारिका के आधार पर अदृष्ट प्रमाण की भी चर्चा की गई है। प्रेत अथवा पितर भीत से विना छिद्र बनाये हाथ बाहर निकाल देते है ये सिद्धियाँ अदृष्ट जन्य ही है। भर्तृहरि का कथन है –

प्रत्यक्षमनुमानञ्च व्यतिक्रम्य व्यवस्थिताः।
रक्षःपितृपिशाचानां कर्म्मान्ता एव सिद्धयः॥

अर्थात् अलौकिक जो लौकिकप्रत्यक्ष और अनुमान से न जानने योग्य लोक में प्रसिद्ध पितर, राक्षस और पिशाच आदि की सिद्धियाँ कर्माधीन होती हैं, इस प्रकार का आर्ष ज्ञान तप के द्वारा उत्पन्न अदृष्ट से जन्य है। अतः यह तर्कजन्य नहीं हैं।

इस प्रकार वाक्यपदीय में प्रमाण के रूप में उक्त 5 प्रमाण को स्वीकार किया जा सकता है।

21.19 पारिभाषिक शब्दावली

1. **विवर्त-** अतत्वतोऽन्य प्रथा विवर्त – यथा
   अवास्तविक अन्यथाभाव होना अर्थात् जो नहीं है उसे उस रूप में समझना ही विवर्त है जैसे रस्सी को साँप समझना। वस्तुतः रस्सी है सर्प नहीं किन्तु उसे सर्प समझना विवर्त होता है।
2. **परिणाम –** स तत्वतोऽन्यथा प्रथा विकारः (परिणाम) दुध (दूध) का दही रूप में परिवर्तन होत है।
3. **भाव –** प्रकृति में होने वाली क्रिया-प्रतिक्रिया।
4. **वर्त्म** – मार्ग – पद्धति - रास्ता।
5. **व्याकरणम् –** व्याक्रियन्ते = व्युत्पाद्यन्ते शब्दा अनेन, जिसके द्वारा शब्द की व्युत्पत्ति (विशेष ज्ञान) किया जावे तादृश ग्रन्थ विशेष।
6. **अपोद्धारपदार्थ–** पदार्थाद् अपोध्रियन्ते विभज्यन्ते इति अपोद्धाराः प्रकृति- प्रत्यानाम् अर्थाः प्रकृत्यर्थ एवं प्रत्ययार्थ को अपोद्धारपदार्थ कहा जाता है।
7. **स्थितलक्षण –** पदार्थ एवं वाक्यार्थ, अर्थ विशेष में स्थित रहने वाले पद एवं वाक्य को स्थित लक्षण कहा जाता है।
8. **अन्वाख्येयः प्रतिपादक–** शब्द का द्विविध भेद।
9. **कार्यकारण भाव एवं योग्यता–** शब्द का द्विविध सम्बन्ध।

21.20 अभ्यासार्थ प्रश्न –

प्र.सं 1. वाक्यपदीयम् के रचनाकार कौन हैं ?

प्र.सं 2. वाक्यपदीयम् कितने काण्डों में विभक्त है ? कृपया नाम लिखिए ?

प्र.सं 3. अधोलिखित कारिका की व्याख्या किजिए -

अनादिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरं।
विवर्ततोऽर्थभावेन, प्रक्रिया जगतो यतः॥

प्र.सं 5. वाक्यपदीयम् के अनुसार विवर्तवाद को समझाइये ?

प्र.सं 6. शब्दार्थ सम्बन्ध पर एक लेख लिखिए ?
प्र.सं 7. वाक्यपदीयम् के अनुसार व्याकरण के नियमों का वर्णन किजिए ?

21.21 सारांश –

वाक्यपदीय ब्रह्मकाण में प्रतिपादित विषयों के आधार पर यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि व्याकरण के मत में शब्द को ब्रह्म के रूप में माना गया है, जिसे स्फोटब्रह्म की संज्ञा दी गई है, यह स्फोटात्मक शब्द ब्रह्म अक्षर, जगत् का कारण नित्य और एक ही है जो व्यावहारिक प्रक्रिया में विभिन्न वर्ण-पद एवं वाक्य के रूप में प्रकाशित होकर समस्त अर्थ को प्रकाशित करता है, जिसके स्वरूप को अर्थात् शब्दे के यथार्थ रूप को जानकर अज्ञान के उस ब्रह्मस्वरूप को प्राप्त किया जा सकता है।

इस ब्रह्म की प्राप्ति का साधन व्याकरण है। इस व्याकरण अध्ययन के मुख्य 5 (पांच) प्रयोजन है, रक्षा-ऊह-आगम- लघु और असन्देह इसके साथ ही परम प्रयोजन मोक्ष प्राप्ति है। व्याकरण के अनुसार शब्द भी नित्य है, अर्थ भी नित्य है एवं दोनों का परस्पर सम्बन्ध भी नित्य माना गया है। इस शब्द में ग्राह्यत्व एवं ग्राहकत्व नाम की दो शक्ति है जिससे शब्द का अपना स्वरूप एवं अर्थ दोनों ही प्रकाशित होता है। इस नित्य में शब्द में काल एवं वृत्ति भेद की प्रतीति औपाधिकमात्र है। इस शब्द का व्यञ्जक ध्वनि है। यह ध्वनि प्राकृत एवं वैकृत भेद से दो प्रकार का होता है स्फोट के ग्रहण में प्राकृत ध्वनि कारण होता है, वैकृत ध्वनि कण्ठताल्वादि के अभिघात से उत्पन्न होकर परश्रवण गोचर होता है। इस प्रकार शब्द एवं ध्वनि के बीच व्यङ्ग्य-व्यञ्जक भाव सम्बन्ध माना जाता है। भर्तृहरि के अनुसार यह शब्द ज्ञान रूप है, जो शब्दरूप में भासित होता है। इ प्रकार शब्द ही सर्वत्र व्याप्त है और सभी व्यवहार का साधक है।

21.22 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

क्र.सं.	ग्रन्थनाम	लेखक/सम्पादक	प्रकाशन
1.	वाक्यपदीयम् ब्रह्मकाण्ड	पं. वेदानन्द झा	मन्दाकिनी संस्कृत परिषद् दिल्ली चौखन्भा संस्कृत प्रतिष्ठान 1987.
2.	वाक्यपदीयम् ब्रह्मकाण्ड	पं. सूर्यनारायण शुक्ल	चौखम्भा संस्कृत संस्थान1976.
3.	वाक्यपदीयम्	पं. रघुनाथ शर्मा कृत् अम्बाकर्त्री (व्याख्या)	सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1977.
4.	वैयाकरणसिद्धान्तल घुमञ्जूषा	पं. सभारति शर्मोपाध्याय	चौखम्भा संस्कृत संस्थान् 1999.
5.	परमलघुमञ्जूषा – सरला व्याख्या	पं. श्रीराम चन्द्र मिश्र	कामेश्वरसिंह दरभंगा विश्वविद्यालय, दरभंगा, 2000.
6.	वैयाकरणभूषणसार	कौण्डभट्ट	चौखन्भा संस्कृत प्रतिष्ठान, 2010.
7.	महाभाष्यम्	पतञ्जलिकृत	चौखन्भा संस्कृत प्रतिष्ठान, 2007.

इकाई - 22

(सिद्धान्त कौमुदी) विभक्त्यर्थ प्रकरण

इकाई की रूपरेखा

22.0 उद्देश्य
22.1 प्रस्तावना
 22.1.1 वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी : एक परिचय
 22.1.2 कारक लक्षण एवं परिचय
 23.1.3 विभक्ति परिचय
22.2 प्रथमा विभक्ति
 22.1.1 प्रातिपदिकार्थादिविचार
 22.1.2 सम्बोधन
22.3 द्वितीया विभक्ति
 22.2.1 कर्मसंज्ञा विधायक सूत्र एवं उदाहरण
 22.2.2 द्वितीया विभक्ति विधायक सूत्र
 22.2.3 कर्मप्रवचनीय संज्ञा विधायक सूत्र एवं उदाहरण
22.4 तृतीया विभक्ति
22.5 चतुर्थी विभक्ति
 22.4.1 सम्प्रदान संज्ञा विधायक सूत्र एवं उदाहरण
 22.4.2 चतुर्थी विभक्ति विधायक सूत्र
22.6 पञ्चमी विभक्ति तथा षष्ठी विभक्ति
 22.5.1 पञ्चमी विभक्ति विधायक सूत्र
 22.5.2 अपादानसंज्ञक सूत्र उदाहरण
 22.5.3 षष्ठी विभक्ति विधायक सूत्र एवं उदाहरण
22.7 सप्तमी विभक्ति
 22.6.1 सप्तमी विभक्ति विधायक सूत्र
 22.2.2 अधिकरणसंज्ञक सूत्र एवं उदाहरण
22.8 पारिभाषिक शब्दावली
22.9 अभ्यासार्थ प्रश्न
22.10 सारांश
22.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

22.0 उद्देश्य

हम एम० ए० पूर्वार्द्ध के पाठ्यक्रम **MASA-04** (भारतीय काव्यशास्त्र एवं व्याकरण) की इकाई सं० २२(सिद्धान्तकौमुदी – विभक्त्यर्थ प्रकारण का अध्ययन करने जा रहे है जिसके निम्नलिखित उद्देश्य है –

- व्याकरण शास्त्र की सामान्य जानकारी।
- सिद्धान्त कौमुदी का सामान्य ज्ञान।

- प्रतिपादिकार्थ विचार, कर्मसंज्ञा, कर्मप्रवचनीय संज्ञा, सम्प्रदान अपादान अधिकरण आदि संज्ञाओंका ज्ञान।
- प्रथमा विभक्ति से लेकर सप्तमी विभक्ति तक सिध्दान्तकौमुदी के आधार पर सूत्रानुसारी ज्ञान।

22.1 प्रस्तावना

व्याकरणशास्त्र को वेदों का मुख कहा गया है। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने कहा भी है "**षट्स्वङ्गेषु प्रधानं व्याकरणम्, मूले च कृतो यत्नः फलवान् भवति**" छः अङ्गों में व्याकरणशास्त्र मुख्य है।

व्याकरण की परिभाषा

व्याक्रियन्ते व्युत्पद्यन्ते असाधुशब्देभ्यः विविच्य साधुशब्दाः क्रियन्ते अर्थात् असाधु शब्दों से अलग कर साधु शब्द का विवेचन करने वाला शास्त्र व्याकरण है। व्याकरण शास्त्र का दूसरा नाम शब्दानुशासन है।

22.1.1 वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी : एक परिचय

व्याकरण शास्त्र की ब्रह्मा से चली आ रही है 'यथाऽऽचार्य ऊचुर्ब्रह्मा बृहस्पतये प्रोवाच...... " महर्षि पाणिनि से पूर्व पूर्व 65 वैयाकरण ऋषियों का नाम परिगणित है। वर्तमान में सर्वप्राचीन सम्पूर्ण तथा वैज्ञानिक समुपलब्ध पाणिनि व्याकरण है, अतः सर्वाधिक प्रसिद्धि को प्राप्त पाणिनि व्याकरण में व्याख्या ग्रन्थ भी बहुलतया प्राप्त है।

इस व्याकरण की अध्ययन पद्धति दो प्रकार की है - सूत्रक्रम तथा प्रक्रियाक्रम सूत्रक्रम के अनुसार काशिका आदि ग्रन्थ लिखे गये प्रक्रियाक्रम के अनुगत वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी प्रभृतिग्रन्थ लिखे गये हैं। वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी के कर्ता भट्टोजिदीक्षित हैं इन्होंने कौमुदी पर प्रौढमनोरमा नाम का व्याख्या लिखी जो कि ग्रन्थ को और भी सुस्पष्ट करती है। आज कौमुदी का ही अध्ययन अध्यापन अधिक है। यह ग्रन्थ प्रकरणों में विभक्त है इसमें 82 प्रकरण है। संज्ञा सन्धि षड्लिंग अव्यय के अनन्तर कारक प्रकरण है। विद्वानों ने कारक को व्याकरण शास्त्र का हृदय माना है। इस प्रकार 16 शताब्दी का यह ग्रन्थ पाणिनि व्याकरण के मर्म को प्रकट करने में पूर्णतया सक्षम है।

22.1.2 कारक लक्षण एवं परिचय

आचार्यों ने कारक के लक्षण निम्नवत किये हैं -

1. क्रियानिमित्तत्वं कारकत्वम्
2. क्रियाजनकत्वम्
3. क्रियानिष्पादकत्वम्
   (अर्थात् क्रिया का निष्पादक तत्त्व कारक है।)
4. क्रियान्वयित्वं कारकत्वम्
5. कर्तृकर्मत्वादिषट्कान्यत्तमत्वे सति क्रियान्वयित्वं कारकत्वम्।
6. धात्वर्थांशे प्रकारो यः सुबर्थः सोऽत्र कारकम्।
7. अपादानाद्यन्यतमत्वं कारकत्वम्।

सभी लक्षणों में क्रिया का महत्त्व है। अतः निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि साक्षात् परम्परया वा क्रिया को जो निष्पन्न करे वह कारक है। सम्बन्ध का अन्वय क्रिया में नहीं होने के कारण कारक नहीं है किन्तु परम्परा सम्बन्ध से अधिकरण कारक अवश्य है। क्रिया से सम्बन्ध होने के कारकों का प्रभेद कर्त्रादि छः हैं-

कर्ता कर्म च करणं च सम्प्रदानं तथैव च।
अपादानाधिकरणं चेत्याहुः कारकाणि षट्।

अर्थात् - कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान एवं अधिकरण ये छः प्रकार के कारक है। "यतो न लघीयः अन्वर्थं नाम सा संज्ञा" इस सिद्धान्त के अनुसार कर्ताकर्मादि अर्थ का ध्वनन हो जा रहा है क्रमशः कर्त्रादि संज्ञाविधायक सूत्र का उल्लेख किया जाता है -

1. स्वतन्त्रः कर्ता (पा.01/04/54)
2. कर्तुरीप्सिततमं कर्म (पा.सू. 1/04/49)
3. साधकतमं करणम् (पा.सू. 1/4/42)
4. कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम् (पा.सू. 1/4/32)
5. ध्रुवमपायेऽपादानम् (पा.सू. 1/4/24)
6. आधारोऽधिकरणम् (पा.सू. 1/4/45)

उपर्युक्त सूत्र मुख्य रूप से कर्त्रादि संज्ञा विधायक हैं इनके अवान्तर सूत्र भी कर्त्रादि संज्ञा करते हैं।

22.1.3 विभक्ति परिचय

महर्षि पाणिनि के अनुसार 'विभक्तिश्च' (पा.सू. 1/4./04) के अनुसार सुप् और लिङ् के तीन-तीन प्रत्ययों के गण को विभक्ति कहते हैं। यथा -

सुप्	सु	औ	जस्	-	प्रथमा
	अम्	औट्	शस्	-	द्वितीया
	टा	भ्याम्	भिस्	-	तृतीया
	ङे	भ्याम्	भ्यस्	-	चतुर्थी
	ङसि	भ्याम्	भ्यस्	-	पञ्चमी
	ङस्	ओस्	आम्	-	षष्ठी
	ङि	ओस्	सुप्	-	सप्तमी

तिङ्	तिप्	तस्	झि	-	प्रथमपुरुषः
	सिप्	यस्	य	-	मध्यमपुरुषः
	मिप्	वस्	मस्	-	उत्तमपुरुषः
	त	आताम्	झ	-	प्रथमपुरुषः
	थास्	आथाम्	ध्वम्	-	मध्यमपुरुषः
	इट्	वहि	महिङ्	-	उत्तमपुरुषः

उपर्युक्त प्रत्ययों की विभक्ति संज्ञा होता है। किन्तु प्रथम, द्वितीया, तृतीया, चतुर्थी, पञ्चमी, षष्ठी तथा सप्तमी की प्रसिद्धि है।

विभक्तियों के दो रूप हैं - (1) कारक विभक्ति (2) उपपद विभक्ति। क्रिया से सम्बन्ध होने पर कारक विभक्ति होती है। पदों से सम्बद्ध होने पर उपपद विभक्ति होती है -

प्रथमा विभक्ति

कारक विभक्ति

अभिधानमात्र में प्रथमा विभक्ति होती है चाहे वह कोई भी कारक हो। यथा **-ज्वलयति अग्निः** (कर्ता), **पच्यते ओदनः** (कर्म), **स्नानीयं चूर्णम्** (करण), **दानीयो विप्रः** (सम्प्रदान), **भीमो राक्षसः** (उपादान) **आसनं पीठम्** (अधिकरण)। इसीलिये महर्षि पाणिनि ने प्रातिपदिकार्थमात्र में प्रथमा का विधान किया है। जिसके अनुसार सत्ता, लिङ्ग, परिमाण या वचन मात्र में प्रथमा विभक्ति होती है - उच्चैः, कुमारी, द्रोणः

एकः। इन सभी में अभिहित कर्ता है, इसका सम्बन्ध गम्यमान आदि क्रिया से हैं। यदि कोशादि ग्रन्थों में क्रिया विरहित रूप में प्रथमा का प्रयोग हो तो इसे अपपदविभक्ति कहा जा सकता है।

उपपदविभक्ति - सम्बोधन में प्रथमा विभक्ति होती है - हे राम! तथा सम्बन्ध के अभिहित होने पर प्रथमा विभक्ति होती है। यथा - **गोमान् रामः**।

द्वितीया विभक्ति

(1) सभी प्रकार के अभिहित कर्मों में द्वितीया विभक्ति होती है। यथा – **घटं** करोति (2) कतिपय प्रयोज्य कर्ता में भी कर्म – कारक मानकर द्वितीया विभक्ति होती है। यथा – **विप्रं** ग्रामं गमयति शिशुं शाययति।

उपपदभिक्ति – अन्तरा, अन्तरेण आदि पदों के कारण तथा कर्मप्रवचनीय संज्ञा के कारण हुई द्वितीया विभक्ति उपपद विभक्ति की श्रेणी में है।

तृतीया विभक्ति

अनभिहित कर्ता तथा करण में तृतीया विभक्ति होती है : यथा **रामेण बाणेन** हतो बाली।

उपपदविभक्ति- काल तथा अध्ववाचक शब्दों के प्रयोग में यदि व्याप्ति के साथ-साथ फलप्राप्ति (अपवर्ग-कार्य समाप्ति) का भी बोध हो तो उनमें तृतीया होती है - **मासेन** तद्धिताः अधीताः **क्रोशेनानुवाकोऽधीतः**। इसी प्रकार - प्रकृत्या चारू प्रायोण याज्ञिकः, शशिना सह, अक्ष्णा काणः इत्यादि प्रयोगों को उपपद विभक्ति का उदाहरण समझना चाहिए।

चतुर्थी विभक्ति

कारक विभक्ति - सभी सम्बद्ध सूत्रों तथा वार्तिकों के द्वारा विहित अनभिहित सम्प्रदान कारक में चतुर्थी विभक्ति होती है। यथा - **ब्राह्मणाय** गां ददाति, **पत्ये** शेते, **बालकाय** मोदकः रोचते।

उपपदविभक्ति - (क) तादर्थ्य (एक वस्तु का दूसरी वस्तु के लिए होना) ज्ञात होने पर चतुर्थी होती है। यथा - **यूपाय** दारु, **कुण्डलाय** हिरण्यम्, रन्धनाय स्थाली, ब्राह्मणाय दधि काव्यं यशसे।

(ख) तुमुन् प्रत्यय के समानार्थक जो कृत्यप्रत्यय (घञ्, ल्युट् आदि) भाव अर्थ में विहित हो तो उससे बने हुए कृदन्त शब्द में चतुर्थी होती है - पाकाय (पक्तुम्) अग्निमाहरति।

(ग) नमः, स्वस्ति, स्वाहा, स्वधा, अलम्, वष्ट आदि के योग में चतुर्थी होती है। यथा **- गुरवे नमः**, राज्ञे स्वस्ति, **अग्नये स्वाहा।**

(घ) आशीर्वादार्थ आयुष्य, मद्र, भद्र, कुशल, सुख, अर्थ तथा हित इन शब्दों के योग में चतुर्थी तथा षष्ठी विभक्तियाँ होती हैं। यथा - आयुष्यं देवत्ताय (देवदत्तस्य) भूयात्।

पञ्चमी विभक्ति

कारक विभक्ति

सभी प्रकार के अनभिहित अपादानों में पञ्चमी विभक्ति होती है, यथा - वृक्षात्पतति, चौराद् बिभेति, उपाध्यायादधीते।

उपपदविभक्ति - जिस (अवधि) में मार्ग और समय की नाप की जारा उसमें पञ्चमी होती है, तथा अन्य, आरात् (समीप) इतर, ऋते (विना) सामान्यतया सभी दिशावाचक शब्दों के योग में पञ्चमी होती है। यथा - **पाटलिपुत्राद** राजगृहं सप्तयोजनानि, **तस्मादन्यः**, भिन्नः, विलक्षणः इतरः, उत्तरो **ग्रामात्** इत्यादि।

षष्ठी विभक्ति

कारक विभक्ति

यद्यपि षष्ठी विभक्ति का अपना कोई भी कारक नहीं होता क्योंकि षष्ठी से मुख्यतया द्योतित होने वाला सम्बन्ध कारक नहीं है, तथापि कतिपय दूसरे कारकों में षष्ठी का प्रयोग होता है। इस प्रकार शेषषष्ठी ही सम्बन्ध है तथा कारकषष्ठी किसी विशेष सूत्र के द्वारा कर्मत्वादि में षष्ठी विभक्ति के विधान को कहते हैं। यथा - 'सोऽविदर्थस्य कर्मणि' (2-3-51) मधुनो जानीते (मधु के द्वारा उसकी प्रवृत्ति होती है) इत्यादि।

उपपद विभक्ति - कर्मादि से भिन्न तथा प्रातिपदिकार्थ से भी पृथक् स्वस्वामिभावादि सम्बन्धों के शेष कहते हैं - इसमें शेषषष्ठी होती है। यथा - पितुः पुत्रः, पशोः, पादः इत्यादि।

सम्बन्ध का बोध कराने वाली शेष षष्ठी के भेदों की कोई सीमा नहीं क्योंकि संसार में अनेक प्रकार के सम्बन्ध की गणना की है -

(1) नृपस्य धनम् - स्वस्वामिभाव। (2) हरेर्वदनम्-अवयवातयति भाव। (3) अध्यापकस्य व्याख्यानम् - वाच्यवाचक भाव। (4) गङ्गाया जलम् (आधाराधेयभाव)। पितुस्तनयः - जन्य जनकसम्बन्ध। (6) भट्टस्य शिष्यः - विद्यासम्बन्ध। (7) अश्वस्य घासः - भक्ष्य भक्षक भाव। (8) वस्तस्य तन्तुः - कार्यकारणभाव।

<u>**सप्तमी विभक्ति**</u>

कारकविभक्ति

अनभिहित (अनुक्त) कारक में सप्तमी विभक्ति होती है। यथा - वने वसति, धर्मे वेदाः प्रमाणम्, तिलेषु तैलम्, गङ्गायां घोषः, स्थाल्यां पचति।

उपपदविभक्ति - साधु-असाधु के प्रयोग में, तत्त्व कथन में सप्तमी विभक्ति होती है। यथा - साधुः कृष्णः मातरि असाधुः मातुले। 'यस्य च भावेन भावलक्षणम् (पा. 2-3-37) इत्यादि सूत्रों के पदमात्र को निमित्त मान कर सप्तमी विभक्ति का विधान होता है।

22.2 प्रथमा विभक्ति

विभक्तियों में सर्वप्रथम प्रथमा का प्रयोग है। प्रथमादि व्यवहार पाणिनि से पूर्व भी प्रयुक्त होता रहा है। वस्तुतः विभक्तियों का अर्थ बताने के कारण ही कारक प्रकरण को विभक्त्यर्थ कहा गया है।

22.2.1 प्रतिपदिकार्थादिविचार

'प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा' (पा. 2/3/46)

व्याख्या - व्यापक रूप से अर्थ का बोध कराने वाले को प्रातिपदिकार्थ कहते हैं। मात्र शब्द का सूत्रस्थ प्रत्येक शब्द के साथ अन्वय होता है, अतः प्रातिपदिकार्थ का बोध करोन के लिए प्रातिपदिकार्थ के साथ लिङ्गमात्र अधिक का बोध कराने के लिए परिमाण मात्र का बोध कराने के लिए तथा संख्या मात्र का बोध कराने के लिए प्रथमा विभक्ति की जाती है।

प्रकृत सूत्र में दो पद हैं जिनमें प्रथम अर्थात् प्रातिपदिकार्थ लिङ्गपरिमाणवचन शब्द में द्वन्द्व समास किया गया है -

प्रातिपदिकार्थश्च लिङ्गञ्च वचनञ्चेति प्रातिपदिकार्थ लिङ्गपरिमाण वचनानि। इसके अन्त में श्रूयमात्र 'मात्र' शब्द अवधारण अर्थ में प्रयुक्त है, तथा अवधारण शब्द का अर्थ है - अन्योग व्यवच्छेद अर्थात् अन्य पद से सम्बन्ध का अभाव। इस प्रकार मात्र शब्द का प्रत्येक पद के साथ अन्वय होने पर **प्रातिपदिकार्थमात्रे लिङ्गमात्रे परिमाणमात्रे** तथा **वचनमात्रे** यह अर्थ सम्पन्न होता है।

यहाँ पर "द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बद्ध्यते" अर्थात् 'द्वन्द्व' समास के अन्त में सुनाई देने वाले पद का प्रत्येक साथ अन्वय होता है अतः मात्र का सम्बन्ध प्रत्येक के साथ हुआ यहाँ पर 'द्वन्द्वान्ते' पद में 'अन्त' शब्द पर समीप का वाचक है न कि अवसान का।

नियतोपस्थितिकः प्रातिपदिकार्थः

अर्थात् जिस प्रातिपदिक का उच्चारण करने पर जिस किसी सम्बन्ध अर्थ का व्यापक रूप से बोध होता है वह प्रातिपदिकार्थ है।

उदाहरण - 'रामः' शब्द का उच्चारण करने पर राम, रामत्व, पुंल्लिङ्ग, पुंस्त्व रूप मर्यादा अर्थ व्यापक रूप से बोध हो रहा है। अतः वह प्रातिपदिकार्थ है।

अलिङ्गः - उच्चैः नीचैः। ये दोनों स्वरादिगण में पठित होने से उच्चैस् नीचैस् इस तरह सकरान्त अव्यय है। उच्चैः = ऊर्ध्व स्थान में, नीचैः = निम्न स्थान में।

नियतलिङ्गः - 'कृष्णः' यहाँ कृष्ण शब्द वसुदेवापत्य अर्थ पुस्त्व में विवक्षित है। 'श्रीः' लक्ष्मी आदि वाचक स्त्रीलिङ्ग में नियत लिङ्ग है। 'ज्ञानम्' बोध अर्थपरक ज्ञानशब्द नित्य नपुंसक लिङ्ग है।

अनियतलिङ्ग - 'तटः' तटी तटम्' तट शब्द का तीनों लिङ्गों में प्रयोग होता है। अतः इसे अनियत लिङ्ग कहा गया है।

परिमाणमात्रे - द्रोणो ब्रीहिः - अर्थात् जिससे तोला या मापा जाये वह परिमाण कहलाता है। अतः प्रातिपदिकार्य के साथ परिमाण मात्र की अधिकता का ज्ञान होने पर प्रथमा विभक्ति की जाती है।

यहाँ प्रयुक्त द्रोण शब्द माप का बोधक है –

अष्टमुष्टिर्भवेत् क्रुञ्च कु रुञ्चैरष्टाभिराढकम्।
अष्टाढको भवेद् द्रोणः खारी द्रोणो प्रकीर्तितः॥

अर्थात् - आठ मुट्ठी धान्य को क्रुञ्च कहते हैं, आठ क्रुञ्च को आढक अढैया तथा आठ अढैया को एक द्रोण कहते हैं जिसे खारी नाम से भी जाना जाता है। द्रोण (विशेष परिमाण) सु (सामान्य परिमाण) परिच्छेद्य (नपा हुआ) परिच्छेदक (नापने वाला) सम्बन्ध से ब्रीहिः (धान) में अन्वय हुआ।

वचन - वचनं संख्याअर्थात् "एकः द्वौ बहवः"। यहाँ यह भी शङ्का होती है कि **एकः द्वौ बहवः** उदाहरणों के द्वारा एकत्व, द्वित्व एवं बहुत्व की नियत से ही प्रथमा विभक्त सिद्ध है, अतः सूत्र में 'वचन' पद की कोई आवश्यकता नहीं है। आशय यह है कि एकत्व द्वित्व तथा बहुत्व अर्थ उसके प्रकृति रूप एक द्वि तथा बहु शब्दों से ही प्रकट है इनसे सम्बद्ध सु औ तथा जस् प्रत्यय भी क्रमशः एकत्व द्वित्व तथा बहुत्व का प्रतिपादन करते हैं, अतः 'उक्तार्थानामप्रयोगः' न्याय से प्रथमा विभक्ति नहीं होनी चाहिए किन्तु प्रथमा विभक्ति का विधान हो इसलिए प्रकृत सूत्र में 'वचन' पद का ग्रहण आवश्यक है। जैसा कि ग्रन्थकार का स्वयं का कथन है ' "इहोक्तार्थत्वाद् विभक्तेर प्राप्तौ वचनम्।"

22.2.2 सम्बोधन

सम्बोधन को प्रथक् विभक्ति न मान कर प्रथमा विभक्ति ही माना जाता है।

सम्बोधने च (पा.सू. 2-3-47)

व्याख्या - सम्बोधन की अधिकता दिखाई पड़ने पर प्रथमा विभक्ति होती है।

सम्बोधन का अर्थ है - अभिमुखीकृत्य ज्ञापन। अर्थात् जो वक्ता के अभिमुख नहीं है उसे अभिमुख करके कुछ कहना। वक्ता के द्वारा प्रयुक्त वचन को ध्यान में रखकर उसे स्वीकार करने में आदर भाव होना। यहाँ वक्ता की ओर मुख करके वचन का श्रवण करना व्यञ्जक है तथा उससे सम्बन्धित कार्य में प्रवृत्ति तथा निवृत्ति ही फल है। सम्बोधन अर्थ वाली इस प्रथमा विभक्ति को "अनुवाद्यविषया' कहा गया है, अर्थात् जो पहले से ही सिद्ध (विद्यमान) है उसी को वक्ता अपने अभिुख करता है। यथा - **'राजन्!** युद्धस्वा' **हे राजन्!** युद्ध करो।

सम्बोधन में होने वाले प्रथमार्थ कैसे कारक माना जाये ? यह विचारणीय प्रश्न है। क्योंकि यहाँ क्रियाजनकता का अभाव है। वाक्यपदीयकार सम्बोधन को कारक न मानने का वैज्ञानिक कारण स्पष्ट करते हैं। उनके

अनुसार कारक का सम्बन्ध क्रियानिष्पादन से है। वाक्य में प्रयुक्त सभी कारक क्रिया का समर्थन करते है, किन्तु सम्बोधन न तो वाक्यार्थ का अङ्ग बनता है और न ही क्रिया की पूर्णता में किसी तरह का योगदान ही देती है -

सम्बोधनं न वाक्यार्थ इति वृद्धेभ्य आगमः।

उद्देश्येन न विभक्त्यर्थाः वाक्यार्थात् समुपोद्धृतः॥

लघुमञ्जूषाकार नागेश भट्ट के अनुसार सम्बोधन विभिक्ति का अन्वय 'त्वम्' में अभेद सम्बन्ध से करके परम्परया क्रिया से प्रथमा विभक्ति अथवा अधिकरण की तरह कारक मानते हैं।

22.3 द्वितीया विभक्ति

अनुक्त कर्म में द्वितीया विभक्ति होती है अन्यथा प्रथमा विभक्ति होती है।

कारके (पा.सू. 1/14/23)

व्याख्या - यह अधिकार सूत्र है, उत्तरोत्तर सूत्रों से सम्बद्ध होगा। अष्टाध्यायी सूत्रपाठ में 'कारके' (पा.सू. 1/4/23) से लेकर 'स्वतन्त्रः कर्ता' (पा.सू. 1/4/54) तक कारक प्रकरण है तथा 'अनभिहिते' (पा.सू. 2/3/7) से चतुर्थी चाशिष्या..... (2/3/73) तक विभक्ति से सम्बन्धित है। इस प्रकार कारके तथा अनभिहिते का अधिकार कारक प्रकरण को सम्पूर्णता प्रदान करता है।

कर्तुरीरिसततमं कर्म (पा.सू. 1/4/49)

व्याख्या - कर्ता के द्वारा निष्पन्न होने वाली क्रिया से अत्यधिक ईप्सित कारक की कर्म संज्ञा होती है।

कर्तु: किम् ? माषेष्वश्वं बध्नाति -

'धातोः कर्मणः "समानकर्तृकादिच्छायां वा' सूत्र से इच्छा अर्थ में सन् का विधान होता है और वह इच्छा चूंकि कर्त्ता में विद्यमान है अतः 'कारके' सूत्र से अधिकार से कर्तुपद का स्वतः ग्रहण हो जाने से प्रकृत सूत्र में 'कर्तु:' पद के ग्रहण विषयक प्रश्न का उपस्थापन किया गया है। इसका समाधान यह है कि 'कर्तुरीप्सिततमं कर्म' सूत्र से कर्ता की स्वयं की क्रिया से जो अत्यधिक अभीष्ट होता है उसकी कर्म सञ्ज्ञा होती है, फलतः 'माषेष्वश्वं बध्नाति' अर्थात् - माषभक्षण में 'प्रवृत्त अश्व को बांधता है' इस प्रत्युदाहरण में 'माष' कर्मरूप में विद्यमान अश्व को ईप्सित है न कि कर्ता को। कर्ता का ईप्सिततम तो अश्व है न कि माष। इसलिये ईप्सिततम अश्व की कर्म सञ्ज्ञा करके उसमें द्वितीया विभक्ति की गयी है। कर्तुः पद के अभाव में कर्म के ईप्सित् माष की भी कर्म संज्ञा होकर द्वितीया विभक्ति होने लगेगी जो इष्ट नहीं है। अतः 'माष' शब्द में होने वाली कर्म सञ्ज्ञा की निवृत्ति के लिए सूत्र में 'कर्तुः' पद का ग्रहण नितान्त आवश्यक है।

तमब्ग्रहणं किम्- पयसा ओदनं भुङ्क्ते

ईप्सित शब्द से अतिशय अर्थ में तमप् प्रत्यय के अभाव मे 'पयसा ओदनं भुङ्क्ते' (दूध से भात खाता है) इस प्रत्युदाहरण में ईप्सित मात्र 'पयः' की भी कर्म सञ्ज्ञा हो जाती जो इष्ट नहीं है। 'कर्तुरीप्सिततमं कर्म' से होने वाली कर्मसञ्ज्ञा ईप्सिततम की ही होती है न कि ईप्सित मात्र की। यहाँ 'पयः' पदार्थ ईप्सिततम न होकर ईप्सितमात्र है जो ओदन में सहायक है। तात्पर्य यह है कि कर्ता 'भुजि' क्रिया के द्वारा पयः और ओदन दोनों को 'ओदन' की प्रमुखता है। अत्यधिक ईप्सित ओदन की तो कर्मसञ्ज्ञा होती है किन्तु 'पयः' के ईप्सित तथा साधकतम संस्कारक द्रव्य होने के कारण उसकी करण सञ्ज्ञा हुई है।

सूत्रस्थ कर्मपद ग्रहणप्रयोजन

अष्टाध्यायी के प्रथम अध्याय में 'आधारोऽधिकरणम्' (पा. 1/4/45) 'अभिशीङ् स्थासां कर्म' (1/4/46) 'अभिनिविशश्च' (1/4/47) उपान्वध्याङ्वसः (1/4/48) कर्तुरीप्सिततमं कर्म (1/4/49) सूत्र क्रम में पढ़े गये हैं। इस दृष्टि से यहाँ यह शङ्का की गयी है कि प्रकृत सूत्र में 'अधिशीङ्स्थासां कर्म' सूत्र से कर्म पद की अनुवृत्ति से ही कार्य सिद्ध हो जाता है, यहाँ पुनः कर्मपद निष्प्रयोजन है। इसका समाधान यह है कि

'अधिशीङ् .... से यहाँ पर कर्म पद अनुवर्तन की दशा में उसके साथ वहाँ अनुवृत्त 'आधार' पद का भी ग्रहण होने लगता जिससे यह अर्थ गतार्थ होता है कि आधारवाचक शब्द की कर्मसञ्ज्ञा होती है। फलतः 'गेहं प्रविशति' सदृश वाक्य में आधार वाचक 'गेह' शब्द की ही कर्म सञ्ज्ञा होती हरिं भजति आदि वाक्यों में आधार से भिन्न में इष्ट कर्म संज्ञा नहीं होती। अतः 'आधार' पद की निवृत्ति को ही ध्यान में रखकर यहाँ कर्म पद का ग्रहण किया गया है।

अकथितं च (पा. सू. 1/4/51)

व्याख्या - अकाथित शब्द का अर्थ है - असङ्कीर्तित न कहा गया। अर्थात् अपादान आदि संज्ञाओं का उन्हीं रूपों में कथन न किया गया।

'विवक्षातः कारकाणि भवन्ति' कारक विवक्षा के अधीन होते हैं अतः जो विभक्ति जिससे प्राप्त होती है उसका विधान तो नियमतः होता ही है किन्तु यदि उसकी विवक्षा अभिप्रेत न हो तो उसमें कर्म संज्ञा करके द्वितीया विभक्ति हो जाती है।

क्रमशः परिगणन -

दुह् = दुहना, याच् = मांगना, पच् = पकाना, दण्ड = दण्ड देना, रुधि = रोकना, प्रच्छि = पूछना, चि = चुनना, ब्रू = बोलता, शास् = उपदेश देना, जि = जीतना, मथ् = मथना, मुष् = चुराना, नी, हृ, कृष्, वह् = ले जाना।

उदाहरण

1 **गां** दोग्धि पयः - (गोः) अपादान की अविवक्षाः गाय को दुहता है।

2 **बलिं** चाचते वसुधाम् - (बलेः) अपादान की अविवक्षा, बलि से वसुधा मांगता है।

3 **तण्डुलान्** - ओदनं पचति (तण्डुलैः) करण की अविवक्षा तण्डुल (चॉवल) से ओदन (भात) बनाता है।

4 **गर्गान** शतं दण्डयति (गर्भेभ्यः) सम्प्रदान की अविवक्षा गर्गों को सौ रुपये का दण्ड देता है।

5 **व्रजम्** अवरुणद्धि गाम् (ब्रजे) अधिकरण की अविवक्षा व्रज में गाय को रोकता है।

6 **माणवकं** पन्थानं पृच्छति (माणवकेन) करण की अविवक्ष बालक को रास्ता पूछता है।

7 **वृक्षम्** अवचिनोति फलानि (वृक्षात्) अपादान की अविवक्षा वृक्ष से फल तोड़ता है।

8 **माणवकं** धर्मं ब्रूते शास्ति वा (माणवकाय) सम्प्रदान की अविवक्षा। बालक को धर्म का उपदेश, शासन करता है।

9 **शतं** जयति देवदत्तम् - (शतात्) अपादान की अविवक्षा देवदत्त से सौ रुपये जीतता है।

10 **सुधां** क्षीरनिधिं मथ्नाति (क्षीरनिधौ) अधिकरण की अविवक्षा अम। अमृत के लिए समुद्र को मथता है।

11 **देवदत्तं** शतं मुष्णाति (देवदत्तात्) आपदान की अविवक्षा। देवदत्त से सौ रुपये चुराता है।

12 **ग्रामम्** अजां नयति (ग्रामे) अधिकरण की अविवक्षा।

13 **ग्रामम्** ऊजां हरति। कर्षति। वहति (ग्रामे) अधिकरण की अविवक्षा। गाँव में अजा (बकरी) ले जाता है।

इन सभी सोलह धातुओं के योग में अपादान आदि की अविवक्षा होकर कर्म संज्ञा हुई तथा द्वितीया विभक्ति का विधान हुआ। उपर्युक्त उदाहरणों में अपादान आदि की अविवक्षा हो कर्म को ही गौण कर्म कहते हैं।

अर्थनिबन्धनेयं संज्ञा - पूर्वोक्त सोलह धातुओं से सम्बन्धित कर्म सञ्ज्ञा स्वरूपाश्रय न होकर 'अर्थ निबन्धना' है।

माणवकं धर्मं भाषते अभिधत्ते वक्ति - यहाँ 'ब्रू' धातु की समानार्थ है।

कारकं किम् ? - यदि कारक की अनुवृत्ति नहीं करेंगे तो 'माणवकस्य पितरं पन्थानं पृच्छति' (बालक के पिता से मार्ग पूछता है) में सम्बन्ध माणवकस्य की भी कर्म संज्ञा होने लगेगी।

(वा) : अकर्मकधातुभिर्योगे देशः कालो भावो गन्तत्योऽध्वा च कर्मसंज्ञक इति वाच्यम्।

व्याख्या - अकर्मक धातुओं के योग अर्थात् सम्बन्ध होने पर देश, काल, भाव, गन्तव्य तथा अध्वा (मार्ग) वाचक शब्द की कर्मसञ्ज्ञा होती है।

उदाहरण - देशवाचक - **कुरुम्** स्वपिति - (कुरु देश में सोता है) यहाँ अकर्मक स्वप् धातु के योग में देशवाचक 'कुरु' शब्द की प्रकृत वार्तिक से कर्मसञ्ज्ञा करके द्वितीया विभक्ति हुई।

कालवाचक - **मासम्** आस्ते (महीने भर रहता है) यहाँ अकर्मक आस् धातु के योग में काल वाचक 'मास' शब्द की कर्म संज्ञा होने पर द्वितीया विभक्ति हुई।

भाववचाक - गोदोहमास्ते (गाय के दुहे जाने तक रहता है) कर्म संज्ञा एवं द्वितीया विभक्ति हुई।

गन्तव्य अध्वा - **क्रोशमास्ते** (कोशपर्यन्त रहता है) यहाँ पर कर्म संज्ञा हुई अतः द्वितीया विभक्ति है।

गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थ शब्दकर्माकर्मकाणामपि कर्ता स णौ। (पा.सू. 1/4/52)

शत्रूनगमयत्स्वर्गं वेदार्थं स्वानवेदयत्,
आशयच्चामृतं देवान्वेदमध्यापयद्विधिम्।
आसायत् सलीले पृथ्वीं यः स मे हरिर्गतिः॥

व्याख्या - गत्यर्थक, बुद्ध्यर्थक, प्रत्यवसानार्थक (भक्षणार्थक) शब्दकर्मक तथा अकर्मक धातु से सामान्य वाक्य (प्रेरणार्थक णिच् प्रत्यय से रहित) के कर्ता की प्रेरणार्थक वाक्य बनाने पर कर्मसञ्ज्ञा हो जाती है।

ध्यातव्य है कि णिच् प्रत्यय का प्रयोग दो अर्थों में होता है - स्वार्थ अर्थात् धातु के ही अर्थ में तथा प्रेरणा देने के अर्थ में। प्रकृत सूत्र में प्रेरणर्थक णिच्प्रत्यय का ही ग्रहण किया गया है। उदाहरण -

शत्रूनगमयत्स्वर्गं वेदार्थं स्वानवेदयत्,
आशयच्चामृतं देवान्वेदमध्यापयद्विधिम्।
आसायत् सलीले पृथ्वीं यः स मे हरिर्गतिः॥

	प्रेरणार्थक वाक्य	**साधारण वाक्य**
गत्यर्थक	शत्रून् अगमयत् स्वर्गम्	शत्रवः स्वर्गम् अगच्छन् तान् श्रीहरिः प्रैरयत्।
बुद्ध्यर्थक	वेदार्थः स्वानवेदयत्	स्वे = स्वकीयाः, वेदार्थमविदुः तान् श्रीहरिः वेदार्यम् अवेदयत्।
प्रत्यवसानार्थक	आशयच्चामृतं देवान्	देवा अमृतम् आश्नन् तान् श्रीहरिः आशयत्।
शब्दकर्मक	वेदमध्यापयद् विविध	विधिः वेदम् अध्यैत तं श्रीहरिः वेदम् अध्यापत्।
अकर्मक	आसयत् सलिले पृथ्वीं	पृथ्वी सलिले आस्त तां श्रीहरिः सलिले आसयत = स्थापितवान्

इन उदाहरणवाक्यों में क्रमशः गमनार्थक ज्ञानार्थक भक्षणार्थक तथा अकर्मक धातु का प्रयोग किया गया है। फलतः इनके साधारण वाक्य के कर्ता की प्रेरणार्थकदशा में प्रकृतसूत्र से कर्म सञ्ज्ञा करके द्वितीया विभक्ति कर दी गयी है।

प्रत्युदाहरण

1- सूत्र में यदि गतिबुद्ध्यादि पद नहीं रखते तो गत्यादि से भिन्न पच् धातु का णिच् प्रत्यय के योग में कर्ता (देवदत्त) कर्म होने लगेगा। जबकि वहाँ देवदत्तेन ही होना चाहिए।

2- पाचयति ओदनं **देवदत्तेन** = देवदत्त से चावल बनवाता है। यदि अण्यन्तानाम् यह पद नहीं देंगे तो प्रेरणार्थक ण्यन्त में पुनः प्रेरणार्थल दशा में कर्त की कर्म सञ्ज्ञा होने लगेगी।

गमयति देवदत्तः यज्ञदत्तम् तमपरः प्रयुङ्क्ते, गमयति देवदत्तेन यज्ञदत्तं विष्णुमित्रः।

(वा) **'नीह्योर्न'** नाययति वाहयति वा भारं भृत्येन।

व्याख्या - प्राणणार्थक णिच् प्रत्ययान्त नी तथा वह् धातु के प्रयोग की दशा में साधारण वाक्य के कर्ता (प्रयोज्य कर्ता) की प्रेरणार्थक दशा में 'गति बुद्धि..........' सूत्र से कर्म सञ्ज्ञा नहीं होती है।

उदाहरण - नाययति बाहयति वा भारं भृत्येन - भृत्यः भारं नयति, वहति, तं स्वामी प्रेरयति। यहाँ प्राणणार्थक नी तथा वह् धातु के प्रयोग में साधारण वाक्य के कर्ता 'भृत्य' शब्द की प्रेरणार्थक दशा में 'गतिबुद्धि.......' सूत्र से प्राप्त कर्म संज्ञा का प्रकृत वार्तिक से निषेध क्र दिये जाने पर उस अनुक्त कर्ता में तृतीया विभक्ति कर दी गयी है।

(वा) **नियन्तृकर्तृकस्य वहेरनिषेधः** वाहयति रथं वाहान्सूतः।

व्याख्या - वह (प्रापजे) धातु के प्रयोग में प्रयोजक कर्ता के नियन्ता = पशु प्रेरक होने पर साधारण वाक्या के कर्ता की प्रेरणर्थक दशा में कर्म सञ्ज्ञा को जाती है।

उदाहरण - वाहयति रथं **वाहान्** सूत्रः- सूत्र गतिबुद्धि...... सूत्र से गत्यर्थक (वहति) धातु के योग में कर्म (वाहान्) की प्राप्ति थी 'नीवहयोर्न' (वा) से निषेध हो गया पुनः इस वार्तिक से कर्म संज्ञा हुई तथा 'कर्मणि द्वितीया' से द्वितीया विभक्ति हुई।

'आदिखाद्योर्न' (वा.)

व्याख्या - उद् तथा खाद् धातु से प्रयोग में प्रयोज्य कर्ता की प्रेरणार्थक दशा में कर्म सञा नहीं होती है।

उदाहरण - आदयति खादयति वा अन्नं बटुना,
बटु (ब्राह्मण पुत्र) से अन्न खिलाता है।

विग्रह - बटुः अन्नम् अत्ति, खादति तं माता प्रेरयति। प्रत्यवसार्थक धातु होने के कारण **'गति बुद्धि ......'** सूत्र से कर्म संज्ञा की प्राप्ति थी इस वार्तिक से निषेध कर दिया गया।

(वा) **भक्षेरहिंसार्थस्य न**

व्याख्या - अहिंसार्थक भक्ष् धातु के प्रयोग में प्रयोज्य कर्ता की प्रेरणार्थक दशा में कर्म संज्ञा नहीं होती है।

उदाहरण - बटुः अन्नं भक्षयति तं जननी प्रेरयति इत्यर्थके= बटु अन्न खाता है माता प्रेरित करती है। प्रयोज्य कर्ता में कर्म संज्ञा ही हुई **'कर्मणि द्वितीया'** सूत्र से द्वितीया विभक्ति हुई।

(वा) **जल्पति प्रभृतीनामुपसंख्यानम्**

व्याख्या - जल्प् तथा भाष् धातु के प्रयोग में प्रयोज्य कर्ता की प्रेरणार्थक दशा में कर्म सञ्ज्ञा कर दी जाती है।

जल्पयति, भाषयति वा धर्मं **पुत्रं** देवदत्तः, **पुत्र** धर्मं जल्पाति भाषते वा तं देवदत्तः प्रेरयति इस दशा में जल्प् तथा भाष् धातु के प्रयोग में प्रयोज्य कर्ता 'पुत्र' शब्द की प्रेरणार्थक दशा में कर्म सञ्ज्ञा करके द्वितीया विभक्ति कर दी गयी।

(वा) **दृशेश्च**

व्याख्या - व्यन्त 'दृश' धातु के प्रयोग में प्रयोज्य कर्ता की प्रेरणार्थक दशा में कर्म सञ्ज्ञा हो जाती है।

उदाहरण - दर्शयति, **हरिं भक्तान्** विग्रहः - भक्ताः हरिं पश्यन्ति, तान् गुरुः प्रेरयति यहाँ दृश् धातु के प्रयोग में प्रकृत वार्तिक से प्रयोज्य कर्ता 'भक्त' शब्द की प्रेरणार्थक दशा में कर्म सञ्ज्ञा करके द्वितीया विभक्ति कर दी गई।

शङ्का - 'गति बुद्धि.........' इस सूत्र से 'दृश्' इत्यादि धातु भी ज्ञानार्थक होने के कारण कर्म संज्ञा हो जानी चाहिए, पुनः इस वार्तिक की क्या आवश्यकता ?

समाधान - "सूत्रे ज्ञान सामान्यार्थानां मेव ग्रहणं न तु तद्विशेषार्थानामित्यनेन ज्ञाप्यते। तेन स्मरति जिघ्रतीत्यादीनां न" अर्थात् 'गतिबुद्धि ....' सूत्र में 'बुद्धि' पद सामान्य ज्ञान का कथन करने वाली धातुओं का ग्रहण किया गया है न कि ईश्वर साक्षात्कार रूप विशेष ज्ञान का कथन करने वाली धातु का अतः प्रकृत वार्तिक से यह ज्ञापित होता है कि यहाँ दृश् धातु 'विशेष ज्ञान- अर्थ में प्रयुक्त है। इसलिये 'स्मारयति, घ्रापयति **देवदत्तेन'** में देवदत्त की कर्म संज्ञा नहीं हुई।

हृकोरन्यतस्याम् (पा.सू. 1/4/53)

व्याख्या - दृ तथा कृ धातु के साधारण वाक्य के कर्ता की प्रेरणार्थक दशा में विकल्प से कम्र संज्ञा हो जाती है।

उदाहरण - हारयति कारयति वा **भृत्यं भृत्येन** वा कटम् = नौकर वसे चटाई ले जाता है या बनवाता है। भृत्यः कटं हरति, भृत्य कटं करोति वा तं स्वामी प्रेरयति। यहाँ'गति बुद्धि .....' सूत्र से प्राप्ति नहीं थी इस सूत्र से वैकल्पिक कर्म संज्ञा हुई।

(वा) **अभिवादिदृशोरात्मनेपदे वेति वाच्यम्**

व्याख्या - अभि उपसर्ग पूर्वक वद् धातु तथा केवल दृश् धातु के प्रयोज्य कर्ता की णिजन्त = प्रेरणार्थक दशा में आत्मनेपद के रूप में धातु के प्रयोग की स्थिति में विकल्प से कर्मसञ्ज्ञा होती है।

उदाहरण - अभिवादयते, दर्शयते देवं **भक्त भक्तेन** = भक्त से पूजन करवाता है। यहाँ पर विकल्प से कर्म संज्ञा हुई अतः 'कर्माणि द्वितीया' सूत्र से द्वितीया विभक्ति हुई पक्ष तृतीया विभक्ति हुई।

अधिशीङ्स्थासां कर्म (पा.सू. 1.4.46)

व्याख्या - 'अधि' उपसर्गपूर्वक शीङ् (शयन) स्था (रूकना) तथा आस (बैठना) धातु के आधार वाचक शब्द की कर्म सञ्ज्ञा होती है।

उदाहरण - अधिशेते, अधितिष्ठति अध्यास्ते वा वैकुण्ठं हरिः = बैकुण्ठ में श्रीहरि रहते हैं।

अभिनिविशश्च (पा.सू. 1.4.47)

व्याख्या - अभि, नि इन दोनों ही उपसर्गों से युक्त विश् धातु के आधार की कर्म सञ्ज्ञा होती है।

उदाहरण - अभिनिविशते सन्मार्गम् - यहाँ अभिनिसङ्घातपूर्वक विश धातु के आधार 'सन्मार्ग' शब्द की प्रकृत सूत्र से कर्म सञ्ज्ञा करके द्वितीया विभक्ति कर दी गई।

उपान्वध्याङ्वसः (पा.सू. 1.4.48)

व्याख्या - उप अनु अधि तथा आङ् उपसर्ग पूर्वक 'वस्' धातु के आधार वाचक शब्द की कर्म सञ्ज्ञा होती है।

उदाहरण - उपवसति अनुवसति अधिवसति आवसति वा **वैकुण्ठं हरिः** (हरि वैकुण्ठ में रहते हैं) यहाँ भ्वादिगण की वस् धातु ही इष्ट है। वस् धातु के आधार वाचक शब्द 'वैकुण्ठ' की कर्मसञ्ज्ञा करके द्वितीया विभक्ति कर दी गयी है।

(वा) **अभुक्त्यर्थस्य न**

व्याख्या - आभुक्ति अर्थात् 'भोजनाभाव' अर्थ वाचक उप-वस् धातु के आधार की कर्म सञ्ज्ञा नहीं होती है। **उदाहरण - वने** उपवसति। यहाँ 'उप' उपसर्ग पूर्वक वस् धातु का आधार 'वन' है जिसमें भोजनाभाव अर्थ प्रकट होता है अतः आधार वाचक 'वन' शब्द की पूर्वसूत्र से प्राप्त कर्म सञ्ज्ञा का प्रकृत वार्तिक से निषेध होने पर सप्तमी विभक्ति हुई।

(वा.) **उभसर्वतसोः कार्याधिगुपर्यादिषु त्रिषु।**
द्वितीयाऽऽम्रेडितान्तेषु ततोऽन्यत्रापि दृश्यते॥

व्याख्या - तसिल् प्रत्ययान्त उभ (उभय) तथा सर्व शब्द के योग में द्वितीया होती है, इसी प्रकार धिक् उपर्युपरि, अधि-अधि अधः आदि आम्रेडित सञ्जक (कृत द्विर्वचन) शब्द के योग में द्वितीया हाती है तथा प्रयुक्त शब्दों के अन्वाखयान के लिए शिष्टजन के द्वारा अन्यत्र भी द्वितीया विभक्ति का प्रयोग किया हुआ दिखाई पड़ता है।

धातव्य है कि यह उपपद विभक्ति है जिसका अर्थ सम्बन्ध है यहाँ सम्बन्ध में षष्ठी की प्राप्ति थी किन्तु प्रस्तुत वार्तिक से द्वितीया हुई।

उदाहरण - उभयतः **कृष्णं** गोपाः = **कृष्ण** के दोनों ओर खाले हैं।
सर्वतः **कृष्णं** गोपाः = कृष्ण के दोनों ओर खाले हैं।
धिक् कृष्णाभक्तम् = कृष्ण की भक्ति से रहित व्यक्ति को धिक्कार है।
उपरि उपरि **लोकं** हरिः = लोक के ऊपर (समीप) हरि है।
अध्यधि **लोकं** हरिः = लोक के समीप हरि है।
अधोऽधो **लोकं** हरिः = लोक के नीचे समीप हरि है।

प्रस्तुत उदाहरण में द्वितीया विभक्ति हुई।

(वा) **अभिमतः परितः समया निकषा हा प्रतियोगेऽपि।**

व्याख्या - अभितः (दोनों ओर) परितः (चारों ओर) समया, निकषा (समीप) हा (दुःखवाचक) तथा प्रति के योग में भी द्वितीया विभक्ति होती है।

उदाहरण - अभितः **कृष्णम्**, परितः **कृष्णम्**, ग्रामं समयानिकषा लङ्काम्, हा **कृष्णाभक्तम्**, बुभुक्षितं न प्रतिभाति किञ्चित्।

इन सभी उदाहरण वाक्यों में अभिः परितः आदि अव्ययों के योग में द्वितीया विभक्ति कर दी गयी है।

अन्तराऽन्तरेण युक्ते (पा.सू. 2/3/4)

व्याख्या - अन्तरा तथा अन्तरेण के योग में द्वितीया विभक्ति होती है। यहाँ पर अन्तरा, अन्तरेण अव्यय है। अन्तरा त्वां मां हरिः (तुम्हारे और मेरे बीच में साक्षी रूप हरि है) अन्तरेण हरिं न सुखम् (प्राणिमात्र को हरिदर्शन के बिना सुख नहीं है।)

द्वितीया विभक्ति विधायक सूत्र

व्याख्या - अनुक्त कर्म में द्वितीया विभक्ति होती है। अभिहित अर्थात् उक्त होने पर प्रथमा विभक्ति ही होती है।

उदाहरण - हरिं भजति - हरि को भजता है। यहाँ पर **भजति** क्रिया में ति (लकार) कर्तृवाच्य में हुआ है अतः कर्म अनुक्त है इसलिये (हरिं) कर्मं में द्वितीया विभक्ति है।

अभिधान तिङ् कृत् तद्धित समास में प्रायः देखा जाता है।

कर्मप्रवचनीय विधायक सूत्र

कर्मप्रवचनीयाः (पा.सू.) 1/4/83

व्याख्या - यह अधिकार सूत्र है। विषय बाहुल्य की दृष्टि से यहाँ बहुवचन का प्रयोग किया गया है। महासञ्ज्ञा के कारण इसे 'अन्वर्थ सञ्ज्ञा' भी कहा गया है। कर्ता कर्म आदि का कथन करने वाला होने से यहाँ कर्म शब्द क्रियापरक है - करोति कर्तृकर्मादिव्यपदेशान् अत कर्मशब्दः क्रियापरः। सूत्रकार पाणिनि तथा उनसे उत्तरवर्ती वैयाकरणों ने उपसर्गों के समान ही निपातों के एक अन्य वर्ग को 'कर्मप्रवचनीय' नाम दिया हैं

अनुर्लक्षणे (पा.सू. 1/4/84)

व्याख्या - क्रियाकारक के परस्पर लक्ष्यलक्षण भाव को प्रकट करने वाले 'अनु' की कर्मप्रवचनीय सञ्ज्ञा होती है। यह सञ्ज्ञा गति तथा उपसर्ग दोनों ही संज्ञाओं की बाधिका है।

कर्मप्रवचनीय युक्ते द्वितीया (पा.सू. 2/3/8)

व्याख्या - कर्मप्रवचनीय सञ्ज्ञा का योग होने पर द्वितीया विभक्ति होती है।

उदाहरण - पर्जन्यो जपमनु प्रावर्षत् (जप के अनन्तर वृष्टि हुई)

यहाँ पर रूप लक्षण के दिखाई पड़ने पर 'अनुर्लक्षणे' सूत्र से 'अनु' की कर्म प्रवचनीय सञ्ज्ञा करके प्रकृत सूत्र से 'जप' में द्वितीया विभक्ति की गयी है।

तृतीयार्थे (पा. 1/4/85)

व्याख्या - तृतीया विभक्ति के अर्थ प्रकट होने पर 'अनु' की कर्मप्रवचनीय सञ्ज्ञा होती है।

उदाहरण - नदीमन्ववसिता सेना : (नदी से सम्बद्ध सेना)

यहाँ तृतीया विभक्ति का अर्थ द्योतित होने से प्राप्त षष्ठी को बाधकर प्रकृत सूत्र से अनु की कर्म प्रवचनीय सञ्ज्ञा करके उसके योग में 'नदी' शब्द में द्वितीया विभक्ति की गयी है।

हीने (पा.सू. 1/4/86)

व्याख्या - हीन अर्थ द्योतित होने पर अनु कर्मप्रवचनीय संज्ञक होगा।

उदाहरण - अनु हरिं सुराः यहाँ हरि की अपेक्षा सुरवर्ग के हीन दिखाई पड़ने पर अनु की कर्म प्रवचनीय सञा करके उत्कृष्टता के वाचक हरि शब्द से द्वितीया विभक्ति की गयी है।

उपोधिके च (पा.सू. 1/4/87)

व्याख्या - अधिक तथा हीन अर्थ प्रकट होने पर अव्यय कर्म प्रवचनीय संज्ञक होगा।

उदारहण - यहाँ अधिक शब्द का अर्थ 'अतिशय' तथा हीन का अर्थ अनुत्कृष्ट है।

उदाहरण - उप हरिं सुरा (सुर वर्ग हरि से उपकृष्ट है) यहाँ प्रकृत सूत्र से उप की कर्म प्रवचनीय सञ्ज्ञा करके 'कर्म प्रवचनीरायुक्त द्वितीया' सूत्र से हरि शब्द में द्वितीया विभक्ति हुई।

लक्षणेत्थम्भूताख्यानभागवीप्सासु प्रतिपर्यनवः (पा.सू. 1/4/90)

व्याख्या - लक्षण, इत्थम्भूताखयान, भाग तथा वीरसा के अर्थ में प्रति परि तथा अनु की कर्मप्रवचनीय सञ्ज्ञा होती है।

उदाहरण –

(1) लक्षण - चिह्न, **वृक्षं** प्रति परि अनु वा विद्योतते विद्युत् (वृक्ष की ओर बिजली चमकती है) यहाँ प्रति, परि, अनु की क्रमशः कर्म प्रवचनीय सञ्ज्ञा होने के कारण द्वितीया विभक्ति हुई।

(2) इत्थम्भूताख्यान - किञ्चित् प्रकारं प्राप्तः स इत्थम्भूतः। स आख्यायते अनेन इति = प्रकार विशेष का कथन। यथा - भक्तो **विष्णुं** प्रति परि अनु वा - यहाँ भक्त होना ही प्रकार विशेष का कथन है अर्थात् भक्त विष्णु भक्ति रूप विशेष स्वरूप को प्राप्त होता है।

(3) भाग - लक्ष्मीः **हरिं** प्रति परि अनु वा (लक्ष्मी हरि की अंश है) यहाँ लक्ष्मी रूप भाग का हरि के साथ स्वस्वामिभाव सम्बन्ध है और यह सम्बन्ध प्रति आदि के द्वारा द्योत्य है अतः कर्म प्रवचनीय संज्ञा हुई तथा द्वितीया विभक्ति का विधान किया गया।

(4) वीरसा = सभी के साथ सम्बद्ध होने की इच्छा, **वृक्षं वृक्षं** प्रति वृक्ष में परि अनु वा सिञ्चति प्रकृत सूत्र से कर्म प्रवचनीय सञ्ज्ञा होने से 'कर्म प्रवचनीये युक्ते द्वितीया' सूत्र से द्वितीया विभक्ति हुई।

अभिरभागे (पा.सू. 1-4-91)

व्याख्या - लक्षणः इत्यम्भूताख्यान तथा वीप्सा इन तीनों अर्थ योग में 'अभि' की कर्म प्रवचनीय संज्ञा हाती है।

उदाहरण -

1- **लक्षण** - हरिमभि वर्तत भक्तः भक्त हरि में संलग्न है। यहाँ लक्ष्य लक्षण भाव का ज्ञान होने से 'अभि' की की कर्म प्रवचनीय संज्ञा करके हरि शब्द से द्वितीया विभक्ति की गयी।

2- **वीप्सा** - देवं देवमभिसिञ्चति = प्रत्येक देवता का अभिसिञ्चन करता है।

प्रत्युहादरण

सूत्र में अभागे = भाग को छोड़कर यह क्यों कहा गया ? यदि भाग अर्थ में भी 'अभि' की कर्मप्रवचनीय सञ्चा होती तो **ममाऽभिष्यात्** इस प्रयोग में **मम** के स्थान में द्वतीयान्त माम् प्रयोग होगा तथा जो कि इष्टकर नहीं है। (यदत्रममाभिष्यात्तद्दीयताम् = जो मेरा अंश है उसे दीजिए।)

अधिपरी अनर्थकौ (पा.सू. 1-4-113)

व्याख्या - अनर्थक अधि तथा परि की कर्म प्रचचनीय सञ्ज्ञा होती है।

उदाहरण - कुतः अध्यागच्दति (कहाँ से आ रहे हैं)

कुतः पर्यागच्छति (कहाँ से आ रहे हैं)

यहाँ अधि तथा परि के साथ गम् धातु का आगमन अर्थ ही है फलतः ये दोनों अनर्थक है। अतः कर्म प्रवचनीय संज्ञा हुई। कर्म प्रवचनीय संज्ञा होने से 'गति' सञ्ज्ञा का बोध हो गया गतिर्गतौ सूत्र से अनुदात्तस्वर नहीं हुआ, यही इसका फल है।

सुः पूजायाम्(पा.सू. 1-4-94)

व्याख्या - पूजा (प्रशंसा) के द्योतक 'सु' की प्रकृत सूत्र से कर्म प्रवचनीय सञ्ज्ञा की गयी है। फलतः 'उपसर्गात् सुनोति....' सूत्र से षत्त्व नहीं हुआ।

प्रत्युदाहरण - पूजायां किम् ? क्योंकि पूजा अर्थात् प्रशंसा अर्थ में ही सु की कर्म प्रवचनीय सञ्ज्ञा होती है। अतः 'सुषिक्त किं तवात्र' इस प्रत्युदाहरण में पूजा से भिन्न क्षेप अर्थात् निन्दा अर्थ का बोध होने से 'सु' की कर्म प्रचचनीय सञ न होकर उपसर्ग सञ्ज्ञा हो गयी है।

अतिरतिक्रमणे च (पा.सू. 1/4/95)

व्याख्या -अतिक्रमण (बढ़कर) तथा पजू (प्रशंसा) अर्थ के द्योतक 'अति' की कर्म प्रवचनीय सञ्ज्ञा होती है।

उदाहरण - अति **देवान्** कृष्णः (कृष्ण देवों से अधिक अथवा देवों से भी पूज्य है) यहाँ दोनों ही अर्थों में एक ही उदाहरण है। फलतः 'अति' की कर्मप्रवचनीय सत्र करके उसके योग में कृष्ण शब्द में द्वितीया विभक्ति हो गयी है।

अपिः पदार्थसम्भावनाऽन्ववसर्गगर्हासमुच्चयेषु (पा.सू. 1/4/96)

व्याख्या - पदार्थ सम्भावना, अन्ववसर्ग, गर्हा तथा समुच्चय अर्थ के द्योतक 'अपि' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है।

उदाहरण -

1- **सर्पिषोऽपि स्यात् -** भोजन काल में यह उक्ति घी भी हाता है तो यहाँ अपि शब्द घी बिन्दु का द्योतक है। अतः प्रकृत सूत्र से अपि की कर्मप्रवचनीय संज्ञा हुई। फलतः स्यात् के सकार 'उपसर्गप्रादुर्भ्याम्' सूत्र से षकार नहीं हुआ।

2- **अपि स्तुयाद विष्णुम्** (क्या विष्णु की स्तुति कर सकेगा ?) यहाँ मन तथा वाणी से परे विष्णु की स्तुति करने वाले की शक्ति का उत्कर्ष का बोधन हो रहा है।

3- **अपि स्तुहि =** (स्वेच्छा से) स्तुति करो या न करो। इच्छानुकूल कार्य करने हेतु निर्देश देना अन्ववसर्ग कहलाता है। कर्मप्रवचनीय संज्ञा होने से स्तुहि के सकार मूर्ध्न्य नहीं हुआ।

4- **धिग्देवदत्तम्, अपि स्तुयाद् वृषलम्** (देवदत्त को धिक्कार है जो शूद्र की स्तुति करता है।) यहाँ अस्तुत्य की स्तुति करने से स्तोता की निन्दा प्रकट हो रही है। अतः गर्हा (निन्दा) अर्थ में 'अपि' की कर्मप्रवचनीय सञ्ज्ञा के द्वारा उपसर्ग सञ्ज्ञा का बाध हो जाने से 'स्तुयाद्' के सकार को षकार नहीं हुआ है।

5- **अपि सिञ्च अपि स्तुति -** (सेचन भी करो और स्तुति भी) यहाँ अपि की कर्म प्रवचनीय संज्ञा होने से सकार को षकार नहीं होता है।

कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे (पा.सू. 2/3/5)

व्याख्या - कालवाचक तथा मासवाचक शब्द में अत्यन्त अर्थात् निरन्तर संयोग दिखाई पड़ने पर द्वितीया विभक्ति होती है।

उदाहरण - कालवचाक गुणात्यन्तसंयोग- मासं कल्याणी (मासपर्यन्त सुख की प्राप्ति अर्थात् दुःख का अत्यन्ताभाव।)

कालवाचक क्रियात्यन्तसंयोगे- मासमधीते (विराम रहित मार्सपर्यन्त अध्ययन करता है।)

कालवाचक द्रव्यात्यन्त संयोग - मासं गुडधानाः (मासपर्यन्त निरन्तर भोजन सम्बन्धित गुडमिश्रित धान)

इन उदाहरण वाक्यों में कालवाचक शब्द का क्रमशः गुणः क्रिया तथा द्रव्य से अत्यन्त संयोग होने के कारण द्वितीया विभक्ति की गयी है।

अध्ववाचक गुणात्यन्तसंयोग- क्रोशं कुटिला नदी (नदी क्रोश पर्यन्त टेढ़ी)

अध्ववाचक क्रियात्यन्त संयोग- क्रोशमधीते (क्रोशपर्यन्त अध्ययन)

अध्ववाचक द्रव्यात्यन्तसंयोग - क्रोशं गिरिः (क्रोशपर्यन्त पर्वत) इन वाक्यों में भी अध्ववाचक शब्द क्रमशः गुण, क्रिया तथा द्रव्य का अत्यन्त संयोग दिखाई पड़ने से प्रकृत सूत्र से द्वितीया विभक्ति हो गयी।

प्रत्युदाहरण - निरन्तर संयोग होने पर ही द्वितीया होती है-

1- मासस्य द्विरधीते (माह में दो बार पढ़ता है)

2- क्रोशस्यैकदेशे पर्वतः (कोश भर में एक तरफ पर्वत है) इन दोनों प्रत्युदाहरणों में अत्यन्त संयोग का अभाव होने से प्रकृत सूत्र से द्वितीया विभक्ति न होकर सम्बन्ध अर्थ में षष्ठी हुई।

22.4 तृतीया विभक्ति

द्वितीया विभक्ति के अनन्तर तृतीया विभक्ति का क्रम है। तृतीया विभक्ति अनुक्त कर्ता तथा अनुक्तकरण में होती है। उप पद में तृतीया विभक्ति का विधान है।

22.4.1 कर्तृ संज्ञा विधायक सूत्र

स्वतन्त्रः कर्ता (पा.सू. 1/4/54)

व्याख्या - किसी क्रिया के निष्पादन में स्वतन्त्र (प्रधान) कहे जाने वाले कारक की कर्ता संज्ञा होती है।

कर्म कारण आदि कारक क्रिया की उत्पत्ति में स्वतन्त्र न होकर कर्त्ता के द्वारा की जाने वाली क्रिया के अधीन रहते हैं। जैसे- **चैत्रः** तण्डुलान् पचति' यहाँ 'चैत्र' फूत्कार आदि व्यापार करता है तदनन्तर तण्डुल तादात्म्य सम्बन्ध से विक्लित्ति (अवयवों के शिक्षिल होने वाली क्रिया) के प्रति कारण बनता है। इस प्रकार "तण्डुल" रूप कर्म में होने वाली विभक्ति रूप क्रिया की परतन्त्रता स्पष्ट है। इसी प्रकार करण आदि कारक है।

22.4.2 करण सञ्ज्ञा विधायक सूत्र

व्याख्या - किसी क्रिया की सिद्धि में जो अत्यधिक सहायक होता है उसकी करण सञ्ज्ञा होती है।

यहाँ साधकतम का अर्थ है - प्रकृष्टोकारकम्। जिस किसी के द्वारा किये जाने वाले व्यापार के अनन्तर क्रिया की सिद्धि होती है। वही उस क्रिया में सबसे अधिक सहायक माना जाता है। अतः उसकी करण सञ्ज्ञा होती है।

तमब्ग्रहणं किम्- गङ्गायां घोषः

कारके' सूत्र के अधिकार में 'क्रियते अनेन' इस व्युत्पत्ति में 'करणाधिकरणयोश्च' सूत्र से करण में ल्युट्प्रत्यय से 'करण' शब्द निष्पन्न होता है। 'करण' इस महासञ्ज्ञा के द्वारा क्रिया सिद्धि में साधक की करण सञ्ज्ञा होती है। यह अर्थ निष्पन्न होता है। पुनः सूत्र में 'साधक' पद के उपदेश द्वारा 'अतिशय साधक' (प्रकृष्ट उपकारक) अर्थ बोध हो जाने पर 'तमप्' ग्रहण की आवश्यकता नहीं है, अतः व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि कारकाधिकार में शब्दाधिक्य अर्थाधिक्य का ग्रहण नहीं होता है फलतः 'गङ्गायां घोषः' वाक्यस्थ गङ्गापद में अधिकरण सञ्ज्ञा करके सप्तमी विभक्ति हो जाती है। अन्यथा सर्वायवव्याप्त की अधिकरण होती है तो गङ्गायां घोषः में अधिकरण संज्ञा ही नहीं हो पाती है।

22.4.3 तृतीया विभक्ति विधायक सूत्र

कर्तृकरणयोस्तृतीया (पा.सू. 2/3/18)

व्याख्या - अनभिहित (अनुक्त) कर्ता और करण में तृतीया विभक्ति होती है।

उदाहरण - रामेण बाणेन हतो बाली - राम के द्वारा बाण से बाली मारा गया।

यह कर्म वाच्य का वाक्य है जिसमें 'राम' 'बाली की हनन क्रिया में स्वतन्त्र - प्रधान है अतः उसकी 'स्वतन्त्रः कर्ता' सूत्र से कर्तृ सञ्ज्ञा हुई।

इसी प्रकार उस हनन क्रिया में धनुष आदि के सहायक होने पर भी अत्यधिक सहायक 'बाण' है। अतः उसकी 'साधकतमं करणम्' से करण सञ्ज्ञा हुई है। कर्ता के अनुक्त होने से तथा करण में 'कर्तृकरणयोस्तृतीया' सूत्र से तृतीया विभक्ति कर दी गयी है।

(वा.) **प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम्**

व्याख्या - प्रकृत्यादिगण में पठित शब्दों से तृतीय विभक्ति की जानी चाहिए।

उदाहरण - प्रकृत्या चारु (स्वभाव से सुन्दर)

प्रायेण याज्ञिकः (प्रायः यज्ञ करने वाला)

गोत्रेण गार्ग्यः (गार्ग्य गोत्र वाला)

समेनैति, विषमेणैति (समान चलता है, विषम चलता है)

द्विद्रोणेन धान्यं क्रीणाति (द्विद्रोण से अभिन्न धान्य)

सुखेन दुःखेन वा याति (सुख अथवा दुःख चलायमान है)

उपर्युक्त उदाहरणों में सम्बन्ध होने के कारण षष्ठी विभक्ति की प्राप्ति है किन्तु प्रकृत वार्तिक से तृतीया विभक्ति हुई है।

दिवः कर्म च (पा.सू. 1/4/43)

व्याख्या - दिव् धातु के प्रयोग में साधकतम कारक की कर्म सञ्चा तथा करण सञ्ज्ञा होती है।

उदाहरण - अक्षैः अक्षान् वा दीव्यति - पाँसों से खेलता है। क्रमशः अक्ष की कर्म अथवा करण संज्ञा होने से द्वितीया तथा तृतीया विभक्ति हुई।

अपवर्गे तृतीया (पा.सू. 2/3/6)

व्याख्या - अपवर्ग अर्थात् फलप्राप्ति अर्थ का ज्ञान होने पर कालवाचक तथा मार्गवाचक शब्द के नैरन्तर्य में तृतीया विभक्ति होती है।

उदाहरण - अह्ना क्रोशेन वाऽनुवाकोऽधीतः = दिनभर में अथवा क्रोश भर चल कर अनुवाक (ब्राह्मण ग्रन्थ का एक प्रभाग) पढ़ लिया।

यहाँ काल वाचक अथवा मार्गवाचक का अत्यन्त संयोग है। अतः तृतीया विभक्ति हुई।

प्रत्युदाहरण - सूत्र में अपवर्गे पद क्यों दिया गया ? यदि अपवर्गे पद नहीं देते तो **मासमधीतो नायतः** इस प्रयोग में तृतीया विभक्ति होने लगती, यहाँ पर अत्यन्त संयोग का अभाव है।

सहयुक्तेऽप्रधाने (पा.सू. 2/3/19)

व्याख्या - सह (साथ) तथा उसके अर्थ के वाचक साकम्, सार्धम्, समम् अव्ययवों के योग में अप्रधान अर्थ वाचक शब्द में तृतीया विभक्ति होती है।

उदाहरण - पुत्रेण सह आगतः पिता - यहाँ आगमन क्रिया में पिता साक्षात् सम्बद्ध है न कि पुत्र। अप्रधान पुत्र में तृतीया विभक्ति हुई।

येनाऽङ्गविकारः (पा.सू. 2/3/20)

व्याख्या - शरीर के जिस किसी अङ्ग में विकार होने के कारण उस अङ्गी शरीर का विकार लक्षित होता है उस अङ्ग वाचक शब्द से तृतीया विभक्ति होती है।

उदाहरण - अक्ष्णा काणः (आँखों से काना)

यहाँ अंग वाचक 'अक्षि' में काणत्व दोष के होने से इस अवयव धर्म के समुदाय में आरोपित कर लेने से शरीर एवं उससे युक्त आत्मा के प्रति उसका व्यवहार रुढ़ हो गया है।

प्रत्युदाहरण - अङ्ग विकार क्यों कहा गया ?

समाधान - अङ्ग तथा अङ्गी का साथ होना आवश्यक है अन्यथा **अक्षिकाणमस्य** इस प्रयोग में भी अक्षि की तृतीया विभक्ति होने लगती है। यहाँ काणत्व विशिष्ट अङ्ग है न कि अङ्गी।

इत्थम्भूतलक्षणे (पा.सू. 2/3/21)

व्याख्या - इत्थम्भूत अर्थात् 'इस प्रकार का हो गया' यह अर्थ जिससे लक्षित होता है उस लक्षण वाचक शब्द से तृतीया विभक्ति होती है।

उदाहरण - जटाभिस्तापसः (जटाओं से तपस्वी प्रतीत होता है) यहाँ जटा से तपस्वी का ज्ञान हो रहा है, अतः जटा में तृतीया विभक्ति हुई।

सञ्ज्ञोऽन्यतस्यां कर्मणि (2/3/22)

व्याख्या - सम् वा धातु प्रयोग में उसके कर्म में विकल्प से तृतीया विभक्ति होती है।

उदाहरण - पित्रा पितरं वा सञ्जानीते (पिता को अच्छी तरह से जानता है) यहाँ पितृ शब्द कर्म है, विकल्प से तृतीया विभक्ति हुई है पक्ष में द्वितीया होती है।

हेतौ (पा.सू. 2/3/23)

व्याख्या - हेतु अर्थात् करण अर्थ वाचक शब्द से तृतीया विभक्ति होती है।

सूत्रस्थ हेतु शब्दसे लौकिक हेतु कारण अर्थ का ग्रहण किया गया है न कि 'तत्प्रयोजको हेतुश्च' सूत्र में पठित कृत्रिम संज्ञापरक हेतु शब्द।

हेतु = द्रव्य गुण एवं क्रिया का जनक ही हेतु है।

करण = क्रिया मात्र का विषय तथा व्यापार युक्त करण है।

उदाहरण

1- द्रव्य का - दण्डेन घटः घट द्रव्य के प्रति दण्ड हेतु है। अतः तृतीया विभक्ति हुई।

2- क्रिया का - पुण्येन दृष्टो हरिः - 'पुण्य' हरि दर्शन रूप क्रिया का हेतु है अतः उसमें तृतीया हुई है।

3- गुण का - **पुण्येन** ब्रह्मवर्चः यहाँ ब्रह्मवर्चस् गुण है। जिसका कारण पुण्य है।

फलमपीह हेतुः - लौकिक फल भी हेतु है। अतः अध्ययनेन वसति यहाँ फल अध्ययन है अतः तृतीया विभक्ति हुई।

गम्यमानापि क्रिया कारकविभक्तौ प्रयोजिका -

जिस पर का शब्दतः श्रवण नहीं होता है उसे अध्याहार आदि के द्वारा ग्रहण कर लिये जाने पर गम्यमान कहा जाता है।

उदाहरण - अलं **श्रमेण** यहाँ अलं निषेधार्थक है। (यह कार्य श्रम से सिद्ध नहीं होने वाला है) इस अर्थ में साधन क्रिया के प्रति श्रम करण है अतः श्रम में तृतीया विभक्ति हुई।

शतेन-शतेन वत्सान् पाययति पयः - यहाँ वीप्सा अर्थ में 'शत' शब्द में द्वित्व किया गया है। (एक-एक सौ की संख्या में बाँटकर बछड़ों को दूध पिलाता है) यहाँ शत संख्या के परिच्छेदन क्रिया के प्रति करण है अतः उसमें तृतीया विभक्ति हुई।

(वा.) **अशिष्टव्यवहारे दाणप्रयोगे चतुर्थ्यर्थे तृतीया**

व्याख्या - अशिष्ट व्यवहार अर्थ में 'दाण्' देने के प्रयोग में चतुर्थी के अर्थ में तृतीया विभक्ति होती है।

उदाहरण - दास्या संयच्छते कामुकः (कामी पुरुष दासी को धन देता है) 'दाण्' धातु के योग में चतुर्थी के अर्थ में तृतीया विभक्ति हुई। धर्मतः कथन में चतुर्थी ही रहती है **- भार्यायै** संयच्छति। (पत्नी के लिए धन देता है)

22.5 चतुर्थी विभक्ति

चतुर्थी विभक्ति का कारक प्रायः सम्प्रदान है। यद्यपि नमः स्वस्ति इत्यादि के योग में चतुर्थी का विधान उपपद विभक्ति है तथापि प्रायः दानार्थक धातु में चतुर्थी विभक्ति देखी जाती है।

22.5.1 सम्प्रदान सञ्ज्ञा विधायक सूत्र

कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम् (पा.सू. 1/4/32)

व्याख्या - दान क्रिया के कर्म द्वारा कर्ता जिसे चाहता है उसकी सम्प्रदानसञ्ज्ञा होती है।

22.5.2 चतुर्थी विभक्ति विधायक सूत्र

चतुर्थी सम्प्रदाने (पा.सू. 2/3/13)

व्याख्या - सम्प्रदान अर्थ बोधक प्रातिपदिक से चतुर्थी विभक्ति होती है।

उदाहरण - विप्राय गां ददाति = विप्र को गाय देता है।

यहाँ कर्ता (नृप) के द्वारा की जाने वाली दान क्रिया का कर्म 'गो' है तथा गो के द्वारा नृप को विप्र इष्ट है अतः 'कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम्' सूत्र से सम्प्रदान संज्ञा होने पर चतुर्थी विभक्ति हुई।

(वा.) **क्रियया यमभिप्रैति सोऽपि सम्प्रदानम्**

व्याख्या - यदि कर्ता किसी क्रिया के द्वारा किसी को चाहता है तो उसकी भी सम्प्रदान सञ्ज्ञा होती है। इस वार्तिक के अनुसार अकर्मक धातु के योग में भी सम्प्रदान सञ्ज्ञा होती है।

उदाहरण - पत्ये शेते (पतिमुद्दिश्य शेते इत्यर्थः)

यहाँ अकर्मक शीङ् धातु का प्रयोग होने से कर्ता (पत्नी) के द्वारा पति को उद्देश्य करके शयन किया जाने से प्रकृत वार्तिक के द्वारा पति शब्द की सम्प्रदान संज्ञा करके उसमें चतुर्थी विभक्ति की गयी।

(वा.) **यजेः कर्मणः करण सञ्ज्ञा सम्प्रदानस्य च कर्मसञ्ज्ञा**

व्याख्या - यज् धातु का देवपूजा, सङ्गतिकरण तथा दान अर्थ में प्रयोग होता है। इस प्रकार से सामान्य रूप से कर्मकारक के स्थान पर करण कारक तथा सम्प्रदान के स्थान पर कर्म का विधान कर दिया जाता है।

उदाहरण - पशुनां रुद्रंयजते अर्थात् पशुं रुद्राय यजते = ददाति इस स्थिति में यञ् धातु दान अर्थ में प्रयुक्त है अतः कर्म सञ्ज्ञक 'पशु' शब्द में करण सञ्ज्ञा करके तृतीया तथा सम्प्रदानसञ्ज्ञक 'रुद्र' शब्द में प्राप्त चतुर्थी को बाधकर कर्म सञ्ज्ञा एवं द्वितीया विभक्ति का विधान किया गया है।

रुच्यर्थानां प्रीयमाणः (पा.सू. 1/4/33)

व्याख्या - रुचि (अभिप्रीति) अर्थ के वाचक धातुओं के प्रयोग में प्रीयमाण शब्द की सम्प्रदान सञ्ज्ञा होती है।

उदाहरण - **हरये** रोचते भक्तिः = हरि को भक्ति अच्छी लगती है।

यहाँ रुच् धातु के योग में हरि की सम्प्रदान सञ्ज्ञा हुई तथा चतुर्थी विभक्ति हुई।

श्लाघह्नुङ्स्थाशपां ज्ञीप्स्यमानः (पा.सू. 1/4/34)

व्याख्या - श्लाघ्, ह्नुङ्, स्था, शप् धातु के प्रयोग में बोध्यमान शब्द की सम्प्रदान सञ्ज्ञा होती है।

उदाहरण - गोपी स्मरात् **कृष्णाय** श्लाघते, ह्नुते, तिष्ठते तथा शपते वा - गोपी श्लाघन, अपनयन, प्रतीक्षा तथा उपालम्भ के द्वारा कृष्ण के प्रति अपना भाव प्रकट करती है अर्थात् काम भाव से कृष्ण की प्रशंसा, पत्नी आदि को ध्यान में रखकर छिपे तौर पर प्रेमाभिव्यक्ति, निर्दिष्ट स्थान व समय पर न आने पर प्रतीक्षा एवं उलाहना देकर प्रेम का प्रकाशन करना इन अर्थों में ज्ञीप्स्यमान 'कृष्ण' की प्रकृत सूत्र से सम्प्रदान सञ्ज्ञा करके उसमें चतुर्थी विभक्ति कर दी गई।

प्रत्युदाहरण - ज्ञीप्स्यमानः किम् **देवदत्ताय** श्लाघते पथि - मार्ग में देवदत्त की प्रशंसा करता है। यहाँ ज्ञीप्स्यमान देवदत्त में सम्प्रदान संज्ञा होगी किन्तु पथि ज्ञीप्स्यमान नहीं है। यदि ज्ञीप्स्यमान पद नहीं देंगे तो पथि की भी सम्प्रदान संज्ञा होने लगेगी॥

धारेरुत्तमर्णः (पा.सू. 1/4/35)

व्याख्या - धारि धातु के प्रयोग में 'उत्तमर्ण' वाचक शब्द की सम्प्रदान सञ्ज्ञा होती है। अनवस्थानार्थक धृङ् से प्रेरणार्थक णिच् प्रत्यय करने पर निष्पन्न 'धारि' क्रियापद धारण करना }णी होना अर्थ में रूढ हो गया है। ऋण देने वाला उत्तमर्ण होता है। ऋण लेने वाला अधमर्ण कहलाता है।

उदाहरण - भक्ताय धारयति मोक्षं हरिः = यहाँ भक्ति रूप ऋण देने के कारण 'भक्त उत्तमर्ण' तथा उसको ग्रहण करने वाले 'हरि' 'अधमर्ण हैं। अतः धारि धातु के प्रयोग में प्रकृत सूत्र से भक्त में सम्प्रदान संज्ञा होकर 'चतुर्थी सम्प्रदानें' से चतुर्थी विभक्ति हुई।

स्पृहेरीप्सितः (पा.सू. 1/4/36)

व्याख्या - 'स्पृहि' धातु के प्रयोग में अभिलषित पदार्थ की सम्प्रदान सञ्ज्ञा होती है।

उदाहरण - पुष्पेभ्यः स्पृहयति (पुष्पों को पसन्द करता है) पुष्प साम्प्रदानिक इच्छा। यहाँ स्पृह धातु के योग में ईप्सित पुष्प की सम्प्रदान संञ्ज्ञ हुई।

ईप्सितः किम् ? पुष्पेभ्यो वने स्पृहयति - सूत्र में ईप्सित पद का प्रयोग यह स्पष्ट करता है कि ईप्सितार्थ वाचक शब्द की ही सम्प्रदान सञ्ज्ञा होती है। अतः आधार वाचक वन शब्द की अधिकरण संज्ञा ही उचित है।

कुधद्रुहेर्ष्यासूयार्थानां यं प्रति कोपः(पा.सू. 1/4/37)

व्याख्या - कुध्, द्रुह्, ईर्ष्य, असूय तथा इनके अर्थ के बोधक धातुओं के योग में जिसके प्रति कोप होता है। उस (उद्देश्य) की सम्प्रदान सञ्ज्ञा होती है।

उदाहरण - हरये कुध्यति, द्रुह्यति (हरि विषयक कोप करता है) यहाँ अकर्मक क्रुध् तथ द्रुह धातु के प्रयोग में शेषत्व विवक्षया षष्ठी की प्राप्ति है प्रकृत सूत्र सम्प्रदान सञ्ज्ञा हुई।

क्रुधद्रुहोरुपसृष्टयोः कर्म (पा.सू. 1/4/38)

व्याख्या - जहाँ किसी उपसर्ग से सम्बद्ध क्रुध् तथा द्रुह् धातु का प्रयोग दिखाई देता है वहाँ जिसके प्रति कोप किया जाता है उसकी कर्म संज्ञा होती है।

उदाहरण - क्रूरमभि कुध्यति, क्रूरमभिद्रुह्यति = क्रूर पर क्रोध करता है, द्रोह करता है। 'क्रुधद्रहेर्ष्या सूत्र से प्राप्त सम्प्रदान संज्ञा का बधकर प्रकृत सूत्र से कर्म सञ्ज्ञा हुई। तथा'कर्मणि द्वितीया' से द्वितीया विभक्ति हुई।

राधीक्ष्योर्यस्य विप्रश्नः (पा.सू. 1/4/39)

व्याख्या - राध् तथा ईष् धातु के प्रयोग में जिसके विषय में अनेक प्रश्न किये जाते हैं उसकी सम्प्रदान सञ्ज्ञा होती है।

उदाहण - कृष्णाय राध्यति ईक्षते वा - यहाँ कृष्ण के भविष्यविषयक अनेक प्रकार के प्रश्न उपस्थित होने पर गर्गाचार्य उनके शुभाशुभ फल का पर्यालोचन करते है। अतः राध तथा ईक्ष्धातु के प्रयोग में कृष्ण शब्द में प्राप्त षष्ठी विभक्ति को बाधकर सम्प्रदान सञ्ज्ञा एवं चतुर्थी विभक्तिकी गयी।

प्रत्यङ्भ्यां श्रुवः पूर्वस्य कर्ता(पा.सू. 1/4/40)

व्याख्या - प्रति तथा आङ् उपसर्ग पूर्वक श्रु धातु के प्रयोग में पूर्व के प्रेरणा रूप क्रिया के कर्ता की सम्प्रदान सञ्ज्ञा होती है।

उदाहरण - विप्राय गां प्रतिशृणोति आशृणोति वा। प्रकृत वाक्य में प्रति तथा आ उपसर्ग के साथ श्रु धातु का योग है। (विप्र गोदान के लिए प्रेरणा प्रदान करता है।) इस अर्थ में विप्र की सम्प्रदान सञ्ज्ञ हुई तथा चतुर्थी विभक्ति हुई।

अनुप्रतिगृणश्च(पा.सू. 1/4/41)

व्याख्या - अनु तथा प्रति उपसर्गपूर्वक गृ धातु के योग में (शंसन रूप) पूर्व व्यापार के कर्ता की सम्प्रदान सञ्ज्ञा होती है।

उदाहरण - होत्रेऽनुगृणाति प्रतिगृणाति वा। (होता के अध्वर्यु प्रोत्साहित करता है) यहाँ अनु तथा प्रति उपसर्ग के साथ गृ धातु का प्रयोग होने से पूर्ववाक्य के कर्ता होता (होतृ) शब्द की प्रकृत सूत्र से सम्प्रदान सञ्ज्ञा करके उसमें चतुर्थी विभक्ति हुई।

परिक्रमणे सम्प्रदानमन्यतरस्याम् (पा.सू. 1/4/44)

व्याख्या - निश्चित अवधि के लिए वेतन आदि के द्वारा सेवा कार्य हेतु किसी को अपने स्वामित्व परिक्रयण रूप अर्थ में अत्यधिक सहायक कारक की विकल्प से सम्प्रदान सञ्ज्ञा की जाती है।

उदाहरण - शतेन शताय वा परिक्रीतः (भृत्यः) = सौ रुपये में सेवा कार्य पर रखा गया भृत्य। यहाँ नियत काल तक सेवा कार्य में सहाय शत है अतः विकल्प से सम्प्रदान संज्ञा होकर चतुर्थी विभक्ति हुई पक्ष में करण होने से तृतीया विभक्ति हुई।

(वा.) **तादर्थ्ये चतुर्थी वाच्या।**

व्याख्या - उसी के कार्य के लिये 'जहाँ यह अर्थ विवक्षित होता है वहाँ उस तादर्थ्य वाचक शब्द में चतुर्थी विभक्ति होती है।

उदाहरण - मुक्तये हरिं भजति = मुक्ति के लिए हरि का भजन करता है। यहाँ तादर्थ्य अर्थ होने पर चतुर्थी विभक्ति हुई।

(वा.) **क्लृपि सम्पद्यमाने च।**

व्याख्या - क्लृप् धातु के योग में उत्पद्यमान (होने की सम्भावना) अर्थ में चतुर्थी विभक्ति होती है।

उदाहरण - भक्तिः **ज्ञानाय** कल्पते सम्प्रद्यते जायते यहाँ भक्ति से ज्ञान पैदा होता है। इस अर्थ में ज्ञान प्रादुर्भाव अथवा भक्ति और ज्ञान में प्रकृति विकृति भाव होने पर विकृतिवाचक ज्ञान शब्द में चतुर्थी विभक्ति हुई।

(वा.) **उत्पातेन ज्ञापिते च**

व्याख्या - प्राकृतिक उत्पात से किसी ज्ञापित होने अर्थ में चतुर्थी विभक्ति होती है।

उदाहरण - वाताय कपिला विद्युत् वातस्य ज्ञापिकेत्यर्थः, यहाँ कपिला विद्युत (भूरे रंग की बिजली) प्राकृतिक उत्पात है जो महावात की सूचना देने वाली है अतः प्रकृत वार्तिक से 'वात' शब्द में चतुर्थी विभक्ति हुई है।

क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः (पा.सू. 2/3/14)

(वा.) **हितयोगे च**

व्याख्या - हित और सुख शब्द के योग में भी चतुर्थी विभक्ति होती है।

उदाहरण - ब्राह्मणाय हितम् = ब्राह्मण के लिए हितकर यहाँ हित के योग में ब्राह्मण से चतुर्थी विभक्ति हुई।

व्याख्या - क्रियार्था क्रिया जिसके उप पद रूप में विद्यमान होती है उस अप्रयुज्यमान स्थानी तुमुन् प्रत्यय के कर्म में चतुर्थी विभक्ति होती है।

उदाहरण

(1) **फलेभ्यो याति =** फलों के आहरण के लिए जाता है। यहाँ तुमुन्नन्त क्रियापद 'आहर्तुं' स्थानी है क्योंकि वही अप्रयुज्यमान है अतः उसके कर्म 'फल' प्रकृत सूत्र से चतुर्थी विभक्ति हो गयी।

(2) **नमस्कर्मो नृसिंहाय-** इस वाक्य नमस्कार नृसिंह के लिये न होकर नृसिंह को अनुकूल करनके के लिए है। अतः अप्रयुज्यमान तुमुन्नन्त स्थानी के कर्म'नृसिंह' शब्द में चतुर्थी कर दी गई।

तुमर्थाच्च भाववचनात् (पा.सू. 2/3/15)

व्याख्या - तुमुन्प्रत्यय एवं उसके सृदश अर्थ के बोधक भाव प्रत्यान्त शब्दों से भी चतुर्थी विभक्ति का प्रयोग होता है।

उदाहरण - यागाय याति, यहाँ प्रधान क्रिया 'याति' है। उसके उपपद के रूप में तुमुन् प्रत्यय के अर्थ को कहरने वाला घञ् प्रत्ययान्त 'याग' शब्द है जो कि 'यष्टुम्' क्रिया के स्थान में प्रयुक्त है अतः प्रकृत सूत्र से याग में चतुर्थी विभक्ति हुई।

नमः स्वस्तिस्वाहास्वधाऽलं वषड्योगाच्च (पा.सू. 2/3/16)

व्याख्या - नमः (नमस्कार) स्वस्ति (कल्याण) स्वाहा (देवतोद्देश्यक हवि अर्पण) स्वधा (पित्युद्देश्यक पिण्डदान) अलं (पर्याप्त वषट् (देव हविर्दान) के योग में चतुर्थी विभक्ति होती है।

उदाहरण

(1) **हरये नमः** = हरि को उद्देश्य करके नमस्कार का विधान किया गया है। यहाँ 'नम' पद क्रियान्वित न होने से कारकत्व नहीं है, अतः नमः पद के योग में चतुर्थी विभक्ति हुई।

(2) **प्रजाभ्यः** स्वस्ति - प्रजा का कल्याण हो यहाँ स्वस्तिपद के योग में चतुर्थी विभक्ति हुई।

(3) **अग्नये** स्वाहा - अग्नि देवता को उद्देश्य करके अर्पित की गयी हवि से सम्बन्धित मन्त्र। यहाँ स्वहा के योग में अग्नि में चतुर्थी विभक्ति हुई।

(4) **पितृभ्यः** स्वधा - पितरों के उद्देश्य करके विधिपूर्वक प्रदत्त पिण्डदान हेतु स्वधा शब्द का प्रयोग। यहाँ स्वधाय के योग में चतुर्थी विभक्ति हुई।

(5) प्रभ्वादियोगे - प्रभुः समर्थः आदि के योग में प्रकृट सूत्र द्वारा चतुर्थी विभक्ति होती ही है। इसके साथ इनके योग में षष्ठी विभक्ति भी होती है। इसमं **'तस्मै** प्रभवति' 'स एषां ग्रामणीः' ये पाणिनीय सूत्र प्रमाण है। अतः माघ के प्रयोग षष्ठी देखी जाती है - प्रभुर्बुभूषुर्भुवन **त्रयस्य**

(6) **वषडिन्द्राय -** परम ऐश्वर्य सम्पन्न इन्द्र देव की प्रीति के लिए यजमान द्वारा अर्पित हवि। वषड् के योग में इन्द्र से चतुर्थी विभक्ति हुई।

चकारः पुनर्विधानार्थः - प्रकृत सूत्र में पद का प्रयोग पुनः चतुर्थी विभक्ति के विधान के लिये है जिसमें शुभाशंसन रूप आशीर्वाद अर्थ विवक्षा में 'चतुर्थी चाशिष्या ......' सूत्र से प्राप्त षष्ठी को बाध कर चतुर्थी विभक्ति ही होती है।

(7) **स्वस्ति** गोभ्यो भूयात् - गायों का कल्याण यहाँ आशीर्वादार्थक स्वसित शब्द के योग में षष्ठी न होकर चतुर्थी ही हुई।

मन्यकर्मण्यनादरे विभाषाऽप्राणिषु (पा.सू. 2/3/17)

व्याख्या - तिरस्कार अर्थ के प्रकाशन में प्रयुक्त मन् धातु के कर्म (गौण) में प्राणिवाचक आदि न होने की स्थिति में विकल्प से चतुर्थी विभक्ति होती है।

उदाहरण - न त्वां **तृणं** मन्ये **तृणाय** वा (मैं तुम्हें तिनके के बराबर भी नहीं समझता) **ध्यातव्य** है कि यहाँ दिवादिगण की ही मन् धातु विवक्षित है।

अप्राणिष्वित्यपनीय नौकाकान्नशुकशृगालवर्जेष्वितिवाच्यम्।

व्याख्या - 'मन्यकर्मण्यनादरे....' सूत्र में पठित 'अप्राणिषु' पद को छोड़कर उसके स्थान पर नौ (नाव) काक, अन्न, शुक, शृगाल का पाठ करना चाहिए।

उदाहरण - न त्वां नावम्, अन्नं वा मन्ये।

(मैं तुम्हे नाव बया अन्न भी नहीं मानता) यहाँ पर अप्राणी होने पर भी चतुर्थी नहीं हुई। **न त्वां शुने मन्ये** (मैं तुम्हें कुत्ता भी नहीं समझता) यहाँ पर प्राणी होने पर भी चतुर्थी हो गयी।

गत्यर्थकर्मणि द्वितीयाचतुर्थ्यौ चेष्टायामनध्वनि (पा.सू. 2/3/12)

व्याख्या - गति (गमन) अर्थ का कथन करने वाली धातुओं का योग होने पर उसके कर्म में द्वितीया एवं चतुर्थी विभक्ति होती है। यदि व कर्म मार्गवाचक नं हो किन्तु शारीरिक चेष्टा अर्थ की प्रतीति हो रही हो तो।

उदाहरण - ग्रामं ग्रामाय वा गच्छति (गाँव को जाता हूँ) प्रस्तुत स्थल में शारीरिक चेष्टा प्रतीति हो रही है। अतः द्वितीया एवं चतुर्थी विभक्ति हुई।

चेष्टायाम् किम् - मनसा हरिं व्रजति मन से हरि के पास जाता है। यहाँ पर शारीरिक चेष्टा है अतः चतुर्थी नहीं हुई।

अनध्वनि इति किम् - पन्थानं गच्छति = राह चलता है। यहाँ अध्वा = रास्ता अर्थ है अतः चतुर्थी नहीं हुई।

मन्त्राधिष्ठिते - गमन कर्ता के मार्ग अधिष्ठित अर्थात् स्वयं इष्ट मार्ग पर चलने की स्थिति में ही प्रकृत सूत्र द्वारा चतुर्थी विभक्ति का निषेध होता है। किन्तु जब वह उत्पथ अर्थात्निन्दित मार्ग को छोड़कर इष्ट मार्ग की ओर चलता है तो वहाँ मार्ग वाचक शब्द से चतुर्थी होती ही है यथा - उत्पथेन **पथे** गच्छति (अनिष्ट मार्ग से इष्ट मार्ग पर चलता है) यहाँ मार्गवाचक होने पर भी चतुर्थी विभक्ति हो गयी। इसका कारण यह है कि गमनकर्ता भ्रमवश अधिष्ठित अनिष्ट मार्ग को छोड़कर इष्ट मार्ग पर अग्रसर हुआ।

22.6 पञ्चमी विभक्ति एवं षष्ठी विभक्ति

22.6.1 पञ्चमी विभक्ति विधायक सूत्र

अपादाने पञ्चमी (पा.सू. 2/3/28)

व्याख्या - अपादान सञ्ज्ञक शब्द में पञ्चमी विभक्ति होती है।

22.6.2 अपादान सञ्ज्ञा विधायक सूत्र

ध्रुवमपायेऽपादानम् (पा.सू. 1/4/24)

व्याख्या - अपाय शब्द का अर्थ है विश्लेष, विभाग, पृथक्करण। ध्रुव निश्चित धुरि से विश्लेष होने पर अवधिभूत कारक की अपादान संज्ञा होती है। यहाँ ध्रुव बुद्धिपरिकल्पित भी होता है।

उदाहरण

(1) **ग्रामादायाति** = गाँव से आता है। यहाँ ग्राम अवधिभूत है जिससे व्यक्ति का विश्लेष स्पष्ट है अतः पूर्व सूत्र से 'ग्राम' शब्द की अपादान सञ्ज्ञा करके उसमें पञ्चमी विभक्ति हो जाती है।

(2) **धावतोऽश्वात् पतति** - 'दौड़ते हुए घोड़े से गिरता है' इस वाक्य में सापेक्ष ध्रुवत्व (स्थिरता) है क्योंकि जिस समय आरोही धावन क्रिया से युक्त अश्व से उस समय आरोही और अश्व दोनों ही गतिमान रहते हैं तथापि आरोही की अपेक्षा अश्व स्थिर माना जाता है। अतः अश्व की अपादान संज्ञा होती है तथा पञ्मी विभक्ति होती है।

(वा.) **जुगुप्साविरामप्रमादार्थानामुपसंख्यानम्**

व्याख्या - जुगुप्सार्थक विरामार्थक तथा प्रमादार्थक धातुओं के योग में जुगुप्सा आदि विषय की अपादान सञ्ज्ञा का कथन किया जाना चाहिए।

उदाहरण

(1) **पापा**ज्जुगुप्सति = पाप से अलग होता है।

(2) **पापाद्** विरमति = पाप से अलग होता है।

(3) **धर्मा**त्प्रमाद्यति = धर्म से प्रमाद करता है।

क्रमशः पाप, धर्म की अपादान संज्ञा हुई अतः पञ्चमी विभक्ति होती है।

भीत्रार्थानां भयहेतुः (पा.सू. 1/4/25)

वृत्तिः - भयार्थानां त्रणार्थानां च प्रयोगे भयहेतुरपादानं स्यात्

व्याख्या - भी अर्थात् भय अर्थ वाली तथा 'त्रा' अर्थात् रक्षा अर्थ वाली धातुओं के योग में भय के हेतु वाचक शब्द की अपादान सञ्ज्ञा होती है।

उदाहरण - चोरादा् बिभेति = चोर से डरता है।

चोराद् त्रायते = चोर से बचता है।

यहाँ 'भी' तथा 'त्रा' धातु के योग में अपादान संज्ञा हुई तथा पञ्चमी विभक्ति हुई।

भयहेतुः किम् ? भय हेतु = भय का कारण हो तभी अपादान संज्ञा होती है अन्यथा **अरण्ये बिभेति** यहाँ अरण्य में भी अपादान संज्ञा होने लगेगी। (अरण्य में डरता है) यहाँ भय का हेतु अखय नहीं है।

पराजेरसोढः (पा.सू. 1/4/26)

व्याख्या - परा उपसर्गपूर्वक जि धातु के प्रयोग में असह्य ग्लानिविशेष वाचक शब्द की अपादान सञ्ज्ञा होती है।

उदाहरण - अध्ययनात् पराजयते (अध्ययन से भागता है) यहाँ अध्ययन को नहीं सह पाता है इस अर्थ में अपादान संज्ञा हुई तथा पञ्चमी विभक्ति हुई।

असोढः किम् - असह्य अर्थ में ही होता है अन्यथा शत्रून् पराजयते यहाँ पर शत्रुओं को पराजित करता है में शत्रु की भी अपादान संज्ञा होने लगेगी।

वाराणार्थानामीप्सितः (पा.सू. 1-4-27)

व्याख्या - प्रवृत्ति से निवर्तित करने अर्थ (वारणार्थक) परक धातु के योग में ईप्सित पदार्थ की उपादान सञ्ज्ञा की जाती है।

उदाहरण - यवेभ्यो गां वारयति = जब से बैल को हटाता है यहाँ हटाना अर्थ में **यव** की अपादान सञ्ज्ञा हुई तथा पञ्चमी विभक्ति हुई।

ईप्सितः किम् - सूत्र में ईप्सित पद नहीं देते तो 'यवेभ्यः गां वारयति क्षेत्रें' यहाँ पर **क्षेत्रे** अधिकरण की भी अपादान होने लगेगी।

अन्तर्धौ येनादर्शनमिच्छति (पा.सू. 1-4-23)

व्याख्या - व्यवधान होने पर जिससे आत्मविषयक दर्शन के अभाव की इच्छा की जाती है उसकी अपादान सञ्ज्ञा होती है।

उदाहरण - मातुः निलीयते कृष्णः = कृष्ण माता से छुपते है। यहाँ 'माता' की अपादान संज्ञा हुई फिर पञ्चमी विभक्ति हुई।

अन्तर्थौ किम् ? यदि अन्तर्धौ पद नहीं देगे।

तो **चौरान्** न दिदृक्षते = चोरों को नहीं देखना चाहता यहाँ पर भी अपादान संज्ञा होने लगेगी।

आख्यातोपयोगे (पा.सू. 1-4-19)

व्याख्या - 'नियमपूर्वक विद्याग्रहण करना' अर्थ दिखाई पड़ने पर आखयाता अर्थात् वक्ता की अपादान सञ्ज्ञा होती है।

उदाहरण - उपाध्यायाद्धीते (उपाध्याय से विद्या ग्रहण करता है) यहाँ नियमपूर्वक विद्या ग्रहण अर्थ है अतः उपाध्याय की अपादान संज्ञा हुई तथा पञ्चमी विभक्ति हुई।

उपयोगे किम् - नियमपूर्वक विद्या स्वीकार करने अर्थ में ही अपादान संज्ञा होती है अन्यथा **नटस्य गाथां** शृणोति में भी अपादान संज्ञा होने लगेगी।

भुवः प्रभवः (पा.सू. 1/4/31)

व्याख्या - भू शब्द का होना तथा प्रभव शब्द का अर्थ है प्रथम प्रकाश का स्थान। "भूधातु के कर्ता प्रथम उत्पत्ति या प्रकाशन स्थान की अपादान सञ्ज्ञा होती है।

उदाहरण - हिमवतो गङ्गा प्रभवति = हिमालय से गङ्गा प्रकाशित होती है। यहाँ **हिमवतः** (हिमवान्) में अपादान संज्ञा हुई तथा 'अपादाने पञ्चमी' से पञ्चमी विभक्ति हुई।

(वा.) **ल्यब्लोपे कर्मण्यधिकरणे च**

व्याख्या - ल्यप् प्रत्यय का लोप दिखाई पड़ने पर उसके कर्म तथा अधिकरण में पञ्चमी विभक्ति होती है।

उदाहरण - प्रासादात् प्रेक्षते - प्रासादम् आरुह्य प्रेक्षत इत्यर्थः। अर्थात् - महल के ऊपर जाकर देखता है। आरुह्य यह ल्यप् लोप है इसके योग में 'प्रासाद' की अपादान संज्ञा हुई।

आसनात् प्रेक्षते - आसनम् उपविश्य प्रेक्षते (आसन में बैठकर देखता है। यहाँ भी पूर्ववत् है।

गम्यमानाऽपि क्रिया कारकविभक्तीनां निमित्तम्

व्याख्या - जिस क्रिया का वाक्य में साक्षात् प्रयोग न होने प्रसङ्गवश स्वतः उसका बोध हो रहा हो वह गम्यमान क्रिया कहलाती है, इस तरह की क्रिया भी किसी भी कारक विभक्ति का निमित्त (कारण) बनती है।

उदाहरण - कस्मात् त्वम् (तुम कहाँ से) यहाँ आगतोऽसि अथवा आगच्छसि इत्यादि क्रिया गम्यमान है अतः पञ्चमी विभक्ति की प्रयोजिका है।

यतश्चाध्वकालानिमानं ततः पञ्चमी। तद्युक्तादध्वनः प्रथमासप्तम्यौ कालात्सप्तमी च वक्तव्या

व्याख्या - जिस अवधि वाचक शब्द से मार्ग अथवा काल परिच्छेद (निर्धारण) मान का ज्ञान होता है उस स्थान तथा कालवाची शब्द से पञ्चमी विभक्ति होती है। उस पञ्चम्यन्त शब्द से युक्त मार्गवाचक शब्द से प्रथमा तथा सप्तमी विभक्ति होती है और उस पञ्चम्यन्त कालवाचक शब्द से सप्तमी विभक्ति होती है, ऐसा कहना चाहिए।

उदाहरण - वनाद् ग्रामो **योजनं योजने** वा (वन से गाँव एक योजन दूर है)

अन्यारादितरर्ते दिक्छब्दाञ्चूत्तरपदाजाहि युक्ते(पा.सू. 2/3/29)

व्याख्या - अन्य, आरात्, इतर, ऋते (विना) दिक्शब्द, अञ्चूत्तरपद, आच् तथा आहि प्रत्ययान्त शब्दों के योग में पञ्चमी विभक्ति होती है।

उदाहरण

(1) अन्यः भिन्नः इतरः वा **कृष्णाद्** = कृष्ण से अन्य, अलग, विना। यहाँ कृष्ण में पञ्चमी विभक्ति हुई।

(2) आरात् **वनात्** = वन से समीप अथवा दूर।

(3) ऋते **कृष्णात्** = कृष्णसाक्षात्कार के विना सुख नहीं है।

(4) पूर्वो **ग्रामात्** = दिक् वाचक शब्द में पञ्चमी विभक्ति हुई (ग्राम से पूर्व)

(5) प्राक् प्रत्यक् वा. **ग्रामात्** = गाँव से पहले या बाद में यहाँ अञ्चु उत्तरपद है उसके योग से ग्राम में पञ्चमी विभक्ति हुई।

(6) दक्षिणा ग्रामात् दक्षिणादि **ग्रामात्** = (गाँव के दक्षिण में) यहाँ आच् आहि प्रत्ययान्त के योग में पञ्चमी विभक्ति हुई।

(7) **भवात्** प्रभृति आरभ्यवासेव्यः हरिः = जन्म से हरि सेव्य है।

अपपरी वर्जने (पा.सू. 1/4/88)

व्याख्या - अप तथा परि उपसर्ग वर्जन अर्थ में कर्मप्रवचनीय संज्ञक होते हैं।

आङ् मर्यादावचने (पा.सू. 1/4/89) व्याख्या - मर्यादा अर्थ का कथन किये जाने पर (आङ्) आ की कर्मप्रवचनीय सञ्ज्ञा होती है।

- मर्यादाः = तेन विना (उसके बिना)

अभिविधिः = तत्सहितः अभिविधिः (उसके साथ)

पञ्चम्यपाङ्परिभिः (पा.सू. 2/3/10)

व्याख्या - अप, आङ् तथा परि (कर्मप्रवचनीय) के योग में पञ्चमी विभक्ति होती है।

उदाहरण - अप **हरेः**, परि **हरेः** संसारः (हरि के बिना अर्थात् हरि को छोड़कर शेष सब कुछ संसार है) आ **मुक्तेः** संसारः - मुक्ति को छोड़कर संसार है।

उपर्युक्त उदाहरणों में अप, परि, आङ् की कर्म प्रवचनीय संज्ञा होने पर प्रकृत सूत्र से पञ्चमीविभक्ति हुई।

अकर्तर्यृणे पञ्चमी (पा.सू. 2/3/24)

व्याख्या - जो ऋणवाची शब्द कर्ता अर्थ में न हो किन्तु हेतु हो उससे पञ्चमी की जाती है।

उदाहरण - शताद् बद्धः = सौ रुपये करण बन्धा।

प्रत्युदाहरण - अकर्तरि किम् = शतेन बन्धितः यदि अकर्तरि पद नहीं देंगे तो **शतेन** यहाँ भी पञ्चमी विभक्ति होने लगेगी।

विभाषा गुणेऽस्त्रियाम् (पा.सू. 2/3/5)

व्याख्या - गुणवाची स्त्रीलिङ्ग भिन्न हेतु वाचक शब्द से विकल्प से पञ्चमी विभक्ति होती है।

उदाहरण - जाड्यात् जाड्येन वा बद्धः (मूर्खता के कारण बांधा गया)

गुणे किम्**- धनेन** कुलम् यहाँ पर हेतु तो है पर **धन** गुण नहीं है।

अस्त्रियां किम् - स्त्रीलिङ्ग में पञ्चमी विभक्ति नहीं होती अतः **बुद्ध्या** मुक्तः में तृतीया ही हुई।

पृथग्विना नानाभिस्तृतीयान्यतरस्याम्

व्याख्या- पृथक् विना नाना के योग में तृतीया पञ्चमी तथा द्वितीया विभक्ति होती है।

उदाहरण - पृथक् **रामेण रामात् रामं** वा।
विना रामेण **रामात् रामं** वा।
नाना **रामेण रामात् रामं** वा।

करणे च स्तोकाल्पकृच्छ्रकतिपयस्यासत्त्ववचनस्य (पा.सू. 2/3/33)

व्याख्या - द्रव्यवाची शब्द से भिन्न स्तोक अल्प कृच्छ्र तथा कतिपय शब्दों से करण अर्थ में तृतीया तथा पञ्चमी विभक्ति होती है।

उदाहरण - स्तोकेन स्तोकाद्वा मुक्तः।

यहाँ स्तोक शब्द द्रव्यवाचक न होकर गुणधर्म का बोधक है।

दूरान्तिकार्थेभ्यो द्वितीया च (पा.सू. 2/3/35)

व्याख्या - दूर और अन्तिक (समीप) अर्थ बोधक शब्दों में द्वितीया तृतीयाय तथा पञ्चमी विभक्तियाँ होती है।

उदाहरण - दूरं दूरात्दूरेण वा ग्रामस्य अन्तिकम् अन्तिकात्, अन्तिकेन वा ग्रामस्य।

22.6.3 षष्ठी विभक्ति विधायक सूत्र

षष्ठी शेषे (पा.सू. 2/3/50)

व्याख्या - कारक और प्रातिपदिकार्थ से भिन्न स्वस्वामिभावादिसम्बन्ध ही शेष, इस अर्थ में षष्ठी विभक्ति होती है।

उदाहरण - राज्ञः पुरुषः (राजा का पुरुष) यहाँ स्वस्वामिभाव सम्बन्ध ही शेष है, राजा में सम्बन्ध होने पर षष्ठी हुई।

कर्मादीनामपि सम्बन्धमात्रविवक्षायां षष्ठ्येव - कर्म करण आदि में भी सम्बन्ध मात्र कथन होने की इच्छा पर षष्ठी विभक्ति की जाती है।

उदाहरण- सतां गतम् (सत्पुरुष सम्बन्धी गमन)

सर्पिषो जानीते (सर्पिस सम्बन्धी प्रवर्तन)

मातुः स्मरति (मातृ सम्बन्धी स्मरण)

एधोदकस्योपस्कुरुते (एधस् तथा उदक् सम्बन्धी उपस्करण)

भजे शम्भोश्चरणयोः (शम्भुः चरण सम्बन्धी भजन)

फलानां तृप्तिः (फल सम्बन्धी तृप्ति)

षष्ठीहेतु प्रयोगे (पा.सू. 2/3/26)

व्याख्या - हेतु शब्द का प्रयोग होने पर तथा किसी न किसी हेतु दिखाई पड़ने पर षष्ठी विभक्ति होती है।

उदाहरण - अन्नस्य हेतोर्वसति (अन्न के निमित्त रहता है)

सर्वनाम्नस्तृतीया वा (पा.सू. 2/3/27)

व्याख्या- जहाँ हेतु शब्द के साथ किसी सर्वनाम वाचक शब्द का प्रयोग किया गया है वहाँ हेतु अर्थात् करण दिखाई पड़ने पर तृतीया और षष्ठी दोनों विभक्तियाँ होती है।

उदाहरण - केन हेतुना वसति, कस्य हेतोः (किस कारण से रहता है) यहाँ तृतीया, षष्ठी क्रमशः है।

निमित्तपर्यायप्रयोगे सर्वासां प्रायदर्शनम्

अर्थ - निमित्त अर्थ को कहने वाले शब्दों में प्रायः सभी विभक्तियाँ की जाती है।

यथा - किं निमित्तं वसति
केन निमित्तेन
कस्मै निमित्ताय
किं कारणम्, कोहेतु किं प्रयोजनम्

षष्ठ्यतसर्थप्रत्ययेन (पा.सू. 2/3/30)

व्याख्या - अतस् (अत सुच्) प्रत्यय के अर्थ को कहने वाले प्रत्यय के योग में षष्ठी विभक्ति होती है।

उदाहरण - ग्रामस्य दक्षिणतः (गाँव की दक्षिण दिशा)

एनपा द्वितीया (2/3/3)

व्याख्या - एनप् प्रत्ययान्त शब्द के योग में द्वितीया विभक्ति होती है।

उदाहरण - दक्षिणेन ग्रामं ग्रामस्य वा। यहाँ एनप् प्रत्ययान्त दक्षिणेन के योग में द्वितीया तथा षष्ठी हुई।

सोऽविदर्थस्य करणे करणे (पा.सू. 2/3/51)

व्याख्या - ज्ञान अर्थ में भिन्न अर्थ का कथन करने वाले ज्ञा धातु के करण में शेषत्व विवक्षा में षष्ठी विभक्ति होती है।

उदाहरण - सर्पिषो ज्ञानम् (सर्पिः (घी) सम्बन्धी प्रवृत्ति) यहाँ ज्ञा धातु अवबोध से भिन्न ज्ञानपूर्वक प्रवर्तन अर्थ में प्रयुक्त है, अतः प्रकृत सूत्र से करण की शेषत्व विवक्षा में सर्पि शब्द से षष्ठी विभक्ति की गई है।

अधीगर्थदयेशां कर्मणि (पा.सू. 2/3/52)

व्याख्या - अधिक उपसर्ग पूर्वक इक् (स्मरण) तथा इसके पर्यायवाची और दय, ईश धातुओं के कर्म में शेषत्व विवक्षा में षष्ठी विभक्ति होती है।

उदाहरण - मातुः स्मरणम् (मातृ सम्बन्धी स्मरण) सर्पिषो दयनम्, ईशनम् वा (सर्पिष स्म्बन्धीदान या विनियोग)

कृञः प्रतियत्ने (पा.सू. 2/3/53)

व्याख्या - प्रतियत्न शब्द का अर्थ है - गुणाधान अर्थात् परिष्करण अतः जब प्रकृत धातु का परिष्करण अर्थ होगा तब उसके कर्म में शेषत्व विवक्षा में षष्ठी विभक्ति की जायेगी।

उदाहरण - एधोदकस्योपस्कुरुते (इन्धन जल में परिष्कृत होता है)

रुजार्थानां भाववचनानामज्वरेः (पा.सू. 2/3/54)

व्याख्या - भाववाचक कर्ता के विद्यमान होने पर ज्वर धातु को छोड़कर अन्य रोगार्थक धातुओं के कर्म में सम्बन्धमात्र की विवक्षा में षष्ठी विभक्ति होती है।

उदाहरण - चौरस्य रोगस्य रुजा (चोर के रोग का संताप)

(वा.) **अज्वरिसन्ताप्योरिति वाच्यम्**

व्याख्या - सूत्र के अधिकार के सीमित करते हुवे इस वार्तिक अनुसार - रुजार्थक धातुओं के अन्तर्गत ज्वर और सन्ताप को छोड़कर अन्य किसी भी धातु के कर्म में शेष षष्ठी की जानी चाहिए।

उदाहरण - रोगस्य चौरज्वरः चौरसन्तापो वा।

आशिषि नाथः (पा.सू. 2/3/55)

व्याख्या - आशीः अर्थ वाली नाथ धातु के कर्म में सम्बन्धमात्र की विवक्षा में षष्ठी विभक्ति होती है।

उदाहरण - सर्पिषो नाथनम् (घी सम्बन्धी शुभाशंसन)

जासिनिप्रहणनाटक्राथपिषां हिंसायाम्(पा.सू. 2/3/56)

व्याख्या - हिंसार्थक जास् नि प्र पूर्वक हन् नाट्, क्राश तथा पिष् धातु के कर्म में शेषत्व विवक्षा में षष्ठी विभक्ति होती है।

उदाहरण - (1) **चौरस्य** उज्जासनम् (चौर सम्बन्धी हिंसा)

(2) **वृषलस्य** पेषणम् (वृषल सम्बन्धी कष्ट)

व्यवहृपणोः समर्थयोः (पा.सू. 2/3/57)

व्याख्या - वि अव उपसर्ग पूर्वक समानार्थक हृ तथा पण् धातु के कर्म में शेषत्व विवक्षा में षष्ठी विभक्ति होती है।

उदाहरण - शतस्य व्यवहरणम्, पणनं वा।

(सौ रुपये से सम्बन्धित द्यूत क्रीडा अथवा लेन देन सम्बन्धी व्यवहार)

समर्थयोः किम् ? श्लाकाव्यवहारः ब्राह्मणपणनम् यहाँ व्यवहृ = गणना, पण = स्तुति अर्थ अतः 'शेषे' सूत्र से षष्ठी कर समास किया गया।

दिवस्तदर्थस्य (पा.सू. 2/3/58)

व्याख्या - द्यूतार्थक क्रय-विक्रय रूप व्यवहारार्थक दिव् धातु के कर्म षष्ठी विभक्ति की जाती है।

उदाहरण - शतस्य दीव्यति (सौ रुपये का जुआ अथवा लेन-देने करता है।)

विभाषोपसर्गे (पा.सू. 2/3/59)

व्याख्या - उपसर्ग युक्त दिव् धातु के द्यूत अथवा क्रय विक्रय व्यवहार के अर्थ प्रयुक्त होने पर उसके क्रम में विकल्प से षष्ठी विभक्ति होती है तथा पक्ष में द्वितीया।

उदाहरण - शतस्य शतं वा प्रतिदीव्यति। (जुएँ में सौ रुपये जीतना है या सौ रुपये का लेन देन करता है।)

प्रेष्यब्रुवोर्हविषो देवतासम्प्रदाने (पा.सू. 2/3/61)

व्याख्या - प्रेष्य तथा ब्रूहि के कर्म के देवता सम्प्रदान अर्थ में विद्यमान होने पर उष हविवाचक शब्द में षष्ठी विभक्ति होती है।

उदाहरण - अग्नये छागस्य हविषो बपाया मेढसः प्रेष्य अनुब्रूहि वा (अग्नि देवता के लिए छाग की वपा या मेदा सम्बन्धी छवि प्रदान करें) मैत्रावरुण के प्रति यह अध्वर्युकर्तृक सम्प्रेष है।

कृत्वोऽर्थप्रयोगे कालेऽधिकरणे (पा.सू. 2/3/64)

व्याख्या- कृत्व अर्थ वाले प्रत्ययों का प्रयोग दिखाई पड़ता है, वहाँ कालवाचक अधिकरण से सम्बन्ध मात्र की विवक्षा में षष्ठी विभक्ति होती है।

उदाहरण - पञ्चकृत्वोऽह्नो भोजनम्। (दिनभार में पाँच बार भोजन) द्विरह्नो भोजनम् (दिनभर में दो बार भोजन)

कर्तृकर्मणोः कृति (पा.सू. 2/3/65)

व्याख्या - कृत्प्रत्ययान्त शब्द के योग में कर्ता तथा कर्म में षष्ठी विभक्ति होती है।

उदाहरण

(1) **कृष्णस्य कृतिः** (कृष्ण की कृति) यहाँ कर्ता में षष्ठी का उदाहरण है।

(2) **जगतः कर्ता कृष्ण =** जगत् के कर्ता कृष्ण कर्म में षष्ठी का उदाहरण।

गुणकर्मणि वेष्यते - कृत्प्रत्ययान्त द्विकर्मक धातु के दिखाई पड़ने पर गौणकर्म में विकल्प से षष्ठी विकल्प से षष्ठी विभक्ति होती है, मुख्य कर्म में तो नित्य षष्ठी होती है।

उदाहरण - नेता अश्वस्व्य स्नुघ्नस्य स्नुघ्नं वा (अश्व को स्नुघ्न देश ले जाने वाला)

उभयप्राप्तौ कर्मणि (पा.सू. 2/3/66)

व्याख्या - जहाँ कृत्प्रत्ययान्त शब्द के योग में एक ही वाक्य में विद्यमान अनुक्त कर्ता तथा कर्म दोनों में षष्ठी विभक्ति प्राप्त होती है वहाँ अनुक्त कर्म में ही षष्ठी होती है।

उदाहरण- आश्चर्यो गवां दोहोऽगोपेन (अगोप के द्वारा गायों का दोहन किया गया, यह आश्चर्य है।)

(वा.) स्त्रीप्रत्ययोश्काकाश्योर्नायं नियमः

व्याख्या - 'स्त्रियां क्तिन्' सूत्र के अधिकार में विहित अक (ण्वुल्) तथा अप्रत्ययान्त शब्द के अनन्तर स्त्री प्रत्यय की विद्यमानता में उपर्युक्त सूत्र का नियम चरितार्थ नहीं होता है।

उदाहरण - भेदिका बिभित्सा वा रुद्रस्य जगतः = रुद्र के संसार का संहार करने की इच्छा।

क्तस्य च वर्तमाने (पा.सू. 2/3/67)

व्याख्या - वर्तमान काल के बोधक क्त प्रत्ययान्त शब्द के योग में षष्ठी विभक्ति होती है।

उदाहरण - राज्ञां मतो बुद्धः पूजितो वा (राजाओं का सम्मत, पूजित)

अधिकरणवाचिनश्च (पा.सू. 2/3/68)

व्याख्या - अधिकरणवाचक क्त प्रत्ययान्त शब्द के योग में षष्ठी विभक्ति होती है।

उदाहरण - इदमेषामासितं शयितं गतं भुक्तं वा(यह इनका आसन है, शय्या है, गमन मार्ग है भोजन पात्र है।)

न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम् (पा.सू. 2/3/69)

व्याख्या - लादेश = शतृ शानच्, उप्रत्ययान्त शब्द उकञ् प्रत्ययान्त शब्द, अव्यय, निष्ठासञ्ज्ञक (क्त, क्तवतु) प्रत्ययान्त शब्द, खलर्थ प्रत्ययान्त शब्द (खल, शानम्, चानश्) अर्थात् शतृ प्रत्यय के तृ से लेकर तृन प्रत्यय पर्यन्त के योग में अनुक्त कर्ता और कर्म में षष्ठी विभक्ति नहीं होती है।

उदाहरण - कुर्वन् कुर्वाणो वा **सृष्टिं** हरिः = (हरि सृष्टि करते हैं)

हरिं दिदृक्षुः अलङ्करिष्णुर्वा = हरि को देखने का इच्छुक।

दैव्यान् धातुकः हरिः (दैत्यों को मारने वाला हरि)

(वा.) **कमेरनिषेधः**

व्याख्या- उक् प्रत्ययान्त कम् धातु के योग में षष्ठी विभक्ति का निषेध नहीं होता है।

उदाहरण - 'लक्ष्म्याः' कामुको हरिः यहाँ षष्ठी का निषेध नहीं हुआ।

अकेनोर्भविष्यदाधमर्ण्ययोः (पा.सू. 2/3/70)

व्याख्या - भविष्यत् काल के अर्थ में विहित 'अक्' प्रत्यय तथा भविष्यत् और अधमर्ण अर्थ में विहित 'इन' प्रत्यय के योग में षष्ठी विभक्ति नहीं होती है।

उदाहरण - सतः पालकोऽवतरति (सज्जनों का पालनहार का अवतार)

कृत्यानां कर्तरि वा (पा.सू. 2/3/71)

व्याख्या - कृत्य प्रत्यायों के योग में कर्ता में विकल्प से षष्ठी होती है।?

उदाहरण - मया मम वा सेव्यो हरिः = मेरे द्वारा हरि सेवनीय है।

तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्यां तृतीयान्यतरस्याम्(पा.सू. 2/3/72)

व्याख्या - तुला और उपमा शब्द से भिन्न तुल्य या इसके अर्थ को कहने वाले (पर्यायवाची) शब्दों के योग में विकल्प से तृतीया विभक्ति होती है।

उदाहरण - तुल्यः सदृशः समो वा **कृष्णस्य कृष्णेन** वा।

चतुर्थी चाशिष्यायुष्यमद्रभद्रकुशलसुखार्थ हितैः। (पा.सू. 2/3/73)

व्याख्या - आशीर्वाद अर्थ में आयुष्य मद्र भद्र कुशल सुख अर्थ एवं उनके पर्यायवाची तथा हित शब्द के योग में चतुर्थी तथा षष्ठी विभक्ति की जाती है।

उदाहरण - आयुष्यं चिरञ्जीवीं**कृष्णाय कृष्णस्य** वा भूयात्। (कृष्ण आयुष्मान् है।)

22.7 सप्तमी विभक्ति

22.7.1 सप्तमी विभक्ति विधायक सूत्र

आधारोऽधिकरणम् (पा.सू. 1/4/45)

व्याख्या - कर्ता तथा कर्म के द्वारा तन्निष्ठ = उसमें रहने वाली क्रिया के आधारवाचक शब्द की अधिकरण सञ्ज्ञा होती है।

उदाहरण - कटे आस्ते। यहाँ पर ''कट'' अधिकरण सञ्ज्ञक है।

सप्तम्यधिकरणे च।

व्याख्या - अधिकरण संज्ञक शब्द में सप्तमी विभक्ति होती है।

उदाहरण

(1) **औपश्लेषिक -** कटे आस्ते (कट में बैठता है)

(2) **वैषयिक -** मोक्षे इच्छा अस्ति (मोक्षविषयक इच्छा)

(3) **अभिव्यापक -** सर्वस्मिन् आत्मा अस्ति (सब में आत्मा है।)

क्तस्येन्विषयस्य कर्मण्युपसङ्ख्यापनम्

व्याख्या - क्त प्रत्ययान्त शब्दों में इन् प्रत्यय युक्त होकर निष्पन्न शब्दों के कर्म में सप्तमी विभक्ति का विधान होता है।

उदाहरण - अधीती व्याकरणे (व्याकरण कर्म का अध्ययनकर्ता)

साध्वसाधु प्रयोगे च - साधु और असाधु शब्दों के योग में सप्तमी विभक्ति होती है।

उदाहरण - साधुः कृष्णः **मातरि**, असाधुः **मातुले =** कृष्ण माता के प्रति साधु और मातुल के प्रति असाधु है।

निमित्तात् कर्मयोगे

व्याख्या - निमित्त वाचक शब्द का कर्म के साथ संयोग अथवा समवाय सम्बन्ध होने पर सप्तमी विभक्ति होती है।

उदाहरण –

(1) चर्मणि द्वीपिनं हन्ति (चर्म के लिये व्याघ्र को मारता है)

(2) दन्तयोर्हन्ति कुञ्जरम् (दाँत के लिए हाथी को मारता है।)

(3) केशेषु चमरीं हन्ति (बालों के लिए चमरी नामक मृग को मारता है।)

(4) सीम्नि पुष्कलको हतः (अण्डकोश के लिए गन्ध मृग मारा गया)

यस्य च भावेन भावलक्षणम्

व्याख्या - जिस कर्ता या कर्म में रहने वाले भाव (क्रिया) से अन्य भाव अर्थात् क्रिया का होना सूचित होता है क्रियान्तर लक्षिका क्रिया के आश्रयभूत शब्द से सप्तमी विभक्ति होती है।

उदाहरण - गोषु दुह्यमानासु गतः = (गोदोहन के समय गया)

(वा.) **अर्हाणां कर्तृत्वेऽनर्हाणामकर्तृत्वे तद्वैपरीत्ये च।**

व्याख्या - किसी क्रिया के सम्बन्ध में किसी योग्य व्यक्ति के कर्तृत्व तथा अयोग्य व्यक्ति के अकर्तृत्व की विवक्षा होने पर था इसके विपरीत दशा में भी सप्तमी विभक्ति होती है।

उदाहरण- सत्सु तरत्सु असन्त आसते= सज्जनों के तरने पर असज्जन रह जाते हैं।

षष्ठी चानादरे (पा.सू. 2/3/38)

व्याख्या - अनादर की अधिकता होने पर भावलक्षण में षष्ठी सप्तमी होती है।

उदाहरण - रुदति रुदतो वा प्राव्राजीत् = रोते हुए को संन्यासी हो गया।

स्वामीश्वराधिपतिदायाद साक्षि प्रतिभू प्रसूतैश्च

व्याख्या - स्वामी, ईश्वर, अधिपति, दायाद, साक्षी, प्रतिभू तथ प्रसूत इन सात शब्दों के योग में षष्ठी तथा सप्तमी विभक्ति की गयी है।

उदाहरण - (1) **गवां गोषु** स्वामी (2) **गवां गोषु** प्रसूतः।

आयुक्तकुशलाभ्यां चासेवायाम्(पा.सू. 2/3/40)

व्याख्या - आयुक्त तथा कुशल शब्दों के 'निष्ठापूर्वक तत्पर, उत्सक' अर्थ के प्रयोग की दशा में षष्ठी तथा सप्तमी विभक्ति होती है।

उदाहरण - आयुक्तः कुशलो वा हरिपूजने हरिपूजनस्य वा (ईश्वराधन में लगा हुआ)

यतश्च निर्धारणम् (पा.सू. 2/3/91)

व्याख्या - जाति, गुण, क्रिया तथा सञ्ज्ञा सम्बन्धी वैशिष्ट्य के कारण जिस समुदाय से निर्धारण = पृथक्करण होता है उस समुदायवाचक शब्द से षष्ठी तथा सप्तमी विभक्ति की जाती है।

उदाहरण - जाति - नृणां नृषु वा ब्राह्मणः श्रेष्ठः।

गुण - गवां गोषु वा कृष्णा बहुक्षीरा।

क्रिया - गच्छतां गच्छत्सु वा धावञ्दीघ्रः

सञ्ज्ञा - दात्राणां छात्रेषु वा मैत्रः पटुः

पञ्चमी विभक्ते (पा.सू. 2/3/42)

उदाहरण - माथुराः पाटलिपुत्रेभ्यः आढ्यवराः (पथुरा वाले पटनावालों से धनी है)

साधुनिपुणाभ्यामर्चायां सप्तम्यप्रतेः

व्याख्या - साधु तथा निपुण शब्दों से जब प्रशंसा या आदर प्रकट हो तथा इसके साथ जब प्रति का प्रयोग न हो तो, इन दोनों शब्दों के योग में सप्तमी होती है।

उदाहरण - मातरि साधुर्निपुणो वा (माता के लिए भला)

प्रसितोत्सुकाभ्यां तृतीया च

व्याख्या - प्रसित तथा उत्सुक शब्दों के योग में तृतीया और सप्तमी दोनों होती है।

उदाहरण - प्रसित उत्सुको वा हरिणा हरौ वा (हरि की सेवा में तत्पर)

नक्षत्रे च लुपि (2/3/45)

व्याख्या - मूल शब्द नक्षत्रार्थक हो तथा उसके प्रत्यय का लोप हुआ हो तो उस नक्षत्रवाचक शब्द से अधिकरण अर्थ में तृतीया या सप्तमी होती है।

उदाहरण - मूलेनावाहयेद्देवीं श्रवणेन विसर्जयेत = मूल में देवी का आवाहन करें तथा श्रवण में विसर्जन करना चाहिए।

सप्तमीपञ्म्यौ कारकमध्ये (पा.सूत्र 2/3/7)

व्याख्या - दो कारक शक्तियों के बीच में जो काल या अध्व (मार्ग की दूरी) होती है। उनके वाचक शब्दों में सप्तमी या पञ्चमी विभक्ति होती है।

उदाहरण - इहस्योऽयं **क्रोशे क्रोशाद्वा** लक्ष्यं विध्येत् = (यहाँ रहते हुए कोश तक लक्ष्य भेदन करता है।)

अधिरीश्वरे (पा.सू. 1/4/97)

व्याख्या - स्वस्वामिभाव सम्बन्ध अर्थ में अधि की कर्मप्रवचनीय सञ्ज्ञा होती है।

(इसका सम्बन्ध अग्रिम सूत्र से है)

यस्मादधिकं यस्य चेश्वर वचनं तत्र सप्तमी

व्याख्या - जिससे अधिकता बताई जाए या जिसका स्वामी होना बताया जाए उन शब्दों में कर्मप्रवचनीय के योग में सप्तमी होती है।

उदाहरण - उपपरार्धे हरेर्गुणाः (हरि के गुण पराई से भी अधिक है)

विभाषा कृञि (पा.सू. 1/4/98)

व्याख्या - कृ धातु के साथ 'अधि' का प्रयोग दिखाई पड़ने पर इसकी विकल्प से कर्मप्रवचनीय सञ्ज्ञ होगी, यदि प्रयोग से ईश्वरत्व अर्थ गम्यमान हो तो।

उदाहरण - यदत्र मामधिकरिष्यति (जो मुझे यहाँ नियुक्त करेगा।)

22.8 पारिभाषिक शब्दावली

कारक - साक्षात् परम्परया वा क्रिया को जो निष्पन्न करे वह कारक है। कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान एवं अधिकरण ये छः प्रकार के कारक है।

प्रातिपदिकार्थ - व्यापक रूप से अर्थ का बोध कराने वाले को प्रातिपदिकार्थ कहते हैं।

कर्ता -किसी क्रिया के निष्पादन में स्वतन्त्र (प्रधान) कहे जाने वाले कारक की कर्ता संज्ञा होती है|

कर्म - कर्ता के द्वारा निष्पन्न होने वाली क्रिया से अत्यधिक ईप्सित कारक की कर्म संज्ञा होती है।

करण - किसी क्रिया की सिद्धि में जो अत्यधिक सहायक होता है उसकी करण सञ्ज्ञा होती है।

सम्बोधन -सम्बोधन का अर्थ है - अभिमुखीकृत्य ज्ञापन। अर्थात् जो वक्ता के अभिमुख नहीं है उसे अभिमुख करके कुछ कहना। वक्ता के द्वारा प्रयुक्त वचन को ध्यान में रखकर उसे स्वीकार करने में आदर भाव होना।

कर्मप्रवचनीय - सूत्रकार पाणिनि तथा उनसे उत्तरवर्ती वैयाकरणों ने उपसर्गों के समान ही निपातों के एक अन्य वर्ग को 'कर्मप्रवचनीय' नाम दिया हैं |

सम्प्रदान- दान क्रिया के कर्म द्वारा कर्ता जिसे चाहता है उसकी सम्प्रदानसञ्ज्ञा होती है।

अपाय - अपाय शब्द का अर्थ है विश्लेष, विभाग, पृथक्करण। ध्रुव निश्चित धुरि से विश्लेष होने पर अवधिभूत कारक की अपादान संज्ञा होती है। यहाँ ध्रुव बुद्धिपरिकल्पित भी होता है।

22.9 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. कारक का लक्षण बताये।
2. प्रातिपदिकार्थ से क्या तात्पर्य है ?
3. लिङ्ग मात्राद्याधिक्ये का उदाहरण समझाये।
4. अभिहित का तात्पर्य क्या है ?
5. दुह्याच्पच्दण्ड .... कारिका को पूरा करे।
6. नमः स्वस्तिस्वाहा ...... सूत्र को सोदाहरण समझाएँ।
7. उपादान संज्ञा विधायक सूत्र बतायें।
8. 'सम्बन्ध' कारक क्यों नहीं है ?
9. अधिकारणकारक के भेद बताते हुए प्रत्येक का उदाहरण समझाएँ।
10. 'निर्धारण' अर्थ में कौन-कौन विभक्ति होत है ?
11. उपपद विभक्ति तथा कारकविभक्ति में अन्तर स्पष्ट करें।

22.10 सारांश

इस प्रकार हमने इस इकाई में व्याकरण शास्त्र की परम्परा के साथ साथ सिद्धान्तकौमुदी का भी ज्ञान किया। यह भी जाना कि प्रतिपादिकार्थ विचार, कर्मसंज्ञा, कर्मप्रवचनीय संज्ञा, सम्प्रदान अपादान अधिकरण आदि संज्ञाओं की व्याख्या सिद्धान्तकौमुदी।

में किस प्रकार की गई है। प्रथमा विभक्ति से लेकर सप्तमी विभक्ति पर्यन्त सभी विभक्तियों का ज्ञान सिद्धान्तकौमुदी के आलोक में हमने इस इकाई में किया है।

22.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. शर्मा, गिरिधर, वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 2014.
2. चन्द्र, ईश्वर एवं सिमलेखा, वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी, चौखम्भा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली 2015.
3. पाण्डेय, गोपालदत्त, वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी, चौखम्भा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली 2015.